Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

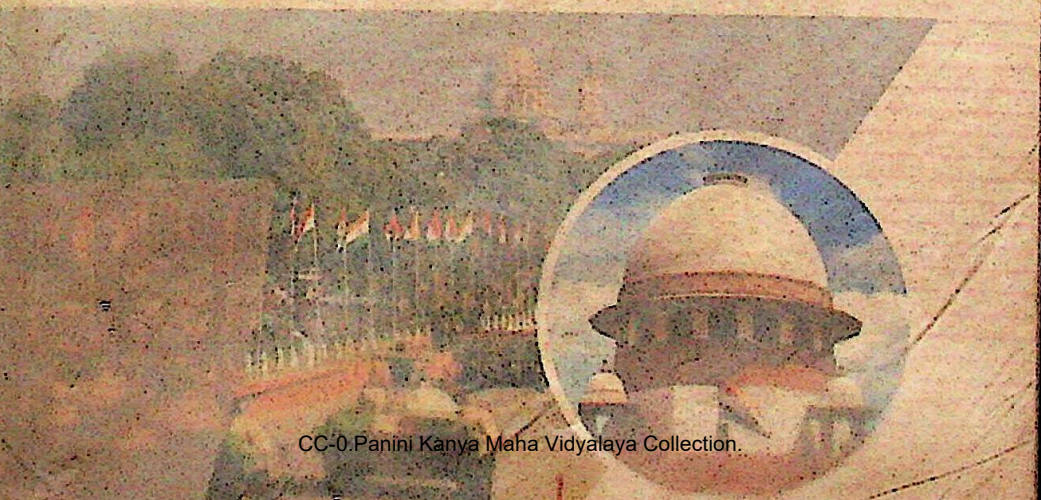
15.4

इण्टरमीडिएट

नागरिकशास्त्र की सपरेखा

प्रथम प्रश्न-पत्र

डॉ. पुखराज जैन



CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहायक पुस्तकें

संशोधित पाठ्यक्रम पर आधरित

इण्टरमीडिएट के लिए

- तिरुपति साहित्यिक हिन्दी
- तिरुपति सामान्य हिन्दी
- तिरुपति ENGLISH
- तिरुपति संस्कृत
- तिरुपति खेल एवं शारीरिक शिक्षा
- तिरुपति नागरिकशास्त्र
- तिरुपति समाजशास्त्र
- तिरुपति इतिहास
- तिरुपति अर्थशास्त्र
- तिरुपति भूगोल
- तिरुपति भौतिक विज्ञान–1
- तिरुपति भौतिक विज्ञान–2
- तिरुपति रसायन विज्ञान
- तिरुपति वनस्पति विज्ञान
- तिरुपति जन्तु विज्ञान

तिरुपति

Question Bank

संशोधित एवं महत्वपूर्ण प्रश्नों का संकलन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इण्टरमीडिएट

नागरिकशास्त्र की रूपरेखा

नवीन पाठ्यक्रमानुसार प्रथम प्रश्न-पत्र हेतु

प्रमुख आकर्षण

- नवीन परीक्षा प्रणाली के अनुरूप बहुविकल्पीय (हल सहित), अति लघु, लघु, दीर्घ-लघु, एवं दीर्घ उत्तरीय प्रश्नों का समावेश
- पुस्तक में बोर्ड परीक्षा प्रश्न-पत्रों का समावेश

डॉ. पुखराज जैन
पूर्व प्रोफेसर : राजनीति विज्ञान
एवं पूर्व प्राचार्य
राजकीय मीरा कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उदयपुर

39वां संस्करण : 2010

bph

बंसल पब्लिशिंग हाउस

Code : 363

Price : Rs. 95/-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माध्यमिक शिक्षा परिषद्, उ.प्र.

संशोधित नवीन पाठ्यक्रम

इण्टरमीडिएट नागरिकशास्त्र

प्रथम प्रश्न-पत्र : नागरिकशास्त्र के सिद्धान्त

1. नागरिकशास्त्र का अर्थ, उसका क्षेत्र तथा अन्य सामाजिक शास्त्रों से सम्बन्ध, नागरिकशास्त्र की उपयोगिता, स्वरूप और अध्ययन विधियां।
2. सीमित परिवार की अवधारणा, विभिन्न विधियां।
3. नागरिकता—अर्थ, नागरिकता प्राप्त करने की विधि, भारतीय नागरिकता, नागरिकता कैसे खोई जाती है, नागरिक के अधिकार तथा कर्तव्य, पर्यावरण की सुरक्षा के प्रति नागरिक का दायित्व, आदर्श नागरिकता के मार्ग में बाधाएं।
4. राज्य—परिभाषा एवं तत्व।
5. राज्य के कार्यों का सिद्धान्त—व्यक्तिवाद, लोक समाजवाद, लोक कल्याणकारी राज्य, भारतीय विचारकों का दृष्टिकोण (मनु तथा कौटिल्य)।
6. सम्प्रभुता-विधि, स्वतन्त्रता तथा समानता।
7. संविधान तथा उसका वर्गीकरण।
8. सरकार के प्रकार—अरस्तू का वर्गीकरण तथा आधुनिक प्रणालियां—एकात्मक, संघात्मक, संसदात्मक, अध्यक्षात्मक सरकारें।
9. कार्यपालिका—विविध रूप तथा नियुक्ति की विधियां, व्यवस्थापिका से सम्बन्ध।
10. व्यवस्थापिका—एक सदनात्मक तथा द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के संगठन तथा कार्य।
11. न्यायपालिका—नियुक्ति तथा कार्यविधि, आधुनिक न्यायपालिका के कार्य तथा महत्व।
12. जनमत, राजनीतिक दल, मताधिकार तथा निर्वाचन प्रणालियां।
13. राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयता तथा गुट निरपेक्षता।
14. आरक्षण, जाति और धर्म के आधार पर : आवश्यकता, क्षेत्र तथा परिणाम।
15. भारत में आदिवासी व जनजाति की समस्या और समाधान।

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो शब्द

प्रिय विद्यार्थियो!

'उत्तर प्रदेश माध्यमिक शिक्षा परिषद्, इलाहाबाद' द्वारा वर्ष 2003 की परीक्षा से ही इण्टरमीडिएट परीक्षा के प्रश्न-पत्र के ढांचे और प्रारूप में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए हैं। अब प्रश्न-पत्र को वर्तमान प्रवृत्तियों तथा प्रतियोगी परीक्षाओं के अनुरूप बना दिया गया है।

इन परिवर्तनों का सार दो बातों में है : **प्रथम,** अब तक प्रश्न-पत्र के 90 प्रतिशत अंक दीर्घ उत्तरीय प्रश्नों के लिए होते थे, अब प्रश्न-पत्र में लगभग एक-तिहाई अंक (50 में से 18 अंक) दीर्घ उत्तरीय प्रश्नों के लिए होंगे तथा लगभग दो-तिहाई अंक (50 में से 32 अंक) लघु उत्तरीय प्रश्नों तथा वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के लिए निर्धारित हैं। इस प्रकार प्रश्न-पत्र का झुकाव लघु उत्तरीय प्रश्नों और वस्तुनिष्ठ प्रश्नों की ओर हो गया है। **द्वितीय,** और अधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह है कि इसके पूर्व लगभग समस्त प्रश्न-पत्र में **'खुले विकल्प' (Open Choice)** की स्थिति होती थी, परिणामतया पाठ्यक्रम के केवल महत्वपूर्ण अंशों का अध्ययन करने के आधार पर ही, सदैव तो नहीं, लेकिन अनेक बार अच्छे अंक प्राप्त किये जा सकते थे। अब प्रश्न-पत्र के लगभग दो-तिहाई भाग में कोई भी विकल्प नहीं होगा। **सभी लघु उत्तरीय और वस्तुनिष्ठ प्रश्न (50 में से 32 अंक) अनिवार्य प्रश्न के रूप में होंगे।** दीर्घ उत्तरीय प्रश्नों (50 में से 18 अंक) में जो विकल्प होगा, वह भी **आन्तरिक विकल्प (Internal Choice)** के रूप में होगा, पहले के समान 'खुला विकल्प' नहीं होगा। प्रश्न-पत्र में यह परिवर्तन इस उद्देश्य से किया गया है कि **विद्यार्थी अपने पाठ्यक्रम पर आधारित अच्छी पाठ्य-पुस्तक प्रारम्भ से लेकर अन्त तक पढ़ें, कुछ पढ़ने और कुछ छोड़ देने (Important Question Method or Choice Method) की लम्बे समय से चली आ रही त्रुटिपूर्ण पद्धति को न अपनावें।**

पाठ्य-पुस्तक एक दृष्टि से 'सहायक पुस्तक, प्रश्नोत्तरी पुस्तक और प्रश्न बैंक' आदि से आधारभूत रूप में भिन्न होती है। पाठ्य-पुस्तक में समस्त पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में पूर्ण विषय-सामग्री होती है; सहायक पुस्तक, प्रश्नोत्तरी या प्रश्न बैंक आदि में केवल वही विषय-सामग्री होती है; जिसे इस श्रेणी की पुस्तक का लेखक या प्रबन्धक महत्वपूर्ण समझता है। मैं यह नहीं कह रहा हूं कि केवल यही पुस्तक एकमात्र अच्छी पाठ्य-पुस्तक है; लेकिन मैं यह बात बलपूर्वक कहना चाहता हूं कि केवल अच्छी पाठ्य-पुस्तक को अपने अध्ययन का मूल आधार बनाते हुए ही आप अच्छे अंक प्राप्त कर सकते हैं; किसी भी सहायक पुस्तक, गाइड या प्रश्न बैंक आदि के आधार पर अच्छे अंक प्राप्त कर पाने की सम्भावना अब कतई नहीं है। अनुभवी शिक्षक के नाते मैं ऐसा सोचता हूं।

किसी भी पाठ्य-पुस्तक में दो प्रकार की विषय-सामग्री होती है: **प्रथम तथ्यात्मक** और **द्वितीय विवेचनात्मक।** प्रथम और द्वितीय श्रेणी के प्रश्नों के उत्तर तथ्यात्मक तथा विवेचनात्मक विषय-सामग्री के आधार पर दिये जाने हैं; तृतीय, चतुर्थ और पंचम श्रेणी के प्रश्नों (लघु उत्तरीय, अति लघु उत्तरीय तथा बहुविकल्पीय प्रश्न)

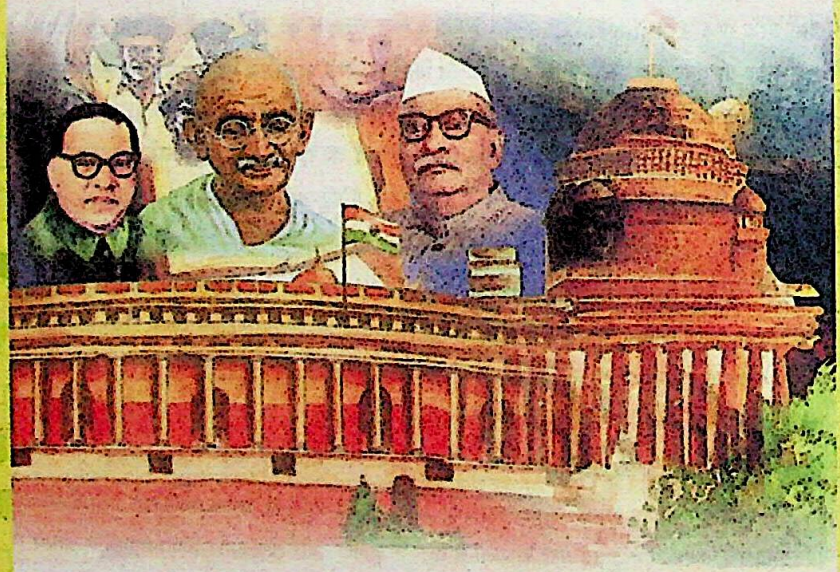
CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के उत्तर मूल रूप से तथ्यात्मक विषय-सामग्री के आधार पर दिये जाने हैं। इस पुस्तक में समस्त तथ्यात्मक विषय-सामग्री **'गहरे काले प्रिण्ट'** *(Bold letters)* में दी गई है तथा गहरे काले प्रिण्ट की विषय-सामग्री के आधार पर आप सभी तथ्यात्मक और वस्तुनिष्ठ प्रश्नों का उत्तर बहुत सरलता से दे सकते हैं। इसके साथ ही प्रत्येक अध्याय के अन्त में अभ्यास के लिए लघु उत्तरीय, अति लघु उत्तरीय और बहुविकल्पीय प्रश्न उत्तर सहित दिये गये हैं। इस प्रकार पुस्तक के इस संस्करण में पाठ्य-पुस्तक के प्रमुख गुण **'समस्त विषय-सामग्री'** के साथ-साथ सहायक पुस्तक के समझे जाने वाले गुण 'परीक्षा के लिए तैयारी में सरलता और सुबोधता' को भी ग्रहण कर लिया गया है। अतः यह पुस्तक अध्ययन और परीक्षा की दृष्टि से आपकी समस्त आवश्यकताओं को निश्चित रूप से और सम्पूर्ण रूप में पूरा करती है।

मैं पुनः इस बात पर बल देना चाहूंगा कि शिक्षा परिषद् द्वारा परीक्षा प्रश्न-पत्र के इस ढांचे को इस उद्देश्य से अपनाया गया है कि विद्यार्थी अच्छी पाठ्य-पुस्तक का प्रत्येक अध्याय प्रारम्भ से लेकर अन्त तक पढ़ें। यह पत्र लेखक ने नहीं, वरन् शिक्षक ने आप विद्यार्थियों के हित चिन्तन की दृष्टि से लिखा है। पुस्तक के इस प्रथम पृष्ठ में इसके अतिरिक्त अन्य कोई भाव नहीं है।

• पुखराज जैन



CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न-पत्र सम्बन्धी दिशा-निर्देश

वर्ष 2003 की परीक्षा से प्रश्न-पत्र के समस्त ढांचे और प्रारूप में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये जा चुके हैं। अब प्रश्न-पत्र के अन्तर्गत निम्न पांच प्रकार के प्रश्न पूछे जाएंगे :

अंक विभाजन

क्र. सं.	प्रश्नों का प्रकार	कुल प्रश्न		कुल अंक
1.	दीर्घ उत्तरीय प्रश्न	3	(प्रत्येक प्रश्न अंक 6)	18
2.	दीर्घ-लघु उत्तरीय प्रश्न	3	(प्रत्येक प्रश्न अंक 4)	12
3.	लघु उत्तरीय प्रश्न	5	(प्रत्येक प्रश्न अंक 2)	10
4.	अति लघु उत्तरीय प्रश्न	5	(प्रत्येक प्रश्न अंक 1)	5
5.	बहुविकल्पीय प्रश्न	5	(प्रत्येक प्रश्न अंक 1)	5
		21		50

1. **दीर्घ उत्तरीय प्रश्न**—प्रत्येक दीर्घ उत्तरीय प्रश्न 6 अंकों का होगा तथा परीक्षार्थी को तीन दीर्घ उत्तरीय प्रश्नों के उत्तर देने होंगे। प्रत्येक प्रश्न के दो विकल्प होंगे, जिनमें से एक का चयन करना होगा। परीक्षार्थियों से अपेक्षा की जाती है कि दीर्घ उत्तरीय प्रश्न का उत्तर 300 शब्दों में दिया जाय।
2. **लघु-दीर्घ उत्तरीय प्रश्न**—प्रत्येक लघु-दीर्घ उत्तरीय प्रश्न का उत्तर 150 शब्दों में देना होगा। द्वितीय श्रेणी के ये प्रश्न, प्रथम श्रेणी और तृतीय श्रेणी के बीच की स्थिति है।
3. **लघु उत्तरीय प्रश्न**—प्रत्येक प्रश्न का उत्तर 50 शब्दों में देना होगा।
4. **अति लघु उत्तरीय प्रश्न**—प्रत्येक प्रश्न का उत्तर एक ही वाक्य में देना होगा।
5. **बहुविकल्पीय प्रश्न**—प्रत्येक प्रश्न के उत्तर के लिए चार विकल्प होंगे, उनमें से एक सही विकल्प का चयन करना होगा।

नवीन प्रश्न-पत्र की विशेष बात यह है कि प्रश्न-पत्र के अन्तर्गत **विकल्प** (Choice) **केवल 'दीर्घ उत्तरीय प्रश्नों'** में होगा; दीर्घ उत्तरीय प्रश्नों में भी विकल्प **'आन्तरिक विकल्प'** (Internal Choice) के रूप में, **'दो में से कोई एक'** के रूप में होगा; **अन्य चार प्रकार के प्रश्नों में, किसी भी रूप में कोई विकल्प नहीं होगा। सभी प्रश्न 'अनिवार्य प्रश्न' के रूप में होंगे।** अतः केवल अच्छी पाठ्य-पुस्तक का प्रारम्भ से लेकर अंत तक अध्ययन करने के आधार पर ही सभी प्रश्नों का उत्तर देते हुए अच्छे और बहुत अच्छे अंक प्राप्त किये जा सकेंगे। **अब अच्छी पाठ्य-पुस्तक का कोई भी विकल्प नहीं है।**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

अध्याय		पृष्ठ-संख्या
1.	नागरिकशास्त्र (अर्थ, क्षेत्र, उपयोगिता, स्वरूप व अध्ययन पद्धतियां)	1
2.	नागरिकशास्त्र तथा अन्य समाज विज्ञान	18
3.	सीमित या छोटे परिवार की अवधारणा	26
4.	नागरिक और नागरिकता	38
5.	नागरिक के अधिकार तथा कर्तव्य	51
6.	राज्य	65
7.	राज्य के कार्यों के सिद्धान्त	74
8.	सम्प्रभुता एवं विधि	101
9.	स्वतन्त्रता और समानता	112
10.	संविधान	124
11.	सरकार के प्रकार तथा आधुनिक शासन प्रणालियां	135
12.	संसदात्मक व अध्यक्षात्मक शासन	158
13.	एकात्मक व संघात्मक शासन	169
14.	शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त	178
15.	सरकार के अंग (व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका)	184
16.	लोकमत	205
17.	राजनीतिक दल	213
18.	मताधिकार और निर्वाचन प्रणालियां	228
19.	राष्ट्रीयता या राष्ट्रवाद	245
20.	अन्तर्राष्ट्रीयता व संयुक्त राष्ट्र संघ	255
21.	गुट निरपेक्षता या असंलग्नता	266
22.	आरक्षण : आवश्यकता, क्षेत्र तथा परिणाम	275
23.	भारत में जनजातियां : समस्याएं और समाधान	288
•	परिशिष्ट	303
•	गत वर्षों के परीक्षा प्रश्न-पत्र	307

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1

नागरिकशास्त्र

(अर्थ, क्षेत्र, उपयोगिता, स्वरूप व अध्ययन पद्धतियां)

[CIVICS]

[MEANING, SCOPE, UTILITY, NATURE AND STUDY METHODS]

"यदि कोई मनुष्य ऐसा है जो समाज में न रह सकता हो, अथवा जिसे समाज की आवश्यकता ही न हो, क्योंकि वह अपने आप में पूर्ण है तो उसे मानव समाज का सदस्य मत समझो, वह जंगली जानवर या देवता ही हो सकता है।"[1] —अरस्तू

अरस्तू के इस कथन का तात्पर्य यही है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मानव जीवन की सबसे अधिक महत्वपूर्ण विशेषता सामाजिकता है और मनुष्य के लिए समाज में रहना उतना ही स्वाभाविक है जितना कि प्राणी का अपने आपको जीवित रखने के लिए सांस लेना या मछली का पानी में रहना। थोड़े समय या विशेष अवसरों को छोड़कर कोई भी व्यक्ति अकेले रहना पसन्द नहीं कर सकता, क्योंकि अकेले रहने पर बहुत जल्दी ही उसका मन ऊब जाता है। जिन्होंने रॉबिन्सन क्रूसो के सम्बन्ध में पढ़ा है, वे मानव की इस प्रवृत्ति से भली-भांति परिचित हैं, लेकिन प्रकृति के द्वारा मानव को विवेक-शक्ति अर्थात् सोचने-विचारने की शक्ति प्रदान की गयी है और समाज में रहने वाले विभिन्न व्यक्तियों के सोचने-विचारने का ढंग अलग-अलग होता है। इसके अतिरिक्त व्यक्तियों के विचारों, भावनाओं और स्वार्थों में भी अन्तर होता है। विभिन्न व्यक्तियों के विचारों और स्वार्थों में इस प्रकार के भेद होने के कारण विभिन्न व्यक्तियों में परस्पर विवाद और संघर्ष की स्थितियां जन्म लेती हैं।

नागरिकशास्त्र सामाजिक जीवन में होने वाले इस प्रकार के झगड़ों और विवादों को दूर करने का प्रयत्न करता है। नागरिकशास्त्र यह बताता है कि सामाजिक जीवन के झगड़े और बुराइयां कैसे दूर हो सकते हैं और सभी व्यक्ति मिल-जुलकर शान्ति और सुख से किस प्रकार जीवन बिता सकते हैं। नागरिकशास्त्र यह भी सिखाता है कि सामाजिक संगठन किस प्रकार मानवीय जीवन और सभ्यता को विकास के मार्ग पर आगे बढ़ा सकता है। इस प्रकार नागरिकशास्त्र सामाजिकता अर्थात् एक साथ मिल-जुलकर रहने का पाठ पढ़ाता है और यह कहा जा सकता है कि **"नागरिकशास्त्र सामाजिक जीवन को सबसे अधिक सुन्दर, श्रेष्ठ और सुखमय बनाने वाला विज्ञान है।"**

नागरिकशास्त्र का अर्थ और परिभाषा

नागरिकशास्त्र आंग्ल भाषा के शब्द 'सिविक्स' (Civics) का हिन्दी रूपान्तर है और आंग्ल भाषा का शब्द 'सिविक्स' लैटिन भाषा के दो शब्दों 'सिविस' (*Civis*) और 'सिविटास' (*Civitas*) से मिलकर बना है। लैटिन भाषा में 'सिविस' का अर्थ 'नागरिक' तथा 'सिविटास' का अर्थ 'नगर' होता है। यूनान का प्राचीन इतिहास हमें बताता है कि प्राचीन काल में यूनान में छोटे-छोटे नगर राज्य थे, जो कि पूर्णतया स्वतन्त्र थे। उस समय नगर निवासी राज्य के कार्यों में स्वतन्त्रतापूर्वक भाग लिया करते थे और इसी कारण इन्हें 'नागरिक' के नाम से सम्बोधित किया जाता था। इस प्रकार शब्द व्युत्पत्ति के आधार पर नागरिकशास्त्र को एक ऐसा विषय कहा जा सकता है जिसमें नागरिक, राज्य की सदस्यता और नागरिक जीवन से सम्बन्धित अन्य सभी बातों का वर्णन होता

1 "He who is unable to live in Society, or who has no need, because he is sufficient for himself, must be either a beast or God." —*Aristotle*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। यद्यपि वर्तमान समय में नगर राज्यों का स्थान राष्ट्रीय राज्यों ने ले लिया है, लेकिन नागरिकशास्त्र का यह अर्थ आज भी इस रूप में सत्य है कि "नागरिकशास्त्र नागरिक जीवन से सम्बन्धित समस्त विषयों का अध्ययन करता है।"

मनुष्य के सामाजिक जीवन का अध्ययन अनेक विज्ञानों द्वारा किया जाता है, जिन्हें समाज विज्ञान कहते हैं। इस प्रकार के समाज विज्ञानों में इतिहास, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र और नागरिकशास्त्र प्रमुख हैं। जिस प्रकार इतिहास में व्यक्ति के भूतकालीन जीवन का, राजनीतिशास्त्र में व्यक्ति के राजनीतिक जीवन का और अर्थशास्त्र में व्यक्ति के आर्थिक जीवन का अध्ययन किया जाता है, उसी प्रकार नागरिकशास्त्र के अन्तर्गत नागरिक जीवन से सम्बन्धित सभी पक्षों का अध्ययन किया जाता है।

विद्वानों के द्वारा नागरिकशास्त्र की परिभाषा विभिन्न प्रकार से की गयी है। इस विषय की कुछ परिभाषाएं निम्न प्रकार हैं :

आंग्ल भाषा के प्रसिद्ध ऑक्सफोर्ड शब्दकोश में नागरिकशास्त्र की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है, "राजनीतिशास्त्र का वह अंग जो नागरिकों के अधिकारों और कर्तव्यों से सम्बन्ध रखता है, नागरिकशास्त्र है।"[1]

प्रसिद्ध भारतीय लेखक पुन्ताम्बेकर का विचार है कि "नागरिकशास्त्र नागरिकता का विज्ञान और दर्शन है।"[2]

इसी प्रकार डॉ. बेनी प्रसाद के शब्दों में, "सामाजिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में व्यक्ति को अनेक कर्तव्यों का पालन करना होता है तथा दूसरी ओर उन्हें अनेक अधिकार प्राप्त होते हैं। नागरिकशास्त्र प्रमुख रूप से इन्हीं से सम्बन्धित है।"

ब्लार्ड के अनुसार, "नागरिकशास्त्र समाज का वह निरीक्षण है, जिसका प्रयोग समाज सेवा के कार्यों में किया जाता है।"

श्रेष्ठ परिभाषा—उपर्युक्त परिभाषाओं की भाषा में यद्यपि कुछ भेद हैं, लेकिन इन सभी लेखकों का मूल विचार यही है कि नागरिकशास्त्र में नागरिक के अधिकारों तथा कर्तव्यों का अध्ययन किया जाता है। नागरिकशास्त्र की ये परिभाषाएं ठीक तो हैं, किन्तु अपने आप में पूर्ण नहीं हैं, क्योंकि इनके अन्तर्गत न तो नागरिकशास्त्र के पूर्ण अध्ययन विषय को दृष्टि में रखा गया है जो कि वास्तव में अधिकारों और कर्तव्यों की विवेचना की अपेक्षा बहुत व्यापक है और न ही उन शक्तियों का उल्लेख किया गया है, जो नागरिक जीवन को प्रभावित करती हैं। इस दृष्टि से प्रो. एफ. जी. गोल्ड (F. G. Gould) और प्रो. ई. एम. ह्वाइट (E. M. White) की परिभाषाएं अधिक उपयुक्त हैं।

गोल्ड ने कहा है, "नागरिकशास्त्र उन संस्थाओं, आचार-विचारों एवं भावनाओं का अध्ययन है, जिनके द्वारा कोई पुरुष अथवा स्त्री किसी राजनीतिक समुदाय की सदस्यता के कर्तव्यों का पालन कर सके तथा उस सदस्यता से प्राप्त लाभ उठा सके।"

गोल्ड की परिभाषा अन्य परिभाषाओं से व्यापक तथा अर्थपूर्ण है। उसने नागरिकशास्त्र को केवल नागरिक के अधिकार और कर्तव्यों तक ही सीमित नहीं किया है, वरन् नागरिक जीवन से सम्बन्धित सभी संस्थाओं, आदतों, कार्यों और प्रवृत्तियों को इसके क्षेत्र के अन्तर्गत रखा है।

डॉ. ई. एम. ह्वाइट के अनुसार, "नागरिकशास्त्र मानव ज्ञान की वह शाखा है जो नागरिकों से सम्बन्धित समस्त विषयों (सामाजिक, बौद्धिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक) पर विचार करती है। इसके साथ ही साथ वह नागरिकता के भूत, वर्तमान और भविष्य तथा स्थानीय, राष्ट्रीय और विश्वव्यापी पहलुओं का भी विश्लेषण करती है।"[3]

डॉ. ह्वाइट की परिभाषा उपर्युक्त सभी परिभाषाओं से श्रेष्ठ है। यह अन्य परिभाषाओं की भांति एकांगी और संकुचित नहीं है। यह नागरिकशास्त्र के अन्तर्गत सामाजिक, बौद्धिक, आर्थिक और धार्मिक पहलुओं को भी स्थान देती है और नागरिक से सम्बन्धित सभी विषयों के अध्ययन पर जोर देती है। यह परिभाषा काल

1 "Civics is the theory of rights and duties of citizenship." —*Oxford Dictionary*
2 "Civics is the science and philosophy of citizenship." —*Puntambaker*
3 "Civics is that more or less useful branch of human knowledge which deals with everything (social, intellectual, economical, political and even religious aspects) relating to a citizen, past, present and future, local, national and human."
—Dr. E. M. White, *The Philosophy of Citizenship*, p. 7.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized By Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की दृष्टि से भी नागरिकशास्त्र के अध्ययन को व्यापकता प्रदान करती है, क्योंकि यह सम्बन्धित विषयों के केवल वर्तमान रूप का ही नहीं, वरन् ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा भविष्य के भव्य सामाजिक आदर्श का भी अध्ययन करती है। स्थान की दृष्टि से इस परिभाषा के अनुसार नागरिकशास्त्र न केवल स्थानीय और राष्ट्रीय, वरन् विश्वव्यापी पहलुओं का भी विश्लेषण करता है। इस प्रकार डॉ. ह्वाइट की परिभाषा विषय, काल और स्थान की दृष्टि से पर्याप्त व्यापक है तथा इसे इस विषय की सर्वाधिक स्पष्ट, पूर्ण और श्रेष्ठ परिभाषा कहा जा सकता है।

नागरिकशास्त्र के अन्तर्गत सम्पूर्ण नागरिक जीवन का अध्ययन किया जाता है और नागरिक जीवन के इस अध्ययन का उद्देश्य एक स्वस्थ समाज की स्थापना होती है जिसके अन्तर्गत रहते हुए व्यक्ति स्वयं अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकें और समाज की उन्नति में योग दे सकें। अतः नागरिकशास्त्र के सम्बन्ध में प्रो. गेड्स का यह कथन पूर्ण सत्य है कि "नागरिकशास्त्र सामाजिक सर्वेक्षण का सामाजिक सेवा में प्रयोग है।"

नागरिकशास्त्र का क्षेत्र

प्रत्येक शास्त्र का अपना एक क्षेत्र या उसकी विषय-वस्तु होती है। कोई शास्त्र रेखाओं का ज्ञान कराता है, तो कोई अंकों का। कोई शास्त्र मानव जीवन के आर्थिक सम्बन्धों का अध्ययन कराता है तो कोई राजनीतिक पहलुओं का। इन दूसरे शास्त्रों के समान ही नागरिकशास्त्र की भी अपनी एक परिधि और उसका अपना क्षेत्र है। 'नागरिकशास्त्र' शब्द की उत्पत्ति का सम्बन्ध यूनान के नागरिक जीवन से रहा है और यूनानी नागरिक जीवन को दृष्टि में रखते हुए नागरिकशास्त्र के क्षेत्र को बहुत ही संकुचित समझा जाता था तथा यह माना जाता था कि नागरिकशास्त्र का क्षेत्र नगर राज्यों के नागरिकों के अध्ययन तक सीमित है, लेकिन आज सभ्यता, संस्कृति और वैज्ञानिक विकास के परिणामस्वरूप समस्त पृथ्वी ने एक नगर का ही रूप धारण कर लिया है और नागरिकशास्त्र के क्षेत्र में पर्याप्त व्यापकता आ गयी है। आज नागरिकशास्त्र नागरिक से सम्बन्धित हर विषय का अध्ययन करता है; चाहे वे विषय सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक या बौद्धिक हों; चाहे वे भूत, वर्तमान या भविष्य से सम्बन्धित हों और चाहे वे स्थानीय, राष्ट्रीय या विश्वव्यापी हों। वस्तुतः आज नागरिकशास्त्र का क्षेत्र सर्वव्यापक तथा सर्वव्यापी हो गया है और एफ. जी. गोल्ड के इन शब्दों में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि "नागरिकशास्त्र का क्षेत्र सभ्यता और नागरिकता के विकास तक फैला हुआ है।"[1]

नागरिकशास्त्र के इस अत्यधिक व्यापक क्षेत्र की विवेचना निम्नलिखित रूपों में की जा सकती है :

(1) **व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन का अध्ययन**—कुटुम्ब, समाज और राज्य तथा नागरिक जीवन की अन्य सभी संस्थाओं की प्रथम और मूल इकाई व्यक्ति ही है, अतः नागरिकशास्त्र व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन से अपना अध्ययन प्रारम्भ करता है। नागरिकशास्त्र का उद्देश्य व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन का अध्ययन कर उसे एक अच्छा व्यक्ति और आदर्श नागरिक बनाना है। उक्त संस्थाएं व्यक्ति को एक आदर्श नागरिक बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

(2) **व्यक्ति के सामाजिक जीवन का अध्ययन**—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और मनुष्य के जीवन पर सामाजिक सन्दर्भ में ही ठीक प्रकार से विचार किया जा सकता है, अतः नागरिकशास्त्र न केवल व्यक्तिगत जीवन वरन् सामाजिक जीवन का भी अध्ययन करता है। नागरिकशास्त्र इस बात का अध्ययन करता है कि समाज का मनुष्य के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है; मनुष्य के विकास में समाज से क्या योग मिलता है और व्यक्तियों को आदर्श नागरिक बनाने के लिए उनके सामाजिक जीवन को किस प्रकार से और कैसा रूप प्रदान किया जाना चाहिए।

(3) **अधिकारों तथा कर्तव्यों का अध्ययन**—सुखी और वास्तविक सामाजिक जीवन अधिकारों और कर्तव्यों की आधारशिला पर ही सम्भव हो सकता है, अतः नागरिकशास्त्र इस बात का अध्ययन करता है कि व्यक्ति के स्वयं अपने प्रति, कुटुम्ब, पड़ोस, नगर, राज्य और मानवता के प्रति क्या कर्तव्य हैं और व्यक्ति को इन संस्थाओं से किन व्यक्तिगत, सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति होती है। नागरिकशास्त्र में इस बात का भी अध्ययन किया जाता है कि व्यक्ति तथा समाज के लिए अधिकारों तथा कर्तव्यों का क्या महत्व है तथा समाज व राज्य अधिकारों का अस्तित्व बनाये रखने में किस प्रकार से योग देते हैं।

1 "Civics is co-extensive with civilization and citizenship." —*F. G. Gould*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(4) समाज के भूतकालीन स्वरूप का अध्ययन—व्यक्ति अपना नागरिक जीवन समाज के अन्तर्गत रहते हुए व्यतीत करते हैं, अतः नागरिकशास्त्र के अन्तर्गत व्यापक और वैज्ञानिक ढंग से समाज का अध्ययन किया जाता है; क्योंकि वर्तमान समाज की नींव भूतकाल पर ही आधारित है, अतः नागरिकशास्त्र समाज से सम्बन्धित अपने अध्ययन का प्रारम्भ भूतकालीन स्वरूप से करता है। भूतकालीन समाज के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मनुष्य में समूह की भावना का विकास किस युग में और किस प्रकार हुआ।

(5) समाज के वर्तमान स्वरूप का अध्ययन—एक वैज्ञानिक के रूप में नागरिकशास्त्र के विद्यार्थी का सम्बन्ध समाज के वर्तमान स्वरूप से ही अधिक होता है; अतः नागरिकशास्त्र में उन सभी समुदायों, संगठनों और वर्गों का अध्ययन होता है, जिन पर सामाजिक जीवन का संगठन निर्भर है। अतः इस विषय के अन्तर्गत परिवार, धर्म, धार्मिक एवं सांस्कृतिक संगठन, आदि का तथा उनके वर्तमान स्वरूप के गुण-दोषों का अध्ययन किया जाता है।

(6) भविष्य के आदर्श समाज का अध्ययन—नागरिकशास्त्र भूतकालीन और वर्तमान सामाजिक जीवन का अध्ययन निष्प्रयोजन नहीं करता, वरन् इस प्रकार के अध्ययन में उसका यह उद्देश्य होता है कि भविष्य में सामाजिक जीवन को अधिक-से-अधिक श्रेष्ठ स्वरूप प्रदान किया जाय। नागरिकशास्त्र इस बात पर विचार करता है कि भविष्य में समाज का आदर्श स्वरूप कैसा होना चाहिए। इस सम्बन्ध में नागरिकशास्त्र का कार्य केवल वर्णन करना ही नहीं, वरन् निर्माण करना भी है। नागरिकशास्त्र के इसी पहलू के कारण यह कहा जाता है कि **"नागरिकशास्त्र नागरिक समाज का वह निरीक्षण है जिसका उपयोग समाज सेवा के लिए किया जाता है।"**

नागरिकशास्त्र का क्षेत्र

(1) व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन का अध्ययन
(2) व्यक्ति के सामाजिक जीवन का अध्ययन
(3) अधिकारों तथा कर्तव्यों का अध्ययन
(4) समाज के भूतकालीन स्वरूप का अध्ययन
(5) समाज के वर्तमान स्वरूप का अध्ययन
(6) भविष्य के आदर्श समाज का अध्ययन
(7) विविध संस्थाओं और शक्तियों का अध्ययन
(8) राज्य के भूत, वर्तमान तथा आदर्श स्वरूप का अध्ययन
(9) संविधान का अध्ययन
(10) लोकतान्त्रिक धारणाओं का अध्ययन
(11) लोकतान्त्रिक व्यवस्था के संगठन का अध्ययन
(12) अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का अध्ययन
(13) अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का अध्ययन

(7) विविध संस्थाओं और शक्तियों का अध्ययन—सभ्यता और संस्कृति के विकास के कारण वर्तमान समय में नागरिक जीवन बहुमुखी हो गया है और नागरिकशास्त्र में आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक संस्थाओं का भी अध्ययन किया जाता है। इसके अन्तर्गत वर्तमान समय में राजनीतिक दलों और नागरिक जीवन को प्रभावित करने वाली अन्य संस्थाओं एवं शक्तियों के अध्ययन ने बहुत अधिक महत्व प्राप्त कर लिया है।

(8) राज्य के भूत, वर्तमान तथा आदर्श स्वरूप का अध्ययन—राज्य सभ्य नागरिक जीवन की एक अनिवार्य दशा है, अतः नागरिकशास्त्र राज्य तथा उसके तत्वों का विधिवत् और वैज्ञानिक रूप में अध्ययन करता है। नागरिकशास्त्र अपना यह अध्ययन राज्य के अतीतकालीन स्वरूप से प्रारम्भ करता है। अतीत से वह खोजता है कि राज्य की उत्पत्ति कैसे हुई तथा उसका विकास-क्रम क्या रहा है। वर्तमान में वह राज्य के आधुनिक स्वरूप और कार्यप्रणाली का अध्ययन करता है और इस बात पर विचार करता है कि यह व्यवस्था व्यक्ति के लिए किस सीमा तक हितकर है। राज्य के तत्वों में सरकार सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, अतः नागरिकशास्त्र इस बात पर भी विचार करता है कि सरकार किसे कहते हैं; सरकार के कितने अंग तथा प्रकार हैं; शासन-व्यवस्था किस प्रकार संचालित होती है और सरकार के विविध अंग परस्पर किस प्रकार का सम्बन्ध रखते हैं? इन सबके अतिरिक्त नागरिकशास्त्र राज्य के आदर्श स्वरूप पर भी विचार करता है और यह निश्चित करता है कि राज्य के आधुनिक स्वरूप की त्रुटियों को दूर कर आदर्श स्वरूप की स्थिति को किस प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(9) संविधान का अध्ययन—संविधान जीवन का वह मार्ग है, जिसे राज्य के द्वारा अपने लिए अपनाया जाता है। राज्य नागरिकशास्त्र का एक प्रमुख अध्ययन विषय है, अतः स्वाभाविक रूप से संविधान भी उसके अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाता है। नागरिकशास्त्र के अन्तर्गत हम संविधान के विभिन्न रूपों तथा उनके गुण-दोषों का अध्ययन करते हैं और यह समझ सकते हैं कि एक राज्य विशेष के लिए किस प्रकार का संविधान सर्वाधिक उपयुक्त होगा।

(10) लोकतान्त्रिक धारणाओं का अध्ययन—स्वतन्त्रता और समानता लोकतान्त्रिक व्यवस्था की सर्वप्रमुख धारणाएं हैं और विधि मर्यादित शासन का मूल आधार हैं। अतः नागरिकशास्त्र के अन्तर्गत स्वतन्त्रता, समानता और विधि इन सभी का अध्ययन किया जाता है। नागरिकशास्त्र स्वतन्त्रता, समानता और विधि इन सभी के विविध रूपों का अध्ययन करने के साथ-साथ इस बात का भी अध्ययन करता है कि मानवीय स्वतन्त्रता का रक्षण किस प्रकार सम्भव है। इसी प्रकार नागरिकशास्त्र में समानता के अर्थ, प्रकार और व्यवहार के अन्तर्गत समानता की प्राप्ति के साधनों का अध्ययन किया जाता है। स्वतन्त्रता और विधि में घनिष्ठ सम्बन्ध है और स्वतन्त्रता तथा समानता की प्राप्ति सामान्यतया विधि के आधार पर ही की जा सकती है। अतः विधि भी नागरिकशास्त्र का एक प्रमुख अध्ययन विषय हो जाता है।

(11) लोकतान्त्रिक व्यवस्था के संगठन का अध्ययन—लोकतान्त्रिक व्यवस्था आज की सर्वाधिक प्रचलित शासन-व्यवस्था है और प्रायः सभी प्रगतिशील राज्यों के द्वारा इसे अपना लिया गया है। अतः लोकतान्त्रिक व्यवस्था के संगठन का ज्ञान भी नागरिकशास्त्र के ही अन्तर्गत आता है। नागरिकशास्त्र के अन्तर्गत मताधिकार के विभिन्न रूप और मताधिकार की विभिन्न पद्धतियों तथा उनके गुण-दोषों का अध्ययन किया जाता है। इस विषय के अन्तर्गत हम इस बात का अध्ययन करते हैं कि जनमत का निर्माण कैसे होता है और राजनीतिक दल जनमत के निर्माण तथा लोकतान्त्रिक व्यवस्था में क्या भूमिका अदा करते हैं।

(12) अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का अध्ययन—आज के वैज्ञानिक युग में समस्त विश्व ने एक इकाई का रूप धारण कर लिया है। अतः नागरिकशास्त्र अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का अध्ययन करता है और इस बात पर विचार करता है कि किस प्रकार से आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र की अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को हल कर मानव जाति के भविष्य को उज्ज्वल बनाया जा सकता है।

(13) अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का अध्ययन—नागरिकशास्त्र इस बात का अध्ययन करता है कि प्रथम विश्व-युद्ध के बाद स्थापित राष्ट्रसंघ ने विश्व-शान्ति बनाये रखने की दिशा में क्या प्रयत्न किये और अपने इन प्रयत्नों में उसे क्यों विफलता प्राप्त हुई। अब राष्ट्रसंघ के स्थान पर संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना हो गयी है और संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा उसके सहायक संगठन राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से विश्व को श्रेष्ठतम रूप प्रदान करने का प्रयत्न कर रहे हैं। नागरिकशास्त्र इन अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के कार्यों और कार्यों के परिणामों का अध्ययन करता है तथा इस बात पर भी विचार करता है कि इन अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को और अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए कौन-से कदम उठाये जाने चाहिए।

ऊपर नागरिकशास्त्र के क्षेत्र की जो व्याख्या की गयी है, उससे प्रो. ई. एम. व्हाइट (E. M. White) के इस कथन की पुष्टि होती है कि "नागरिकशास्त्र वह विषय है जिसके द्वारा नागरिकता से सम्बन्धित सभी बातों का अध्ययन किया जाता है; भूत, वर्तमान तथा भविष्य; स्थानीय, राष्ट्रीय तथा मानवीय।"

नागरिकशास्त्र के क्षेत्र की विकासशीलता—नागरिकशास्त्र का क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत और व्यापक तो है ही, इसके साथ ही निरन्तर विकासशील भी है। नागरिकशास्त्र के क्षेत्र में सभ्यता के विकास के साथ-साथ निरन्तर वृद्धि होती रही है। नागरिकशास्त्र ने अपना अध्ययन नगर-राज्यों से प्रारम्भ किया था, लेकिन आज के नागरिक नगर राज्यों के नागरिक न होकर राष्ट्रीय राज्यों के नागरिक हैं। अतः स्वाभाविक रूप से नागरिकशास्त्र का क्षेत्र राष्ट्रीय राज्यों तक विस्तृत हो गया है। वर्तमान समय में तो आवागमन और सम्वादवाहन के साधनों में हुई प्रगति, औद्योगिक क्रान्ति, प्रेस और सांस्कृतिक आदान-प्रदान के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण विश्व ने एक इकाई का रूप धारण कर लिया है और ऐसा समय आ गया है जबकि सम्पूर्ण विश्व नागरिकशास्त्र की परिधि में समा जाय। इस प्रकार नागरिकशास्त्र के क्षेत्र में निरन्तर विकास होता जा रहा है और आज नागरिकशास्त्र का क्षेत्र समस्त मानव समाज तक विस्तृत हो गया है।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरिकशास्त्र का स्वरूप

नागरिकशास्त्र के स्वरूप के अन्तर्गत सबसे अधिक प्रमुख रूप में इस बात पर विचार किया जाता है कि नागरिकशास्त्र एक विज्ञान है अथवा कला या वह दोनों ही है।

विज्ञान का अर्थ—परम्परागत रूप में विज्ञान की परिभाषा करते हुए कहा जाता है कि विज्ञान उसी विषय को कहा जा सकता है जिसके अन्तर्गत पर्यवेक्षण और परीक्षण द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता हो और जिसके नियम पूर्णतया निश्चित तथा अटल हों, किन्तु विज्ञान की यह परिभाषा अत्यन्त संकुचित है और वर्तमान समय में तो विज्ञान के सम्बन्ध में गार्नर की इस परिभाषा को स्वीकार किया जाता है कि "**किसी विषय का ऐसा ज्ञान विज्ञान कहलाता है जो विधिवत् निरीक्षण, अनुभव अथवा अध्ययन द्वारा प्राप्त किया गया हो तथा जिसके तथ्यों को समायोजित, क्रमबद्ध एवं वर्गीकृत किया गया हो।**" विज्ञान के उपर्युक्त लक्षणों से स्पष्ट हो जाता है कि विज्ञान कहलाने के लिए उस विषय के नियमों का पूर्णतया निश्चित और अटल होना आवश्यक नहीं है, केवल इतना ही आवश्यक और पर्याप्त है कि उस विषय का अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर और क्रमबद्ध रूप में किया जाय।

विज्ञान की विशेषताएं—गार्नर और अन्य विद्वानों द्वारा विज्ञान की जो परिभाषाएं की गई हैं, उसके आधार पर विज्ञान की निम्न विशेषताएं बताई जा सकती हैं :

1. विज्ञान वह ज्ञान है, जिसके अन्तर्गत समस्त विषय-सामग्री विधिवत् निरीक्षण, अनुभव एवं अध्ययन के आधार पर प्राप्त की जाती है। इस प्रकार विज्ञान में अध्ययन सामग्री वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर प्राप्त की जाती है, कपोल कल्पना के आधार पर नहीं।

2. विज्ञान, विशेषतया समाज विज्ञान के लिए, उस विषय के नियमों का पूर्णतया निश्चित और अटल होना आवश्यक नहीं है परन्तु इन विषयों का व्यवस्थित व क्रमबद्ध अध्ययन आवश्यक है।

नागरिकशास्त्र के विज्ञान होने पर आपत्तियां—गार्नर की उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर नागरिकशास्त्र को विज्ञान कहा जा सकता है, लेकिन ऐसे अनेक विद्वान हैं जिनके द्वारा नागरिकशास्त्र के विज्ञान होने पर आपत्ति की जाती है। इस सम्बन्ध में उनके द्वारा उठायी गयी प्रमुख आपत्तियां निम्नांकित हैं :

(1) सर्वमान्य तथ्यों का अभाव—नागरिकशास्त्र में गणित के दो और दो चार या भौतिक विज्ञान के 'गुरुत्वाकर्षण के नियम' (Law of Gravitation) की भांति ऐसे तथ्यों का नितान्त अभाव है, जिन पर सभी विद्वान सहमत हों। यदि एक ओर आदर्शवादी राज्य की सर्वोच्च सत्ता का प्रतिपादन करते हैं, तो दूसरी ओर अराजकतावादी राज्य की अनावश्यकता का। यदि बेंजामिन फ्रेंकलिन, अबेसीज और लास्की एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका के समर्थक हैं तो लैकी, सिजविक और ब्लंटशली एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका के नितान्त विरोधी। अन्य बातों के सम्बन्ध में भी इस प्रकार के भेद विद्यमान हैं।

नागरिकशास्त्र के विज्ञान होने पर आपत्तियां

(1) सर्वमान्य तथ्यों का अभाव
(2) कार्य और कारण में निश्चित सम्बन्ध का अभाव
(3) पर्यवेक्षण एवं परीक्षण का अभाव
(4) अध्ययन विषय आत्मपरक है, वस्तुपरक नहीं

(2) कार्य और कारण में निश्चित सम्बन्ध का अभाव—भौतिक एवं रसायन विज्ञान में कार्य और कारण में निश्चित सम्बन्ध पाया जाता है, किन्तु नागरिक जीवन में घटित होने वाली घटनाएं अनेक पेचीदे कारणों का परिणाम होती हैं और क्रिया-प्रतिक्रिया के इस चक्र में अमुक घटना किन कारणों के परिणामस्वरूप हुई, यह कहना बहुत कठिन हो जाता है। वस्तुतः अन्य सामाजिक विज्ञानों की तरह नागरिकशास्त्र जीवित प्राणी (मनुष्य) की नागरिक गतिविधियों का अध्ययन करता है। यह भौतिक विज्ञानों की तरह निर्जीव पदार्थों का अध्ययन नहीं है। अतः इसके अध्ययन में कार्य-कारण सम्बन्धों का अभाव है।

(3) पर्यवेक्षण एवं परीक्षण का अभाव—पदार्थ विज्ञान की प्रयोगशाला में बैठकर यन्त्रों की सहायता से मनचाहे प्रयोग किये जा सकते हैं, किन्तु नागरिक जीवन के सम्बन्ध में इस प्रकार के पर्यवेक्षण एवं परीक्षण सम्भव नहीं हैं क्योंकि नागरिक जीवन के अध्ययन विषय 'मानव के क्रियाकलाप' पूर्णतया हमारे नियन्त्रण में नहीं होते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(4) अध्ययन विषय आत्मपरक (Subjective) है, वस्तुपरक (Objective) नहीं—विज्ञान वस्तुपरक होता है और इसकी अध्ययन वस्तु निर्जीव होने के कारण वैज्ञानिक मानवीय भावनाओं से दूर रहते हुए तटस्थता के साथ इनके अध्ययन में लगा रहता है, लेकिन नागरिकशास्त्र के अध्ययन में वस्तुपरक दृष्टिकोण अपनाना अर्थात् तटस्थता के साथ अध्ययन कर पाना बहुत कठिन कार्य है।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर कहा जाता है कि नागरिकशास्त्र एक विज्ञान नहीं है।

नागरिकशास्त्र एक विज्ञान है

यदि विज्ञान की संकुचित परिभाषा को ग्रहण किया जाय तब तो नांगरिकशास्त्र के विज्ञान होने पर आपत्ति की जा सकती है, किन्तु वास्तव में विज्ञान कहलाने के लिए आवश्यक नहीं है कि सम्बन्धित विषय द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त अथवा नियम अटल हों। वास्तव में पदार्थ विज्ञान की परिभाषा को नागरिकशास्त्र जैसे समाज विज्ञान पर लागू नहीं किया जाना चाहिए। यदि समाज विज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो नागरिकशास्त्र एक विज्ञान है और इसके विज्ञान होने के पक्ष में निम्नलिखित बातों का उल्लेख किया जा सकता है :

नागरिकशास्त्र एक विज्ञान है
(1) वैज्ञानिक अध्ययन
(2) कार्य और कारण में पारस्परिक सम्बन्ध
(3) पर्यवेक्षण सम्भव
(4) प्रयोग या परीक्षण सम्भव

(1) वैज्ञानिक अध्ययन—नागरिकशास्त्र का अध्ययन पूर्णतया क्रमबद्ध रूप में किया जाता है और नागरिकशास्त्र के नियम व सिद्धान्त किसी प्रकार की कल्पनाओं पर नहीं वरन् जीवन के वास्तविक तथ्यों पर आधारित हैं। राज्य के भूतकालीन स्वरूप के आधार पर वर्तमान का अध्ययन किया जाता है और राज्य के वर्तमान स्वरूप के अध्ययन तथा परीक्षण के आधार पर भविष्य के लिए सिद्धान्त निश्चित किये जाते हैं।

(2) कार्य और कारण में पारस्परिक सम्बन्ध—नागरिकशास्त्र में पदार्थ विज्ञानों की तरह कार्य और कारण में चाहे प्रत्यक्ष और पूर्णतया निश्चित सम्बन्ध स्थापित न किया जा सकता हो, लेकिन फिर भी विशेष घटनाओं के अध्ययन से कुछ सामान्य परिणाम तो निकाले ही जा सकते हैं। ये सामान्य निष्कर्ष व्यक्ति विशेष के बारे में न सही, लेकिन उसकी सामूहिक गतिविधियों के बारे में अवश्य निकाले जा सकते हैं, उदाहरण के लिए, जनता का असन्तोष, शासक वर्ग का शासित वर्ग के प्रति अपमानजनक व्यवहार और आर्थिक असमानता सदैव ही विद्रोह के सामान्य कारण रहे हैं; शक्तियों के विकेन्द्रीकरण से जनता में सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति रुचि उत्पन्न होती है और शासकों को बिना किन्हीं प्रतिबन्धों के शासन शक्ति प्रदान कर दी जाय, तो वे भ्रष्ट हो जाते हैं।

(3) पर्यवेक्षण सम्भव—यद्यपि नागरिकशास्त्र में पदार्थ विज्ञानों की भांति तो पर्यवेक्षण सम्भव नहीं है, लेकिन अन्य रूपों में इस प्रकार के पर्यवेक्षण होते हैं। आचार्य कौटिल्य ने पर्यवेक्षण के आधार पर ही यह परिणाम निकाला था कि राजशक्ति का दुरुपयोग होने पर साधारण जनता तो क्या, साधु-संन्यासी भी क्रुद्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार यूनानी विचारक अरस्तू ने विभिन्न नगर राज्यों के 158 संविधानों के पर्यवेक्षण के आधार पर क्रान्ति के कारण और क्रान्ति के प्रतिकार के उपायों का प्रतिपादन किया था। आज राजनीतिक विषयों के अध्ययन में इस पद्धति का प्रयोग किया जा रहा है।

(4) प्रयोग या परीक्षण सम्भव—यद्यपि नागरिकशास्त्र में पदार्थ विज्ञानों के समान परीक्षण नहीं किये जा सकते हैं; क्योंकि नागरिकशास्त्र का अध्ययन विषय मानव एक विवेकशील प्राणी है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि नागरिकशास्त्र में प्रयोग या परीक्षण की क्षमता ही नहीं है। चौथे आम चुनाव के बाद भारतीय संघ के विभिन्न राज्यों में जिन मिली-जुली सरकारों की स्थापना की गयी, वह एक प्रकार से प्रयोग ही था। इतिहास एक प्रकार से नागरिकशास्त्र की प्रयोगशाला ही है। इस प्रकार नागरिकशास्त्र में भी निरन्तर परीक्षण होते रहते हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि नागरिकशास्त्र एक विज्ञान है; क्योंकि इसका अध्ययन वैज्ञानिक पद्धतियों के आधार पर और क्रमबद्ध रूप में किया जा सकता है।

नागरिकशास्त्र निस्सन्देह एक विज्ञान है, लेकिन इसके साथ ही यह स्मरण रखा जाना चाहिए कि नागरिकशास्त्र को पदार्थ विज्ञानों की श्रेणी का पूर्ण विज्ञान नहीं कहा जा सकता है। नागरिकशास्त्र किन्हीं

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अचल पदार्थों का नहीं, वरन् विवेकशील मानव और उसके परिवर्तनशील जीवन का अध्ययन करता है। अतः नागरिकशास्त्र के अध्ययन में कुछ अनिश्चितता होना नितान्त स्वाभाविक है। इस प्रकार नागरिकशास्त्र अनिश्चित समाज विज्ञानों की श्रेणी का विज्ञान है, पदार्थ विज्ञानों की श्रेणी का विज्ञान नहीं।

नागरिकशास्त्र एक कला के रूप में

नागरिकशास्त्र के कला होने के सम्बन्ध में विचारकों में बहुत अधिक मतभेद नहीं है। कला ऐसे ज्ञान को कहा जा सकता है, जिसका उद्देश्य मानव जीवन को श्रेष्ठ और सुन्दर बनाना हो। एक विचारक के शब्दों में, 'सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् की साधना ही कला है।' इस अर्थ में नागरिकशास्त्र एक कला भी है, क्योंकि इसके अन्तर्गत न केवल भूत और वर्तमान के नागरिक जीवन, वरन् भावी नागरिक जीवन का भी आदर्श की दृष्टि से अध्ययन किया जाता है। नागरिकशास्त्र नागरिक जीवन को श्रेष्ठ और सुन्दर बनाने की कला है। नागरिकशास्त्र के इस कलात्मक पक्ष को लक्ष्य करते हुए ही पैट्रिक गेड्स ने लिखा है कि "सामाजिक पर्यवेक्षण का सामाजिक सेवा में प्रयोग ही नागरिकशास्त्र है।" नागरिकशास्त्र का उद्देश्य समाज के प्रति एक सक्रिय लगाव उत्पन्न करना है। एक अन्य लेखक ने नागरिकशास्त्र को 'समाज निर्माण का विज्ञान' (Science of Social Engineering) कहकर पुकारा है। नागरिकशास्त्र एक कला भी है, यह बात निम्नलिखित आधारों पर नितान्त स्पष्ट हो जाती है :

नागरिकशास्त्र एक कला के रूप में
(1) आदर्श सामाजिक व्यवस्था की स्थापना
(2) व्यक्ति का पथ-निर्देशन
(3) मानव कल्याण का साधन
(4) मानव मूल्यों की स्थापना

(1) आदर्श सामाजिक व्यवस्था की स्थापना—सिद्धान्तों को कार्यरूप में परिणत कर जीवन को श्रेष्ठ और सुन्दर बनाना ही कला का उद्देश्य होता है। नागरिकशास्त्र में भूतकालीन और वर्तमान नागरिक जीवन का अध्ययन करने के साथ-साथ इस बात के सम्बन्ध में भी प्रकाश डाला जाता है कि भावी आदर्शात्मक नागरिकता के लक्ष्य को किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है?

(2) व्यक्ति का पथ-निर्देशन—अधिकार और कर्तव्यों का ज्ञान प्राप्त कर लेना ही पर्याप्त नहीं है, उस ज्ञान की सार्थकता तभी है जबकि अधिकारों का सही रूप में उपयोग और कर्तव्यों का उचित रूप में पालन किया जाय। इस दृष्टि से नागरिकशास्त्र 'कर्तव्यों के उचित क्रम-निर्धारण' के विचार का प्रतिपादन कर व्यक्ति का पथ-निर्देशन करता है।

(3) मानव कल्याण का साधन—नागरिकशास्त्र न केवल मानव कल्याण का पथ-निर्देशन करता है, वरन् मानव कल्याण के लिए आवश्यक साधन भी जुटाता है।

(4) मानव मूल्यों की स्थापना—नागरिक शास्त्र एक ऐसा विषय है जो राज्य के कार्यों, व्यक्ति—राज्य सम्बन्धों आदि के विषय में मानव मूल्यों जैसे समानता अधिकार, न्याय आदि की स्थापना व विकास में सहायक है।

इस प्रकार कला की समस्त विशेषताएं नागरिकशास्त्र में पायी जाती हैं और नागरिकशास्त्र मानव जीवन की एक श्रेष्ठ कला है।

नागरिकशास्त्र विज्ञान और कला दोनों ही है

उपर्युक्त विवेचन से नितान्त स्पष्ट है कि नागरिकशास्त्र विज्ञान होने के साथ-साथ एक कला भी है। नागरिकशास्त्र एक ओर तो नागरिक जीवन की विधिवत् व्याख्या प्रस्तुत करता है तथा दूसरी ओर हमें यह बताता है कि आदर्श नागरिकता के लक्ष्य को किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है। नागरिकशास्त्र न केवल अधिकार और कर्तव्यों का ज्ञान प्रदान करता है, वरन् उसके द्वारा अधिकारों के उचित रूप में उपयोग और कर्तव्यों के पालन की विधि भी बतायी जाती है। इस दृष्टि से नागरिकशास्त्र एक समाज विज्ञान है और समाज निर्माण की एक कला।

डॉ. बेनी प्रसाद ने ठीक ही लिखा है कि इस अर्थ में "नागरिकशास्त्र विज्ञान तथा कला दोनों है क्योंकि यह दशाओं का अन्वेषण करता है और अपने अन्वेषण के परिणामों को मानव कल्याण की वृद्धि में क्रियान्वित करने का प्रयत्न करता है।"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरिकशास्त्र की अध्ययन विधियां

नागरिकशास्त्र के स्वरूप पर विचार करते समय हमने देखा कि नागरिकशास्त्र वैज्ञानिक ढंग से प्राप्त किये गये क्रमबद्ध ज्ञान का समूह है, अतः स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि नागरिकशास्त्र की अध्ययन विधियां कौन-सी हैं? अन्य समाज विज्ञानों की तरह ही नागरिकशास्त्र के द्वारा भी स्वीकृत वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है, जो निम्नलिखित हैं :

नागरिकशास्त्र की अध्ययन विधियां
(1) पर्यवेक्षणात्मक पद्धति
(2) ऐतिहासिक पद्धति
(3) तुलनात्मक पद्धति
(4) प्रयोगात्मक पद्धति
(5) दार्शनिक पद्धति
(6) वैज्ञानिक पद्धति
(7) जीवशास्त्रीय पद्धति

(1) पर्यवेक्षणात्मक पद्धति (Observational Method)—इस पद्धति के अन्तर्गत नागरिकशास्त्र के विद्यार्थी द्वारा समाज के ढांचे, सामाजिक संस्थाओं के प्रतिदिन के कार्यकलापों, राज्यों के संगठन और कार्यों का सूक्ष्म निरीक्षण कर उसकी अच्छाइयों और कमजोरियों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इसके अन्तर्गत अधिकारों और कर्तव्यों के प्रयोग को प्रत्यक्ष रूप में देखकर किन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाता है। पर्यवेक्षणात्मक पद्धति का आधार वैयक्तिक अनुभव है और इसका सम्बन्ध वास्तविकताओं से है, अतः इस पद्धति के आधार पर प्राप्त किये गये निष्कर्षों के सत्य होने की बहुत अधिक आशा की जाती है। आधुनिक युग में समाज वैज्ञानिकों द्वारा इस पद्धति को एक वैज्ञानिक पद्धति के रूप में मान्यता दी गयी है।

किन्तु पर्यवेक्षणात्मक पद्धति का सही रूप में प्रयोग करने के लिए कुछ बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। प्रथम, अध्ययनकर्ता को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसका अध्ययन वास्तविक तथ्यों और घटनाओं पर आधारित हो, सामान्य अनुमानों पर नहीं। द्वितीय, अध्ययनकर्ताओं का दृष्टिकोण पक्षपातरहित तथा उदार होना चाहिए। तृतीय, अवलोकन एकांगी तथा क्षणिक नहीं होना चाहिए, वरन् एक लम्बे समय के और निरन्तर अध्ययन के आधार पर ही निष्कर्ष निकाले जाने चाहिए।

(2) ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method)—नागरिकशास्त्र के अध्ययन की महत्वपूर्ण पद्धति ऐतिहासिक पद्धति है। नागरिकशास्त्र नागरिक संस्थाओं तथा घटनाओं का क्रमबद्ध अध्ययन करता है, क्योंकि आज की नागरिक संस्थाएं इतिहास की उपज हैं, इसलिए इन संस्थाओं के उदय, विकास और वर्तमान समय में उनके यथार्थ स्वरूप की जानकारी ऐतिहासिक पद्धति के आधार पर ही सम्भव है। भूतकालीन अनुभवों के बहुमूल्य भण्डार के रूप में इतिहास नागरिक जीवन की प्रयोगशाला भी है और ऐतिहासिक पद्धति के आधार पर ही भविष्य के मार्ग को सही रूप में निर्धारित किया जा सकता है।

ऐतिहासिक पद्धति निःसन्देह बहुत अधिक उपयोगी है, किन्तु इस पद्धति का प्रयोग करते समय अत्यधिक सावधानी बरतने की आवश्यकता है। प्रथम, इस पद्धति के आधार पर अध्ययन करते समय हमें ऊपरी समानताओं और सादृश्यों के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए। द्वितीय, अध्ययनकर्ता का दृष्टिकोण वैज्ञानिक और निष्पक्ष होना चाहिए तथा अपने पूर्व-कल्पित विचारों का इतिहास द्वारा समर्थन ढूंढ़ने के प्रलोभन से बचना चाहिए। तृतीय, वर्तमान और भविष्य की प्रत्येक समस्या का हल अतीत के आधार पर ही करने का प्रयत्न नहीं किया जाना चाहिए। 'इतिहास की पुनरावृत्ति होती है' (History repeats itself) यह एक अर्द्ध-सत्य ही है और इसके अनेक अपवाद भी होते हैं।

(3) तुलनात्मक पद्धति (Comparative Method)—तुलनात्मक पद्धति ऐतिहासिक पद्धति की सहायक या पूरक है। इस पद्धति के अन्तर्गत अध्ययनकर्ता विभिन्न सामाजिक संस्थाओं, राज्यों, उनके संगठन, उनकी नीतियों एवं कार्यों का तुलनात्मक अध्ययन करता है और इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर सामान्य नागरिक और राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाता है। तुलनात्मक पद्धति के आधार पर किया गया अध्ययन व्यापक पृष्ठभूमि पर आधारित होने के कारण इसके विशुद्ध होने की बहुत अधिक आशा की जा सकती है। इस पद्धति का प्रयोग अत्यन्त प्राचीनकाल से ही किया जा रहा है। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू ने लगभग 158 संविधानों का तुलनात्मक अध्ययन कर ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, जो आज भी बहुत अधिक सीमा तक सत्य समझे जाते हैं। आधुनिक समय में इस पद्धति का सफल प्रयोग ब्राइस के द्वारा किया गया है और भारतीय संविधान के निर्माण में भी इस पद्धति से बहुत सहायता ली

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गयी है। तुलनात्मक पद्धति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसके द्वारा दो व्यवस्थाओं व स्थितियों में उनके परिवेश, समानताओं व असमानताओं का अध्ययन कर उनके दुर्बल व सशक्त पक्षों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

तुलनात्मक पद्धति का सफलतापूर्वक प्रयोग करने के लिए कुछ बातों का ध्यान रखा जाना आवश्यक है। सर्वप्रथम, तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग करते समय समानताओं के साथ-साथ असमानताओं का भी ध्यान रखा जाना चाहिए और जल्दबाजी में परिणाम नहीं निकाले जाने चाहिए। द्वितीय, अध्ययनकर्ता को मानव स्वभाव एवं समय विशेष की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों का भी ध्यान रखना चाहिए।

(4) प्रयोगात्मक पद्धति (Experimental Method)—यद्यपि नागरिकशास्त्र में व्यक्ति के साथ उसी प्रकार के प्रयोग नहीं किये जा सकते, जिस प्रकार से एक पदार्थ वैज्ञानिक भौतिक तत्वों अथवा मिश्रणों के साथ प्रयोग कर सकता है। फिर भी यह कहना अनुचित है कि नागरिकशास्त्र में प्रयोगात्मक पद्धति अपनायी ही नहीं जा सकती। वस्तुतः आज नागरिक जीवन समस्त विश्व तक विस्तृत हो गया है और समस्त विश्व नागरिक जीवन की प्रयोगशाला ही है। इस व्यापक क्षेत्र में प्रत्येक नयी संस्था की स्थापना, प्रत्येक नये कानून का निर्माण और प्रत्येक नये शासन विधान तथा व्यवस्था का आरम्भ नागरिकशास्त्र के विद्यार्थी के लिए प्रयोग ही है जिसके आधार पर वह अपने विषय के लिए नवीन सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

नागरिकशास्त्र का अध्ययन विषय चेतन एवं परिवर्तनशील प्रकृति का प्राणी (मनुष्य) है, अतः प्रयोगात्मक पद्धति को अपनाते समय बहुत अधिक सावधानी बरतने की आवश्यकता है। प्रथम, प्रयोगकर्ता के व्यक्तिगत दृष्टिकोण तथा पक्षपात की भावना को प्रयोग से अलग रखा जाना चाहिए। द्वितीय, प्रयोगकर्ता के द्वारा प्रयोग से सम्बन्धित विशेष परिस्थितियों का पूर्ण ध्यान रखा जाना चाहिए। प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के प्रयोग का स्विट्जरलैण्ड में सफल होना और अमरीका में असफल होना प्रयोग की सफलता में परिस्थितियों की प्रभावशीलता का ही प्रमाण है।

(5) दार्शनिक पद्धति (Philosophical Method)—दार्शनिक पद्धति में प्रथम चार पद्धतियों की तरह तथ्यों के आधार पर सामान्य सिद्धान्तों की स्थापना नहीं की जाती, वरन् कल्पना और विचारों के आधार पर अध्ययन किया जाता है। मनुष्य की मूल प्रकृति और सामाजिक संगठन का उद्देश्य निश्चित कर लेने के बाद इस बात का ज्ञान प्राप्त किया जाता है कि आदर्श नागरिक जीवन की कल्पना को चरितार्थ करने के लिए किस प्रकार के सामाजिक संगठन और व्यवस्था की स्थापना की जानी चाहिए। दार्शनिक पद्धति का सर्वप्रथम और सबसे प्रमुख रूप में प्रयोग प्लेटो के द्वारा किया गया।

दार्शनिक पद्धति को अपनाने में इस बात की सबसे बड़ी आशंका रहती है कि कल्पना की उड़ान भरते हुए वास्तविकता से पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद न कर लिया जाय। अतः कल्पना और यथार्थ का सन्तुलन बनाये रखा जाना चाहिए।

(6) वैज्ञानिक पद्धति (Scientific Method)—विश्लेषणकारी न्यायविदों (ब्लोबी, डिग्विट, आदि) के द्वारा नागरिक जीवन के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति अपनाने पर जोर दिया गया है। यह प्रणाली राज्य को एक वैज्ञानिक इकाई, निगम या व्यक्ति मानती है, जिसका कार्य कानून बनाना और उन्हें लागू करना है। इस प्रणाली के अनुसार राज्य वैधानिक अधिकारों और कर्तव्यों का समूह है, परन्तु इस प्रणाली में यह दोष है कि इसके द्वारा उन सामाजिक शक्तियों को भुला दिया जाता है जो संविधान, कानून तथा मानवीय सम्बन्धों के आधार रूप में कार्य करती हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सामाजिक विज्ञानों में आयी व्यवहारवादी क्रान्ति के कारण इन विषयों में तथ्यपरक, व्यावहारिक व वैज्ञानिक अध्ययन पर अधिक जोर दिया जाने लगा है।

(7) जीवशास्त्रीय पद्धति (Biological Method)—हर्बर्ट स्पेन्सर के द्वारा राज्य को एक सावयव मानकर नागरिक और राजनीतिक जीवन के अध्ययन हेतु जीवशास्त्रीय पद्धति को अपनाने पर बल दिया गया है, किन्तु यह पद्धति विशेष उपयोगी नहीं हो सकती, क्योंकि इसके अन्तर्गत अपनायी जाने वाली मनोरंजक सादृश्यताएं हमें किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुंचाती हैं।

निष्कर्ष : सभी पद्धतियों का सामूहिक प्रयोग

अध्ययन पद्धतियों के सम्बन्ध में सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि नागरिकशास्त्र का पूर्ण अध्ययन इनमें से किसी एक पद्धति के आधार पर नहीं, वरन् इन सभी पद्धतियों के सामूहिक प्रयोग के आधार पर

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही सम्भव है। वास्तव में, ये विभिन्न पद्धतियां परस्पर विरोधी नहीं, वरन् एक-दूसरे की सहायक और पूरक हैं। ये पद्धतियां एक-दूसरे की भूलों को सुधारतीं और कमियों को दूर करती हैं। वस्तुतः नागरिकशास्त्र का अध्ययन विषय इतना अधिक व्यापक है कि इसके अध्ययन के लिए इन सभी पद्धतियों (पर्यवेक्षणात्मक, तुलनात्मक, ऐतिहासिक, प्रयोगात्मक तथा दार्शनिक) का एक साथ प्रयोग करना आवश्यक होता है। सिद्धान्तों को जीवन के यथार्थ तथ्यों की कसौटी पर कसना आवश्यक है और जीवन के तथ्यों का सही मूल्यांकन सिद्धान्तों के प्रकाश में ही सम्भव है। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए **यथार्थवाद तथा आदर्शवाद का मधुर सम्मिश्रण आवश्यक है।**

पद्धतियों के प्रयोगकर्ता के लिए आवश्यक गुण

नागरिकशास्त्र की उपर्युक्त अध्ययन पद्धतियां तभी सार्थक हो सकती हैं और हमें सही निष्कर्ष प्रदान कर सकती हैं जबकि इन पद्धतियों का प्रयोग करने वाले व्यक्ति में आवश्यक गुण हों। इन पद्धतियों के प्रयोगकर्ता में कुछ विशेष गुण होने चाहिए, तभी उचित रूप में अध्ययन किया जा सकेगा। ये गुण हैं : **व्यापक ज्ञान, स्वतन्त्र विचार शक्ति, यथार्थवादिता और कल्पनाशीलता, निष्पक्ष और व्यापक दृष्टिकोण, परिश्रमी प्रवृत्ति, सहानुभूति एवं सहृदयशीलता, समाज सेवा की भावना और आत्मविश्वास।**

नागरिकशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता या महत्व

यद्यपि नागरिकशास्त्र अन्य समाज विज्ञानों की तुलना में नया है, क्योंकि यह अभी केवल पन्द्रह सदी पुराना ही है, जबकि अन्य समाज विज्ञान सैकड़ों सदियों के सामाजिक परिवर्तनों का अनुभव कर चुके हैं, लेकिन इसका महत्व तथा उपयोगिता निश्चित रूप से बहुत अधिक है। इसी बात को लक्ष्य करते हुए **पैट्रिक गेड्स** ने लिखा है, "यद्यपि नागरिकशास्त्र सबसे नया शास्त्र है, परन्तु यह अत्यन्त विशाल तथा सतत् विकासमान ज्ञान रूपी वृक्ष की उस छोटी कली के समान है जो सबसे अधिक फलप्रद सिद्ध हो सकती है।" नागरिकशास्त्र के भावी महत्व पर प्रकाश डालते हुए ही **ई. एम. ह्वाइट** ने लिखा है कि "नागरिकशास्त्र अभी अपने निर्माण की अवस्था में है, परन्तु यह ऐसा विषय है जो भावी शिक्षा में बड़े महत्व का सिद्ध हो सकता है।"

भूतकाल में विश्व के अधिकांश देशों में राजतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था थी जिसके अन्तर्गत एक व्यक्ति द्वारा शासक के रूप में कार्य किया जाता था और अन्य व्यक्ति इस शासक की आज्ञापालन का ही कार्य करते थे, लेकिन वर्तमान समय में विश्व के अधिकांश देशों में राजतन्त्र का स्थान प्रजातन्त्र ने ले लिया है तथा 'नागरिक' ने 'प्रजा' का स्थान ले लिया है। जिसके अन्तर्गत जनता द्वारा सरकार का निर्माण किया जाता है। ऐसी परिस्थिति में एक देश में जिस प्रकार की जनता होती है उसी प्रकार की सरकार का निर्माण हो जाता है। अतः देश की शासन व्यवस्था आदर्श नागरिकों पर निर्भर करती है और इस प्रकार के आदर्श नागरिकों के निर्माण का कार्य नागरिकशास्त्र द्वारा ही किया जा सकता है। आज के प्रजातन्त्रात्मक और वैज्ञानिक युग में नागरिकशास्त्र का अध्ययन प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक हो गया है। वर्तमान समय में नागरिकशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता निम्नलिखित रूपों में स्पष्ट की जा सकती है :

(1) **नागरिकों में सद्गुणों का विकास**—आज के जनजीवन की अव्यवस्था का मूल कारण यह है कि मानव मानवत्व से दूर हटकर पशुता की ओर बढ़ता चला जा रहा है। ऐसी स्थिति में नागरिकशास्त्र मानव को पशुता की दिशा से हटाकर मानवता की दिशा में अग्रसर करने का प्रयत्न करता है। नागरिकशास्त्र के द्वारा व्यक्ति को प्रेम, सेवा, सहयोग, सहिष्णुता, अनुशासन, आज्ञापालन, परोपकार और राष्ट्र-प्रेम की भावना को ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया जाता है और वह इस बात पर बल देता है कि व्यक्ति इन गुणों को अपनाकर ही स्वयं अपने तथा समाज और राष्ट्र के विकास में योग दे सकता है। नागरिकशास्त्र इस बात का सतत् प्रयत्न करता है कि व्यक्ति अपने निजी स्वार्थ पर अंकुश रखते हुए आदर्श नागरिक के रूप में जीवन व्यतीत करे। आज इन सद्गुणों के विकास की सबसे अधिक आवश्यकता है, अतः नागरिकशास्त्र के अध्ययन का सर्वाधिक महत्व है।

(2) **मानव अधिकारों और कर्तव्यों का ज्ञान**—मानव जाति के प्रारम्भिक काल से ही व्यक्ति और राज्य के सम्बन्धों की समस्या सबसे अधिक जटिल रही है। मानव जाति की उन्नति के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि इन दोनों के बीच उचित प्रकार के सम्बन्धों की स्थापना हो। व्यक्ति और राज्य के बीच उचित सम्बन्धों

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की स्थापना नागरिकशास्त्र के अध्ययन की सहायता से ही की जा सकती है। नागरिकशास्त्र हमें मानव अधिकारों का ज्ञान प्रदान करता है जिससे हम अपने व्यक्तित्व का सर्वोच्च विकास कर सकते हैं। नागरिकशास्त्र हमें समाज और राज्य के प्रति अपने कर्तव्यों का भी ज्ञान प्रदान करता है जिससे हम समाज और राज्य की उन्नति में योग दे सकें। इसके अतिरिक्त नागरिकशास्त्र अधिकारों के उपभोग और कर्तव्यों के पालन का व्यावहारिक मार्ग भी बताता है। नागरिकशास्त्र अधिकारों और कर्तव्यों का ज्ञान प्रदान कर व्यक्ति को समाज की श्रेष्ठतम इकाई बनाने का प्रयत्न करता है।

नागरिकशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता या महत्व

(1) नागरिकों में सद्गुणों का विकास
(2) मानव अधिकारों और कर्तव्यों का ज्ञान
(3) मानवीय दृष्टिकोण को उदार बनाना
(4) सामाजिक जीवन को सुखी एवं शान्तिपूर्ण बनाना
(5) देशप्रेम एवं राष्ट्रीयता की शिक्षा का ज्ञान
(6) विश्वबन्धुत्व एवं अन्तर्राष्ट्रीयता की शिक्षा
(7) राष्ट्रीय एवं संवैधानिक इतिहास का ज्ञान
(8) राज्य एवं सरकार का ज्ञान
(9) स्वस्थ जनमत के निर्माण में सहायक
(10) विभिन्न समुदायों और संस्थाओं का ज्ञान
(11) राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का ज्ञान
(12) विभिन्न राजनीतिक विचार-धाराओं का ज्ञान
(13) प्रजातन्त्रीय शासन की सफलता में सहायक

(3) मानवीय दृष्टिकोण को उदार बनाना—वैज्ञानिक विकास के कारण संसार भर के मनुष्य अब एक-दूसरे के बहुत अधिक समीप आ गये हैं और सम्पूर्ण विश्व ने एक इकाई का रूप ग्रहण कर लिया है। नागरिकशास्त्र हमें मानवीय जीवन की इसी अन्तर्निर्भरता का पाठ पढ़ाता है और हमें परिवार, जाति, ग्राम और नगर के तंग दायरे से बाहर निकालकर राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करने की क्षमता प्रदान करता है। इसी दृष्टि से ई. एम. ह्वाइट ने लिखा है कि "वर्तमान युग में जिन समस्याओं का सामना करना है उन्हें सुलझाने के लिए व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता है और नागरिकशास्त्र अपने सामंजस्यपूर्ण अध्ययन से व्यापक दृष्टिकोण प्रदान करता है।"

(4) सामाजिक जीवन को सुखी एवं शान्तिपूर्ण बनाना—नागरिकशास्त्र के अध्ययन से सामाजिक और संगठित जीवन के उन सिद्धान्तों का ज्ञान होता है जिनसे कि सामाजिक जीवन सुखी और शान्तिमय बनाया जा सके और मतभेदों एवं विवाद के कारणों को दूर किया जा सके। वर्तमान समय के जटिल सामाजिक जीवन में व्यक्ति आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक अनेक प्रकार के समुदायों का सदस्य होता है और व्यक्ति के जीवन में अनेक ऐसे अवसर आते हैं जबकि विभिन्न समुदायों के प्रति उसके कर्तव्यों में विरोध उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार के विरोध को दूर करने के लिए नागरिकशास्त्र विभिन्न समुदायों के प्रति भक्ति में सामंजस्य स्थापित करने का मार्ग बताता है और वह व्यावहारिक मार्ग यह है कि इस प्रकार के विरोध की प्रत्येक स्थिति में नागरिकों को उच्चतर कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। इस प्रकार नागरिकशास्त्र के अध्ययन के आधार पर ही सामाजिक जीवन को सुखी और शान्तिपूर्ण बनाया जा सकता है। इसी बात को दृष्टि में रखते हुए एक विद्वान द्वारा नागरिकशास्त्र को 'सुखी जीवन के ज्ञान' के नाम से पुकारा गया है।

(5) देशप्रेम एवं राष्ट्रीयता की शिक्षा का ज्ञान—नागरिकशास्त्र के अध्ययन से राष्ट्रीयता की भावना का विकास होता है और देशप्रेम की शिक्षा मिलती है। यह व्यक्ति को इस बात का ज्ञान प्रदान करता है कि उसके कर्तव्य किसी स्थान विशेष अर्थात् ग्राम या नगर तक सीमित नहीं हैं। उसका ग्राम या नगर राष्ट्र का एक अभिन्न अंग है और व्यक्ति के द्वारा राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्यों का अनिवार्य रूप से पालन किया जाना चाहिए क्योंकि राष्ट्र के विकास में ही उसके अपने परिवार, ग्राम और नगर का विकास निहित है। वस्तुतः नागरिकशास्त्र के अध्ययन के द्वारा व्यक्ति अपनी भूमिका व दायित्वों को राष्ट्र के सन्दर्भ में समझने का प्रयास करता है। जिससे वह अपने राष्ट्रीय दायित्वों के प्रति जागरूक व सजग हो जाता है।

(6) विश्वबन्धुत्व एवं अन्तर्राष्ट्रीयता की शिक्षा—नागरिकशास्त्र हमें राष्ट्रीयता की भावना तक ही सीमित नहीं करता, वरन् इसके आगे बढ़कर अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्वबन्धुत्व की शिक्षा प्रदान करता है। नागरिकशास्त्र इस बात की शिक्षा प्रदान करता है कि विश्व के सभी नागरिक समान हैं और हमारे द्वारा न केवल अपने

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देश वरन् सम्पूर्ण मानवता के हितों को दृष्टि में रखकर विचार किया जाना चाहिए। हमारा सर्वोच्च कर्तव्य सम्पूर्ण मानवता के प्रति है और हमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना को अपनाकर समस्त विश्व को अपना कुटुम्ब ही समझना चाहिए।

(7) राष्ट्रीय एवं संवैधानिक इतिहास का ज्ञान—नागरिकशास्त्र के अन्तर्गत हम अपने देश के राष्ट्रीय एवं संवैधानिक इतिहास का अध्ययन करते हैं। इस प्रकार के अध्ययन के आधार पर नागरिकशास्त्र का एक विद्यार्थी अपने देश के प्राचीन गौरव और असफलताओं का ज्ञान प्राप्त कर सकता है और इस प्रकार की असफलताओं को दूर करते हुए देश के पुनर्निर्माण में योग दे सकता है। नागरिकशास्त्र का एक विद्यार्थी अपने देश के राष्ट्रीय इतिहास का अध्ययन करके यह जान सकता है कि उसके देश की स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिए कितना त्याग और तपस्या की गयी है। इस प्रकार के अध्ययन के आधार पर उसमें स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए प्रत्येक सम्भव त्याग करने की भावना का उदय होता है।

(8) राज्य एवं सरकार का ज्ञान—राजतन्त्रात्मक और बहुत कुछ सीमा तक कुलीनतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत सामान्य व्यक्ति द्वारा 'कोऊ नृप होऊ हमें का हानि' की बात कर राज्य और सरकार के प्रति उपेक्षा की प्रवृत्ति अपनायी जा सकती है, लेकिन लोकतन्त्र में नागरिक अपने मताधिकार का उचित रूप में प्रयोग कर सके, इसके लिए उसे राज्य और सरकार का ज्ञान होना आवश्यक है। देश में शासन का क्या रूप है, शासन किन व्यक्तियों के हाथों में है, शासनाधिकारी सत्ता का प्रयोग स्वहित में करते हैं या जनहित में—इन सभी विषयों का ज्ञान नागरिकशास्त्र के अध्ययन के आधार पर ही प्राप्त किया जा सकता है।

(9) स्वस्थ जनमत के निर्माण में सहायक—वर्तमान समय की शासन-व्यवस्था में लोकमत का बहुत अधिक महत्व होता है और एक व्यक्ति लोकमत के निर्माण में ठीक प्रकार से भाग ले सके, इसके लिए नागरिकशास्त्र के ज्ञान की मूलभूत रूप में आवश्यकता होती है। नागरिकशास्त्र देश की प्रमुख समस्याओं और नागरिक जीवन के सिद्धान्तों का ज्ञान प्रदान कर स्वस्थ और सजग जनमत के निर्माण में बहुत अधिक सहायक होता है। स्वस्थ जनमत जनहित की भावना से प्रेरित व विवेकसम्मत होता है तथा नागरिकशास्त्र व्यक्ति को इस प्रकार के जनमत के निर्माण हेतु सक्षम बनाता है।

(10) विभिन्न समुदायों और संस्थाओं का ज्ञान—नागरिकशास्त्र इस बात का ज्ञान प्रदान करता है कि परिवार, जाति, राष्ट्र तथा विभिन्न प्रकार के समुदायों (धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा परोपकारी) का संगठन कैसा है, उनके लक्ष्य क्या हैं और उनके द्वारा इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए क्या प्रयत्न किये जा रहे हैं? आज की स्थिति में, जबकि समुदायों और संस्थाओं के बिना नागरिक जीवन की कल्पना ही सम्भव नहीं है, नागरिकशास्त्र द्वारा प्रदान किये गये इस ज्ञान का महत्व बहुत अधिक हो जाता है।

(11) राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का ज्ञान—आज वैज्ञानिक विकास के परिणामस्वरूप दूरी पर बहुत अधिक सीमा तक विजय प्राप्त कर ली गयी है और विश्व सिमटकर एक इकाई बन गया है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक नागरिक के लिए राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का ज्ञान बहुत अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है और नागरिकशास्त्र यह ज्ञान भी प्रदान करता है।

(12) विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं का ज्ञान—नागरिकशास्त्र में राज्य के उद्देश्य, संगठन और कार्यक्षेत्र तथा सरकार के प्रकार और व्यवस्था के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विचारधाराओं का अध्ययन किया जाता है और इन विचारधाराओं के गुण-दोषों का ज्ञान भी प्रदान किया जाता है। इस प्रकार नागरिकशास्त्र के अध्ययन से हम यह जान सकते हैं कि वर्तमान समय में हमारे देश की परिस्थितियों और आवश्यकताओं की दृष्टि से कौन-सी विचारधारा सबसे अधिक उपयुक्त होगी और सरकार का संगठन किस प्रकार से किया जाना चाहिए।

(13) प्रजातन्त्रीय शासन की सफलता में सहायक—प्रजातन्त्र का आधारभूत सिद्धान्त है 'यथा प्रजा तथा राजा' अर्थात् जैसी प्रजा होगी, वैसा ही शासक वर्ग होगा। अतः प्रजातन्त्र की सफलता के लिए ऐसे नागरिकों की आवश्यकता होती है जो सामान्य सूझबूझ और विवेक-बुद्धि में पूर्ण हों और जिनमें अपने कर्तव्यों के प्रति संजगता हो। नागरिकशास्त्र ऐसे नागरिक तैयार कर प्रजातन्त्र की सफलता में सहायक होता है। इस सम्बन्ध में नागरिकशास्त्र की उपयोगिता को स्वीकार करते हुए ही वर्तमान समय में सभी प्रजातन्त्रात्मक देशों में नागरिकशास्त्र के अध्ययन को अधिक-से-अधिक महत्व दिया जा रहा है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्यार्थियों के लिए नागरिकशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता

विद्यार्थियों के लिए नागरिकशास्त्र के अध्ययन का महत्व अन्य सभी व्यक्ति समूहों से अधिक है। यह बात निम्नलिखित विवेचना से स्पष्ट हो जाती है :

1. नागरिकता की शिक्षा के लिए उचित अवस्था—विद्यार्थियों का मस्तिष्क अन्य बड़ी आयु वाले व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक विकासशील और कोमल होता है तथा उन्हें किसी भी प्रकार से ढाला जा सकता है। विद्यार्थी जीवन में जो बातें सिखायी जाती हैं, उनका प्रभाव स्थायी होता है। अतः यदि विद्यार्थी को नागरिकशास्त्र की शिक्षा प्रदान की जाय, तो इस बात की सहज ही आशा की जा सकती है कि वे इन आदर्शों को अपने जीवन में उतार लेंगे।

2. राष्ट्र के कर्णधार बनाने में सहायक—विद्यार्थी प्रत्येक देश के भावी जीवन और कर्णधार होते हैं। आज के विद्यार्थी ही कल के समाज-सुधारक, राजनीतिज्ञ और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के रचनाकार होंगे। जीवन के इन क्षेत्रों में कार्य करते हुए व्यक्ति समाज और राज्य की उन्नति में तभी योग दे सकता है जबकि वह आदर्श नागरिक हो। आदर्श नागरिकता का यह पाठ नागरिकशास्त्र ही पढ़ाता है।

3. समाज सेवा और राष्ट्र सेवा की शिक्षा—नागरिकशास्त्र की शिक्षा से विद्यार्थी को ज्ञात होता है कि अपने ग्राम, नगर और देश के प्रति उसके क्या कर्तव्य हैं। उसे ग्रामीण और शहरी क्षेत्र की स्थानीय स्वशासन संस्थाओं तथा देश के संविधान की जानकारी प्राप्त होती है, समाज और देश के प्रति अपने दायित्वों को पूरा करने की प्रेरणा मिलती है तथा वह सीखता है कि उसके द्वारा इन दायित्वों को किस प्रकार पूरा किया जा सकता है।

भारतीय दृष्टि से नागरिकशास्त्र की विशेष उपयोगिता

अपनी अशिक्षा, अविश्वास और संकुचित मतभेदों के कारण भारत सदियों तक दासता की बेड़ियों में जकड़ा रहा और आज भी भारत एक नव-स्वतन्त्रता प्राप्त देश है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद शीघ्र ही यहां पर लोकतन्त्रीय सरकार की स्थापना हुई और विश्व के इतिहास में पहली बार इतनी बड़ी जनसंख्या को वयस्क मताधिकार प्रदान किया गया। आज भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतान्त्रिक देश है।

इस स्वतन्त्रता की रक्षा करने और प्रजातन्त्र को सफल बनाने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि नागरिकों को अपने अधिकारों और कर्तव्यों का ज्ञान प्राप्त हो, वे अपने अधिकारों का ठीक प्रकार से उपभोग और कर्तव्यों का उचित रूप से पालन करें, वे स्वतन्त्रता के मूल्य को समझें और अपने क्षुद्र स्वार्थों को त्यागकर राष्ट्र-निर्माण के कार्य में लग जायें। नागरिकशास्त्र ही वह विज्ञान है जो नागरिकों के अन्धविश्वास और अशिक्षा को दूर करके उनमें नवजीवन का संचार कर सकता है।

यद्यपि भारत में प्रजातन्त्र की स्थापना हो गयी है, किन्तु भारत की साधारण जनता प्रजातन्त्र के अर्थ और उत्तरदायित्वों को पूर्णतया नहीं समझ सकी है। भारत में राजनीतिक पिछड़ेपन के साथ-ही-साथ स्वस्थ सामाजिक चेतना का अभाव है। भारत में प्राचीनकाल की अनेक कुरीतियां आज भी विद्यमान हैं। उत्तम सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के पश्चात् ही राजनीतिक चेतना का विकास सम्भव हो सकेगा। नागरिकशास्त्र के ज्ञान की सहायता से ही मनुष्य के सामाजिक और राजनीतिक स्तर को ऊंचा उठाया जा सकता है। जब नागरिकों में अपने अधिकारों के प्रति चेतना और कर्तव्यों के प्रति जागरूकता होगी, तभी भारत विविध क्षेत्रों में विकास कर सकेगा। 21वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारतीय लोकतन्त्र जातिवाद, साम्प्रदायिकता, राजनीति भ्रष्टाचार, निजी स्वार्थों की प्रधानता, हिंसा व शक्ति के प्रयोग आदि विसंगतियों से ग्रसित है। इन समस्याओं का समाधान केवल कानून में निहित नहीं है। इनके समाधान की कुंजी जागरूक नागरिकों में निहित है। यही नागरिकशास्त्र का भारत में वास्तविक महत्व है।

इस प्रकार नागरिकशास्त्र का अध्ययन सभी के लिए बहुत अधिक हितकर है। सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा वर्तमान समय की भारतीय परिस्थितियों में और विद्यार्थियों के लिए नागरिकशास्त्र की उपयोगिता बहुत अधिक बढ़ जाती है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (प्रत्येक प्रश्न 6 अंक का, उत्तर लगभग 300 शब्दों में दीजिए)

1. नागरिकशास्त्र की परिभाषा दीजिए। इसकी व्यावहारिक उपयोगिता क्या है?
2. विज्ञान की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए। क्या नागरिकशास्त्र विज्ञान है?
3. नागरिकशास्त्र से आप क्या समझते हैं? इस कथन को स्पष्ट कीजिए कि 'नागरिकशास्त्र सामाजिक निरीक्षण का सामाजिक सेवा में प्रयोग है।'
   (संकेत—प्रो. गेड्स के इस कथन की व्याख्या में नागरिकशास्त्र की परिभाषा को स्पष्ट किया जाना है।)
4. 'नागरिकशास्त्र कला और विज्ञान दोनों है।' इस कथन की विवेचना कीजिए।
5. नागरिकशास्त्र की परिभाषा दीजिए तथा इसके क्षेत्र की विवेचना कीजिए। (उ.प्र., 2010)
6. नागरिकशास्त्र की विभिन्न परिभाषाओं की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए। इसका क्षेत्र भी स्पष्ट कीजिए।
7. नागरिकशास्त्र की प्रकृति तथा उसकी उपयोगिता की व्याख्या कीजिए। इसके अध्ययन की क्या विधियां हैं?
8. एक सभ्य समाज में नागरिकशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता पर निबन्ध लिखिए। (उ.प्र., 2010)
9. "नागरिकशास्त्र का क्षेत्र विस्तारित है।" इस कथन की विवेचना कीजिए। (उ.प्र., 2010)
10. नागरिकशास्त्र के अध्ययन की विभिन्न पद्धतियां कौन-सी हैं? किस पद्धति को आप अच्छा समझते हैं और क्यों? (उ.प्र., 2010)

लघु उत्तरीय प्रश्न

(अ) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 50 शब्दों में दीजिए (2 अंक)।

1. नागरिकशास्त्र की सर्वश्रेष्ठ परिभाषा कौन-सी है?
   अथवा, नागरिकशास्त्र की एक परिभाषा लिखिए।
2. नागरिकशास्त्र की संक्षेप में व्युत्पत्ति लिखिए।
3. नागरिकशास्त्र को विज्ञान मानने से सम्बन्धित किन्हीं दो तर्कों को बताइए। (उ.प्र., 2010)

(ब) नोट—निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिए (4 अंक)।

4. नागरिकशास्त्र का क्षेत्र या विषय-विस्तार लिखिए।
5. नागरिकशास्त्र के अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य क्या है?
6. नागरिकशास्त्र के अध्ययन की कौन-कौन सी विधियां हैं? (उ.प्र., 2010)
7. नागरिकशास्त्र के विज्ञान न होने के पक्ष में चार तर्क दीजिए। (उ.प्र., 2010)
8. नागरिकशास्त्र के अध्ययन की क्या उपयोगिता है?
9. भारतीय दृष्टि से नागरिकशास्त्र की क्या उपयोगिता है?
10. नागरिकशास्त्र के विज्ञान होने के पक्ष में दो तर्क दीजिए।
11. नागरिकशास्त्र की कोई दो अध्ययन पद्धतियां लिखिए।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न [प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का, उत्तर दस शब्द (एक वाक्य) में]

प्रश्न 1—नागरिकशास्त्र की परिभाषा करने वाले दो विद्वानों के नाम लिखिए।
उत्तर—(1) प्रो. पुन्ताम्बेकर, (2) डॉ. ई. एम. क्राइट।

प्रश्न 2—"नागरिकशास्त्र नागरिकता का विज्ञान तथा दर्शन है।" यह परिभाषा किस विद्वान ने दी है?
उत्तर—प्रो. पुन्ताम्बेकर।

प्रश्न 3—नागरिकशास्त्र विज्ञान है अथवा कला?
उत्तर—नागरिकशास्त्र विज्ञान और कला दोनों है।

प्रश्न 4—नागरिकशास्त्र के अध्ययन की किसी एक उपयोगिता को बताइए।
उत्तर—नागरिकशास्त्र आदर्श नागरिकता की शिक्षा देता है।

प्रश्न 5—नागरिकशास्त्र के अध्ययन के दो प्रमुख लाभ लिखिए।
उत्तर—(1) अधिकारों तथा कर्तव्यों का ज्ञान, (2) राज्य तथा सरकार का ज्ञान।

प्रश्न 6—नागरिकशास्त्र के अध्ययन की दो विधियां बताइये।
उत्तर—(1) ऐतिहासिक पद्धति, (2) तुलनात्मक पद्धति।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(उ.प्र., 2010)

प्रश्न 7—नागरिकशास्त्र की एक परिभाषा लिखिए।
उत्तर—प्रो. पुन्ताम्बेकर : 'नागरिकशास्त्र नागरिकता का विज्ञान और दर्शन है।'

प्रश्न 8—नागरिकशास्त्र के विज्ञान होने के पक्ष में कोई एक तर्क दीजिए।
उत्तर—नागरिकशास्त्र में नागरिक जीवन का क्रमबद्ध और वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन किया जाता है।

प्रश्न 9—नागरिकशास्त्र के विज्ञान न होने के पक्ष में एक तर्क प्रस्तुत कीजिए।
उत्तर—नागरिकशास्त्र के नियम और निष्कर्ष भौतिक विज्ञानों की भाँति अटल और निश्चित नहीं हैं।

प्रश्न 10—'सिविस' तथा 'सिविटास' शब्दों के अर्थ लिखिए।
उत्तर—'सिविस' का अर्थ है 'नागरिक' तथा 'सिविटास' का अर्थ है 'नगर राज्य'।

बहुविकल्पीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों में चार विकल्प दिए गए हैं। उनमें से एक सही विकल्प छाँटकर लिखिए :

1. 'सिविस' (civis) और 'सिविटास' (civitas) शब्द किस भाषा के हैं :
   (अ) आंग्ल (ब) हिन्दी
   (स) लैटिन (द) फ्रेंच
2. लैटिन भाषा में 'सिविस' (civis) शब्द का अर्थ होता है :
   (अ) नागरिक (ब) ग्राम
   (स) नगर (द) विदेशी
3. लैटिन भाषा में 'सिविटास' (civitas) शब्द का अर्थ होता है :
   (अ) जिला (ब) प्रान्त
   (स) नगर (द) ग्राम
4. "नागरिकशास्त्र नागरिकता का विज्ञान और दर्शन है।" यह कथन किस विचारक का है :
   (अ) डॉ. वेनी प्रसाद (ब) पुन्ताम्बेकर
   (स) वार्ड (द) प्रो. एफ. जी. गोल्ड
5. "नागरिकशास्त्र सामाजिक सर्वेक्षण का सामाजिक सेवा में प्रयोग है।" यह कथन किस विचारक का है :
   (अ) डॉ. ई. एम. ह्वाइट (ब) पुन्ताम्बेकर
   (स) वार्ड (द) प्रो. गेड्स
6. नागरिकशास्त्र में अध्ययन किया जाता है :
   (अ) व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन का (ब) अधिकारों तथा कर्तव्यों का
   (स) संविधान का (द) इनमें से सभी का
7. नागरिकशास्त्र एक : (उ.प्र., 2010)
   (अ) विज्ञान है। (ब) कला है।
   (स) विज्ञान और कला दोनों ही है। (द) न विज्ञान है और न ही कला।
8. नागरिकशास्त्र के विज्ञान होने पर आपत्ति की जाती है :
   (अ) इसमें सर्वमान्य तथ्यों का अभाव है। (ब) इसमें कार्य और कारण में निश्चित सम्बन्ध का अभाव है।
   (स) इसमें पर्यवेक्षण एवं परीक्षण का अभाव है। (द) इनमें से सभी।
9. नागरिकशास्त्र एक विज्ञान है, क्योंकि :
   (अ) इसका अध्ययन पूर्णतया क्रमबद्ध रूप में किया जाता है।
   (ब) इसमें पर्यवेक्षण होते हैं।
   (स) इसमें परीक्षण होते हैं।
   (द) उपर्युक्त सभी।
10. नागरिकशास्त्र की प्रयोगशाला है :
    (अ) इतिहास (ब) अर्थशास्त्र
    (स) मनोविज्ञान (द) इनमें से कोई नहीं
11. नागरिकशास्त्र की अध्ययन विधि है :
    (अ) पर्यवेक्षणात्मक पद्धति (ब) ऐतिहासिक पद्धति
    (स) तुलनात्मक पद्धति (द) इनमें से सभी विधियाँ

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection. and eGangotri

12. प्राचीनकाल में यूनान के किस दार्शनिक द्वारा 'तुलनात्मक पद्धति' का प्रयोग किया गया : (उ.प्र., 2010)
(अ) प्लेटो (ब) अरस्तू
(स) सुकरात (द) इनमें में से कोई नहीं

13. 'दार्शनिक पद्धति' का सर्वप्रथम और सबसे प्रमुख रूप से प्रयोग किस दार्शनिक द्वारा किया गया :
(अ) प्लेटो (ब) हॉब्स
(स) रूसो (द) मार्क्स

14. नागरिक और राजनीतिक जीवन के अध्ययन हेतु 'जीवशास्त्रीय पद्धति' को अपनाने पर किसने बल दिया :
(अ) विलोबी (ब) ब्राइस
(स) हर्बर्ट स्पेन्सर (द) डिग्विट

15. नागरिकशास्त्र की अध्ययन पद्धतियों के प्रयोगकर्ता में कौन-सा विशेष गुण होना चाहिए :
(अ) व्यापक ज्ञान (ब) निष्पक्ष और व्यापक दृष्टिकोण
(स) स्वतन्त्र विचार शक्ति (द) इनमें से सभी गुण

16. "नागरिकशास्त्र उन संस्थाओं, आदतों, कार्यों एवं भावनाओं का अध्ययन जिनके द्वारा कोई पुरुष या स्त्री अपने कर्तव्यों की पूर्ति कर सके और राजनीतिक समुदाय के सदस्य होने के लाभ प्राप्त कर सके।" यह कथन किसका है : (उ.प्र., 2010)
(अ) डॉ. ई. एम. ह्वाईट का (ब) पुन्ताम्बेकर का
(स) एफ. जी. गोल्ड का (द) डॉ. बेनी प्रसाद का

17. नागरिकशास्त्र की अध्ययन विधियां है/हैं : (उ.प्र., 2010)
(अ) निगमनात्मक (ब) आगमनात्मक
(स) 'अ' व 'ब' दोनों (द) इन दोनों में से कोई नहीं

[उत्तर—1. (स), 2. (अ), 3. (स), 4. (ब), 5. (द), 6. (द), 7. (स), 8. (द), 9. (द), 10. (अ), 11. (द), 12. (ब), 13. (अ), 14. (स), 15. (द), 16. (स), 17. (स)]

(1.) अन्तिम रूप से जनता का शासन रहता है ॥
(2.) शासन शक्ति का स्रोत संविधान है ॥
(3.) संविधान (4.) विचारधारा
धारा - 16 यह बोलता था मैं ही राज्य हूं ॥
अनुच्छेद 32 / के अनुसार व्यक्ति अपने अधिकार की सुरक्षा के लिए सर्वोच्च न्यायालय की शरण ले सकता है (सुप्रीमकोर्ट)
अनुच्छेद 226 / के अनुसार अपने अधिकार की सुरक्षा के लिए उच्च न्यायालय की शरण ले सकता है (हाईकोर्ट)
CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.
फांसी के लोहा मनुष्य को मारने के लिए एक मशीन बनाया (गिलोटिन

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2

नागरिकशास्त्र तथा अन्य समाज विज्ञान

[CIVICS AND OTHER SOCIAL SCIENCES]

"नागरिकशास्त्र आवश्यक रूप से सम्बन्ध निश्चित करने वाला शास्त्र है। यह विभिन्न युगों में प्रचलित सभ्यता एवं उनकी सफलताओं को दीर्घ शृंखला की कड़ियों की तरह जोड़ता है। यह शास्त्र समस्त विषयों को ऐसे सम्बन्धित कर देता है जैसे वे सब मनुष्य जाति के जीवन की कहानी के भाग हों।"

—डॉ. ई. एम. ह्वाइट

नागरिकशास्त्र एक समाज विज्ञान (Social Science) है और राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र, इतिहास, भूगोल, मनोविज्ञान, आदि समाज विज्ञान सामाजिक व्यक्ति के जीवन से सम्बन्धित विविध पक्षों का अध्ययन करते हैं। नागरिकशास्त्र मानव जीवन के नागरिक पक्ष का अध्ययन करता है, तो राजनीतिशास्त्र मानव जीवन के राजनीतिक और अर्थशास्त्र आर्थिक पक्ष का अध्ययन करता है। इतिहास भूतकाल के सामाजिक जीवन का अध्ययन करता है तो नीतिशास्त्र इस बात पर विचार करता है कि मानव जीवन को आदर्श रूप किस प्रकार प्रदान किया जा सकता है। समाजशास्त्र मानव जीवन के आधार (समाज) का अध्ययन करता है तो मनोविज्ञान मानव जीवन के प्रेरक मानसिक तत्वों का अध्ययन करता है, लेकिन मानव जीवन एक पूर्ण इकाई है और मानव जीवन के इन विविध पक्षों को एक-दूसरे से अलग करके इनका पूर्ण और सही अध्ययन नहीं किया जा सकता। मानव जीवन के ये विविध पक्ष एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं और इसी कारण स्वाभाविक रूप से मानव जीवन के इन विविध पक्षों का अध्ययन करने वाले समाज विज्ञान भी एक-दूसरे से बहुत अधिक सम्बन्धित हैं। केवल अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इन सामाजिक विज्ञानों का विभाजन किया गया है, इनमें निहित विषय-वस्तु एक-दूसरे से अन्तः सम्बन्धित है, क्योंकि वह मानव की विभिन्न क्रियाओं का अध्ययन है। वास्तव में, इन समाज विज्ञानों की स्थिति एक ही वृक्ष की विभिन्न शाखाओं जैसी है। व्यक्ति के सामाजिक जीवन के अन्य पक्षों द्वारा नागरिक जीवन पर अनिवार्य रूप से बहुत अधिक प्रभाव डाला जाता है, इसलिए नागरिकशास्त्र इन सभी समाज विज्ञानों से सम्बन्धित है। प्रसिद्ध विद्वान डॉ. ह्वाइट ने कहा है कि "चूंकि नागरिकशास्त्र नागरिकों के जीवन के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करता है, अतएव यह सम्बन्धों का विषय है। यह अन्य सभी विषयों से किसी-न-किसी रूप में सम्बन्धित रहता है।"

नागरिकशास्त्र का अन्य समाज विज्ञानों से सम्बन्ध

1. नागरिकशास्त्र और राजनीतिशास्त्र

नागरिकशास्त्र और राजनीतिशास्त्र इन दो समाज विज्ञानों में जितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, उतना अन्य किन्हीं शास्त्रों में नहीं है। इन दोनों विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्धों की विवेचना निम्न प्रकार की जा सकती है : शब्द व्युत्पत्ति के आधार पर—नागरिकशास्त्र के आंग्ल पर्यायवाची शब्द 'सिविक्स' (Civics) की उत्पत्ति लैटिन भाषा के दो शब्दों 'सिविस' (*Civis*) और 'सिविटास' (*Civitas*) से हुई जिनका अर्थ लैटिन भाषा में क्रमशः 'नागरिक' तथा 'नगर' होता है। इसी प्रकार राजनीतिशास्त्र के आंग्ल पर्यायवाची शब्द 'पॉलिटिक्स' (Politics) की उत्पत्ति भी 'पोलिस' (*Polis*) तथा 'पोलिटिकस' (*Politicus*) शब्दों से हुई है, जिनका अर्थ भी क्रमशः 'नगर' तथा 'नागरिक' है। इस प्रकार शब्द व्युत्पत्ति के आधार पर नागरिकशास्त्र और राजनीतिशास्त्र—दोनों ही विषय नागरिक तथा नगर का अध्ययन करते हैं। इन दोनों विषयों की घनिष्ठता ऑक्सफोर्ड शब्दकोश में व्यक्त

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किये गये इन शब्दों से भी नितान्त स्पष्ट है कि "नागरिकशास्त्र राजनीतिशास्त्र का वह भाग है जिसका सम्बन्ध नागरिक के अधिकारों तथा कर्तव्यों से है।"

नागरिकशास्त्र की राजनीतिशास्त्र पर निर्भरता—नागरिकशास्त्र का लक्ष्य है—आदर्श नागरिक जीवन की व्यवस्था और यह राजनीतिशास्त्र के मूल अध्ययन विषय (राज्य) की सहायता से ही सम्भव है। आदर्श नागरिक जीवन के लिए मुख्य आवश्यकताएं शान्ति और व्यवस्था, श्रेष्ठ शिक्षण व्यवस्था और अधिकतम सम्भव सीमा तक आर्थिक समानता, आदि हैं और ये सभी आवश्यकताएं राज्य के द्वारा ही पूर्ण की जा सकती हैं। वास्तव में, राज्य ही वह नींव है जिसके आधार पर आदर्श नागरिक जीवन की व्यवस्था का समूचा ढांचा खड़ा किया जा सकता है। वस्तुतः 'नागरिक' की धारणा 'राज्य' की धारणा के बिना सम्भव नहीं है।

नागरिकशास्त्र का अन्य समाज विज्ञानों से सम्बन्ध

(1) नागरिकशास्त्र और राजनीतिशास्त्र
(2) नागरिकशास्त्र और इतिहास
(3) नागरिकशास्त्र और अर्थशास्त्र
(4) नागरिकशास्त्र और समाज- शास्त्र
(5) नागरिकशास्त्र और नीतिशास्त्र
(6) नागरिकशास्त्र और मनोविज्ञान

राजनीतिशास्त्र की नागरिकशास्त्र पर निर्भरता—इसके साथ-ही-साथ नागरिकशास्त्र भी राजनीतिशास्त्र के आधार रूप में कार्य करता है। एक देश की राजनीतिक व्यवस्था आदर्श नागरिकों पर निर्भर करती है और प्रजातन्त्र के सम्बन्ध में तो यह बात विशेष तौर पर कही जा सकती है कि एक देश के नागरिक जैसे होंगे उन्हें वैसी ही सरकार प्राप्त होगी। आज विश्व के विभिन्न राज्यों में जो आर्थिक और राजनीतिक संकट खड़ा हुआ है, उसका मूल कारण मानवीय चरित्र में गिरावट और आदर्श नागरिकों का अभाव ही है। आदर्श नागरिकों के निर्माण का कार्य नागरिकशास्त्र के द्वारा किया जाता है और इस प्रकार नागरिकशास्त्र राजनीतिशास्त्र की महत्वपूर्ण रूप से सहायता करता है।

समान अध्ययन विषय—नागरिकशास्त्र और राजनीतिशास्त्र का पारस्परिक सम्बन्ध इसलिए और भी घनिष्ठ है कि इन दोनों का अध्ययन विषय बहुत सीमा तक समान है। ये दोनों ही विषय नागरिकों के अधिकार व कर्तव्य, नागरिक के राज्य में जीवन तथा उसके राज्य से सम्बन्ध का अध्ययन करते हैं। राज्य और सरकार राष्ट्रीय और संवैधानिक इतिहास तथा विविध राजनीतिक विचारधाराएं दोनों ही विषयों के क्षेत्र में आती हैं। दोनों ही शास्त्रों का उद्देश्य उन परिस्थितियों का अध्ययन करना है जिनमें व्यक्ति का पूर्ण विकास सम्भव हो सकता है।

वास्तव में, नागरिकशास्त्र और राजनीतिशास्त्र ये दोनों विषय घनिष्ठतम रूप से सम्बन्धित हैं और प्रो. मिहिर कुमार सेन के सुन्दर शब्दों को अपनाते हुए कहा जा सकता है कि "राज्य नागरिक से बनता है और नागरिक राज्य के सदस्य होते हैं। राज्य का अध्ययन करने के लिए हमें नागरिकों का अध्ययन करना चाहिए और नागरिकता का महत्व समझने के लिए हमें राज्य का अर्थ जान लेना चाहिए।"

नागरिकशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र में अन्तर—इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी इन दोनों विषयों में निम्नलिखित महत्वपूर्ण अन्तर हैं :

प्रथम, नागरिकशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र है सम्पूर्ण समाज, लेकिन राजनीतिशास्त्र समाज के केवल एक अंग—राज्य के संगठन—का ही अध्ययन करता है। इस प्रकार नागरिकशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र राजनीतिशास्त्र से अधिक व्यापक है।

द्वितीय, राजनीतिशास्त्र विशेष रूप से राजनीतिक संस्थाओं, शासनतन्त्र और उनके अंगों का विस्तारपूर्वक अध्ययन करता है। इसके विपरीत, नागरिकशास्त्र का सम्बन्ध मुख्यतः राज्य में नागरिकों के अधिकारों, कर्तव्यों और उनके कल्याण से है।

इन दोनों विषयों का सम्बन्ध और भेद स्पष्ट करते हुए डॉ. बेनी प्रसाद ने कहा है कि "दोनों में अध्ययन विषय का अन्तर नहीं वरन् विषय पर बल का अन्तर है। राजनीतिशास्त्र नागरिकता के राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय रूपों का विशेष अध्ययन करता है जबकि नागरिकशास्त्र में इनका साधारण रूप से और स्थानीय नागरिकता का विशेष रूप से अध्ययन होता है।"[1]

1 "The difference between Civics and Politics is one of accent and emphasis rather than of subject-matter." —*Dr. Beni Prasad*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2. नागरिकशास्त्र और इतिहास

इतिहास में व्यक्ति, समाज और राज्य के भूतकालीन जीवन का लेखा-जोखा होता है और नागरिकशास्त्र में नागरिक जीवन का अध्ययन। इन दोनों विषयों का पारस्परिक सम्बन्ध निम्न रूपों में देखा जा सकता है :

नागरिकशास्त्र इतिहास पर निर्भर है—नागरिकशास्त्र न केवल वर्तमान समय के नागरिक जीवन वरन् भूतकाल के नागरिक जीवन का भी अध्ययन करता है और निश्चित रूप से यह अध्ययन इतिहास की सहायता से ही किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, नागरिक और राजनीतिक जीवन की संस्थाएं, जिनका अध्ययन नागरिकशास्त्र के द्वारा किया जाता है, एक विशेष समय पर निर्मित न होकर विकास का परिणाम होती हैं और उन्हें पूर्णतया समझने के लिए इतिहास के आधार पर उसके विकास-क्रम का ज्ञान प्राप्त किया जाना आवश्यक है। नागरिकशास्त्र में जिन समस्याओं का अध्ययन किया जाता है, उनका भी अपना एक इतिहास होता है और इतिहास से परिचित हुए बिना न तो इन समस्याओं को ठीक रूप में समझा जा सकता है और न ही हल किया जा सकता है। वास्तव में, वर्तमानकालीन नागरिक और राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन और भविष्य के लिए आदर्श व्यवस्था का चित्रण ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर ही किया जा सकता है।

इतिहास नागरिक जीवन की प्रयोगशाला या पथ-प्रदर्शक—मानवीय इतिहास में विभिन्न समयों पर नागरिक और राजनीतिक क्षेत्र में अनेक कार्य किये गये, जिनके परिणाम और सफलता-असफलता के विवरण इतिहास से प्राप्त होते हैं। नागरिक और राजनीतिक क्षेत्र के ये भूतकालीन प्रयोग भविष्य के लिए पथ-प्रदर्शन का कार्य करते हैं। भारतीय इतिहास के अध्ययन से इस बात का ज्ञान प्राप्त होता है कि धार्मिक सहिष्णुता की नीति के आधार पर अकबर ने एक विशाल और सुदृढ़ साम्राज्य की स्थापना की, लेकिन औरंगज़ेब द्वारा अपनायी गयी धार्मिक पक्षपात की नीति का परिणाम यह हुआ कि विशाल मुगल साम्राज्य पतन की ओर उन्मुख हो गया। भारतीय संविधान के निर्माताओं ने इतिहास के ज्ञान का पूरा लाभ उठाते हुए धर्मनिरपेक्ष राज्य तथा संघात्मक शासन के होते हुए भी शक्तिशाली केन्द्र की व्यवस्था को अपनाया। इसी प्रकार बीसवीं सदी के भारतीय इतिहास के अध्ययन से साम्प्रदायिकता के कुपरिणाम नितान्त स्पष्ट हो जाते हैं और वे हमें इस बात की चेतावनी देते हैं कि साम्प्रदायिकता, जातीयता और क्षेत्रीयता की भावनाएं राष्ट्रीय हित के लिए बहुत अधिक घातक हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर वर्तमान राजनीतिक जीवन में सुधार करते हुए भविष्य के लिए मार्ग निश्चित किया जा सकता है।

इतिहास नागरिकशास्त्र पर निर्भर है—दूसरी ओर नागरिकशास्त्र भी इतिहास के आधार रूप में कार्य करता है। हमारा आज का व्यवहार नागरिकशास्त्र के नियमों से प्रभावित होता है और नागरिकों द्वारा आज जिस प्रकार का व्यवहार किया जाता है, वही आगे चलकर इतिहास बन जाता है। देश के उज्ज्वल इतिहास के निर्माणकर्ता आदर्श नागरिक ही हो सकते हैं। यदि नागरिकशास्त्र देश के नागरिकों को कर्तव्यपालन के लिए प्रेरित करने की दिशा में सफल होता है तो अवश्य ही उस देश का इतिहास स्वर्णिम होता है। इसके अतिरिक्त, इतिहास नागरिकशास्त्र से अध्ययन-सामग्री भी प्राप्त करता है। मनुष्य और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध, मनुष्य की सामाजिक स्थिति, अधिकारों का उपभोग और कर्तव्यों का पालन, आदि ऐसी बातें हैं जिनके प्रति कोई भी इतिहासकार उदासीन नहीं रह सकता। वर्तमान समय में तो इस बात पर बहुत अधिक जोर दिया जा रहा है कि इतिहास में युद्धों के वर्णन की अपेक्षा नागरिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के वर्णन को अधिक महत्व दिया जाना चाहिए।

नागरिकशास्त्र और इतिहास के घनिष्ठ सम्बन्ध को लक्ष्य करते हुए सीले (Seeley) ने कहा है कि **"नागरिकशास्त्र इतिहास का फल है और इतिहास इस शास्त्र की जड़ है।"**

नागरिकशास्त्र और इतिहास में अन्तर—नागरिकशास्त्र और इतिहास के घनिष्ठ पारस्परिक सम्बन्ध होते हुए भी इन दोनों विषयों में निम्न अन्तर हैं :

क्षेत्र—नागरिकशास्त्र मनुष्य के नागरिक जीवन तथा नागरिक और राजनीतिक संस्थाओं का ही अध्ययन करता है, लेकिन इतिहास का क्षेत्र नागरिकशास्त्र की अपेक्षा बहुत अधिक व्यापक है। इतिहास भूतकालीन जीवन के राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, नागरिक और सामाजिक सभी पहलुओं का अध्ययन करता है। नागरिकशास्त्र का विषय-क्षेत्र गतिशील है तथा इतिहास का विषय-क्षेत्र व्यापक है।

CC-0. Panini Kanya MahaVidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्ययन पद्धति का अन्तर—इतिहास की पद्धति वर्णनात्मक है, लेकिन नागरिकशास्त्र की पद्धति मुख्यतः पर्यवेक्षणात्मक और आदर्शात्मक है।

उद्देश्य का अन्तर—इतिहास घटनाओं का यथाक्रम वर्णन कर देता है और 'भविष्य में क्या होना चाहिए' इस बात से सम्बन्ध नहीं रखता। इसके विपरीत, नागरिकशास्त्र भूत और वर्तमानकालीन अवस्था के साथ-साथ 'भविष्य में क्या होना चाहिए' इस बात का भी अध्ययन करता है। इस प्रकार इतिहास एक यथार्थवादी विज्ञान और नागरिकशास्त्र आदर्शात्मक विज्ञान है।

3. नागरिकशास्त्र और अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्र द्वारा मनुष्य की समस्त आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्शल के शब्दों में कहा जा सकता है कि 'अर्थशास्त्र जीवन के साधारण कार्य व्यवहार में मनुष्य का अध्ययन है।' इस प्रकार अर्थशास्त्र मानव के आर्थिक जीवन का अध्ययन करता है तथा राजनीतिक जीवन और आर्थिक जीवन एक-दूसरे से जितने अधिक घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं, उतने जीवन के अन्य कोई भी दो पक्ष नहीं। व्यक्ति की नागरिक गतिविधियां उसकी आर्थिक गतिविधियों से अत्यधिक प्रभावित होती हैं। जहां अर्थव्यवस्था का स्वरूप नागरिक राज्य सम्बन्धों को प्रभावित करता है। वहीं राज्य का स्वरूप नागरिक की आर्थिक गतिविधियों को प्रभावित करता है। स्वाभाविक रूप से नागरिकशास्त्र और अर्थशास्त्र घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं और यह सम्बन्ध निम्न रूपों में स्पष्ट किया जा सकता है :

नागरिकशास्त्र की अर्थशास्त्र पर निर्भरता—नागरिकशास्त्र का उद्देश्य आदर्श नागरिकों का निर्माण करना है और इस प्रकार के आदर्श नागरिकों का निर्माण साधारण रूप से आर्थिक सम्पन्नता की स्थिति में ही किया जा सकता है। यदि व्यक्ति बहुत निर्धन हैं और पेट भरने को अन्न तथा तन ढकने को वस्त्र भी प्राप्त न हों, तो ऐसे व्यक्ति समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन नहीं कर सकेंगे। संस्कृत भाषा में कहावत है 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्' अर्थात् भूखा व्यक्ति कौन-सा पाप नहीं कर सकता। पं. नेहरू कहा करते थे कि 'भूखे व्यक्ति के लिए वोट का कोई मूल्य नहीं होता।' यदि व्यक्ति के जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएं भी पूरी न हों, तो उससे यह आशा करना व्यर्थ है कि वह एक अच्छा नागरिक बन सकेगा। अतः आदर्श नागरिकों का निर्माण करने के लिए अर्थशास्त्र के उन सिद्धान्तों को ध्यान में रखा जाना चाहिए जिनके द्वारा एक मनुष्य और देश अपनी आर्थिक उन्नति कर सकता है। वस्तुतः आदर्श नागरिक जीवन इस बात पर निर्भर करता है कि राज्य में गम्भीर आर्थिक विषमताएं न हों और राज्य के पास पर्याप्त आर्थिक साधन हों। निश्चित रूप से ये बातें अर्थशास्त्र से सम्बन्ध रखती हैं। इस प्रकार अर्थशास्त्र नागरिकशास्त्र के आधार के रूप में कार्य करता है।

नागरिकशास्त्र अर्थशास्त्र का सहायक—नागरिकशास्त्र भी अर्थशास्त्र को सहायता प्रदान करता है। आज के आर्थिक जीवन की सबसे बड़ी समस्या यह है कि व्यक्तियों द्वारा उचित-अनुचित सभी प्रकार के साधनों से अर्थ की प्राप्ति ही अपना एकमात्र लक्ष्य बना लिया गया है। यह समस्या नागरिकशास्त्र की सहायता से ही हल की जा सकती है। यदि एक देश के व्यक्ति नागरिकशास्त्र के नियमों के अनुसार आचरण करें तो उनके द्वारा धन प्राप्ति के लिए अनैतिक साधनों का प्रयोग नहीं किया जायेगा और ऐसी स्थिति में देश का आर्थिक जीवन व्यवस्थित होगा।

समान उद्देश्य—नागरिकशास्त्र और अर्थशास्त्र दोनों विषयों में उद्देश्य की समानता भी है। दोनों ही विषयों का मुख्य उद्देश्य मानव कल्याण ही है। एक का लक्ष्य नागरिक कल्याण है और दूसरे का आर्थिक कल्याण। वास्तव में, ये दोनों शास्त्र एक-दूसरे के पूरक हैं और चार्ल्स बियर्ड के शब्दों में कहा जा सकता है कि "अर्थशास्त्र के बिना नागरिकशास्त्र अवास्तविक एवं सारहीन ढांचा मात्र है।" वर्तमान समय में लोक-कल्याणकारी राज्य और योजनाबद्ध विकास की जो धारणाएं विकसित हुई हैं, उनसे नागरिकशास्त्र और अर्थशास्त्र के बीच नवीन और दोनों के लिए ही लाभकारी सम्बन्ध स्थापित हो गये हैं। प्रो. मिहिर कुमार सेन के शब्दों में, "अर्थशास्त्र कला के रूप में नागरिकशास्त्र पर और नागरिकशास्त्र कला के रूप में अर्थशास्त्र पर निर्भर है। ये दोनों शास्त्र एक-दूसरे के पूरक और सहायक हैं।"

नागरिकशास्त्र तथा अर्थशास्त्र में अन्तर—नागरिकशास्त्र और अर्थशास्त्र में घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी इन दोनों विषयों में कुछ अन्तर हैं। प्रथम, अर्थशास्त्र का मुख्य अध्ययन-विषय सम्पत्ति है, जबकि नागरिकशास्त्र

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का अध्ययन-विषय नागरिकता है। केवल आर्थिक जीवन से ही सम्बन्धित होने के कारण अर्थशास्त्र का दृष्टिकोण संकुचित है, जबकि नागरिकशास्त्र अधिक व्यापक है और आंशिक रूप से जीवन के सभी पहलुओं से सम्बन्ध रखता है। द्वितीय, अर्थशास्त्र की अनेक बातों, जैसे विनिमय दर, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नियम और बजट, इत्यादि से नागरिकशास्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार नागरिकशास्त्र की अनेक बातों से अर्थशास्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं है।

4. नागरिकशास्त्र और समाजशास्त्र

समाजशास्त्र सम्पूर्ण समाज और सामाजिक व्यवस्था का शास्त्र है। वह व्यक्तियों के समूह के रूप में समाज तथा व्यक्ति के सभी प्रकार के सम्बन्धों का अध्ययन करता है। नागरिकशास्त्र में व्यक्ति के नागरिक जीवन का अध्ययन व्यक्ति की मूल सामाजिक प्रवृत्ति को आधार मानकर ही किया जाता है। अतः नागरिकशास्त्र और समाजशास्त्र घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं।

समाजशास्त्र नागरिकशास्त्र के आधार के रूप में—समाजशास्त्र सम्पूर्ण सामाजिक परिस्थितियों और सम्बन्धों का अध्ययन करता है और यह बताता है कि सामाजिक परिवर्तन तथा विकास के क्या नियम हैं। नागरिकशास्त्र नागरिक जीवन के जिन सिद्धान्तों और संगठनों का अध्ययन करता है उनका उदय सामाजिक पृष्ठभूमि के आधार पर ही हुआ है। अतः नागरिकशास्त्र के उचित अध्ययन के लिए समाजशास्त्र का ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है।

नागरिकशास्त्र का उद्देश्य आदर्श नागरिकों का निर्माण करना है। व्यवहार के अन्तर्गत किसी देश के निवासियों में आदर्श नागरिकता तथा कर्तव्यपरायणता का विकास करने के लिए यह बहुत आवश्यक है कि हमारे द्वारा अलग-अलग व्यक्ति समूहों के रीति-रिवाजों, परम्पराओं तथा उनकी सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को ठीक प्रकार से समझा जाय। सामाजिक पृष्ठभूमि के बिना आदर्श नागरिकता के सिद्धान्तों का कोई भी उपयोग सम्भव नहीं है। भारत के विविध क्षेत्रों में बसी हुई जनजातियों और कबीलों के सम्बन्ध में तो यह बात बहुत महत्व रखती है। इस प्रकार समाजशास्त्र अन्य समाज विज्ञानों की भांति ही नागरिकशास्त्र के आधार रूप में कार्य करता है। वस्तुतः यही वह नींव है जिस पर नागरिकशास्त्र टिका हुआ है।

नागरिकशास्त्र समाजशास्त्र के सहायक के रूप में—दूसरी ओर, नागरिकशास्त्र भी समाजशास्त्र का सहायक है। समाजशास्त्र का उद्देश्य सामाजिक जीवन की समस्त कुरीतियों को दूर कर स्वस्थ समाज का निर्माण करना है। पर ऐसे स्वस्थ समाज का निर्माण तभी सम्भव है जबकि समाज की इकाइयां अर्थात् व्यक्ति अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूक हों और यह कार्य नागरिकशास्त्र के द्वारा ही किया जाता है। इस प्रकार नागरिकशास्त्र समाजशास्त्र के सहायक के रूप में कार्य करता है।

समान अध्ययन विषय—नागरिकशास्त्र और समाजशास्त्र के घनिष्ठ पारस्परिक सम्बन्ध का एक रूप यह है कि कई ऐसे विषय हैं जिनका अध्ययन इन दोनों विषयों में समान रूप से किया जाता है। उदाहरण के लिए, व्यक्ति की सामाजिकता की प्रवृत्ति, सामुदायिक जीवन, कुटुम्ब, जाति-व्यवस्था, धर्म का व्यक्तियों के जीवन पर प्रभाव, आदि अनेक ऐसी बातें हैं जिनका अध्ययन इन दोनों विषयों में समान रूप से किया जाता है।

इस प्रकार समाजशास्त्र नागरिकशास्त्र का मूल और नागरिकशास्त्र बहुत कुछ सीमा तक उसकी एक शाखा है। अल्फ्रेड जे. शॉ ने ठीक लिखा है कि "समाजशास्त्र विभिन्न सामाजिक शक्तियों का वर्णन है और नागरिकशास्त्र उस वर्णन से लाभ उठाता है तथा नागरिक समस्याओं का सामना करने के लिए उन्हें व्यवहार में लाता है।"

नागरिकशास्त्र तथा समाजशास्त्र में अन्तर—इतने घनिष्ठ सम्बन्ध के बावजूद इन दोनों शास्त्रों में अन्तर हैं। प्रथम, समाजशास्त्र का क्षेत्र नागरिकशास्त्र की अपेक्षा बहुत व्यापक है। समाजशास्त्र समाज के सभी स्वरूप और पक्षों का अध्ययन करता है, लेकिन नागरिकशास्त्र व्यक्ति के केवल नागरिक जीवन का ही अध्ययन करता है। द्वितीय, समाजशास्त्र केवल समाज के यथार्थ स्वरूप से ही सम्बन्ध रखता है, लेकिन नागरिकशास्त्र भविष्य की आदर्श व्यवस्था का भी चित्रण करता है। इस प्रकार समाजशास्त्र एक वर्णनात्मक विज्ञान है, जबकि नागरिकशास्त्र एक 'आदर्शपरक विज्ञान' (Normative Science) है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

5. नागरिकशास्त्र और नीतिशास्त्र

नीतिशास्त्र मानवीय आचरण के सत्-असत्, शुभ-अशुभ का ज्ञान प्रदान करने वाला विज्ञान है। डीवी के अनुसार, "नीतिशास्त्र आचरण का वह विज्ञान है जिसमें कि आचरण के औचित्य-अनौचित्य और अच्छाई व बुराई पर विचार किया जाता है।" नागरिकशास्त्र भूत और वर्तमान के नागरिक जीवन के साथ-साथ भविष्य के आदर्शात्मक नागरिक जीवन का भी अध्ययन करता है और नागरिक जीवन का वह आदर्श रूप नीतिशास्त्रीय धारणाओं पर ही आधारित होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि नीतिशास्त्र और नागरिकशास्त्र घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं। यह सम्बन्ध निम्न रूपों में दर्शाया जा सकता है :

नागरिकशास्त्र की नीतिशास्त्र पर निर्भरता—प्राचीनकाल से ही नागरिकशास्त्र और नीतिशास्त्र में घनिष्ठ सम्बन्ध दर्शाया जाता रहा है। यूनानी विद्वान इन दोनों शास्त्रों को एक ही विषय के दो पक्ष मानते थे। प्लेटो ने कहा था कि "राज्य को चाहिए कि वह मनुष्यों को सदाचार की शिक्षा दे।"

नागरिकशास्त्र का लक्ष्य है—आदर्श नागरिकों का निर्माण और आदर्श नागरिकों का निर्माण तभी सम्भव है, जबकि व्यक्तियों के द्वारा नैतिक सिद्धान्तों को अपने जीवन में उतार लिया जाय। ये नैतिक सिद्धान्त हैं: सत्यवादिता, ईमानदारी, कर्तव्यशीलता, निःस्वार्थता तथा त्याग की भावना। नीतिशास्त्र मनुष्यों में इन नैतिक गुणों को विकसित करने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार आदर्श नागरिकों के निर्माण में सहायक होता है। नीतिशास्त्र मनुष्यों को नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ बनाने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार का नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ मनुष्य ही एक आदर्श नागरिक के रूप में जीवन व्यतीत कर सकता है। अतः स्पष्ट है कि नीतिशास्त्र नागरिकशास्त्र के आधार रूप में कार्य करता है।

वर्तमान समय के नागरिक जीवन की तो सबसे बड़ी समस्या नैतिक मूल्यों में गिरावट ही है। जैसा कि दार्शनिक राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन ने अपने विदाई भाषण में कहा था, "आज समस्त विश्व के नागरिक जीवन के सम्मुख सबसे बड़ी समस्या 'चरित्र का संकट' (Crisis of Character) है।" इस समस्या का समाधान नीतिशास्त्र की सहायता से ही किया जा सकता है। हमारे देश में तो नागरिक जीवन के नैतिक सिद्धान्तों के पालन पर सदैव ही जोर दिया जाता रहा है। महात्मा गांधी की महानता इसी बात में है कि उन्होंने नागरिक जीवन में नैतिक मूल्यों को पुनर्स्थापित किया। वे कहा करते थे कि "जो बात नैतिक दृष्टि से अनुचित है, उसे नागरिक जीवन में अपनाया ही नहीं जा सकता।"

नागरिकशास्त्र नीतिशास्त्र का सहायक—नीतिशास्त्र द्वारा मानव जीवन के लिए नैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाता है, लेकिन नैतिक सिद्धान्तों का यह बखान उस समय तक विशेष महत्व नहीं रखता जब तक कि इन सिद्धान्तों को क्रियान्वित न किया जाय। नागरिकशास्त्र न केवल आदर्श नागरिकता के लक्षणों का वर्णन करता है, वरन् आदर्श नागरिकता के इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए राज्य सरकार, विधि, दण्ड, आदि व्यावहारिक उपायों की भी व्यवस्था करता है। इस प्रकार नागरिकशास्त्र राजनीतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने की दिशा में व्यावहारिक कदम उठाकर नीतिशास्त्र के लिए सहायक होता है।

वस्तुतः ये दोनों विषय घनिष्ठतम रूप में सम्बन्धित हैं और प्रो. पुन्ताम्बेकर के शब्दों में कहा जा सकता है कि "यदि नीतिशास्त्र दर्शन है तो नागरिकशास्त्र आदर्श जीवन का आचरण है।"[1]

नागरिकशास्त्र तथा नीतिशास्त्र में अन्तर—नागरिकशास्त्र और नीतिशास्त्र परस्पर घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित होते हुए भी इनमें कुछ अन्तर हैं। प्रथम, नीतिशास्त्र का क्षेत्र नागरिकशास्त्र की अपेक्षा बहुत ही अधिक व्यापक है। नीतिशास्त्र समस्त मानवीय आचरण का अध्ययन करता है, नागरिकशास्त्र नागरिक कार्यों और आचरण का ही अध्ययन करता है। द्वितीय, नीतिशास्त्र अधिक आदर्शात्मक है और नागरिकशास्त्र नीतिशास्त्र की तुलना में अधिक व्यावहारिक या यथार्थपरक।

6. नागरिकशास्त्र और मनोविज्ञान

मनोविज्ञान वह विषय है जो मन की चेतन और अचेतन क्रियाओं का अध्ययन करता है। मनुष्य का मन जिस ढंग से सोचता है, वह जिन बातों से प्रेरणा और उत्तेजना प्राप्त करता है, उन सबका मनुष्य के व्यक्तिगत व सामाजिक जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। क्योंकि नागरिकशास्त्र मनुष्यों के सामुदायिक और

1 "If Ethics is philosophy, Civics is the practice of good life." —*Puntambaker*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक जीवन पर विचार करता है, अतः मनोविज्ञान से उसे बहुत सहायता मिलती है। उदाहरण के लिए, मनोविज्ञान हमें यह बताता है कि बालकों व विद्यार्थियों से कैसा व्यवहार करके उन्हें आदर्श मानव बनाया जा सकता है और शिक्षा द्वारा मनुष्यों के मन को किस प्रकार प्रभावित किया जा सकता है। वर्तमान युग अन्तःविषयक अध्ययन पद्धति का युग है जिसमें किसी समस्या या विषय के समग्र विश्लेषण हेतु अन्य विषयों का भी सहारा लिया जाता है। इसी प्रकार नागरिकशास्त्र की समस्याओं के मनोवैज्ञानिक पहलू के अध्ययन में मनोविज्ञान सहायक है। इस प्रकार नागरिक जीवन के विषय जैसे नेतृत्व के गुण मतदान, व्यवहार आदि मनोविज्ञान को विषय-सामग्री प्रदान करते हैं।

आज की भारतीय पृष्ठभूमि में नागरिकशास्त्र का एक प्रमुख उद्देश्य है, 'भारत का भावात्मक एकीकरण' (Emotional Integration of India) अर्थात् एक ऐसी स्थिति को प्राप्त करना, जिसमें व्यक्ति जातीयता, क्षेत्रीयता और अन्य संकुचित भावनाओं को भुलाकर भारत के प्रति पूर्ण आस्था रखे। भावात्मक एकीकरण की इस स्थिति को सामूहिक मनोविज्ञान के ज्ञान के आधार पर ही प्राप्त किया जा सकता है। भारत के नागरिक और राजनीतिक जीवन में महात्मा गांधी, चीन में माओ और वियतनाम में हो-ची-मिन्ह को जो अपूर्व सफलता प्राप्त हुई, उसका मूल कारण यही था कि उनके विचार और कार्य देशवासियों की भावनाओं के अनुरूप थे।

दूसरी ओर मनोविज्ञान भी नागरिकशास्त्र का ऋणी है। नागरिकशास्त्र मनोविज्ञान को सामग्री प्रदान करता है, जिसके आधार पर मनोविज्ञान नागरिक जीवन के तथ्यों का मानसिक अवस्थाओं के प्रसंग में विश्लेषण करता है।

इस प्रकार नागरिकशास्त्र और मनोविज्ञान में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

नागरिकशास्त्र तथा मनोविज्ञान में अन्तर—परस्पर सम्बन्धित होते हुए भी इन दोनों शास्त्रों में पर्याप्त अन्तर है। मनोविज्ञान मानव व्यवहार और स्वभाव की यथार्थ स्थिति से ही सम्बन्ध रखता है, लेकिन नागरिकशास्त्र यथार्थ स्थिति के साथ-साथ आदर्श का भी विवेचन करता है। इन दोनों विज्ञानों में निम्न अन्तर हैं :

(1) मनोविज्ञान व्यक्ति की मानसिक क्रियाओं का अध्ययन करता है, जबकि नागरिकशास्त्र उसकी नागरिक क्रियाओं व व्यवहार का अध्ययन करता है।

(2) मनोविज्ञान मानसिक क्रियाओं का तथ्यपरक व वैज्ञानिक अध्ययन है, जबकि नागरिकशास्त्र आदर्शों व मूल्यों का भी अध्ययन करता है।

(3) मनोविज्ञान का क्षेत्र आन्तरिक है, जबकि नागरिकशास्त्र बाह्य आचरण से सम्बन्धित है।

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (प्रत्येक प्रश्न 6 अंक का, उत्तर लगभग 300 शब्दों में दीजिए)

1. नागरिकशास्त्र का इतिहास तथा अर्थशास्त्र से क्या सम्बन्ध है?
2. टिप्पणी लिखिए :
   (i) नागरिकशास्त्र और समाजशास्त्र के बीच सम्बन्ध।
   (ii) नागरिकशास्त्र और राजनीतिशास्त्र के बीच सम्बन्ध।
3. नागरिकशास्त्र का अर्थशास्त्र व मनोविज्ञान के साथ सम्बन्ध बताइए। (उ.प्र., 2010)
4. नागरिकशास्त्र का नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान से सम्बन्ध बतलाइए।
5. नागरिकशास्त्र एवं समाजशास्त्र एक-दूसरे के पूरक एवं सहायक हैं। इस कथन की विवेचना कीजिए? (उ.प्र., 2010)

लघु उत्तरीय प्रश्न (प्रत्येक प्रश्न 2 अंक का, उत्तर लगभग 50 शब्दों में दीजिए)

(अ) नोट—निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर 50 शब्दों में दीजिए (2 अंक)।

1. नागरिकशास्त्र और इतिहास का अन्तर दो वाक्यों में दीजिए।
   अथवा, नागरिकशास्त्र और इतिहास में दो अन्तर बताइए? (उ.प्र., 2010)
2. "नागरिकशास्त्र इतिहास का फल है और इतिहास नागरिकशास्त्र का मूल है।" यह कथन किसका है। (उ.प्र., 2010)
3. नागरिकशास्त्र व मनोविज्ञान में दो अन्तर बताइए।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ब) नोट—निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिए (2 अंक)।

4. नागरिकशास्त्र का अन्य समाज विज्ञानों से क्या सम्बन्ध है?
5. नागरिकशास्त्र और इतिहास का सम्बन्ध लगभग पांच वाक्यों में दीजिए।
6. नागरिकशास्त्र और अर्थशास्त्र का सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए।
7. नागरिकशास्त्र और अर्थशास्त्र में दो अन्तर स्पष्ट कीजिए।
8. नागरिकशास्त्र और समाजशास्त्र का सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए।
9. नागरिकशास्त्र और इतिहास में चार अन्तर बताइए?
10. नागरिकशास्त्र व मनोविज्ञान में सम्बन्ध बताइए।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न [प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का, उत्तर दस शब्द (एक वाक्य) में]

प्रश्न 1—नागरिकशास्त्र और इतिहास में एक अन्तर स्पष्ट कीजिए। (उ.प्र., 2010)

उत्तर—नागरिकशास्त्र आदर्शात्मक विज्ञान है जबकि इतिहास एक यथार्थात्मक विज्ञान है।

प्रश्न 2—नागरिकशास्त्र और अर्थशास्त्र में एक अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—अर्थशास्त्र का मुख्य अध्ययन विषय धन और सम्पत्ति है जबकि नागरिकशास्त्र का अध्ययन विषय नागरिकता है।

प्रश्न 3—नागरिकशास्त्र और समाजशास्त्र में एक अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—समाजशास्त्र का क्षेत्र नागरिकशास्त्र की अपेक्षा बहुत अधिक व्यापक है।

प्रश्न 4—नागरिकशास्त्र और नीतिशास्त्र में एक अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—नागरिकशास्त्र अधिक व्यावहारिक है जबकि नीतिशास्त्र अधिक आदर्शात्मक है।

प्रश्न 5—नागरिकशास्त्र और समाजशास्त्र में एक मूलभूत समानता बताइए।

उत्तर—नागरिकशास्त्र और समाजशास्त्र दोनों ही विषय, व्यक्ति को सामाजिक प्राणी मानते हुए तथा उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर अध्ययन करते हैं।

बहुविकल्पीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों में चार विकल्प दिए गए हैं। उनमें से एक सही विकल्प छांटकर लिखिए :

1. "नागरिकशास्त्र इतिहास का फल है और इतिहास इस शास्त्र की जड़ है।" यह कथन किस विचारक का है :
   (अ) सीले का (ब) चार्ल्स बियर्ड का
   (स) डॉ. बेनी प्रसाद का (द) प्लेटो का
2. निम्नलिखित में से कौन-सा कथन असत्य है :
   (अ) इतिहास का क्षेत्र नागरिकशास्त्र की अपेक्षा बहुत अधिक व्यापक है।
   (ब) इतिहास की पद्धति वर्णनात्मक है, लेकिन नागरिकशास्त्र की पद्धति मुख्यतः पर्यवेक्षणात्मक और विचारात्मक है।
   (स) नागरिकशास्त्र एक यथार्थवादी विज्ञान और इतिहास एक आदर्शात्मक विज्ञान है।
   (द) इतिहास नागरिक जीवन की प्रयोगशाला या पथ-प्रदर्शक है।
3. "अर्थशास्त्र के बिना नागरिकशास्त्र अवास्तविक एवं सारहीन ढांचा मात्र है।" यह कथन किसका है :
   (अ) पं. जवाहरलाल नेहरू का (ब) चार्ल्स बियर्ड का
   (स) सीले का (द) डॉ. बेनीप्रसाद का
4. निम्नलिखित में से कौन-सा कथन असत्य है :
   (अ) अर्थशास्त्र का मुख्य अध्ययन विषय सम्पत्ति है, जबकि नागरिकशास्त्र का अध्ययन विषय नागरिकता है।
   (ब) समाजशास्त्र का क्षेत्र नागरिकशास्त्र की अपेक्षा बहुत व्यापक है।
   (स) समाजशास्त्र एक आदर्शपरक विज्ञान है, जबकि नागरिकशास्त्र एक वर्णनात्मक विज्ञान है।
   (द) उपर्युक्त सभी कथन असत्य हैं।
5. "आज समस्त विश्व के नागरिक जीवन के सम्मुख सबसे बड़ी समस्या 'चरित्र का संकट' है।" यह कथन किसका है :
   (अ) प्लेटो का (ब) डॉ. राधाकृष्णन का (स) डीवी का (द) डॉ. बेनीप्रसाद का
6. "राज्य को चाहिए कि वह मनुष्यों को सदाचार की शिक्षा दे।" यह कथन किसका है :
   (अ) प्लेटो का (ब) अरस्तू का (स) डीवी का (द) महात्मा गांधी का

[उत्तर—1. (अ), 2. (स), 3. (ब), 4. (स), 5. (ब), 6. (अ)]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3

सीमित या छोटे परिवार की अवधारणा

[CONCEPT OF A LIMITED OR SMALL FAMILY]

"भारत की तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसंख्या इतना अधिक गम्भीर मसला है कि इसे केवल राजनीतिज्ञों के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता, जनसंख्या नियन्त्रण से सम्बन्धित किसी भी बात के प्रति जिनकी उदासीनता सर्वविदित है।"[1] —अमर्त्य सेन (नोवल पुरस्कार विजेता)

परिवार विभिन्न सामाजिक संगठनों में सर्वप्रथम सबसे अधिक स्वाभाविक और सबसे अधिक महत्वपूर्ण संगठन है। परिवार का लक्ष्य अपने सदस्यों की सर्वांगीण उन्नति होता है और इस दृष्टि से परिवार के द्वारा इतने अधिक विविध प्रकार के कार्य किए जाते हैं कि उनकी कोई एक सूची बनाना सम्भव नहीं है। परिवार धन के उत्पादन और वितरण से सम्बन्धित कार्य करता है। परिवार सांस्कृतिक और शिक्षा सम्बन्धी कार्य करता है, उनमें धार्मिक और नैतिक संस्कारों को जन्म देता है, अपने सदस्यों को मनोरंजन प्रदान करता है तथा इन सबके अतिरिक्त नागरिक या सामाजिक जीवन की प्रथम और शाश्वत पाठशाला के रूप में कार्य करता है। सामाजिक जीवन ठीक प्रकार से व्यतीत करने के लिए कुछ विशेष गुणों की आवश्यकता होती है और केवल वही व्यक्ति सामाजिक जीवन सफलतापूर्वक व्यतीत कर सकता है जो इस प्रकार के गुणों से सम्पन्न हो। परिवार की विशिष्टता इस बात में है कि यह समाज की प्राथमिक इकाई है जिसके बिना समाज की कल्पना नहीं कर सकते। यह केवल एक सामाजिक इकाई नहीं वरन् एक जैविक (Biological) इकाई भी है, क्योंकि परिवार में सदस्यों के सम्बन्ध जैविक व सामाजिक दोनों प्रकार के होते हैं। इसीलिए परिवार व्यक्ति के जीवन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण समूह है।

परिवार नागरिक या सामाजिक जीवन की प्रथम पाठशाला अवश्य है, लेकिन यह कार्य एक आदर्श परिवार, एक अच्छा परिवार ही कर सकता है। परिवार नागरिक या सामाजिक जीवन की पाठशाला के रूप में कार्य कर सके, इसके लिए परिवार में कुछ परिस्थितियों का होना आवश्यक है। ये परिस्थितियां हैं—सन्तोषजनक आर्थिक स्थिति, शिक्षा, परिवार में प्रेम, सेवा और सहयोग का वातावरण, सामूहिक जीवन का आदर्श, वृद्ध और युवकों के दृष्टिकोण में समन्वय, आदर्श गृहिणी, गृहिणी का सम्मान, निकम्मे और आलसी सदस्यों का अभाव, आदि।

उपर्युक्त के अतिरिक्त आज की परिस्थितियों में एक अन्य बात भी बहुत आवश्यक है और वह है, परिवार का सीमित आकार या परिवार के सदस्यों, विशेषतया बच्चों की कम संख्या। दूसरे शब्दों में इसका आशय है, एक दम्पति के दो से अधिक बच्चे न हों। आज की परिस्थितियों में एक सामान्य सत्य यह है कि एक छोटा परिवार ऐसा परिवार जिसमें बच्चों की संख्या कम हो, ही अपने बच्चों का विकास उचित प्रकार से कर सकता है तथा उन्हें समाज के प्रति दायित्वों का पाठ ठीक प्रकार से पढ़ा सकता है। एक दम्पत्ति के अधिक बच्चों वाला परिवार सामान्यतया नागरिक कर्तव्यों को उचित रूप से सम्पन्न नहीं कर सकता। यही सीमित या छोटे परिवार की अवधारणा है।

परिवारों का वर्गीकरण तथा उनके प्रकार

परिवार कई प्रकार के होते हैं। प्रमुख रूप से परिवारों का वर्गीकरण तीन आधारों पर किया जा सकता है :

---

1 "India's exploding population is too serious a matter, to be left alone with the politicians whose apathy to anything related to population control is well-known" —*Amartya Sen*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(1) वंश प्रधानता के आधार पर—वंश के आधार पर दो प्रकार के परिवार होते हैं :

(क) मातृमूलक या मातृ प्रधान परिवार

(ख) पितृमूलक या पितृ प्रधान परिवार

(2) विवाह के आधार पर—विवाह के आधार पर परिवार तीन प्रकार के होते हैं :

(क) एक-विवाही परिवार, (ख) बहुपत्नी परिवार, (ग) बहुपति परिवार।

(3) संगठन के आधार पर—संगठन के आधार पर परिवार दो प्रकार के होते हैं :

(क) एकाकी परिवार (Nuclear Family)—एकाकी परिवार में पति-पत्नी और बच्चे होते हैं।

(ख) संयुक्त परिवार (Joint Family)—संयुक्त परिवार में पति-पत्नी तथा बच्चों के अतिरिक्त बाबा-दादी, ताऊ-ताई, चाचा-चाची तथा उनके बच्चे होते हैं।

संयुक्त परिवार के गुण (लाभ)

संयुक्त परिवार के प्रमुख गुण (लाभ) निम्न प्रकार हैं :

(1) उत्तम शिक्षा—संयुक्त परिवार उत्तम शिक्षा का केन्द्र है, क्योंकि संयुक्त परिवार में नागरिकों को आदर्श नागरिक बनने की उत्तम शिक्षा प्रदान की जाती है। संयुक्त परिवार में छोटे-बड़ों के प्रति कर्तव्यपालन की शिक्षा मिलती है।

(2) कम खर्च का होना—संयुक्त परिवार में कम खर्च होता है, क्योंकि परिवार के सभी सदस्यों का भोजन एक साथ बनता है और खर्च की बचत होती है। इसमें कुटुम्ब का आर्थिक स्तर ऊंचा हो जाता है।

(3) कार्य की सरलता—संयुक्त परिवार में कार्य सरलतापूर्वक हो जाते हैं। विवाह सम्बन्धी, कृषि सम्बन्धी तथा व्यापार सम्बन्धी, आदि सभी महत्वपूर्ण कार्य सरलतापूर्वक सम्पन्न हो जाते हैं।

(4) सामाजिक सुरक्षा—संयुक्त परिवार सामाजिक सुरक्षा का महत्वपूर्ण साधन है। असमर्थता की स्थिति में रोटी, कपड़ा, मकान तथा दवा, आदि की व्यवस्था संयुक्त परिवार में आसानी से हो जाती है।

(5) सम्मान की वृद्धि—संयुक्त परिवार से कुटुम्ब के व्यक्तियों का समाज में सम्मान बढ़ जाता है, क्योंकि संयुक्त परिवार एक बड़ी इकाई होता है।

(6) उन्नति के अधिक अवसर—संयुक्त परिवार में सभी व्यक्तियों को अपनी-अपनी उन्नति करने के अधिक अवसर प्राप्त होते हैं।

(7) भूमि के टुकड़े नहीं होते—संयुक्त परिवार में भूमि का कोई बंटवारा नहीं होता और खेत आर्थिक दृष्टि से उपयोगी इकाई बने रहते हैं।

(8) समाज-सेवा और देश-प्रेम के अवसर—संयुक्त परिवार, परिवार के एक या अधिक योग्य सदस्यों को इस बात का अवसर देते हैं कि वे समाज-सेवा, देश-सेवा और साहित्य एवं कलाओं की उन्नति में योग दे सकें।

संयुक्त परिवार से अनाथों, अपाहिजों और विधवाओं को सहायता प्राप्त होती है और इनमें मानवीय गुणों के विकास तथा नैतिकता के उत्थान की अधिक आशा की जा सकती है।

संयुक्त परिवार के अवगुण (हानियां)

संयुक्त परिवार के प्रमुख अवगुण इस प्रकार हैं :

(1) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में कमी—संयुक्त परिवार, परिवार के प्रधान के कठोर नियन्त्रण में ही कार्य कर सकता है। यह नियन्त्रण सदस्यों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को आघात पहुंचाता है और उनके जीवन में प्रसन्नता कम हो जाती है।

(2) व्यक्तिगत उन्नति के मार्ग में बाधक—संयुक्त परिवार में सब कुछ सांझा होता है। परिणामतया जीवन में आगे बढ़ने के लिए जो प्रेरणा प्राप्त होनी चाहिए, वह प्रेरणा प्राप्त नहीं होती और विकास रुक जाता है। संयुक्त परिवार में व्यक्तिगत उन्नति के अवसर भी बाधित होते हैं, क्योंकि व्यक्ति को परिवार के अन्य सदस्यों के प्रति विभिन्न प्रकार के दायित्वों का निर्वाह करना पड़ता है।

(3) अशान्ति और कलह का वातावरण—सदस्यों की रुचियों, भावनाओं और विचारों में भेद होने के कारण संयुक्त परिवार में छोटी-छोटी बातों को लेकर अशान्ति और कलह का वातावरण बन जाता है। इससे जीवन बहुत दुःखदायी हो जाता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(4) आर्थिक कठिनाइयां—संयुक्त परिवार में सामान्यतया कुछ सदस्य आलस्य और अकर्मण्यता की स्थिति को अपना लेते हैं। इससे परिवार के आर्थिक साधन कम हो जाते हैं और आर्थिक कठिनाइयां बढ़ जाती हैं।

(5) स्त्रियों की दुर्दशा—संयुक्त परिवार में सामान्यतया स्त्रियों पर नियन्त्रण बहुत अधिक होते हैं। सास, जिठानी और ननद, आदि के कठोर नियन्त्रण के कारण उनकी बहुत दुर्दशा होती है और कई बार तो आत्महत्या की स्थिति आ जाती है। संयुक्त परिवार स्त्रियों के विकास में निश्चित रूप से बाधक होता है।

(6) परिवार नियोजन का विरोधी—संयुक्त परिवार में परिवार के बच्चों के पालन-पोषण का भार पूरे परिवार पर होता है। परिणामतया कोई सदस्य अपनी सन्तान की संख्या को सीमित रखने की बात नहीं सोच पाता। भारत और अन्य विकासशील देशों के लिए यह बात बहुत विनाशकारी परिणामों को जन्म देने वाली सिद्ध हुई है।

(7) व्यक्तित्व के विकास में बाधक—संयुक्त परिवारों में सारी व्यवस्था कठोर नियमों और नियन्त्रणों में ढली हुई होती है। ऐसी स्थिति में युवा सदस्यों को नयी दिशा में आगे बढ़ने की कोई स्वतन्त्रता नहीं रहती और यह बात उनके व्यक्तित्व के विकास में बाधक होती है।

(8) प्रकृति के अनुकूल नहीं—कुछ विचारकों के अनुसार संयुक्त परिवार प्रकृति के अनुकूल भी नहीं होते, क्योंकि बच्चों को माता-पिता, भाई-बहिन से जो प्रेम, दुलार और स्नेह मिलना चाहिए, संयुक्त परिवार में सामान्यतया उसका अभाव ही रहता है।

इन सबके अतिरिक्त वर्तमान समय की प्रवृत्ति निश्चित रूप से संयुक्त परिवार के विरुद्ध है।

निष्कर्ष—मूल बात यह है कि यदि परिवार के सभी सदस्यों में प्रेम, उदारता और कर्तव्यपरायणता की भावना हो तो संयुक्त परिवार बने रहते हैं और सफल होते हैं, लेकिन आवश्यक मात्रा में इन भावनाओं के न होने पर संयुक्त परिवार टूट जाते हैं। भूतकाल में संयुक्त परिवारों का चलन था, लेकिन आज 'एकाकी परिवारों' (Single Families) का चलन है।

सीमित या छोटे परिवार की अवधारणा
(CONCEPT OF A LIMITED OR SMALL FAMILY)

परम्परागत रूप में दो प्रकार के परिवार बताये जाते हैं—(i) संयुक्त परिवार (Joint Family), और (ii) एकाकी परिवार (Nuclear Family)। परिवार के इन दो रूपों में से वर्तमान समय की प्रवृत्ति निश्चित रूप से व्यक्तिगत परिवार की ओर है।

लेकिन वर्तमान समय में परिवार का एक अन्य दृष्टि से भी वर्गीकरण किया जाता है। सन्तानों की संख्या की दृष्टि से दो प्रकार के परिवार होते हैं : (1) सीमित परिवार या छोटा परिवार (Small Family), (2) बड़ा परिवार (Large Family)। यहां पर बड़े परिवार का आशय संयुक्त परिवार से नहीं वरन् एक ही दम्पति की अधिक सन्तान वाले परिवार से है।

सीमित परिवार की अवधारणा का आशय यह है कि परिवार में एक दम्पति के बच्चों की संख्या सीमित होनी चाहिए; एक दम्पति के बच्चों की संख्या एक या अधिक-से-अधिक दो हो सकती है, लेकिन किसी भी स्थिति में एक दम्पति (पति-पत्नी) के दो से अधिक सन्तान नहीं होनी चाहिए। 'हम दो, हमारे दो' का विचार या नारा सीमित परिवार की अवधारणा को ही व्यक्त करता है। सीमित परिवार की धारणा का मुख्य उद्देश्य देश की जनसंख्या वृद्धि को सीमित करना तथा बच्चों के समुचित पोषण व विकास को सुनिश्चित करना है, क्योंकि अधिक सन्तान होने पर उक्त दोनों लक्ष्य पूरे नहीं हो सकेंगे।

सीमित परिवार की अवधारणा एक अन्य बात पर बल देती है। रूढ़िगत आधार पर यह सोचा जाता है कि सन्तान प्रकृति या ईश्वर की देन है और इस कारण सन्तान की संख्या के सम्बन्ध में हमें विचार नहीं करना है। 'सन्तान ईश्वर की देन है' सीमित परिवार की अवधारणा इस बात को वाद-विवाद का विषय नहीं बनाती, लेकिन इस बात पर स्पष्ट और निश्चित बल देती है कि दम्पति द्वारा सन्तान की संख्या को सीमित किया जा सकता है और इसे व्यापक समाज तथा स्वयं परिवार एवं व्यक्ति के हित में अवश्य ही सीमित रखा जाना चाहिए। इस प्रकार सीमित परिवार की अवधारणा का आशय है छोटा परिवार; ऐसा परिवार जिसमें एक दम्पति के बच्चों की संख्या एक या दो या किन्हीं अत्यन्त विशेष परिस्थितियों में अधिक-से-अधिक तीन हो।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सीमित परिवार की अवधारणा इस बात पर बल देती है कि परिवार में पुत्र और पुत्री दोनों का समान रूप से महत्व है। भारत में परम्परागत आधार पर यह सोचा जाता रहा है कि प्रत्येक दम्पति को पुत्र प्राप्ति तो होनी ही चाहिए, लेकिन सीमित परिवार की अवधारणा इस बात को अस्वीकार करती है और इस बात पर बल देती है कि पुत्र प्राप्ति की लालसा में भी सन्तान की संख्या को कदापि नहीं बढ़ाया जाना चाहिए। पुत्री किसी भी रूप में पुत्र से कम महत्वपूर्ण नहीं है, अतः पुत्र प्राप्ति की लालसा में भी सन्तान की संख्या को बढ़ाना किसी भी प्रकार से उचित नहीं कहा जा सकता।

वर्तमान समय में भारत और विश्व के अन्य देश, जो जनसंख्या के भार (बोझ) से पीड़ित हैं, सीमित परिवार की अवधारणा को अपनाने पर जोर दे रहे हैं।

सीमित परिवार की अवधारणा : आवश्यकता और महत्व (सीमित परिवार के गुण या लाभ)

भारत जैसे देश में सीमित परिवार की अवधारणा को अपनाना एक सामाजिक अनिवार्यता है और साथ ही व्यक्तिगत आवश्यकता भी। सम्पूर्ण समाज तथा व्यक्ति की दृष्टि से सीमित परिवार की अवधारणा को अपनाने की आवश्यकता तथा उसका महत्व[1] निम्नलिखित रूपों में स्पष्ट किया जा सकता है :

(1) सम्पूर्ण समाज तथा देश के हित में आवश्यक—भारत जैसे देश के सम्मुख सबसे अधिक प्रमुख रूप से दो समस्याएं हैं : निर्धनता और बेरोजगारी। 1971 की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या 54.8 करोड़ थी, जो 2001 की जनगणना के अनुसार एक अरब 2 करोड़ 70 लाख 15 हजार 247 (1,02,70,15,247) हो गई।[2] आज 2010 के प्रारम्भिक महीनों में जनसंख्या के प्रसंग में लगाए गए विविध अनुमानों में से सर्वाधिक मान्य अनुमान के अनुसार भारत की जनसंख्या लगभग 1 अरब 16 करोड़ हो गई है। आज भारत जनसंख्या की दृष्टि से चीन के बाद दूसरा सबसे बड़ा देश है यदि जनसंख्या वृद्धि पर प्रभावी नियन्त्रण नहीं लगाया गया तो अगले 30 वर्षों में भारत की जनसंख्या चीन की जनसंख्या से अधिक हो जाएगी। जनसंख्या की इस वृद्धि ने न केवल निर्धनता और बेरोजगारी, वरन् जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक गम्भीर समस्याओं को जन्म दिया है और भविष्य में यह एक भयानक स्थिति का कारण बनेगी। आज भारत में जनसंख्या की जो स्थिति है, उसे एक शब्द में कहा जा सकता है, 'जनसंख्या विस्फोट' (Population Explosion) अच्छी (आदर्श) स्थिति वह होती है जब किसी देश की जनसंख्या प्राकृतिक संसाधनों के अनुपात में हो, लेकिन जब किसी देश की जनसंख्या उस देश के प्राकृतिक साधनों के अनुपात में बहुत अधिक बढ़ जाती है, तब इस स्थिति को 'जनसंख्या विस्फोट' कहते हैं। हमारे देश में कृषि तथा अन्य प्राकृतिक साधनों की मात्रा को देखते हुए यह जनसंख्या अधिक है और निर्धनता, बेरोजगारी तथा अन्य गम्भीर समस्याओं को आंशिक रूप से हल कर पाने के लिए भी जनसंख्या वृद्धि पर कठोर नियन्त्रण नितान्त आवश्यक है। जनसंख्या वृद्धि पर नियन्त्रण तभी सम्भव है, जबकि सीमित परिवार की अवधारणा को अपनाया जाय।

(2) स्वास्थ्य व पोषण की दृष्टि से उचित—सीमित परिवार की अवधारणा को अपनाना शारीरिक स्वस्थता की दृष्टि से भी उचित है। अधिक सन्तान को जन्म देना माता और बच्चे, दोनों के स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकारक होता है। इसके अतिरिक्त, वर्तमान समय में स्थिति यह है कि विश्व के विकसित देशों में प्रति व्यक्ति को दैनिक खुराक 3,000 कैलोरी से भी अधिक मिलती है। मिस्र, टर्की, रोडेशिया और ग्रीस जैसे विकासशील देशों में भी प्रति व्यक्ति औसतन 2,600 कैलोरी भोजन में प्राप्त करता है, परन्तु भारत में यह औसत सबसे कम लगभग 2,145 कैलोरी प्रतिदिन प्रति व्यक्ति आता है। निर्धनता के कारण परिवार के आर्थिक साधन सीमित हैं और परिवार बड़ा होने पर इन सीमित साधनों का अपेक्षाकृत अधिक लोगों में बंटवारा हो जाता है। पौष्टिक भोजन शारीरिक स्वस्थता की प्रथम स्थिति है और भारत जैसे देश में सीमित परिवार की अवधारणा को अपनाकर ही इसे लगभग समस्त जनसंख्या के लिए प्राप्त किया जा सकता है।

(3) सन्तोषजनक आर्थिक स्थिति—सन्तोषजनक आर्थिक स्थिति अच्छे परिवार का एक प्रमुख लक्षण है और सीमित परिवार की अवधारणा को अपनाकर ही इसे प्राप्त कर पाना सम्भव है।

---

1 इन्हें ही सीमित परिवार के गुण कहा जा सकता है।

2 **Census of India, 2001, Population Totals : *Govt. of India Publication*, p. 1.**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(4) व्यक्तित्व के समुचित विकास के अधिक अवसर—आज के बच्चे ही कल देश के भाग्य-विधाता होंगे और व्यक्ति तथा सम्पूर्ण समाज की दृष्टि से इनके व्यक्तित्व का समुचित विकास नितान्त आवश्यक है। व्यक्तित्व का समुचित विकास तभी सम्भव है जबकि माता-पिता बच्चों के विकास पर उचित ध्यान दें और परिवार के पास उचित मात्रा में आर्थिक साधन भी हों। इन दोनों स्थितियों को प्राप्त कर पाना तभी सम्भव है, जबकि सीमित परिवार की अवधारणा को अपनाया जाय।

(5) पारिवारिक सदस्यों में अधिक घनिष्ठ स्नेह सम्बन्ध—परिवार सामूहिक जीवन का आदर्श होता है और इस स्थिति को प्राप्त कर पाना तभी सम्भव है जबकि माता-पिता और बच्चों के बीच घनिष्ठ स्नेह सम्बन्ध हों। यद्यपि यह कहना तो उचित नहीं होगा कि बड़े परिवार या अधिक सन्तान वाले परिवारों में स्नेह सम्बन्धों का सदैव अभाव होता है और कम सन्तान वाले परिवारों में घनिष्ठ स्नेह सम्बन्ध अनिवार्यतया विद्यमान होते हैं, लेकिन यह तो तथ्य है कि शहरी क्षेत्र हों या ग्रामीण क्षेत्र, 50 वर्ष पहले की तुलना में आज का जीवन बहुत अधिक व्यस्त और बहुत अधिक संघर्षमय हो गया है और अधिक सम्भावना इस बात की है कि अधिक सन्तान वाले परिवारों में माता-पिता को अधिक संघर्षमय जीवन बिताना पड़ेगा और यह अधिक संघर्षमय जीवन स्नेह सम्बन्धों को आघात पहुंचाने का कारण बन सकता है। अतः परिवार 'सामूहिक जीवन का आदर्श' बन सके, इस दृष्टि से भी सीमित परिवार की अवधारणा को अपनाया जाना आवश्यक है।

(6) नागरिकता सम्बन्धी कार्यों का सम्पादन—सभी व्यक्ति इस बात को स्वीकार करते हैं कि 'परिवार सामाजिक या नागरिक जीवन की शाश्वत पाठशाला है।' परिवार अपने सदस्यों, विशेषतया बच्चों को प्रेम, सेवा, सहयोग, त्याग, सहिष्णुता, नैतिकता और सदाचार की शिक्षा प्रदान करता है। मनोवैज्ञानिक सामाजिक जीवन के अध्ययन और सर्वेक्षण के आधार पर बतलाते हैं कि आज जो असामाजिक प्रवृत्तियों वाले व्यक्ति देखे जाते हैं, उसका एक मूल कारण बाल्यावस्था में उन्हें उचित मात्रा में प्रेम प्राप्त न होना और त्रुटिपूर्ण पालन-पोषण है। यह स्थिति उस समय पैदा होती है जब माता-पिता अपने बच्चों पर उचित ध्यान नहीं दे पाते और उनकी शिक्षा के लिए उचित व्यवस्था नहीं कर पाते। परिवार नागरिकता सम्बन्धी कार्यों का उचित रूप में सम्पादन कर सके, इस दृष्टि से भी सीमित परिवार की अवधारणा को अपनाया जाना नितान्त आवश्यक है।

वस्तुतः भारत और अन्य अनेक विकासशील देशों के नागरिकों के लिए और सम्पूर्ण देश के लिए सीमित परिवार की स्थिति को अपनाना आवश्यक है। सीमित परिवार की स्थिति ही व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र सबके हित में है।

बड़े परिवार (अधिक सन्तान) की हानियां

सीमित परिवार की धारणा की अवहेलना करने पर व्यक्ति और परिवार को होने वाली कठिनाइयां (परिवार में बच्चों की अधिक संख्या होने पर कठिनाइयां)—परिवार में अधिक बच्चों की स्थिति व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र सभी के विकास में भारी बाधा का कार्य करती है। इस स्थिति में प्रमुखतया निम्न कठिनाइयां जन्म लेती हैं :

1. बच्चों के व्यक्तित्व के समुचित विकास में बाधक—जब परिवार में बच्चों की संख्या बढ़ जाती है, तब माता-पिता बच्चों के व्यक्तित्व के विकास पर समुचित ध्यान नहीं दे पाते तथा उनके व्यक्तित्व के विकास में बाधा पड़ती है।

2. आर्थिक स्थिति में गिरावट—सामान्यतया परिवार के आर्थिक साधन सीमित होते हैं तथा अधिक बच्चे होने पर आर्थिक स्थिति में भारी गिरावट और निर्धनता की स्थिति पैदा हो जाती है। अधिक बच्चों वाला परिवार सामान्यतया निर्धनता के दुष्चक्र में पड़ जाता है। भारत में अशिक्षा व गरीबी का सबसे बड़ा कारण अधिक सन्तति वाले परिवारों का होना है।

3. बच्चे, मां और सभी पारिवारिक सदस्यों के स्वास्थ्य में गिरावट—अधिक बच्चों का मतलब है जल्दी-जल्दी बच्चों का जन्म लेना। यह स्थिति बच्चे और उसकी मां तथा आर्थिक साधनों के अभाव के कारण सामान्यतया परिवार के सभी सदस्यों के स्वास्थ्य में गिरावट का कारण बनते हैं।

4. बच्चों का पालन-पोषण उचित रूप में नहीं—बच्चों के अच्छे पालन-पोषण के लिए उन्हें माता-पिता का स्नेह और दुलार बहुत अधिक आवश्यक होता है। अधिक बच्चे होने पर माता-पिता बड़े परिवार से उत्पन्न

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कठिनाइयों के कारण चिन्ताओं में घिर जाते हैं तथा बच्चों को स्नेह और दुलार नहीं दे पाते। बच्चों की उपेक्षा कई बार उनमें समाज-विरोधी भावनाएं भर देती है।

5. पारिवारिक सदस्यों में प्रेमपूर्ण सम्बन्धों का अभाव—जब आर्थिक साधन सीमित हैं और बच्चों की संख्या अधिक; तब परिवार के सदस्यों के बीच प्रेम, सेवा और सहयोग का वातावरण बनने के बजाय ईर्ष्या, द्वेष, विवादों और झगड़ों का वातावरण बन जाता है। परिवार सही अर्थों में परिवार नहीं रहता।

6. अच्छे नागरिकों का विकास सम्भव नहीं—सभी व्यक्ति इस बात को स्वीकार करते हैं कि परिवार सामाजिक या नागरिक जीवन की शाश्वत पाठशाला है। अधिक बच्चों वाले परिवारों में बच्चों को सामान्यतया प्रेम, सेवा, सहयोग, नैतिकता और सदाचार की शिक्षा प्राप्त नहीं हो पाती। मनोवैज्ञानिक सामाजिक जीवन के अध्ययन और सर्वेक्षण के आधार पर बताते हैं कि आज जो असामाजिक प्रवृत्तियों वाले व्यक्ति देखे जाते हैं, उसका एकमूल कारण बाल्यावस्था में उन्हें उचित मात्रा में प्रेम प्राप्त न होना और त्रुटिपूर्ण पालन-पोषण है।

वस्तुतः आज की समस्त परिस्थितियां इस बात की मांग करती हैं कि परिवार में बच्चों की संख्या सीमित ही होनी चाहिए। सन्तानों की संख्या एक अथवा दो या विशेष परिस्थितियों में अधिकतम तीन हो सकती है। सीमित परिवार या परिवार में बच्चों की कम संख्या आज के समय की मांग है। सीमित परिवार ही आज के अनुकूल है।

सीमित परिवार की स्थिति को अपनाने के उपाय (राष्ट्रीय स्तर पर और राज्य स्तर पर)

जनसंख्या की बेतहाशा वृद्धि देश की गम्भीरतम समस्या है, यह मूल समस्या है जिसे हल किए बिना देश की कोई भी समस्या हल नहीं हो सकती। अतः जनसंख्या वृद्धि में रोकथाम के लिए पूरी गम्भीरता के साथ प्रयत्न करने होंगे। इस दिशा में प्रमुख रूप से निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं :

1. राष्ट्रीय जनसंख्या नियन्त्रण आयोग और राज्य स्तर पर तत्सम्बन्धी आयोगों की स्थापना—जनसंख्या की वृद्धि पर रोक लगाने की दिशा में सारभूत कार्य करने के लिए राजनीतिक इच्छा शक्ति, राजनीतिक संकल्प की शक्ति आवश्यक है, लेकिन ये राजनीतिज्ञ और राजनीतिक दल, जिनकी दृष्टि आगे आने वाले चुनाव से अधिक कुछ देख नहीं पाती ऐसा कर पाएंगे, इसमें सन्देह करने का आधार बनता है। अतः आवश्यक हो जाता है कि जनसंख्या वृद्धि में रोकथाम या परिवार नियोजन के कार्य को सदैव के लिए दलबन्दी से अलग कर दिया जाए। इस दृष्टि से एक महत्वपूर्ण सुझाव यह है कि राष्ट्रीय स्तर पर 'राष्ट्रीय जनसंख्या नियन्त्रण आयोग' (National Population Control Commission) और प्रत्येक राज्य तथा संघीय क्षेत्र के स्तर पर 'राज्य जनसंख्या नियन्त्रण आयोग' स्थापित किए जाएं, या 'राज्य जनसंख्या नियन्त्रण अधिकारी' की नियुक्ति हो। प्रशासन के सर्वोच्च स्तर पर केबीनेट की 'जनसंख्या और परिवार कल्याण समिति' होनी चाहिए, जिसकी अध्यक्षता राष्ट्रीय स्तर पर प्रधानमन्त्री और राज्य स्तर पर मुख्यमन्त्री द्वारा की जाए। राष्ट्रीय जनसंख्या नियन्त्रण आयोग का कार्य राष्ट्रीय जनसंख्या नीति तैयार करना तथा इस नीति के क्रियान्वयन की मोटी रूपरेखा तैयार करना होना चाहिए। आयोग तीन सदस्यीय होना चाहिए तथा ये ऐसे व्यक्ति होने चाहिए, जो दूरदर्शी और संकल्प-शक्ति के धनी हों। इस आयोग को वैसी ही स्वायत्तता प्रदान की जाए, जैसी स्वायत्तता भारतीय राजव्यवस्था में चुनाव आयोग को प्राप्त है। इस प्रकार की समस्त योजना का उद्देश्य यह है कि परिवार नियोजन को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाए, जनसंख्या नियन्त्रण के कार्य को दलबन्दी से ऊपर रखा जाए और जनसंख्या नियन्त्रण के कार्य को समस्त देश में पूरी तत्परता के साथ लागू किया जाए।

2. शिक्षा, विशेषतया बालिका शिक्षा और महिला शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार—वस्तुतः शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार और जनसंख्या की रोकथाम एक-दूसरे के साथ गहरे रूप में जुड़े हुए हैं। दोनों कार्य एक साथ और पूरी गति से प्रारम्भ करने होंगे, इनमें से कोई एक कार्य दूसरे की प्रतीक्षा नहीं कर सकता। परिवार नियोजन के प्रसंग में बालिका शिक्षा और महिला शिक्षा का महत्व अधिक है। शोचनीय तथ्य यह है कि 2001 ई. की जनगणना के अनुसार भी भारत में महिला साक्षरता 54.16 ही है। ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं की साक्षरता की स्थिति अत्यन्त दयनीय है। परिवार नियोजन के प्रसंग में भारतीय संघ के राज्यों में केरल सबसे आगे है तथा इसका श्रेय शिक्षा, विशेषतया बालिका शिक्षा या महिला शिक्षा को जाता है। इस दृष्टि से पाठ्यक्रम में

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी कुछ परिवर्तन करने होंगे। हाईस्कूल स्तर (कक्षा 10) तथा उच्च माध्यमिक स्तर या इण्टर स्तर (कक्षा 12) पर पाठ्यक्रम में 'जनसंख्या वृद्धि पर रोक और परिवार नियोजन' को पूरे विस्तार के साथ और अनिवार्य रूप से शामिल किया जाना चाहिए। इस अध्याय में निम्न बातों का अवश्य ही समावेश होना चाहिए :

प्रथम, दुनिया का कोई भी धर्म परिवार नियोजन के साधनों को अपनाने का निषेध नहीं करता, परिवार नियोजन इस देश के प्रत्येक नागरिक का और देश का युगधर्म है। द्वितीय, यह सोचना गलत है कि भगवान ने जिसे मुंह दिया है, उसे श्रम करने के लिए दो हाथ भी दिए हैं। दो के बाद पैदा होने वाला प्रत्येक बच्चा परिवार और देश पर एक बोझ है। तृतीय, तथ्य यह है कि नसबंदी पुरुष के पुरुषत्व में कोई कमी नहीं करती; स्वास्थ्य पर कोई भी विपरीत प्रभाव नहीं डालती। पुरुष नसबन्दी परिवार नियोजन का सर्वाधिक सुरक्षित, सबसे अधिक सस्ता तथा ऐसा दोषरहित साधन है, जिसके कोई भी अनुचित परिणाम नहीं होते। चतुर्थ, परिवार नियोजन के अन्य साधनों की भी पाठ्यक्रम में और कक्षाओं में पूरे विस्तार और पूरी गम्भीरता के साथ शिक्षा दी जानी चाहिए।

3. जीवन-स्तर में सुधार—निम्न जीवन-स्तर जनसंख्या में वृद्धि का कारण होता है और जनसंख्या में वृद्धि निम्न जीवन स्तर का कारण बनती है। भारत जैसे देशों में यह एक दुष्चक्र बन गया है, जिसे तोड़ा जाना आवश्यक है। सामान्य अनुभव बतलाता है कि जिनका जीवन स्तर अच्छा है, वे 'सीमित परिवार की अवधारणा' के प्रति जागरूक हैं। आवश्यकता इस बात की है कि समाज के श्रेष्ठ वर्ग की सुख-सुविधाओं को कम करते हुए सामान्य जनता के जीवन स्तर में सुधार के ठोस प्रयत्न किए जाएं।

4. पुरस्कार और दण्ड की नीति व्यापक स्तर पर अपनाना (Scheme of incentives and disincentives)—जनसंख्या वृद्धि में रोकथाम के लिए शिक्षा के अधिकाधिक प्रसार और जीवन स्तर में सुधार की आवश्यकता है, लेकिन इसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ किए जाने की आवश्यकता है। इसके लिए लाभ देने और दण्डित करने की ऐसी व्यापक योजना अपनाई जाने की आवश्यकता है, जो व्यक्तियों को परिवार नियोजन के लिए सोचने और इसे अपनाने के लिए लगभग बाध्य ही कर दे। इस योजना में परिवार नियोजन न अपनाने वाले व्यक्तियों को दण्डित करने की योजना आवश्यकतानुसार कम-से-कम और परिवार नियोजन अपनाने वाले व्यक्तियों को लाभान्वित करने की योजना व्यापक रूप से अपनाई जानी चाहिए।

जहां तक दण्डित करने या अपात्र घोषित करने का प्रश्न है परिवार नियोजन का उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करने की जो व्यवस्था की जाए, उस व्यवस्था के सम्बन्ध में जनमत जाग्रत किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में 1999 में तैयार की गई 'राष्ट्रीय जनसंख्या नीति' के प्रारूप में भी यह सुझाव दिया गया है कि जिन व्यक्तियों के दो से अधिक सन्तान हैं उन्हें सांसद, राज्य विधानसभा, नगर परिषद् और ग्राम परिषद्—इन सभी संस्थाओं की सदस्यता के लिए अयोग्य समझा जाना चाहिए। सरकारी नौकरियों के सम्बन्ध में भी आवश्यक चेतावनियों के बाद इस प्रकार की स्थिति को अपनाना अनुचित नहीं होगा। किसी भी महिला को, जो सरकारी या अर्द्ध-सरकारी संस्था में कार्यरत है दो बच्चों के बाद किसी बच्चे को जन्म देने पर 'प्रसूति अवकाश' नहीं दिया जाना चाहिए। व्यक्ति को यह महसूस कराया जाना चाहिए कि उसने दो से अधिक सन्तान को जन्म देकर एक अनुचित कार्य किया है, देश पर एक बोझ डाला है। 2000 ई. के अन्तिम दिनों में घोषित किया गया है कि जनसंख्या नीति का लक्ष्य है 2045 ई. तक जनसंख्या को स्थिर करना। इसी उद्देश्य से 100 करोड़ रु. के 'जनसंख्या स्थिरीकरण कोष' की स्थापना की गई है। जनसंख्या के स्थिरीकरण का तात्पर्य यह है कि मृत्युदर व जन्मदर एकसमान हो जाएं जिससे जनसंख्या में न तो बढ़ोतरी होगी न कमी।

5. परिवार नियोजन के कार्यक्रमों में अर्द्ध-सरकारी और गैर-सरकारी संगठनों तथा निजी क्षेत्र की भागीदारी—परिवार नियोजन कार्यक्रम तैयार करने तथा इन कार्यक्रमों की क्रियान्विति में जिला परिषदों, ग्राम पंचायतों और नगर पालिकाओं की सक्रिय भागीदारी होनी चाहिए। इन संस्थाओं को वित्तीय अनुदान देने में परिवार नियोजन कार्यक्रमों में उनकी भागीदारी को एक आधार बनाया जाना चाहिए। परिवार नियोजन कार्यक्रमों की सफलता एक वातावरण की मांग करती है। इस दृष्टि से गैर-सरकारी संगठनों, निजी चिकित्सालयों और स्वास्थ्य कार्यक्रम से जुड़े सभी व्यक्तियों की इसमें सक्रिय भूमिका होनी चाहिए। विभिन्न धर्मों से जुड़े धर्मगुरुओं को इस बात के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए कि वे परिवार नियोजन के सम्बन्ध में प्रचलित भ्रान्तियों को दूर करें। इन सबके अतिरिक्त परिवार नियोजन की योजना और कार्यक्रमों के प्रत्येक चरण में

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निजी क्षेत्र विशेषतया 'गैर सरकारी सेवा संगठनों' (NGOs) की सक्रिय भूमिका होनी चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि परिवार नियोजन को देश और काल से जुड़ा युगधर्म बनाया जाए।

6. जच्चा-बच्चा स्वास्थ्य देखभाल कार्यक्रम—बच्चे को जन्म देने वाली महिला के स्वास्थ्य की प्रसव के पूर्व और पश्चात् पूरी देखभाल की जानी चाहिए। सभी बच्चों को 6 बीमारी रोधक टीके अनिवार्य रूप से दिए जाने चाहिए। सामान्य अनुभव यह है कि जच्चा और बच्चा के स्वास्थ्य की देखभाल की व्यवस्था जितनी अच्छी होती है, परिवार नियोजन का कार्य उतना ही सरल हो जाता है। भारत में शिशु मृत्यु दर का अधिक होना सीमित परिवार में बाधक है यद्यपि शिशु मृत्युदर 1981 में 127 से घटकर 2009 में 70 हो गयी है, लेकिन इसमें अधिक सुधार की आवश्यकता है। इसके लिए शिशु-स्वास्थ्य पर अधिक ध्यान देना आवश्यक है।

7. विवाह योग्य आयु को बढ़ाना और प्रावधानों को आवश्यक कठोरता से लागू करना—वर्तमान में विवाह योग्य आयु लड़कों के लिए 21 वर्ष और लड़कियों के लिए 18 वर्ष है, लेकिन इन कानूनी प्रावधानों का उल्लंघन करते हुए बाल-विवाह एक सामान्य स्थिति है। अब उचित यह होगा कि विवाह योग्य आयु बढ़ाकर लड़कों के लिए 25 वर्ष और लड़कियों के लिए 21 वर्ष कर दी जाए। केवल कानून बना देने से कुछ होने वाला नहीं है। इस कानून को पूरी तत्परता से लागू किया जाना चाहिए। ऐसा वातावरण तैयार किया जाना चाहिए कि समाज-सेवा संगठन 'विवाह योग्य कानून' को लागू करवाने में अग्रणी भूमिका निभाएं।

8. जनसंचार के माध्यमों से 'सीमित परिवार की अवधारणा' का व्यापक और कलात्मक प्रचार—रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा और पत्र-पत्रिकाओं, आदि जनसंचार के साधनों के माध्यम से 'सीमित परिवार' का प्रचार किया जाना चाहिए तथा परिवार को सीमित रखने के साधनों और कार्यक्रम की वैज्ञानिक जानकारी प्रदान की जानी चाहिए। इस प्रचार में दो-तीन बातों पर विशेष जोर दिया जाना चाहिए—प्रथम, पुत्र और पुत्री के बीच भेद नितान्त ना समझी की स्थिति है। द्वितीय, पुरुष नसबन्दी से पुरुष का पुरुषत्व किसी भी रूप में प्रभावित नहीं होता, वरन् बच्चा पैदा होने का भय समाप्त हो जाने से आनन्द बढ़ जाता है। तृतीय, परिवार नियोजन जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने का सबसे प्रमुख साधन है। इन सबके अतिरिक्त परिवार नियोजन के लिए अपनाए जाने वाले साधनों की व्यापक जानकारी दी जानी चाहिए। जनसंख्या नियन्त्रण कार्यक्रम का व्यापक विज्ञापन और प्रचार कार्यक्रम की सफलता के लिए बहुत अधिक महत्व रखता है।

9. मनोरंजन के साधनों की उचित व्यवस्था—मनोरंजन के साधनों का अभाव भी सीमित परिवार की अवधारणा को अपनाए जाने के मार्ग में एक बाधा है। आवश्यकता इस बात की है कि ग्रामीण और शहरी क्षेत्र में कृषकों और मजदूरों के लिए क्लबों की स्थापना की जाए और मनोरंजन के साधनों की व्यवस्था की जाए।

10. परिवार नियोजन के साधनों का मुफ्त वितरण और तत्सम्बन्धी समस्त आवश्यक जानकारी—सभी प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों, औषधालयों, चिकित्सालयों और सूचना केन्द्रों के माध्यम से स्वास्थ्य सम्बन्धी पूछताछ और गर्भ निरोधक साधनों की पूरी जानकारी दी जानी चाहिए। परिवार नियोजन के साधनों—गर्भ निरोधक गोलियां, कण्डोम और अन्य साधनों का इन केन्द्रों पर मुफ्त वितरण किया जाना चाहिए। वर्तमान समय में 'वार्षिक राष्ट्रीय योजना' का 1.5 प्रतिशत परिवार कल्याण कार्यक्रम पर खर्च किया जाता है, 1999 में जो 'राष्ट्रीय जनसंख्या नीति' तैयार की गई थी, उसके प्रारूप में सुझाव दिया गया है कि इस राशि को दो गुना कर तीन प्रतिशत कर दिया जाना चाहिए। यह सुझाव राष्ट्रीय हित में है। इसी तरह राष्ट्रीय जनसंख्या नीति के क्रियान्वयन व उसके निरीक्षण हेतु मई 2000 में राष्ट्रीय जनसंख्या आयोग की स्थापना की गई थी। परिवार नियोजन हेतु पुरस्कृत करने की योजनाएं भी चल रही हैं।

आवश्यकता इस बात की है कि सीमित परिवार की अवधारणा को अपनाने के लिए सभी स्तरों पर और तीव्र गति से प्रयत्न किए जाएं। पूरे राष्ट्र को यह बात समझनी होगी कि जनसंख्या नियन्त्रण राष्ट्र की पहली प्राथमिकता होनी चाहिए। देशकाल की दृष्टि से यह युगधर्म है। जब तक बढ़ती हुई जनसंख्या की वृद्धि पर रोक नहीं लग पाती है तब तक किसी भी प्रकार का आर्थिक विकास सम्भव ही नहीं हो सकता। अब तो स्थिति यह बन गई है कि सीमित परिवार की स्थिति को न अपनाने का परिणाम घोर अव्यवस्था को आमन्त्रित करना होगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सीमित परिवार की स्थिति को अपनाने के उपाय (व्यक्ति और परिवार के स्तर पर)

नोबल पुरस्कार विजेता अमर्त्य सेन ने पुरस्कार प्राप्ति के बाद कोलकाता में अपने एक व्याख्यान में कहा था, "राज्य और समाज व्यक्तियों के मिलने से बनता है, व्यक्ति जागेगा,अपने कर्तव्यों के प्रति सक्रियता का परिचय देगा, तभी समाज एक जाग्रत समाज का रूप लेकर विकास की दिशा में आगे बढ़ सकेगा।"

आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक व्यक्ति सीमित परिवार की आवश्यकता के प्रति गहरी जागरूकता और सक्रियता की स्थिति को अपना लें। परिवार को सीमित रखने की बात व्यक्ति स्वयं अपने से प्रारम्भ करें, रक्त सम्बन्ध से जुड़े व्यक्तियों और सगे सम्बन्धियों तथा मित्रों को इस परिधि में लें और फिर वह 'परिवार नियोजन' (परिवार कल्याण) का सन्देश देने के लिए एक सैनिक, विपरीत परिस्थितियों में भी हार न मानने वाला सैनिक बन जाए। सीमित परिवार की धारणा एक यथार्थ का रूप ले सके, इसके लिए व्यक्ति को अपने स्तर पर और अपने परिवार के स्तर पर निम्न स्थितियां अपनानी होंगी :

1. परिवार के सदस्यों के बीच 'यौन शिक्षा' (Sex Education) और परिवार नियोजन के साधनों पर बातचीत—अब तक अधिकांश भारतीय परिवारों में 'सेक्स' से सम्बन्धित किसी विषय पर बातचीत निषिद्ध समझी जाती है, लेकिन अब स्थिति में परिवर्तन आवश्यक है। परिवार के सदस्यों के बीच 'सेक्स' पर आवश्यक सीमा तक बातचीत होनी चाहिए, विशेषकर माता और पुत्री के बीच तो खुलकर बातचीत होनी ही चाहिए। इस बातचीत में वैवाहिक जीवन में प्रवेश करने वाले व्यक्तियों को परिवार नियोजन की आवश्यकता और परिवार नियोजन के लिए अपनाए जाने वाले साधनों की पूरी जानकारी दी जानी चाहिए। परिवार के युवा सदस्यों को यह भी बताया जाना चाहिए कि विवाह के तत्काल बाद सन्तान होना या सन्तान पैदा करना आवश्यक नहीं है तथा यदि एक से अधिक सन्तान को जन्म देना हो, तब भी एक सन्तान और दूसरी सन्तान के बीच पर्याप्त अन्तर, लगभग चार वर्ष का अन्तर नितान्त आवश्यक है। इस प्रकार का अन्तर होने पर ही सन्तान का उचित रूप में पालन-पोषण, स्वस्थ रूप में दूसरी सन्तान का जन्म और महिला (पत्नी) के स्वास्थ्य की रक्षा कर पाना सम्भव है। परिवार के सदस्यों को यह भी समझाया जाना चाहिए कि पूरे परिवार के स्वास्थ्य और सन्तान के उचित रूप में पालन-पोषण के लिए आवश्यक है कि किसी भी स्थिति में सन्तान की संख्या दो से अधिक न हो।

2. विवाह-योग्य आयु के कानून को परिवार के सभी सदस्यों पर कठोरता से लागू करना—बाल-विवाह को रोकने के लिए बहुत वर्षों पूर्व 'शारदा एक्ट' बनाया गया, लेकिन व्यवहार में इस कानून का पालन कम और उल्लंघन ज्यादा होता रहा है। राजसत्ता के द्वारा इस कानून का पालन करवाने के लिए सभी सम्भव प्रयत्न किए जाने चाहिए, लेकिन इससे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि परिवार अपने स्तर पर परिवार के सभी सदस्यों के सम्बन्ध में इस नियम का पालन करें। उचित तो यह होगा कि परिवार में लड़कों का विवाह 25 वर्ष और लड़कियों का विवाह 21 वर्ष की आयु से पूर्व न किया जाए। 2005 ई. में पारित कानून के आधार पर बाल-विवाह पर अधिक प्रभावी रोक लगाने की व्यवस्था की गई है।

3. शिक्षा, विशेषतया कन्या-शिक्षा की व्यवस्था—संविधान में संशोधन कर शासन द्वारा प्राथमिक शिक्षा को नागरिक का मूल अधिकार घोषित कर दिया गया है। व्यवहार में इससे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रत्येक परिवार इस बात का संकल्प लें कि परिवार के प्रत्येक बच्चे को माध्यमिक स्तर तक की शिक्षा तो अवश्य ही दिलवाई जाएगी। कहावत है कि **'एक लड़की शिक्षित होती है, तो पूरा परिवार शिक्षित हो जाता है।'** परिवार नियोजन की दृष्टि से भी लड़कों की शिक्षा की तुलना में कन्या-शिक्षा का महत्व अधिक है।

4. परिवार में पुत्र और पुत्री के बीच पूर्ण समानता का व्यवहार—परिवार नियोजन की दृष्टि से यह आवश्यक है कि परिवार में पुत्र और पुत्री के बीच पूर्ण समानता का व्यवहार किया जाए। इसके साथ ही इस बात का भी पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए कि पुत्र हो या पुत्री किसी भी स्थिति में सन्तान की संख्या दो से अधिक नहीं होनी चाहिए। पारिवारिक स्तर पर इस भ्रांति का त्याग कर दिया जाना चाहिए कि पुत्र के बिना परलोक नहीं सुधर सकता या बुढ़ापे में पुत्र ही सेवा कर सकता है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं कि बूढ़े माता-पिता की देखभाल पुत्र की तुलना में पुत्री ने भलीभाँति की। यदि पुत्र आवश्यक समझा जाता

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Siddhanta eGangotri Gyaan and eGangotri

है तो फिर दत्तक पुत्र की व्यवस्था की जा सकती है। सरकारी स्तर पर भी लड़कियों की शिक्षा, रोजगार व विकास सम्बन्धी कार्यक्रमों की आवश्यकता है ताकि उनमें आत्मनिर्भरता आ सके व परिवार पर बोझ न समझी जाएं। इससे लड़कियों के प्रति समाज के दृष्टिकोण में परिवर्तन होगा।

व्यक्ति और परिवार, अपने स्तर पर परिवार नियोजन के प्रसंग में अपने कर्तव्यों का पालन करें, तभी जनसंख्या की वृद्धि पर रोक लगा पाना सम्भव होगा।

सीमित परिवार की स्थिति को अपनाने की विधियां

सीमित परिवार की स्थिति को प्राप्त करने के लिए जो विधियां अपनाई जा सकती हैं या परिवार नियोजन के लिए जो साधन अपनाए जा सकते हैं, उनका एक अति संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है :

1. **गर्भ निरोधक गोलियां**—महिला के द्वारा गर्भ निरोधक गोलियां ली जा सकती हैं, 'माला डी' इसी प्रकार की एक गोली है। लेकिन जब कभी गर्भ निरोधक गोलियां अथवा अन्य किसी गर्भ निरोधक औषधि का सेवन किया जाए, तब इसका सेवन नियमित रूप से किया जाना चाहिए। **गर्भ निरोधक गोलियों का स्वास्थ्य पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता है।**

2. **'कॉपर टी' अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य उपकरण का प्रयोग**—इस प्रकार के उपकरण को महिला के गर्भाशय में स्थापित किया जाता है तथा यह एक या दो वर्ष के लिए गर्भ निरोधक साधन के रूप में कार्य करता है।

3. **कण्डोम**—यह पुरुष द्वारा अपनाया जाने वाला गर्भ निरोधक साधन है। 'सहवास' के समय पुरुष अपनी इन्द्रिय पर कण्डोम धारण करता है, जिससे पुरुष के शुक्राणु स्त्री के गर्भाशय में प्रवेश नहीं करते और गर्भ निरोध की स्थिति बनती है।

4. **पुरुष नसबन्दी** (Vasectomy)—ऊपर गर्भ निरोध के जिन साधनों का उल्लेख किया गया है, इन सभी साधनों में एक बड़ी कमी यह है कि भूल-चूक होने की गुंजाइश बनी रहती है और मानवीय भावना, उत्तेजना, भूल या असावधानी के परिणामस्वरूप लम्बे समय तक किए धरे पर पानी फिर जाता है। अतः इन्हें गर्भ निरोध के शत-प्रतिशत अचूक साधन कह पाना सम्भव नहीं है। **गर्भ निरोध के अचूक साधन आज की स्थिति में दो ही हैं—पुरुष नसबन्दी और महिला बन्ध्याकरण। इनमें भी महिला बन्ध्याकरण की तुलना में पुरुष नसबन्दी अपेक्षाकृत सरल साधन है।** पुरुष नसबन्दी परिवार नियोजन का निश्चित रूप से सबसे अधिक श्रेष्ठ साधन है। वस्तुतः इसे **पुरुष नसबन्दी के बजाय 'पुरुष कल्याण' या सारपूर्ण शब्दों में तो 'परिवार कल्याण' कहा जाना चाहिए।**

पुरुष नसबन्दी पुरुष पर की जाने वाली एक बहुत मामूली शल्य क्रिया है। अब यह शल्य क्रिया बहुत विकसित हो गई है तथा इससे पुरुष को कोई असुविधा नहीं होती। परिवार नियोजन का यह सर्वाधिक सरल, सर्वाधिक सुरक्षित, सबसे अधिक सस्ता और पूर्णतया दोष रहित उपाय है। यह ऐसा उपाय है, जिससे पुरुष के स्वास्थ्य पर कोई भी विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता। भारत के अधिकांश लोग घोर अज्ञान से घिरे हुए हैं और **अज्ञान के कारण ही वे ऐसा सोचते हैं कि पुरुष नसबन्दी से पुरुष अपना पुरुषत्व खो देता है या पुरुष नसबन्दी से पुरुष के पुरुषत्व पर कोई विपरीत प्रभाव पड़ता है।** वस्तुतः इससे अधिक गलत और मूर्खतापूर्ण और कोई बात नहीं हो सकती। सही बात यह है कि पुरुष नसबन्दी से पुरुष के पुरुषत्व पर कोई भी विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता। इसके नितान्त विपरीत इस मामूली सी शल्य क्रिया के परिणामस्वरूप दम्पति सन्तान पैदा होने के भय से मुक्त हो जाते हैं और यह बात सहवास में उनके आनन्द में वृद्धि करती है। पुरुष नसबन्दी के सम्बन्ध में सभी प्रकार की भ्रान्तियां दूर करने की आवश्यकता है। परिवार नियोजन के लिए पुरुष नसबन्दी का अधिक-से-अधिक प्रचार आवश्यक है। भारत में कई बार पुरुष नसबन्दी को तीन, चार या पांच सन्तान के बाद अपनाया जाता है यह सही स्थिति नहीं है। **सही स्थिति यह है कि एक सन्तान के बाद या अधिक-से-अधिक दो सन्तान के बाद पुरुष नसबन्दी को अपनाया जाए।**

5. **स्त्री बन्ध्याकरण**—यह महिला पर की जाने वाली शल्य क्रिया है, जिसके बाद महिला किसी सन्तान को जन्म दे पाने की स्थिति में नहीं रहती।

इन सबके अतिरिक्त कानून के आधार पर परिवार को सीमित करने के सुझाव पर पूरी गम्भीरता के साथ विचार किया जा सकता है और किया जाना चाहिए। याद रखने योग्य बात यह है कि लोकतान्त्रिक व्यवस्था के

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर्गत ऐसा कर पाना सम्भव नहीं है। यह लोकतन्त्र का उल्लंघन नहीं है, लेकिन ऐसा करने के पूर्व जनमत को इसके अनुकूल बनाना होगा।

आवश्यकता इस बात की है कि सीमित परिवार की अवधारणा को अपनाने के लिए सभी स्तरों पर और तीव्र गति से प्रयत्न किए जाएं। एक अरब 16 करोड़ से अधिक जनसंख्या के साथ अब स्थिति यह हो गई है कि यदि इस समस्या के सम्बन्ध में तत्परता के साथ कार्य नहीं किया गया, तो परिणाम निश्चित रूप से भयावह होंगे। वर्तमान समय में चीन में तो 'एक दम्पति, एक सन्तान' (One Couple, One Child) की धारणा पर बल दिया जा रहा है, भारत में भी इसी धारणा को अपनाए जाने की आवश्यकता है।

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (प्रत्येक प्रश्न 6 अंक का, उत्तर लगभग 300 शब्दों में दीजिए)

1. सीमित परिवार से आप क्या समझते हैं? सीमित परिवार की आवश्यकता और महत्व पर प्रकाश डालिए।
2. सीमित परिवार की अवधारणा पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
3. भारत में जनसंख्या समस्या की विकरालता स्पष्ट कीजिए। "जनसंख्या वृद्धि, इस देश की सभी समस्याओं का मूल है" इस कथन की व्याख्या कीजिए।
4. जनसंख्या में वृद्धि के कारण बताइए। जनसंख्या वृद्धि में रोकथाम के लिए राष्ट्रीय स्तर और राज्य स्तर पर क्या उपाय अपनाए जाने चाहिए।
5. सीमित परिवार की स्थिति को अपनाने के लिए व्यक्ति और परिवार के स्तर पर क्या उपाय अपनाए जाने चाहिए। सीमित परिवार की स्थिति को प्राप्त करने की विभिन्न विधियां बताइए। (उ.प्र., 2010)

लघु उत्तरीय प्रश्न

(अ) नोट—निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर 50 शब्दों में दीजिए (2 अंक)।

1. परिवार किसे कहते हैं?
2. परिवारों का वर्गीकरण किन-किन प्रमुख आधारों पर किया जाता है?
3. परिवार को सीमित करने की कोई दो विधियां बताइए।
4. बड़े परिवार की दो हानियां बताइए।
5. सीमित परिवार के पक्ष में दो तर्क दीजिए।

(ब) नोट—निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिए (4 अंक)।

6. परिवार के मुख्य कार्य बताओ।
7. वर्तमान समय में सीमित परिवार की आवश्यकता पर प्रकाश डालिए। (उ.प्र., 2010)
8. परिवार नागरिकता की प्रथम पाठशाला है। स्पष्ट कीजिए।
   अथवा, क्या परिवार नागरिक या सामाजिक जीवन की प्रथम और शाश्वत पाठशाला है? उत्तर पांच पंक्तियों में लिखिए।
9. सुखी तथा सफल पारिवारिक जीवन के लिए कौन-कौन सी शर्तें आवश्यक हैं?
10. यदि कोई व्यक्ति छोटे (सीमित परिवार) परिवार की धारणा के प्रतिकूल परिवार वृद्धि करता है, तो उसे किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है? स्पष्ट कीजिए।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न [प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का, उत्तर दस शब्द (एक वाक्य) में]

प्रश्न 1—भारत में विश्व की लगभग कितने प्रतिशत जनसंख्या रहती है?
उत्तर—लगभग 16 प्रतिशत।

प्रश्न 2—भारत में आज औसत आयु कितनी है?
उत्तर—लगभग 65 वर्ष।

प्रश्न 3—भारत में जनसंख्या में वृद्धि के कोई दो प्रमुख कारण बताइए।
उत्तर—1. अज्ञान, घोर निर्धनता और भ्रांत धारणाएं, 2. पुत्र प्राप्ति और अधिकांश व्यक्ति में एक से अधिक पुत्र प्राप्ति की इच्छा।

प्रश्न 4—जनसंख्या में वृद्धि की रोकथाम के लिए तीन सुझाव दीजिए।
उत्तर—1. राष्ट्रीय जनसंख्या नियन्त्रण आयोग की स्थापना, 2. शिक्षा, विशेषकर बालिका शिक्षा और महिला शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार, 3. जीवन-स्तर में सुधार।

CC-0 Pahari Kanya Mana Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न 5—परिवार नियोजन का सर्वाधिक सुरक्षित और निश्चित साधन कौन-सा है?
उत्तर—पुरुष नसबन्दी (Vasectomy)।

प्रश्न 6—संयुक्त परिवार का एक गुण लिखिए? (उ.प्र., 2010)
उत्तर—सामाजिक सुरक्षा।

बहुविकल्पीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों में चार विकल्प दिए गए हैं। उनमें से एक सही विकल्प छांटकर लिखिए :

1. नागरिशास्त्र या सामाजिक जीवन की प्रथम पाठशाला है :
(अ) विद्यालय (ब) परिवार (स) ग्राम पंचायत (द) इनमें से कोई नहीं
2. एक आदर्श परिवार के लिए परिवार में किस परिस्थिति का होना आवश्यक है :
(अ) सन्तोषजनक आर्थिक स्थिति (ब) शिक्षा
(स) परिवार का सीमित आकार (द) इनमें से सभी
3. 'सीमित परिवार' की अवधारणा का आशय है :
(अ) किसी भी स्थिति में एक दम्पति के दो से अधिक सन्तान नहीं होनी चाहिए।
(ब) दम्पति के चार से अधिक सन्तान नहीं होनी चाहिए।
(स) दम्पति के पांच से अधिक सन्तान नहीं होनी चाहिए।
(द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।
4. भारत में विश्व की लगभग कितने प्रतिशत जनसंख्या रहती है :
(अ) 11 प्रतिशत (ब) 13 प्रतिशत (स) 16 प्रतिशत (द) 18 प्रतिशत
5. जनसंख्या में तीव्रगति से वृद्धि का कारण है :
(अ) अज्ञान, घोर निर्धनता और भ्रान्त धारणाएं (ब) धार्मिक कट्टरता
(स) अधिक पुत्र-प्राप्ति की इच्छा (द) इनमें से सभी
6. परिवार नियोजन का सबसे सरल, सस्ता और निश्चित साधन कौन-सा है :
(अ) पुरुष नसबन्दी (ब) महिला नसबन्दी
(स) गर्भनिरोधक गोलियां (द) इनमें से कोई नहीं
7. परिवार नियोजन के प्रसंग में भारतीय संघ के राज्यों में सबसे आगे है :
(अ) बिहार (ब) मध्य प्रदेश (स) केरल (द) राजस्थान
8. वर्तमान में लड़कों के लिए विवाह योग्य आयु है :
(अ) 18 वर्ष (ब) 19 वर्ष (स) 21 वर्ष (द) 25 वर्ष
9. वर्तमान में लड़कियों के लिए विवाह योग्य आयु है :
(अ) 16 वर्ष (ब) 18 वर्ष (स) 21 वर्ष (द) 25 वर्ष
10. सीमित परिवार की अवधारणा का लाभ है :
(अ) सम्पूर्ण समाज तथा देश के हित में आवश्यक (ब) शारीरिक स्वस्थता की दृष्टि से उचित
(स) सन्तोषजनक आर्थिक स्थिति (द) इनमें से सभी
11. भारत में जन्म-दर कितने प्रति हजार है :
(अ) 25.1 (ब) 25.2 (स) 25.6 (द) 23.8
12. निम्नलिखित में से किस राज्य को 'बीमारू राज्य' कहा जाता है :
(अ) उत्तर प्रदेश (ब) बिहार (स) मध्य प्रदेश (द) इनमें से सभी
13. '*India : Economic Development and Social Opportunity*' शोध प्रबन्ध के लेखक हैं :
(अ) प्रो. अमर्त्य सेन (ब) तसलीमा नसरीन (स) अरुन्धती राय (द) मार्शल
14. सीमित परिवार की स्थिति को अपनाने का उपाय है :
(अ) बालिका-शिक्षा एवं महिला-शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार
(ब) परिवार नियोजन के साधनों का मुफ्त वितरण
(स) विवाह योग्य आयु को बढ़ाना और प्रावधानों को कठोरता से लागू करना
(द) उपर्युक्त सभी

[उत्तर—1. (ब), 2. (द), 3. (अ), 4. (स), 5. (द), 6. (अ), 7. (स), 8. (स), 9. (ब), 10. (द), 11. (द), 12. (द), 13. (अ), 14. (द)]

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4

नागरिक और नागरिकता

[CITIZEN AND CITIZENSHIP]

"परिवार या कुल के लिए व्यक्ति का, ग्राम के लिए कुल का, राज्य के लिए ग्राम का और आत्मा के लिए पृथ्वी का त्याग कर दिया जाना चाहिए।"[1] —मनुस्मृति

"अपनी प्रशिक्षित बुद्धि का लोकहित में प्रयोग ही नागरिकता है।"[2] —लास्की

नागरिक : अर्थ और परिभाषा

नागरिकता मनुष्य की उस स्थिति का नाम है जिसमें मनुष्यों को नागरिक का स्तर प्राप्त होता है। साधारण बोलचाल के अन्तर्गत एक राज्य में रहने वाले सभी व्यक्तियों को नागरिक कहा जाता है, किन्तु ऐसा कहना उचित नहीं है। एक राज्य में कुछ ऐसे विदेशी लोग भी होते हैं जो व्यापार या भ्रमण, आदि के लिए एक विशेष देश में आये हुए होते हैं, इन विदेशियों को नागरिक नहीं कहा जा सकता है। नागरिक केवल ऐसे ही व्यक्तियों को कहा जा सकता है जिन्हें राज्य की ओर से सभी नागरिक एवं राजनीतिक अधिकार प्रदान किये गये हों और जो उस राज्य के प्रति विशेष भक्ति रखते हों। नागरिक की कुछ परिभाषाएं निम्न प्रकार से की गयी हैं :

अरस्तू के अनुसार "एक नागरिक वह है जिसे राज्य के शासन में कुछ भाग प्राप्त हो और जो राज्य द्वारा प्रदान किये गये सम्मान का उपभोग करता हो।"[3]

इसी प्रकार वटल (Vattal) ने नागरिक की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "नागरिक समाज के वे सदस्य होते हैं जो कुछ विशेष कर्तव्यों द्वारा समाज से बंधे हों, जो समाज के नियन्त्रण में रहते हों और जो समाज द्वारा प्रस्तुत सुविधाओं का निरन्तर रूप से उपभोग करते हों।"

इसी प्रकार ए. के. सीयू के अनुसार, "नागरिक वह है जो राज्य के प्रति भक्ति रखता हो, जिसे सामाजिक और राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों और जो जनसेवा की भावना से प्रेरित हो।"

सीले के अनुसार, "नागरिक उस व्यक्ति को कहते हैं जो राज्य के प्रति भक्ति रखता हो, जिसे राजनीतिक एवं सामाजिक अधिकार प्राप्त हों तथा जो लोकसेवा की भावना से प्रेरित होता हो।"

श्रीनिवास शास्त्री द्वारा की गयी नागरिक की परिभाषा भी उल्लेखनीय है, उन्होंने कहा है कि "नागरिक वह व्यक्ति है जो एक राज्य का सदस्य हो और जो समस्त समाज के उच्चतम नैतिक हित की वृद्धि के साधनों को बुद्धिमानी से समझकर राज्य की सीमा में ही अपने कर्तव्यपालन और अपने उच्चतम विकास के लिए प्रयत्नशील रहे।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि नागरिकशास्त्र में नागरिक का तात्पर्य ऐसे व्यक्तियों से होता है जिन्हें समाज के द्वारा नागरिक एवं राजनीतिक अधिकार प्रदान किये गये हों, लेकिन सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में अधिकार और कर्तव्य एक ही वस्तु के दो पक्ष हैं और अधिकारों को कर्तव्य से अलग नहीं किया जा सकता है। अतः कर्तव्य भी नागरिकता की सीमा में आ जाते हैं। इसके अतिरिक्त जब राज्य नागरिकों

1 "त्यजेदेकं कुलं स्वार्थे ग्राम स्वार्थे कुलं त्यजेत्,
ग्रामं जनपद स्वार्थे, आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्।" —मनुस्मृति

2 "Citizenship is the contribution of one's instructed judgement to public good." —*H. J. Laski*

3 "A citizen is one who has a share in the government of the state and is entitled to enjoy its honours." —*Aristotle*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को अधिकार प्रदान करता है, उन्हें व्यक्तित्व के विकास हेतु विविध सुविधाएं प्रदान करता है तो इन सबके बदले व्यक्ति का भी कर्तव्य हो जाता है कि वह राज्य के प्रति कर्तव्यों का पालन करे और उसके प्रति विशेष भक्ति रखे। इस प्रकार नागरिकता व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों को दृढ़ बनाने वाली उस स्थिति का नाम है, जिसके अन्तर्गत राज्य के द्वारा व्यक्ति को नागरिक और राजनीतिक अधिकार प्रदान किये जाते हैं और व्यक्ति राज्य के प्रति विशेष भक्ति रखता है।

अतः नागरिक बनने के लिए निम्न तीन शर्तों को पूरा किया जाना आवश्यक है :

(1) राज्य की सदस्यता—नागरिक बनने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति राज्य का सदस्य हो। राज्य की सदस्यता नागरिकता की प्रथम शर्त है और इसके बिना नागरिकता कोई अर्थ नहीं रखती। यह उल्लेखनीय है कि राज्य की सीमाओं में रहने वाले सभी व्यक्ति राज्य के सदस्य नहीं होते।

(2) राज्य के प्रति भक्ति—नागरिक के द्वारा राज्य के कानूनों का पालन करने के अतिरिक्त राज्य के प्रति विशेष भक्ति रखी जानी चाहिए। विशेष भक्ति का आशय यही है कि व्यक्ति राज्य के अस्तित्व की रक्षा और उसकी प्रगति के लिए सदैव ही सहर्ष प्रत्येक प्रकार का त्याग करने को तत्पर रहे।

नागरिक बनने के लिए शर्तें
(1) राज्य की सदस्यता
(2) राज्य के प्रति भक्ति
(3) राज्य द्वारा सामाजिक और राजनीतिक अधिकार प्रदान करना

(3) राज्य द्वारा सामाजिक और राजनीतिक अधिकार प्रदान करना—जीवन का अधिकार जैसे कुछ सामान्य अधिकार तो राज्य में निवास करने वाले सभी व्यक्तियों को प्राप्त होते हैं, लेकिन इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे नागरिक और राजनीतिक अधिकार भी होते हैं, जो राज्य के द्वारा केवल अपने नागरिकों को ही प्रदान किये जाते हैं। विचार और भाषण की स्वतन्त्रता, सम्मेलन और संगठन का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार, मताधिकार, आदि इस प्रकार के विशेष अधिकारों के ही उदाहरण हैं।

नागरिक और मतदाता

एक राज्य के अन्तर्गत नागरिक और मतदाता में अन्तर होता है और एक राज्य के सभी नागरिक मतदाता नहीं होते हैं। मतदाता कौन हों, यह राज्य के कानूनों पर निर्भर करता है और किसी भी देश के अन्तर्गत अवयस्क नागरिक मतदाता नहीं होते हैं। इसके अतिरिक्त, कुछ राज्यों में सम्पत्ति, धर्म, शिक्षा और लिंग के आधार पर भी कुछ नागरिकों को मताधिकार से वंचित रखा जाता है, लेकिन वर्तमान समय की प्रवृत्ति इस प्रकार के भेदभाव और प्रतिबन्धों के विरुद्ध है तथा अमरीका, इंग्लैण्ड, पाकिस्तान, फ्रांस, भारत, आदि विश्व के अधिकांश राज्यों में सभी वयस्क नागरिक मतदान के अधिकारी हैं। दूसरी तरफ नागरिकता के अलग नियम हैं। संक्षेप में नागरिकता का एक भाग मतदाताओं का होता है। मतदाता होने के लिए नागरिक होना आवश्यक है अर्थात् प्रत्येक मतदाता एक नागरिक है, लेकिन प्रत्येक नागरिक मतदाता नहीं होता।

विदेशी (Alien)

नागरिक और नागरिकता को भली प्रकार समझने के लिए नागरिक और विदेशी में भेद भली-भांति समझ लिया जाना चाहिए। कोई भी व्यक्ति किसी देश में विदेशी तभी कहा जाता है जब वह कुछ समय के लिए किसी कार्यवश अपना देश छोड़कर दूसरे देश में रहने के लिए आया हो। ये व्यक्ति व्यापार करने, शिक्षा प्राप्त करने या भ्रमण के लिए दूसरे देश में आते हैं और जितने दिनों तक अपना देश छोड़कर बाहर रहते हैं, उतने दिनों तक उस राज्य में विदेशी कहे जाते हैं। इन विदेशियों को जान-माल की रक्षा और कुछ अन्य सामान्य सामाजिक अधिकार तो प्राप्त होते हैं, किन्तु अन्य सामाजिक और राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं होते। इन अधिकारों की प्राप्ति के बदले विदेशियों को सम्बन्धित देश के कानून का पूर्णरूप से पालन करना होता है। विदेशी दो प्रकार के होते हैं : (1) मित्र देश के विदेशी, और (2) शत्रु देश के विदेशी।

पहले प्रकार के विदेशी वे होते हैं जिनके देश की सरकार के साथ हमारी सरकार की मैत्री हो और दूसरी श्रेणी में वे विदेशी आते हैं जिनके देश की सरकार हमारे देश की सरकार से शत्रुता की स्थिति में हो।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विदेशियों का वर्गीकरण एक अन्य प्रकार से भी किया जा सकता है :

(1) **निवासी विदेशी**—वे विदेशी हैं जो अपना पहले का देश छोड़कर किसी ऐसे देश में आ गये हों जहां वे सदा रहना चाहते हों और नागरिकता प्राप्ति की शर्तों को पूरा कर रहे हों। नागरिकता प्राप्ति की शर्तों को पूरा कर देने के बाद प्रार्थनापत्र देकर ये विदेशी उस देश के नागरिक बन जाते हैं और उनमें तथा अन्य नागरिकों में सामान्यतया कोई अन्तर नहीं रहता।

(2) **अस्थायी विदेशी**—ये लोग विशेष कार्यवश अपना देश छोड़कर अल्पकाल के लिए ही दूसरे देशों में आकर रहते हैं। सामान्यतया इनका उद्देश्य शिक्षा, भ्रमण या व्यापार होता हैं।

(3) **राजदूत**—विदेशियों का एक विशिष्ट प्रकार अन्य देशों के प्रतिनिधियों का होता है जिन्हें राजदूत कहा जाता है। इसमें राजदूत के कार्यालय के कर्मचारी भी शामिल होते हैं। इन पर उस देश के ही कानून लागू होते हैं जिसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं और इस वर्ग के विदेशियों को पत्र-व्यवहार, यातायात, आदि के सम्बन्ध में विशेष सुविधा और स्वतन्त्रता प्राप्त होती है।

(4) **शरणार्थी**—शरणार्थी अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के अन्तर्गत एक मान्य स्थिति है, लेकिन ये दूसरे देश में अस्थाई रूप से निवास करते हैं, परन्तु वहां के नागरिक नहीं होते। उदाहरणार्थ—भारत में तिब्बती शरणार्थी।

नागरिक तथा विदेशी में अन्तर

नागरिक तथा विदेशी में प्रमुख रूप से निम्नलिखित अन्तर बताये जा सकते हैं :

(1) **नागरिक सम्बन्धित राज्य का निवासी होता है, लेकिन विदेशी सामान्यतया उस राज्य में अस्थायी रूप से ही निवास करता है।**

(2) **नागरिक को राज्य के सभी राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकार प्राप्त होते हैं, लेकिन विदेशी को सामान्यतया सामाजिक अधिकार ही प्राप्त होते हैं, राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं होते।** अनेक बार विदेशियों को सामाजिक अधिकार भी सीमित रूप में ही प्रदान किये जाते हैं। उदाहरणार्थ, भारतीय संविधान में अनुच्छेद 15, 16 तथा 19 में दिए गए मौलिक अधिकार केवल भारतीय नागरिकों को ही प्राप्त हैं विदेशियों को नहीं।

(3) **नागरिक अपने राज्य के प्रति पूर्ण राज-भक्ति रखता है, लेकिन विदेशी जिस राज्य में अस्थायी रूप में निवास कर रहा है उस राज्य के प्रति नहीं बरन् उस राज्य के प्रति भक्ति रखता है जिसका वह नागरिक है।**

(4) नागरिक राज्य के प्रति भक्ति रखता है और उसे राज्य के प्रति कर्तव्यपालन के लिए बाध्य किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, संकट के समय नागरिक को सेना में भर्ती होने के लिए बाध्य किया जा सकता है, लेकिन विदेशी को राज्य के प्रति कर्तव्यपालन के लिए अर्थात् सेना आदि में भर्ती होने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है।

(5) नागरिक को उस राज्य की भूमि पर स्थायी रूप में रहने का अधिकार होता है, लेकिन विदेशी को प्रार्थना करने पर निश्चित काल के लिए ही राज्य में रहने की अनुमति मिलती है।

(6) जब तक नागरिक कोई बहुत अधिक गम्भीर अपराध न करे, तब तक राज्य अपने नागरिक को देश से निर्वासित नहीं कर सकता है, लेकिन विदेशी को बिना कारण बताये भी देश छोड़ने के लिए बाध्य किया जा सकता है तथा युद्धकाल में निर्दोष होते हुए भी उसे बन्दी बनाया जा सकता है। विशेष रूप से ऐसा व्यवहार शत्रु देश के विदेशियों के प्रति किया जाता है।

(7) नागरिक को मकान, जमीन, जायदाद, आदि अचल सम्पत्ति खरीदने व बेचने का अधिकार होता है, लेकिन विदेशी को अचल सम्पत्ति खरीदने व बेचने का सामान्यतया अधिकार नहीं होता।

विदेशी नागरिकता कैसे प्राप्त कर सकता है?

विदेशी देशीयकरण की प्रक्रिया के आधार पर ही देश की नागरिकता प्राप्त कर सकता है। विभिन्न देशों में देशीयकरण की प्रक्रिया अगल-अलग होती है तथा यह प्रक्रिया उस देश के संविधान और कानून के द्वारा निर्धारित की जाती है।

नागरिकों के प्रकार

मोटे तौर पर राज्य के सभी नागरिकों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है :

(1) जन्मजात नागरिक (Natural born citizens)

(2) देशीयकरण से नागरिकता प्राप्त नागरिक (Naturalized citizens)

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जन्मजात नागरिक—जन्म के आधार पर नागरिकता प्राप्त करने के सम्बन्ध में प्रमुख रूप से निम्नलिखित दो नियम हैं :

(1) **रक्त अथवा वंश का सिद्धान्त (*Jus sanguinis*)**—इस सिद्धान्त के अन्तर्गत नागरिकता रक्त अथवा वंश के आधार पर निर्धारित होती है और बच्चे का जन्म चाहे किसी स्थान पर हो, बच्चे को उस राज्य की नागरिकता प्राप्त हो जाती है, जिस राज्य के नागरिक उसके माता-पिता हैं। उदाहरणार्थ, अमरीकन नागरिक का पुत्र अमरीका का नागरिक होगा, चाहे उसका जन्म भारत या अन्य किसी राज्य में क्यों न हो। प्राचीन काल में यूनान, रोम और एशियाई देशों में नागरिकता का निर्धारण इसी सिद्धान्त के आधार पर होता था और आज भी विश्व के अधिकांश देशों में यही सिद्धान्त प्रचलित है। इस सिद्धान्त के अनुसार अवैध बच्चों की नागरिकता उसकी माँ की नागरिकता से निश्चित होती है।

(2) **जन्म-स्थान का सिद्धान्त (*Jus soli*)**—इस सिद्धान्त के अन्तर्गत नागरिकता जन्म-स्थान के आधार पर निर्धारित होती है और एक बालक जिस देश की भूमि पर पैदा हो वह उसी देश का नागरिक समझा जाता है, चाहे उसके माता-पिता किसी भी देश के नागरिक हों। वर्तमान समय में अर्जेण्टाइना में यही सिद्धान्त प्रचलित है।

इंग्लैण्ड, अमरीका, आदि राज्यों में नागरिकता प्रदान करने के सम्बन्ध में इन दोनों सिद्धान्तों को मान्यता प्राप्त है। इन देशों के कानूनों के अनुसार उनकी भूमि पर जो बच्चा जन्म ले, वह उस देश का नागरिक होगा। इसके अतिरिक्त इन देशों के नागरिकों की सन्तान, चाहे वह कहीं भी पैदा हो, उसे उसके माता-पिता के देश की नागरिकता प्राप्त होगी।

जन्म के आधार पर नागरिकता प्रदान करने के सम्बन्ध में एकरूपता न होने के कारण व्यवहार में अनेक कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती हैं। कभी-कभी तो एक ही बालक दो देशों की नागरिकता प्राप्त कर लेता है, जैसे अमरीकन माता-पिता की सन्तान अर्जेण्टाइना में जन्म ले और कभी-कभी एक बालक को किसी भी देश की नागरिकता प्राप्त नहीं हो पाती, जैसे यदि अर्जेण्टाइना के नागरिकों की सन्तान स्वीडन में जन्म ले। इसी प्रकार की परिस्थितियों में वयस्क हो जाने पर व्यक्ति स्वयं अपनी नागरिकता का निर्णय कर लेता है।

वास्तव में, जन्मजात नागरिकता के इन दोनों सिद्धान्तों में रक्त या वंश का सिद्धान्त ही अधिक विवेकपूर्ण है। एक विशेष भूमि पर जन्म केवल संयोग का ही परिणाम होता है और इसे नागरिकता का आधार नहीं बनाया जा सकता है। एक विशेष भूमि पर जन्म लेने से ही बालक के मन में उस भूमि के प्रति किसी प्रकार की भक्ति उत्पन्न नहीं हो जाती है।

देशीयकरण (Naturalization)—देशीयकरण एक वैधानिक प्रक्रिया होती है जिसके अन्तर्गत कुछ निश्चित शर्तें पूरी कर लेने पर व्यक्ति को उस देश विशेष की नागरिकता प्राप्त हो जाती है। गार्नर के शब्दों में, "देशीयकरण का तात्पर्य विदेशी को नागरिकता प्रदान करने की किसी भी पद्धति से है।" साधारणतया तो एक राज्य में दोनों ही प्रकार के नागरिकों को समान स्थिति प्राप्त होती है, लेकिन कुछ देशों में जन्मजात नागरिकों को देशीयकरण से हुए नागरिकों की अपेक्षा विशेष स्थिति प्राप्त होती है। भारत में तो दोनों प्रकार के नागरिकों में कोई भेद नहीं है, लेकिन अमरीका में केवल जन्मजात नागरिक ही राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित होने की योग्यता रखते हैं।

देशीयकरण के आधार पर नागरिकता प्राप्त करने की प्रक्रिया—देशीयकरण के आधार पर नागरिकता प्राप्त करने की प्रक्रिया और शर्तें सम्बन्धित देश के विधान और कानून पर निर्भर करती हैं, लेकिन इस प्रक्रिया की कुछ सामान्य बातें हैं। सभी देशों में देशीयकरण की प्रक्रिया का प्रारंभ सम्बन्धित व्यक्ति के उस आवेदन-पत्र से होता है, जिसमें उसके द्वारा उस देश की नागरिकता प्राप्त करने की इच्छा व्यक्ति की जाती है। नागरिकता प्राप्त करने के लिए सामान्यतया उसे निम्न शर्तें पूरी करनी होती हैं :

(i) अपनी पहले की नागरिकता का परित्याग करना।
(ii) नये राज्य में सम्बन्धित राज्य के संविधान या कानून द्वारा निर्धारित अवधि तक निवास करना।
(iii) नये राज्य के प्रति राजभक्ति और निष्ठा की शपथ लेना।
(iv) संविधान के प्रति विश्वास और निष्ठा व्यक्त करना।
(v) उस देश की राष्ट्रभाषा का ज्ञान प्राप्त करना।
(vi) व्यक्ति के पास भरण-पोषण के साधनों का होना।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरिकता प्राप्त करने के लिए इनमें से प्रथम चार शर्तें पूरी करना सभी देशों में आवश्यक है। अन्य शर्तों के प्रसंग में विभिन्न देशों में अलग-अलग व्यवस्था है।

नागरिकता की प्राप्ति और अपहरण

नागरिकता की प्राप्ति—प्रमुख रूप से निम्नलिखित आधारों पर एक देश की नागरिकता प्राप्त की जा सकती है :

(1) विवाह—यदि किसी देश की स्त्री दूसरे देश के पुरुष से विवाह कर ले, तो स्त्री को अपने पति के देश की नागरिकता प्राप्त हो जाती है। अधिकांश देशों में तो यही नियम प्रचलित है, किन्तु जापान में ऐसा नियम प्रचलित है कि यदि किसी अन्य देश का पुरुष जापान की नारी से विवाह कर ले, तो पुरुष को भी जापान की नागरिकता प्राप्त हो जाती है।

नागरिकता की प्राप्ति और अपहरण

(1) विवाह
(2) निश्चित निवास
(3) सरकारी सेवा
(4) सम्पत्ति खरीदना
(5) विजय
(6) दुबारा नागरिकता की प्राप्ति
(7) गोद लेने से
(8) विद्वानों को

(2) निश्चित निवास—सामान्यतया सभी देशों में ऐसा नियम है कि राज्य के अन्तर्गत निश्चित अवधि तक निवास करने पर विदेशी अपने पहले देश की नागरिकता छोड़कर वहां की नागरिकता ग्रहण करने के लिए आवेदन-पत्र दे तो उसे वहां की नागरिकता प्राप्त हो जाती है। यह अवधि विभिन्न देशों में 2 वर्ष से 10 वर्ष तक है। अमरीका, नीदरलैण्ड्स, जापान और हंगरी में यह अवधि 5 वर्ष; मैक्सिको, स्विट्जरलैण्ड और अर्जेण्टाइना में 2 वर्ष और स्वीडन में 3 वर्ष है।

(3) सरकारी सेवा—अनेक राज्यों में एक निश्चित अवधि तक राज्य की सेवा में रहने की दशा में व्यक्ति को उस देश की नागरिकता प्रदान कर दी जाती है।

(4) सम्पत्ति खरीदना—दक्षिणी अमरीका के कुछ देशों, जैसे पेरू और मैक्सिको में, यह कानून है कि यदि कोई व्यक्ति वहां कुछ सम्पत्ति खरीद ले, तो उसे वहां की नागरिकता प्राप्त हो जाती है।

(5) विजय—यदि किसी राज्य का कोई भाग किसी अन्य राज्य के द्वारा जीत लिया जाय अथवा एक राज्य अपनी इच्छा से अपना कुछ भाग अन्य किसी राज्य को दे दे, तो दोनों ही स्थितियों में उस भाग के नागरिकों को उस देश की नागरिकता प्राप्त हो जाती है जिसमें वह भाग मिलाया गया है।

(6) दुबारा नागरिकता की प्राप्ति—यदि किसी देश का कोई नागरिक अपनी नागरिकता छोड़कर किसी दूसरे देश की नागरिकता अपना लेता है, तो उसे दूसरे देश का नागरिक समझा जायेगा, परन्तु यदि वह अपने पहले देश की नागरिकता फिर से प्राप्त करना चाहे तो कुछ शर्तें पूरी करने पर उसे नागरिकता प्राप्त हो सकती है।

(7) गोद लेने से—यदि कोई व्यक्ति किसी विदेशी बच्चे को गोद ले ले, तो उस विदेशी बच्चे को अपने धर्म-पिता या धर्म-माता के देश की नागरिकता प्राप्त हो जाती है। ऐसी प्रथा प्रायः सभी देशों में है।

(8) विद्वानों को—कुछ देशों में विदेशी विद्वानों को नागरिकता प्राप्ति के लिए कुछ विशेष सुविधाएं दी जाती हैं, फ्रांस में ऐसी ही व्यवस्था है। उदाहरण के लिए, 2010 में भारत के प्रसिद्ध चित्रकार एम.एफ. हुसैन को कतर की सरकार ने नागरिकता प्रदान की है।

नागरिकता का अपहरण या समाप्ति

नागरिकता की प्राप्ति के समान ही उसका अपहरण भी सम्भव है। नागरिकता के अपहरण के सम्बन्ध में सामान्यतया विभिन्न देशों में निम्नलिखित विधियां प्रचलित हैं :

(1) नागरिकता का त्याग—अनेक राज्य अपने नागरिकों को अधिकार देते हैं कि यदि वे स्वेच्छा से वहां की नागरिकता छोड़ना और दूसरे देश की नागरिकता प्राप्त करना चाहें तो वे सरकार की आज्ञा से ऐसा कर सकते हैं। इसके लिए नागरिक को सरकार के पास प्रार्थना-पत्र देना होता है। जर्मनी में ऐसा ही नियम है।

(2) विवाह—विवाह भी नागरिकता के अपहरण का एक साधन है। जब एक देश की स्त्री किसी दूसरे देश के पुरुष से विवाह कर लेती है तो वह स्त्री अपने पहले वाले देश की नागरिकता खो देती है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरिकता का अपहरण या समाप्ति
(1) नागरिकता का त्याग
(2) विवाह
(3) विदेशों से सम्मान प्राप्ति
(4) लम्बे समय तक अनुपस्थिति
(5) देशद्रोह या सेना से भागना

(3) विदेशों से सम्मान प्राप्ति—अनेक राज्यों में ऐसा नियम प्रचलित है कि वहां का नागरिक अनुमति प्राप्त किये बिना किसी अन्य देश में सरकारी नौकरी नहीं कर सकता और न ही कोई उपाधि या सम्मान प्राप्त कर सकता है। जब नागरिक अन्य देश में शासकीय सेवा या सम्मान प्राप्त कर लेता है तो यह बात उसकी नागरिकता के अन्त का कारण बन जाती है।

(4) लम्बे समय तक अनुपस्थिति—अपने देश की सरकार की अनुमति बिना लम्बे समय तक देश से अनुपस्थित रहने पर भी नागरिकता का अन्त हो जाता है।

(5) देशद्रोह या सेना से भागना—यदि किसी व्यक्ति द्वारा देशद्रोह, सेना से भागना या अन्य कोई गम्भीर अपराध किया जाय, तो यह अपराध भी नागरिकता के अपहरण का कारण बन जाता है।

इन सबके अतिरिक्त जब एक व्यक्ति दूसरे देश की नागरिकता प्राप्त कर लेता है, तो पहले राज्य की नागरिकता का स्वतः ही अन्त हो जाता है।

भारतीय नागरिकता[1] आदर्श नागरिकता

अरस्तू ने कहा है कि "श्रेष्ठ नागरिक ही श्रेष्ठ राज्य का निर्माण कर सकते हैं, अतः राज्य के नागरिक आदर्श होने चाहिए।" वस्तुतः आदर्श नागरिकता ही राज्य के विकास का आधार बन सकती है। आदर्श नागरिकता व्यक्ति की उस स्थिति का नाम है जिसमें उनके द्वारा आदर्श नागरिकों के रूप में जीवन व्यतीत किया जाता है। आदर्श नागरिक को अनेक बार आदर्श या उत्तम पुरुष का पर्यायवाची माना जाता है, लेकिन इन दोनों में कुछ अन्तर है। जो मनुष्य सदा सत्य बोलें, किसी को दुःख न दें, मृदुभाषी हों, धर्म और सदाचार के नियमों का पालन करते हों, उन्हें हम आदर्श मनुष्य कहते हैं; लेकिन एक आदर्श नागरिक के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है, इनके अतिरिक्त उसमें सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति रुचि होनी चाहिए। उसके द्वारा अपने अधिकारों का ठीक प्रकार से उपभोग और कर्तव्यों का ठीक प्रकार से पालन किया जाना चाहिए। लॉर्ड ब्राइस के अनुसार एक आदर्श नागरिक में बुद्धि, आत्मसंयम और अन्तःकरण ये तीन गुण आवश्यक हैं अर्थात् आदर्श नागरिक वह है जो अपनी बुद्धि और शक्तियों का उपयोग राज्य के लाभ हेतु करता है। अपने छोटे-छोटे हित और स्वार्थ को त्यागने की भावना उसमें प्रमुख रूप से होनी चाहिए। ब्राइट के अनुसार, "एक आदर्श नागरिक में व्यावहारिक बुद्धि, ज्ञान और भक्ति ये तीन गुण आवश्यक हैं।" प्रसिद्ध विचारक लास्की आदर्श नागरिकता का बोध कराते हुए लिखते हैं कि "नागरिकता मानव के शिक्षित निर्णय का जनकल्याण में प्रयोग है।"[2] इस प्रकार आदर्श नागरिक की परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि "सामाजिक क्षेत्र के प्रति रुचि रखने वाले उस उत्तम मनुष्य को आदर्श नागरिक कहा जा सकता है, जिसके द्वारा अपने अधिकारों का ठीक प्रकार से उपभोग और कर्तव्यों का उचित रूप से पालन किया जाता है।"

आदर्श नागरिकता के तत्व
(ELEMENTS OF IDEAL CITIZENSHIP)

आदर्श नागरिकता को ठीक प्रकार से समझने के लिए आदर्श नागरिकता के तत्वों का पृथक् रूप से अध्ययन करना उपयोगी होगा। आदर्श नागरिकता के प्रमुख तत्व निम्नलिखित कहे जा सकते हैं :

(1) जनकल्याण से प्रेरित अन्तःकरण—आदर्श नागरिक के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि उसमें व्यक्तिगत स्वार्थ की प्रबलता न हो और उसका अन्तःकरण जनकल्याण के उच्च आदर्शों से प्रेरित हो। वे व्यक्ति, जो स्वयं अपने परिवार या जाति के लिए समाज के हित का बलिदान कर देते हैं, आदर्श नागरिक नहीं कहे जा सकते।

1 भारतीय नागरिकता के प्रसंग में समस्त संवैधानिक और कानूनी व्यवस्था का पूरे विस्तार के साथ उल्लेख द्वितीय प्रश्न-पत्र की पुस्तक 'भारतीय संविधान और नागरिक जीवन' (अध्याय 2) में किया गया है।

2 "Citizenship is the contribution of one's instructed judgement to public good." —*Laski*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(2) सच्चरित्रता—केवल आदर्श व्यक्ति ही आदर्श नागरिक बन सकते हैं और आदर्श व्यक्ति केवल ऐसे ही व्यक्तियों को कहा जा सकता है, जिसमें सच्चरित्रता का बल हो। आदर्श नागरिक की कल्पना मूलतः नैतिक है और वही व्यक्ति जो सत्य और ईमानदारी के महत्व को समझता है एवं दृढ़ता और निर्भीकतापूर्वक अपने सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करता है, एक आदर्श नागरिक कहा जा सकता है।

आदर्श नागरिकता के तत्व
(1) जनकल्याण से प्रेरित अन्तः-करण
(2) सच्चरित्रता
(3) चैतन्य बुद्धि
(4) विचारों की उदारता
(5) आचार की शिष्टता और श्रेष्ठ आदतें
(6) सामान्य आर्थिक शक्ति
(7) अधिकार तथा कर्तव्यों का ज्ञान तथा पालन
(8) सार्वजनिक क्षेत्र में रुचि
(9) कर्तव्यपरायणता

(3) चैतन्य बुद्धि—चैतन्य बुद्धि का तात्पर्य उचित और अनुचित के बीच अन्तर कर सकने और विविध परिस्थितियों में समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का ज्ञान प्राप्त कर लेने की विवेक शक्ति से है। आदर्श नागरिक का कार्य किन्हीं व्यक्तियों का अनुसरण ही नहीं, वरन् स्वविवेक के आधार पर मार्ग निश्चित करना होता है और चैतन्य बुद्धि सम्पन्न नागरिक ही इस प्रकार की जागरूकता का परिचय दे सकते हैं। नागरिकों के द्वारा यह चैतन्य बुद्धि शिक्षा के आधार पर ही प्राप्त की जा सकती है। महात्मा गांधी ने इस सम्बन्ध में शिक्षा के महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, "शिक्षा जो आत्मा का भोजन है, आदर्श नागरिकता की प्रथम शर्त है।"[1]

(4) विचारों की उदारता—आदर्श नागरिक के लिए उदार विचार अत्यन्त आवश्यक हैं। नागरिक जीवन की सफलता पारस्परिक व्यवहार में उचित सामंजस्य स्थापित करने पर निर्भर करती है। विचारों की उदारता के बिना हम दूसरों के साथ आवश्यक सामंजस्य स्थापित नहीं कर सकते हैं। आदर्श नागरिक सामाजिक जीवन में सामन्जस्य के बिना अपने दायित्वों का निर्वहन नहीं कर सकता। विचारों की यह उदारता शिक्षा, व्यापक दृष्टिकोण और आत्मसंयम से उत्पन्न होती है।

(5) आचार की शिष्टता और श्रेष्ठ आदतें—शिष्ट व्यवहार सभ्यता का प्रतीक है और व्यवहार की शिष्टता के आधार पर हम कुछ भी व्यय किये बिना दूसरे प्राणियों को सुख पहुंचा सकते हैं। सामान्य समझी जाने वाली आदतें भी; जैसे घर और आस-पास की सफाई, मित्रों, अतिथियों, महिलाओं तथा विरोधियों के प्रति भी विनम्र भाषा का प्रयोग, आदि अच्छे नागरिक जीवन के निर्माण में सहायक होते हैं।

(6) सामान्य आर्थिक शक्ति—वैसे तो व्यक्ति अपने आन्तरिक गुणों के आधार पर आदर्श नागरिक के रूप में जीवन व्यतीत कर सकता है, लेकिन साधारणतया ऐसा देखा गया है कि चरित्र बल और चैतन्य बुद्धि से सम्पन्न नागरिक भी उस समय तक एक आदर्श नागरिक के रूप में जीवन व्यतीत नहीं कर पाते हैं, जब तक कि उसके पास सामान्य आर्थिक शक्ति न हो। इस कारण वर्तमान परिस्थितियों में सामान्य आर्थिक शक्ति को भी आदर्श नागरिक का एक वाहरी तत्व कहा जा सकता है। भारत में निर्धनता की स्थिति नागरिक जीवन का बहुत बड़ा अभिशाप है। गरीबी की स्थिति में नागरिक न तो अपने अधिकारों की मांग कर सकते हैं और न ही कर्तव्यों को पूरा कर सकते हैं।

(7) अधिकार तथा कर्तव्यों का ज्ञान और पालन—आदर्श नागरिक के लिए एक बहुत अधिक जरूरी बात यह है कि व्यक्ति को अपने अधिकार और कर्तव्य का सही रूप में ज्ञान होना चाहिए। जब तक व्यक्ति यह नहीं जानता कि उसके अधिकार तथा कर्तव्य क्या हैं, तब तक न तो वह अपने अधिकारों का उपभोग कर सकता है और न ही अपने कर्तव्यों का पालन। अधिकार और कर्तव्यों के ज्ञान के साथ ही यह भी आवश्यक है कि व्यक्ति अपने अधिकारों का सही प्रकार से उपभोग और कर्तव्यों का उचित रूप में पालन करे। अधिकारों का उचित प्रयोग तथा कर्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन आदर्श नागरिकता का एक महत्वपूर्ण तत्व है।

(8) सार्वजनिक क्षेत्र में रुचि—आदर्श नागरिक के लिए आवश्यक है कि वह सम्पूर्ण समाज को अपने परिवार के समान ही समझे और समाज एवं राज्य की उन्नति में उसी प्रकार रुचि ले, जिस प्रकार की रुचि एक व्यक्ति अपने परिवार की उन्नति में लेता है। सभी गुणों से सम्पन्न, लेकिन 'कोउ नृप होय, हमें का हानि' वाली विचारधारा वाले व्यक्ति को आदर्श नागरिक नहीं कहा जा सकता है।

1 "Education, the seed of the soul, is the first condition of healthy citizenship." —*M. Gandhi*

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(9) कर्तव्यपरायणता—राज्य और समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को ठीक प्रकार से सम्पादन करने वाले व्यक्तियों को ही आदर्श नागरिक कहा जा सकता है। इस प्रकार के कर्तव्यों के अन्तर्गत नागरिकों को प्रत्येक परिस्थिति में राज्य की रक्षा के लिए तत्पर रहना चाहिए, सार्वजनिक अधिकारियों को उनके कर्तव्यपालन में सहायता दी जानी चाहिए, कानून का विवेकपूर्ण पालन किया जाना चाहिए और राज्य द्वारा निर्धारित कर निश्चित समय पर चुकाये जाने चाहिए। आदर्श नागरिक के सम्बन्ध में कार्लायल ने कहा है कि 'कर्म ही उसका धर्म होता है' (Work is worship)।

आदर्श नागरिकता के मार्ग में बाधाएं

अधिकार और कर्तव्यों का ज्ञान प्राप्त कर विविध कर्तव्यों के बीच उचित क्रम निर्धारण और उसके पालन का नाम ही आदर्श नागरिकता है, लेकिन आदर्श नागरिकता के इस लक्ष्य को प्राप्त कर सकना सरल नहीं है और आदर्श नागरिकता के मार्ग में अनेक बाधाएं आती हैं जिनमें निम्नलिखित अधिक प्रमुख हैं :

(1) व्यक्तिगत स्वार्थ की प्रबलता—व्यक्तिगत स्वार्थ की प्रबलता आदर्श नागरिकता के मार्ग की सबसे प्रबल बाधा कही जा सकती है। कुछ व्यक्तियों की दृष्टि में अपना स्वार्थ ही सब कुछ होता है। वे केवल अपने लिए सोचते, कार्य करते और जीवित रहते हैं और उनके द्वारा 'येन केन प्रकारेण' अपने स्वार्थ की पूर्ति को ही सब कुछ समझ लिया जाता है। इन व्यक्तियों के लिए समाज या राज्य का हित कोई महत्व नहीं रखता।

(2) अकर्मण्यता—आदर्श नागरिकता के मार्ग की एक अन्य बाधा अकर्मण्यता है। अकर्मण्य व्यक्ति किसी प्रकार का कार्य करना पसन्द नहीं करते और कर्तव्यपालन से दूर ही रहना चाहते हैं। ऐसे व्यक्ति न तो अपने मताधिकार का उचित रूप से प्रयोग करते हैं और न समाज तथा राज्य के प्रति अपने दायित्वों को समझकर उन्हें पूरा करने का प्रयत्न करते हैं।

(3) अज्ञानता—अज्ञानी और अशिक्षित व्यक्ति उचित और अनुचित में अन्तर नहीं कर पाते और अपने उत्तरदायित्व को पहचानने में असमर्थ रहते हैं। ऐसे व्यक्ति अपनी राजनीतिक शक्ति और सार्वजनिक कर्तव्यों का सम्पादन अपने विवेक के आधार पर नहीं, वरन् दूसरे व्यक्तियों के फुसलाने में आकर कर बैठते हैं। अज्ञानी व्यक्ति भेड़ों के समान ही आचरण करते हैं जिन्हें स्वार्थी व्यक्ति कहीं भी हांक कर ले जाते हैं। साधारणतया एक शिक्षित व्यक्ति ही आदर्श नागरिक के रूप में अपना जीवन व्यतीत कर सकता है।

आदर्श नागरिकता के मार्ग में बाधाएं

(1) व्यक्तिगत स्वार्थ की प्रबलता
(2) अकर्मण्यता
(3) अज्ञानता
(4) सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति अरुचि
(5) गम्भीर आर्थिक विषमता या निर्धनता
(6) संकीर्ण राजनीतिक दल
(7) संकुचित समुदायों को अधिक महत्व देने की प्रवृत्ति
(8) सामाजिक कुप्रथाएं
(9) शासन की भ्रष्टता
(10) उग्र राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद की संकीर्ण मनोवृत्तियां

(4) सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति अरुचि—अनेक व्यक्ति स्वयं और अपने पारिवारिक जीवन को ही सब कुछ समझकर समाज और राज्य के कार्यों में किसी भी प्रकार की रुचि नहीं लेते हैं और सार्वजनिक जीवन के कर्तव्यों के प्रति विमुख हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति न तो मताधिकार का सही प्रयोग करते हैं और न ही सार्वजनिक समस्याओं के हल के लिए किसी प्रकार से विचार करते हैं। सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति यह अरुचि निर्धनता, अज्ञानता और व्यक्तिगत स्वार्थ की प्रबलता के कारण उत्पन्न होती है।

(5) गम्भीर आर्थिक विषमता या निर्धनता—आदर्श नागरिकता के मार्ग में आर्थिक बाधाएं प्रबल होती हैं। जब एक व्यक्ति अपने जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएं ही पूर्ण नहीं कर पाता या जब इन आवश्यकताओं को पूर्ण करने में ही उसे अपनी सम्पूर्ण शक्ति और समय का उपयोग करना होता है तो ऐसा व्यक्ति अपने सार्वजनिक कर्तव्यों के सम्बन्ध में सोच ही नहीं सकता। अनेक बार व्यक्ति अत्यधिक निर्धनता के कारण ही चोरी, हत्या, आदि समाज-विरोधी कार्य करने की ओर प्रवृत्त हो जाता है । शास्त्रों में भी कहा गया है कि "बुभुक्षितः किम् न करोति पापम्।" निर्धनता व्यक्ति के आत्मविश्वास को खत्म कर देती है तथा उसे भीरु और भाग्यवादी बना देती है। गम्भीर आर्थिक विषमताओं के कारण उनमें वर्ग-संघर्ष की भावना उत्पन्न हो जाती है और व्यक्ति अपने वर्ग के स्वार्थ हेतु समाज-विरोधी कार्य करने की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं।

(6) संकीर्ण राजनीतिक दल—अनेक बार जाति, धर्म, भाषा और प्रान्तीयता के क्षुद्र भेदों के आधार पर राजनीतिक दलों का निर्माण हो जाता है और ये राजनीतिक दल साम्प्रदायिकता, जातीयता और वर्ग विद्वेष

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की राष्ट्र-विरोधी भावनाओं को प्रबलता प्रदान करते हैं। अनेक बार राजनीतिक दलों के द्वारा किसी भी प्रकार से शासन शक्ति प्राप्त कर लेना ही अपना एकमात्र उद्देश्य निश्चित कर लिया जाता है और वे सभी भ्रष्ट उपायों को अपना लेते हैं। ऐसे संकीर्ण और असंगठित राजनीतिक दल आदर्श नागरिकता के मार्ग में बाधक ही होते हैं।

(7) संकुचित समुदायों को अधिक महत्व देने की प्रवृत्ति—विभिन्न समुदायों के प्रति कर्तव्यों के उचित क्रम निर्धारण का नाम ही आदर्श नागरिकता है, लेकिन अनेक वार व्यक्ति अपने धार्मिक, आर्थिक या राजनीतिक समुदायों को इतना अधिक महत्व देते हैं कि इन समुदायों के वशीभूत होकर वे समाज एवं राज्य के हितों की अवहेलना करने के लिए तत्पर हो जाते हैं। संकुचित हितों के प्रति यह अत्यधिक भक्ति राष्ट्रीय हितों के सम्पादन और आदर्श नागरिकता के मार्ग में बाधक होती है।

(8) सामाजिक कुप्रथाएं—आदर्श नागरिकता के मार्ग में कुछ सामाजिक बाधाएं भी होती हैं। अनेक बार समाज में वंश, जाति तथा धर्म के आधार पर भेदभाव किया जाता है और इस भेदभाव के कारण समाज का एक बड़ा वर्ग अपना विकास करने से वंचित रह जाता है। किसी समाज में पुराने समय से जो रूढ़ियां और प्रथाएं चली आ रही हैं, उनका पालन करना उसी सीमा तक उपयोगी हो सकता है, जिस सीमा तक वे समाज की बदलती हुई परिस्थितियों में हानिकारक न हों। भारतीय समाज में अस्पृश्यता, जाति-पांति का भेद, बाल-विवाह एवं दहेज प्रथा इसी प्रकार की हानिकारक प्रथाएं हैं। पुराने समय के अभ्यासों के कारण ही भारतीय व्यक्ति भाग्यवादी और सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति उदासीन हैं। प्राचीनकाल से चली आ रही ये हानिकारक प्रथाएं भी आदर्श नागरिकता के मार्ग में बाधक होती हैं।

(9) शासन की भ्रष्टता—एक राज्य के अन्तर्गत प्रचलित शासन-व्यवस्था का देश के नागरिकों पर आवश्यक रूप से प्रभाव पड़ता है। यदि शासन का स्वरूप ही भ्रष्ट हो, सरकारी अधिकारी कर्तव्यपालन के प्रति उदासीन हों और अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति में ही लगे रहते हों, तो सामूहिक रूप से नागरिकों के चरित्र पर इसका प्रभाव पड़ता है और वे आदर्श नागरिकों के रूप में अपना जीवन व्यतीत नहीं कर पाते। शासन में प्रत्येक स्तर पर भ्रष्टाचार की संस्कृति के कारण आदर्श नागरिक सार्वजनिक जीवन के प्रति उदासीन हो जाते हैं।

(10) उग्र राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद की संकीर्ण मनोवृत्तियां—उग्र राष्ट्रीयता का यह विचार आदर्श नागरिकता के अन्तर्राष्ट्रीय संदेश 'जीओ और जीने दो' या 'विश्व बन्धुत्व' की भावना के विरुद्ध है और राज्यों को मानवता के विनाश की ओर प्रवृत्त करता है। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध इसी प्रवृत्ति के परिणाम थे।

आदर्श नागरिकता की बाधाओं का निवारण

नागरिकशास्त्र एक विज्ञान ही नहीं, एक कला भी है। कला होने के नाते नागरिकशास्त्र नागरिकों के व्यवहार के यथार्थ वर्णन तक ही अपने आपको सीमित नहीं रखता, वरन् इस बात पर भी विचार करता है कि उन्हें आदर्श नागरिक कैसे बनाया जा सकता है। आदर्श नागरिकता के मार्ग की बाधाओं को दूर करने के लिए नैतिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन के अन्तर्गत विविध क्षेत्रों में प्रयत्न किया जाना आवश्यक है और इस प्रकार के प्रयासों के अन्तर्गत प्रमुख रूप से निम्नलिखित कार्य किये जाने चाहिए :

(1) नैतिकता का उत्थान—आदर्श नागरिकता रूपी भवन का निर्माण नैतिकता रूपी नींव के आधार पर ही किया जा सकता है। अतः नैतिकता के उत्थान के लिए सभी सम्भव प्रयत्न किये जाने चाहिए। कुटुम्ब और शिक्षण संस्थाओं द्वारा इस सम्बन्ध में विशेष कार्य किया जा सकता है क्योंकि व्यक्ति के जीवन की आधारशिला रखने का कार्य इन्हीं संस्थाओं द्वारा किया जाता है। यदि माताएं शिक्षित हों, कुटुम्ब में प्रेम, सहिष्णुता, अनुशासन और साधारण रूप से आर्थिक सम्पन्नता का वातावरण हो, तो ठीक प्रकार के संस्कार के आधार पर नैतिक जीवन की नींव रखी जा सकती है। इसी प्रकार शिक्षण संस्थाओं द्वारा भी कुछ विशेष विषयों की सामान्य शिक्षा प्रदान करने तक ही अपने आपको सीमित नहीं रखा जाना चाहिए, वरन् विद्यार्थियों को नैतिक जीवन का मूल्य और महत्व भी समझाया जाना चाहिए। यदि इस सम्बन्ध में नेतृत्व करने वाले व्यक्ति आदर्श उपस्थित करें, तो नैतिकता के उत्थान का महान् कार्य बहुत अधिक सरल हो जायेगा।

(2) स्वस्थ राजनीतिक दलों की स्थापना—आदर्श नागरिकता के लिए यह आवश्यक है कि नागरिकों को आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं का ज्ञान हो और वे इन समस्याओं को हल करने के

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यावहारिक उपायों से परिचित हों। ऐसा होने पर ही नागरिक अपने मताधिकार का उचित प्रयोग कर सार्वजनिक क्षेत्र में ठीक प्रकार से कार्य कर सकते हैं। नागरिक को सार्वजनिक क्षेत्र के सम्बन्ध में इस प्रकार का सम्पूर्ण ज्ञान राजनीतिक दलों के द्वारा ही प्रदान किया जा सकता है, लेकिन राजनीतिक दल यह कार्य उसी समय भली-भांति कर सकते हैं जबकि वे आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नों पर आधारित हों और भली-भांति संगठित हों। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक राजनीतिक दल में राज्य के हितों को दलीय हितों के ऊपर प्राथमिकता देने की प्रवृत्ति होनी चाहिए।

आदर्श नागरिकता की बाधाओं का निवारण

(1) नैतिकता का उत्थान
(2) स्वस्थ राजनीतिक दलों की स्थापना
(3) स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं का विकास
(4) शिक्षा का प्रचार
(5) गम्भीर आर्थिक विषमताओं का अन्त और सभी व्यक्तियों के लिए आर्थिक न्यूनतम
(6) स्वतन्त्र और शक्तिशाली प्रेस
(7) सामाजिक कुरीतियों का निवारण
(8) सुव्यवस्थित और जन-हितकारी शासन-व्यवस्था
(9) विश्वबन्धुत्व की भावना

(3) स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं का विकास—आदर्श नागरिक में सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति रुचि होना नितान्त आवश्यक है और इस प्रकार की रुचि उत्पन्न करने में स्थानीय स्वशासन संस्थाओं द्वारा अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया जाता है। स्थानीय स्वशासन स्थान विशेष का प्रबन्ध नागरिकों के हाथ में देकर सीमित क्षेत्र में अपने प्रत्यक्ष कार्य और अनुभव के आधार पर उन्हें महत्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्नों पर ठीक प्रकार से विचार करने की योग्यता प्रदान करता है। स्थानीय स्वशासन से नागरिकों में राजनीतिक जागरूकता का विकास होता है तथा राजनीतिक भागीदारी के अवसर प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए, भारत में नयी पंचायती राजव्यवस्था ग्रामीण जनता के सशक्तीकरण का माध्यम है।

(4) शिक्षा का प्रचार—शिक्षा, जिसे महात्मा गांधी ने 'आत्मा की खुराक' के नाम से पुकारा है, स्वस्थ नागरिकता का दूसरा प्रमुख आधार है। शिक्षा के अधिकाधिक प्रचार से ही नागरिकों को अधिकार एवं कर्तव्यों का ज्ञान प्राप्त हो सकता है, स्वतन्त्र रूप से विचार की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और व्यक्ति का मानसिक क्षितिज विस्तृत होता है, लेकिन शिक्षा के द्वारा उपर्युक्त प्रकार के कार्य किये जा सकें इसके लिए आवश्यक है कि शिक्षा मात्र किताबी ही नहीं होनी चाहिए, वरन् समाज हित और मानवीय मूल्यों पर आधारित सच्ची शिक्षा-व्यवस्था का प्रबन्ध किया जाना चाहिए।

(5) गम्भीर आर्थिक विषमताओं का अन्त और सभी व्यक्तियों के लिए आर्थिक न्यूनतम—व्यक्तियों की अनिवार्य आवश्यकताओं के सन्तुष्ट हो जाने पर ही वे सार्वजनिक कर्तव्यों का सम्पादन कर सकते हैं। अतः ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि सभी व्यक्तियों को अनिवार्य रूप से आर्थिक न्यूनतम की प्राप्ति हो जाय। आर्थिक न्यूनतम का तात्पर्य यह है कि सभी व्यक्तियों की भोजन, वस्त्र, निवास, शिक्षा और स्वास्थ्य की आवश्यकताएं अनिवार्य रूप से पूरी की जानी चाहिए। इसके साथ ही गम्भीर भेदभावों का अन्त कर अधिक-से-अधिक सम्भव सीमा तक आर्थिक समानता की स्थापना की जानी चाहिए। आज की परिस्थितियों को देखते हुए तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आर्थिक समानता की स्थापना के बिना आदर्श नागरिकता का निर्माण सम्भव नहीं है।

(6) स्वतन्त्र और शक्तिशाली प्रेस—समय-समय पर समस्याओं और घटनाओं के सम्बन्ध में सही-सही जानकारी प्राप्त न हो पाना भी आदर्श नागरिकता के कर्तव्यों के सम्पादन में बाधा सिद्ध होती है। अतः ऐसा स्वस्थ और शक्तिशाली प्रेस होना चाहिए, जो व्यक्तियों को सही सूचना प्रदान कर सके और इस प्रकार उन्हें स्वतन्त्र रूप से विचार करने के लिए प्रेरित कर सके।

(7) सामाजिक कुरीतियों का निवारण—वर्तमान समय की परिस्थितियों में अव्यावहारिक सामाजिक प्रथाओं को अपनाये रहने से सामाजिक विकास की गति अवरुद्ध हो जाती है। अतः परिवर्तित आवश्यकताओं के अनुसार सामाजिक दृष्टिकोण में परिवर्तन कर लेना नितान्त आवश्यक है। उदाहरणार्थ, भारत में आदर्श नागरिकता के निर्माण के लिए जाति-पांति के भेद और अस्पृश्यता के विचार का त्याग करना जरूरी है। प्राचीन प्रथाओं और रूढ़ियों के सम्बन्ध में संस्कृत भाषा के इस कवि के विचारानुसार ही आचरण किया जाना चाहिए, जो कहते हैं कि "जो बातें प्राचीनकाल से चली आ रही हैं वे अवश्य ही उपादेय हों, यह जरूरी नहीं है।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ ही कोई बात केवल इसीलिए भी अच्छी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि वह नयी है। जिस प्रकार हंस दूध और पानी में भेद कर दूध को ग्रहण करता है, वैसे ही हमें बुद्धि द्वारा उपयोगी बातों को ग्रहण करना चाहिए।"

(8) सुव्यवस्थित और जनहितकारी शासन-व्यवस्था—आदर्श नागरिकता के निर्माण की दिशा में सुव्यवस्थित और जनहितकारी शासन का महत्व भी कम नहीं है। शासन के संचालन का उद्देश्य किसी वर्ग विशेष का कल्याण न होकर सम्पूर्ण समाज का कल्याण होना चाहिए। व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को क्षति न पहुंचाते हुए राज्य के द्वारा अपने कार्यों में अधिकाधिक वृद्धि की जानी चाहिए जिससे सामान्य जनता अपनी उन्नति कर सके। इसके साथ ही शासन कार्य से विशेष रूप से सम्बन्धित व्यक्तियों का चरित्र भी अनुकरणीय होना चाहिए, जिससे सामान्य जनता उनसे प्रेरणा प्राप्त कर सके।

(9) विश्व बन्धुत्व की भावना—आदर्श नागरिकता के लिए जनता में देशभक्ति की भावना के साथ ही विश्व बन्धुत्व की भावना होनी चाहिए।

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (प्रत्येक प्रश्न 6 अंक का, उत्तर लगभग 300 शब्दों में दीजिए)

1. नागरिकता की परिभाषा कीजिए। नागरिकता कैसे प्राप्त होती है और कैसे खोई जाती है?
2. आदर्श नागरिकता के तत्वों का निर्धारण कीजिए।
3. 'नागरिक' शब्द की व्याख्या कीजिए तथा नागरिक और विदेशी में अन्तर बताइए। (उ.प्र., 2010)
4. "कर्तव्यों के उचित क्रम निर्धारण का नाम ही नागरिकता है।" इस कथन की विवेचना कीजिए।
5. टिप्पणी लिखिए :
   (i) आदर्श नागरिकता।
   (ii) नागरिकता प्राप्त करने की विधियां।
   (iii) निर्धनता तथा अशिक्षा में कौन आदर्श नागरिकता के मार्ग में अधिक गम्भीर बाधा है तथा क्यों?
   (iv) नागरिकता।
   (v) आदर्श नागरिक।
6. नागरिकता से क्या तात्पर्य है? आदर्श नागरिक के मार्ग की बाधाओं का विवरण दीजिए।
7. अच्छी नागरिकता के मार्ग में क्या बाधाएं हैं? उनके निराकरण के उपाय बताइए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

(अ) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 50 शब्दों में दीजिए (2 अंक)।

1. नागरिक किसे कहते हैं या नागरिकता का क्या अभिप्राय है? (उ.प्र., 2010)
2. किसी देश के नागरिक को कितनी श्रेणियों में रखा जा सकता है?
3. नागरिकता का अर्थ और परिभाषा बताइए।
4. नागरिकता कैसे प्राप्त होती है? (उ.प्र., 2010)
5. नागरिकता किस प्रकार लुप्त होती है?
   अथवा, नागरिकता समाप्त होने की चार परिस्थितियां लिखिए।
6. नागरिकता से आपका क्या अभिप्राय है? (उ.प्र., 2010)

(ब) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिए (4 अंक)।

7. नागरिक और विदेशी के मध्य चार अन्तर स्पष्ट कीजिए।
8. एक आदर्श नागरिक के किन्हीं चार गुणों का उल्लेख कीजिए। (उ.प्र., 2010)
9. आदर्श नागरिक बनने के मार्ग में आने वाली बाधाओं को बताइए।
10. आदर्श नागरिकता के मार्ग की बाधाओं को दूर करने के उपाय बताइए।
11. विदेशियों की विभिन्न श्रेणियों को समझाइए।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न [प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का, उत्तर दस शब्द (एक वाक्य) में]

प्रश्न 1. नागरिक को अंग्रेजी में क्या कहते हैं?

उत्तर—नागरिक को अंग्रेजी में सिटीजन (Citizen) कहते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न 2. विदेशी किसे कहते हैं?

उत्तर—विदेशी वह व्यक्ति है जो अपना देश छोड़कर किसी कारणवश अन्य देश में रहने लगा हो। उसे उस देश के सामाजिक अधिकार प्राप्त होते हैं, राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं होते।

प्रश्न 3. विदेशियों का वर्गीकरण कीजिए।

उत्तर—विदेशियों को तीन प्रमुख वर्गों में बांटा जा सकता है—(1) स्थायी विदेशी, (2) अस्थायी विदेशी, (3) राजदूत।

प्रश्न 4. आदर्श नागरिक के दो प्रमुख गुणों का वर्णन कीजिए।

उत्तर—आदर्श नागरिक के दो प्रमुख गुण हैं—(1) कर्तव्यपरायणता, तथा (2) अच्छा चरित्र।

प्रश्न 5. आदर्श नागरिकता के मार्ग की तीन प्रमुख बाधाओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर—आदर्श नागरिकता के मार्ग की तीन प्रमुख बाधाएं हैं—(1) आलस्य, (2) स्वार्थ की भावना, तथा (3) निरक्षरता।

प्रश्न 6. किसी राज्य की नागरिकता प्राप्त करने की किन्हीं दो शर्तों का उल्लेख कीजिए।
अथवा, नागरिकता प्राप्त करने के दो तरीके लिखिए।

उत्तर—नागरिकता प्राप्त करने के दो तरीके हैं—(1) जन्म द्वारा, तथा (2) देशीयकरण द्वारा।

प्रश्न 7. उन दो प्रमुख परिस्थितियों का वर्णन कीजिए जिनमें नागरिकता समाप्त हो जाती है।

उत्तर—निम्नलिखित दो परिस्थितियों में नागरिकता समाप्त हो जाती है—(1) त्यागपत्र देने पर तथा (2) देशद्रोही होने पर।

प्रश्न 8. नागरिकता समाप्त होने के कोई दो कारण लिखिए।

उत्तर—(1) विदेशी नागरिकता स्वीकार करने पर, तथा (2) सेना से भागने पर।

प्रश्न 9. नागरिकता प्राप्त करने की तीन विधियां लिखिए।

उत्तर—(1) विवाह, (2) निश्चित समय तक निवास तथा (3) सरकारी सेवा।

प्रश्न 10. भारतीय संविधान के अन्तर्गत कौन-से मौलिक अधिकार केवल भारतीय नागरिकों को प्राप्त हैं?

उत्तर—संविधान के अन्तर्गत अनु. 15 (सार्वजनिक स्थलों पर समानता का अधिकार) अनु. 16 (सरकारी सेवा में समानता) तथा अनु. 19 (स्वतन्त्रता का अधिकार) केवल भारतीय नागरिकों को प्राप्त है विदेशियों को नहीं।

बहुविकल्पीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों में चार विकल्प दिए गए हैं। उनमें से एक सही विकल्प छांटकर लिखिए :

1. "एक नागरिक वह है जिसे राज्य के शासन में कुछ भाग प्राप्त हो और जो राज्य द्वारा प्रदान किए गए सम्मान का उपभोग करता हो।" यह कथन किस विचारक का है :
   (अ) प्लेटो का (ब) अरस्तू का
   (स) सुकरात का (द) मैकियावली का
2. नागरिक बनने के लिए निम्न में से किस शर्त को पूरा किया जाना आवश्यक है :
   (अ) राज्य की सदस्यता (ब) राज्य के प्रति भक्ति
   (स) राज्य द्वारा सामाजिक और राजनीतिक अधिकार प्रदान करना
   (द) उपर्युक्त सभी
3. निम्नलिखित में से कौन-सा कथन असत्य है :
   (अ) नागरिक सम्बन्धित राज्य का निवासी होता है, लेकिन विदेशी सामान्यतया उस राज्य में अस्थायी रूप से ही निवास करता है।
   (ब) नागरिक अपने राज्य के प्रति पूर्ण राज्य-भक्ति रखता है, लेकिन विदेशी उस राज्य के प्रति भक्ति रखता है जिसका वह नागरिक होता है।
   (स) नागरिक को उस राज्य की भूमि पर स्थायी रूप से रहने का अधिकार होता है और विदेशी भी उस राज्य की भूमि पर स्थायी रूप से निवास कर सकता है।
   (द) उपर्युक्त में से कोई भी कथन असत्य नहीं है।
4. इंग्लैण्ड में नागरिकता प्रदान करने के सम्बन्ध में किस सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त है :
   (अ) रक्त अथवा वंश के सिद्धान्त को (ब) जन्म-स्थान के सिद्धान्त को
   (स) उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों को (द) उपर्युक्त में से किसी सिद्धान्त को नहीं
5. अमरीका में राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित होने की योग्यता रखते हैं :
   (अ) केवल जन्मजात नागरिक (ब) केवल देशीयकरण से हुए नागरिक
   (स) उपर्युक्त दोनों प्रकार के नागरिक (द) इनमें से कोई नहीं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

6. देशीयकरण के आधार पर नागरिकता प्राप्त करने के लिए सम्बन्धित व्यक्ति को किस शर्त को पूरा करना होता है :
(अ) अपनी पहले की नागरिकता का परित्याग करना
(ब) नए राज्य में सम्बन्धित राज्य के संविधान या कानून द्वारा निर्धारित अवधि तक निवास करना
(स) नए राज्य के प्रति राजभक्ति और निष्ठा की शपथ लेना
(द) उपर्युक्त सभी शर्तें

7. निम्नलिखित में से किस आधार पर एक देश की नागरिकता प्राप्त की जा सकती है :
(अ) निश्चित निवास (ब) विवाह
(स) सरकारी सेवा (द) इनमें से सभी

8. भारतीय संविधान के किस अनुच्छेद में नागरिकता सम्बन्धी व्यवस्था की गई है :
(अ) अनुच्छेद 5 से 11 तक (ब) अनुच्छेद 12 से 21 तक
(स) अनुच्छेद 22 से 28 तक (द) अनुच्छेद 30 से 35 तक

9. भारतीय संविधान के अनुसार नागरिकता के सम्बन्ध में नियम बनाने व उन्हें संचालित करने का अधिकार किसे प्रदान किया गया है :
(अ) संसद को (ब) राज्य विधानमण्डलों को
(स) 'अ' व 'ब' दोनों को (द) इनमें से कोई नहीं

10. भारतीय नागरिकता अधिनियम कब पारित किया गया :
(अ) 1950 में (ब) 1952 में
(स) 1955 में (द) 1958 में

11. भारतीय नागरिकता अधिनियम, 1955 के अनुसार निम्न में से किस आधार पर नागरिकता प्राप्त की जा सकती है :
(अ) जन्म से (ब) रक्त सम्बन्ध या वंशाधिकार से
(स) पंजीकरण द्वारा (द) इनमें से सभी द्वारा

12. भारतीय नागरिकता संशोधन अधिनियम, 1986 के अनुसार अब जो व्यक्ति पंजीकरण के माध्यम से भारतीय नागरिकता प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें अब भारत में कम-से-कम कितने वर्ष तक निवास करना होगा :
(अ) 6 माह (ब) 5 वर्ष
(स) 7 वर्ष (द) 10 वर्ष

13. भारतीय नागरिकता संशोधन अधिनियम, 1986 के अनुसार देशीयकरण द्वारा भारतीय नागरिकता तभी प्रदान की जाएगी जबकि सम्बन्धित व्यक्ति :
(अ) 5 वर्ष तक भारत में रह चुका हो (ब) 10 वर्ष तक भारत में रह चुका हो
(स) 15 वर्ष तक भारत में रह चुका हो (द) 20 वर्ष तक भारत में रह चुका हो

14. निम्न में से किस आधार पर भारतीय नागरिकता की समाप्ति हो सकती है :
(अ) नागरिकता का परित्याग करने पर (ब) दूसरे देश की नागरिकता स्वीकार करने पर
(स) संघ सरकार द्वारा नागरिकता का अपहरण (द) उपर्युक्त सभी आधारों पर

15. "श्रेष्ठ नागरिक ही श्रेष्ठ राज्य का निर्माण कर सकते हैं, अतः राज्य के नागरिक आदर्श होने चाहिए।" यह कथन किस विचारक का है :
(अ) प्लेटो (ब) अरस्तू
(स) ह्वाइस (द) रूसो

16. आदर्श नागरिकता का प्रमुख तत्व है :
(अ) जनकल्याण से प्रेरित अन्तःकरण (ब) सच्चरित्रता
(स) विचारों की उदारता (द) इनमें से सभी तत्व

17. आदर्श नागरिकता के मार्ग में प्रमुख बाधा है :
(अ) व्यक्तिगत स्वार्थ की प्रबलता (ब) अकर्मण्यता
(स) अज्ञान (द) इनमें से सभी

[उत्तर—1. (ब), 2. (द), 3. (स), 4. (स), 5. (अ), 6. (द), 7. (द), 8. (अ), 9. (अ), 10. (स), 11. (द), 12. (ब), 13. (ब), 14. (द), 15. (ब), 16. (द), 17. (द)।]

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

5

नागरिक के अधिकार तथा कर्तव्य

[RIGHTS AND DUTIES OF A CITIZEN]

"स्वभावतया प्रकृति के द्वारा सब मनुष्यों को समान रूप से उत्पन्न किया गया है और उनके कुछ जन्मजात अधिकार हैं जिन्हें मनुष्य स्वयं अपने जीवन अथवा अपनी सन्तानों से पृथक् नहीं कर सकते; यथा जीवन और स्वतन्त्रता, सम्पत्ति के अर्जन और सुखी जीवन की प्राप्ति का अधिकार।"[1]

—थॉमस जैफरसन

अधिकार हमारे सामाजिक जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएं हैं जिनके विना न तो व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है और न ही समाज के लिए उपयोगी कार्य कर सकता है। वस्तुतः अधिकारों के बिना मानव जीवन के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती है। इस कारण वर्तमान समय में प्रत्येक राज्य के द्वारा अधिकाधिक विस्तृत अधिकार प्रदान किये जाते हैं। अधिकार लोकतन्त्र की भी आधारशिला है जहां अधिकारों का अस्तित्व लोकतन्त्र में ही सम्भव है वहीं अधिकारों के विना लोकतन्त्र अर्थहीन व काल्पनिक है। अधिकारों की व्यवस्था किसी राज्य का मापदण्ड भी है। लास्की के शब्दों में कहा जा सकता है कि **"एक राज्य अपने नागरिकों को जिस प्रकार के अधिकार प्रदान करता है उन्हीं के आधार पर राज्य को अच्छा या बुरा कहा जा सकता है।"[2]**

अधिकार का अर्थ और परिभाषा

प्रकृति के द्वारा मनुष्य को विभिन्न प्रकार की शक्तियां प्रदान की गयी हैं, लेकिन इन शक्तियों का स्वयं अपने और समाज के हित में उचित रूप से प्रयोग करने के लिए वाहरी सुविधाओं की आवश्यकता होती है। राज्य का सर्वोत्तम लक्ष्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास है, इस कारण राज्य के द्वारा व्यक्ति को ये सुविधाएं प्रदान की जाती हैं और राज्य के द्वारा व्यक्ति को प्रदान की जाने वाली इन बाहरी सुविधाओं का नाम ही अधिकार है।

"अधिकार का अभिप्राय राज्य द्वारा व्यक्ति को दी गयी कुछ कार्य करने की स्वतन्त्रता या सकारात्मक सुविधा प्रदान करना है जिससे व्यक्ति अपनी शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक शक्तियों का पूर्ण विकास कर सके।" प्रमुख विद्वानों द्वारा अधिकार की निम्नलिखित शब्दों में परिभाषाएं की गयी हैं :

लास्की के अनुसार, "अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियां हैं जिनके अभाव में सामान्यतया कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर पाता है।"[3]

वाइल्ड के अनुसार, "अधिकार कुछ विशेष कार्यों को करने की स्वाधीनता की उचित मांग है।"[4]

बोसांके के अनुसार, "अधिकार वह मांग है जिसे समाज स्वीकार करता और राज्य लागू करता है।"[5]

---

1 **"We hold these truths to be self-evident that men are created equal, that they are endowed by their creator with certain inalienable rights, that among these are life, liberty and pursuit of happiness." —*Thomas Jefferson***

2 **"Every state is known by the rights, that it maintains." —*Laski***

3 **"Rights are those conditions of social life, without which no man can seek in general to be himself at his best." —*Laski***

4 **"A right is a reasonable claim to the exercise of certain activities." —*Wilde***

5 **"A right is a claim, recognized by the society and enforced by the state." —*Bosanquet***

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. बेनी प्रसाद के अनुसार, "अधिकार वे सामाजिक दशाएं हैं जो कि मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक हैं।"

भारतीय विद्वान श्रीनिवास शास्त्री के अनुसार, "अधिकार समुदाय के कानून द्वारा स्वीकृत वह व्यवस्था, नियम या रीति है जो नागरिक के सर्वोच्च नैतिक कल्याण में सहायक हो।"

अधिकार के आवश्यक लक्षण

लास्की, वाइल्ड और श्रीनिवास शास्त्री ने अधिकार की जो परिभाषाएं दी हैं उन परिभाषाओं और अधिकार की सामान्य धारणा के आधार पर अधिकार के निम्नलिखित आवश्यक लक्षण कहे जा सकते हैं :

अधिकार के आवश्यक लक्षण
(1) सामाजिक स्वरूप
(2) कल्याणकारी स्वरूप
(3) लोकहित में प्रयोग
(4) राज्य का संरक्षण
(5) सार्वभौमिकता या सर्व-व्यापकता

(1) सामाजिक स्वरूप—अधिकार का सर्वप्रथम लक्षण यह है कि अधिकार के लिए सामाजिक स्वीकृति आवश्यक है, सामाजिक स्वीकृति के अभाव में व्यक्ति जिन शक्तियों का उपभोग करता है वे उसके अधिकार न होकर प्राकृतिक शक्तियां हैं। अधिकार तो राज्य द्वारा नागरिकों को प्रदान की गयी स्वतन्त्रता और सुविधा का नाम है और इस स्वतन्त्रता एवं सुविधा की आवश्यकता तथा उपभोग समाज में ही सम्भव है। ब्रिटिश विचारक टी. एच. ग्रीन ने अधिकार समाज द्वारा स्वीकृत होते हैं। राज्य केवल उन्हें कानूनी मान्यता प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त, राज्य के द्वारा व्यक्ति को जिस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अधिकार प्रदान किये जाते हैं, उसकी सिद्धि समाज में ही सम्भव है। इस दृष्टि से भी अधिकार समाजगत ही होते हैं।

(2) कल्याणकारी स्वरूप—अधिकारों का सम्बन्ध आवश्यक रूप से व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास से होता है। इस कारण अधिकार के रूप में केवल वे ही स्वतन्त्रताएं और सुविधाएं प्रदान की जाती हैं जो व्यक्तित्व के विकास हेतु आवश्यक या सहायक हों। व्यक्ति को कभी भी वे अधिकार नहीं मिलते हैं जो व्यक्ति के विकास में बाधक हों। इसी कारण मद्यपान, जुआ खेलना या आत्महत्या अधिकार के अन्तर्गत नहीं आते हैं।

(3) लोकहित में प्रयोग—व्यक्ति को अधिकार उसके स्वयं के व्यक्तित्व के विकास और सम्पूर्ण समाज के सामूहिक हित के लिए प्रदान किये जाते हैं। अतः यह आवश्यक होता है कि अधिकारों का प्रयोग इस प्रकार किया जाय कि व्यक्ति की स्वयं की उन्नति के साथ-साथ सम्पूर्ण समाज की भी उन्नति हो। यदि कोई व्यक्ति अधिकार का इस प्रकार से उपयोग करता है कि अन्य व्यक्तियों या सम्पूर्ण समाज के हित साधन में बाधा पहुंचती है तो व्यक्ति के अधिकारों को सीमित किया जा सकता है।

(4) राज्य का संरक्षण—अधिकार का एक आवश्यक लक्षण यह भी है कि उसकी रक्षा का दायित्व राज्य अपने ऊपर लेता है और इस सम्बन्ध में राज्य आवश्यक व्यवस्था भी करता है। उदाहरणार्थ, व्यक्ति को रोजगार प्राप्त होना चाहिए, यह बात व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है और समाज भी इसे स्वीकार करता है, लेकिन राज्य जब तक आवश्यक संरक्षण की व्यवस्था न करे, उस समय तक पारिभाषिक अर्थ में इसे अधिकार नहीं कहा जा सकता है।

(5) सार्वभौमिकता या सर्वव्यापकता—अधिकार का एक अन्य लक्षण यह भी है कि अधिकार समाज के सभी व्यक्तियों को समान रूप से प्रदान किये जाते हैं और इस सम्बन्ध में जाति, धर्म, लिंग और वर्ण के आधार पर कोई भेद नहीं किया जाता है। अधिकारों में भेदभाव करना, अधिकारों की मूल भावना का हनन है।

अधिकार के उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर सामान्य शब्दों में अधिकार की परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि **"अधिकार समाज के सभी व्यक्तियों के व्यक्तित्व के उच्चतम विकास हेतु आवश्यक वे सामान्य सामाजिक परिस्थितियां हैं जिन्हें समाज स्वीकार करता है और राज्य लागू करने की व्यवस्था करता है।"**

अधिकारों का वर्गीकरण

साधारणतया अधिकार दो प्रकार के होते हैं—(1) नैतिक अधिकार, और (2) कानूनी अधिकार।

(1) नैतिक अधिकार (Moral Rights)—नैतिक अधिकार वे अधिकार होते हैं जिनका सम्बन्ध मानव के नैतिक आचरण से होता है। अनेक विचारकों के द्वारा इन्हें अधिकार के रूप में ही स्वीकार नहीं किया जाता

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है क्योंकि ये अधिकार राज्य द्वारा रक्षित नहीं होते हैं। इन्हें धर्मशास्त्र, जनमत या आत्मिक चेतना द्वारा स्वीकृत किया जाता है और राज्य के कानूनों से इनका कोई सम्बन्ध नहीं होता है।

(2) कानूनी अधिकार (Legal Rights)—ये वे अधिकार हैं जिनकी व्यवस्था राज्य द्वारा की जाती है और जिनका उल्लंघन कानून से दण्डनीय होता है। कानून का संरक्षण प्राप्त होने के कारण इन अधिकारों को लागू करने के लिए राज्य द्वारा आवश्यक कार्यवाही की जाती है। लीकॉक ने इन अधिकारों की परिभाषा करते हुए कहा है कि "कानूनी अधिकार वे विशेष अधिकार हैं जो एक नागरिक को अन्य नागरिकों के विरुद्ध प्राप्त होते हैं तथा जो राज्य की सर्वोच्च शक्ति द्वारा प्रदान किये जाते हैं और रक्षित होते हैं।"

कानूनी अधिकार के दो भेद किये जा सकते हैं—(I) सामाजिक या नागरिक अधिकार, (II) राजनीतिक अधिकार।

(I) सामाजिक या नागरिक अधिकार (Social or Civil Rights)

प्रमुख सामाजिक या नागरिक अधिकार निम्नलिखित हैं :

(i) समानता का अधिकार—समानता का अधिकार एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अधिकार है और इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक क्षेत्र में व्यक्ति को व्यक्ति होने के नाते सम्मान और महत्व प्राप्त होना चाहिए और जाति, धर्म व आर्थिक स्थिति के भेद के बिना सभी व्यक्तियों को अपने जीवन का विकास करने के लिए समान सुविधाएं प्राप्त होनी चाहिए। समानता का अधिकार प्रजातन्त्र की आत्मा है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 14-18 तक समानता के अधिकारों का वर्णन है। इसके निम्नलिखित भेद हैं :

(क) राजनीतिक समानता का अधिकार—इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यतानुसार बिना किसी भेदभाव के देश के शासन में भाग लेने का अवसर प्राप्त होना चाहिए। इस राजनीतिक समानता की प्राप्ति प्रजातन्त्रात्मक शासन की स्थापना और वयस्क मताधिकार की व्यवस्था द्वारा ही सम्भव है। इसी में यह बात भी शामिल है कि न्याय और कानून की दृष्टि में सभी व्यक्ति समान समझे जाने चाहिए।

(ख) सामाजिक समानता का अधिकार—इसका तात्पर्य यह है कि समाज में धर्म, जाति, भाषा, सम्पत्ति, वर्ण या लिंग के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए और व्यक्ति को व्यक्ति होने के नाते ही समाज में सम्मान प्राप्त होना चाहिए। डॉ. बेनीप्रसाद के शब्दों में, "सामाजिक समानता का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक के सुख का समान महत्व है तथा किसी को भी अन्य किसी के सुख का साधन-मात्र नहीं समझा जा सकता है।" सामाजिक समानता की स्थापना हेतु भारतीय संविधान के 17वें अनुच्छेद द्वारा अस्पृश्यता को दण्डनीय अपराध घोषित किया गया है।

(ग) आर्थिक समानता का अधिकार—वर्तमान समय में आर्थिक समानता का तात्पर्य यह लिया जाता है कि मानव के आर्थिक स्तर में गम्भीर विषमताएं नहीं होनी चाहिए और सम्पत्ति एवं उत्पादन के साधनों का न्यायसंगत वितरण किया जाना चाहिए। टॉनी के शब्दों में, "आर्थिक समानता का अर्थ एक ऐसी विषमता के अभाव से है जिसका उपयोग आर्थिक दबाव के रूप में किया जा सके।"

अधिकारों का वर्गीकरण

- (1) नैतिक अधिकार
- (2) कानूनी अधिकार
- (I) सामाजिक या नागरिक अधिकार
  - (i) समानता का अधिकार
    - (क) राजनीतिक समानता का अधिकार
    - (ख) सामाजिक समानता का अधिकार
    - (ग) आर्थिक समानता का अधिकार
  - (ii) स्वतन्त्रता का अधिकार
    - (क) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिकार
    - (ख) विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार
    - (ग) अन्तःकरण की स्वतन्त्रता का अधिकार
    - (घ) समुदाय निर्माण की स्वतन्त्रता का अधिकार
    - (ङ) नैतिक स्वतन्त्रता का अधिकार
  - (iii) सम्पत्ति का अधिकार
  - (iv) रोजगार का अधिकार
  - (v) शिक्षा का अधिकार
  - (vi) जीवन का अधिकार
  - (vii) परिवार का अधिकार
- (II) राजनीतिक अधिकार
  - (i) मत देने का अधिकार
  - (ii) निर्वाचित होने का अधिकार
  - (iii) सार्वजनिक पद ग्रहण करने का अधिकार
  - (iv) आवेदन पत्र और सम्मति देने का अधिकार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ii) स्वतन्त्रता का अधिकार—स्वतन्त्रता का अधिकार जीवन के लिए परम आवश्यक है क्योंकि इस अधिकार के विना व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा समाज का विकास सम्भव नहीं है। स्वतन्त्रता का तात्पर्य उच्छृंखलता या नियंत्रणहीनता न होकर व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए पूर्ण अवसरों की प्राप्ति है। लास्की के शब्दों में, "इसका तात्पर्य उस शक्ति से होता है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी इच्छानुसार अपने तरीके से विना किसी बाहरी बन्धन के अपने जीवन का विकास कर सके।" स्वतन्त्रता के अधिकार के भेद निम्नलिखित हैं :

(क) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिकार—व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति अपना सामान्य जीवन विवेक के अनुसार व्यतीत कर सकें। इसके अन्तर्गत यह बात भी सम्मिलित है कि जब तक व्यक्ति कानून का उल्लंघन न करे, उसे गिरफ्तार नहीं किया जा सकता है और न्यायालय द्वारा अभियोग की पुष्टि के विना उसे बन्दी नहीं रखा जा सकता। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का सबसे बड़ा प्रतिपादक जे. एस. मिल है, उसके शब्दों में, "स्वयं अपने ऊपर, अपने शरीर, मस्तिष्क और आत्मा पर व्यक्ति सम्प्रभु होता है।"[1] मिल ने स्वतन्त्रता को व्यक्ति व समाज दोनों के विकास के लिए आवश्यक वताया है। इसीलिए उसने राज्य को एक आवश्यक बुराई माना है।

(ख) विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार—मानव एक विवेकशील प्राणी है और विचार स्वातन्त्र्य मानसिक तथा नैतिक उन्नति की सर्वोच्च शर्त है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार विचार रखने और भाषण, लेख, आदि के माध्यम से इन विचारों को व्यक्त करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। सुकरात ने विचार स्वातन्त्र्य त्यागने की अपेक्षा मृत्यु को श्रेयस्कर समझा था और मिल्टन, मिल, वाल्टेयर, लास्की, आदि सभी विद्वानों ने विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का महत्व स्वीकार किया है। मिल्टन कहते हैं, "मुझे अपने अन्तर्मन के अनुसार जानने की, बोलने की और तर्क करने की स्वतन्त्रता अन्य स्वतन्त्रताओं से अधिक प्रिय है।"

(ग) अन्तःकरण की स्वतन्त्रता का अधिकार—अन्तःकरण की स्वतन्त्रता या धार्मिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय है कि व्यक्ति को अपने विवेक के अनुसार धर्म के मानने, आचरण करने और प्रचार करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए और एक व्यक्ति पर उसकी इच्छा के विरुद्ध किसी प्रकार का धर्म नहीं लादा जा सकता है। धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति के अन्तःकरण से होता है और इस कारण इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का बाहरी दबाव नितान्त अनुचित है, किन्तु धार्मिकता की आड़ में अनाचार, अत्याचार या धार्मिक कट्टरता या असहिष्णुता की आज्ञा नहीं दी जा सकती है।

(घ) समुदाय निर्माण की स्वतन्त्रता का अधिकार—'संगठन ही मानव जीवन की उन्नति का मूल मन्त्र है' इसलिए व्यक्ति को अपने समान विचार वाले व्यक्तियों के साथ मिलकर संगठन के निर्माण की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। व्यक्ति को इस बात का अधिकार होना चाहिए कि वह जीवन के विविध क्षेत्रों में उन्नति करने के लिए राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक समुदायों का निर्माण कर सके, लेकिन इस प्रकार के किसी भी संगठन को समाज-विरोधी या अनैतिक कार्य करने की स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती है।

(ङ) नैतिक स्वतन्त्रता का अधिकार—एक व्यक्ति के पास उपर्युक्त सभी स्वतन्त्रताएं होने पर भी यदि उसे नैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है तो उसकी स्थिति दयनीय हो जाती है। नैतिक स्वतन्त्रता का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति अपने विवेक और आत्मा के आदेशानुसार विना किसी अनुचित लोभ-लालच के कार्य कर सके। 'नैतिक स्वतन्त्रता नींव के उस पत्थर के समान है जिस पर जीवन का सम्पूर्ण भवन आधारित होता है,' नैतिक स्वतन्त्रता के विना राजनीतिक एवं सामाजिक स्वतन्त्रता का कोई विशेष मूल्य नहीं रह जाता है।

(iii) सम्पत्ति का अधिकार—मानव जीवन के लिए सम्पत्ति आवश्यक है। सम्पत्ति के अधिकार का मानव जीवन में अत्यधिक महत्व है, क्योंकि यह विचार मानव को उन्नति की ओर प्रेरित करता है। सम्पत्ति के अधिकार का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति अपने द्वारा कमाये गये धन को चाहे तो आज की आवश्यकताओं पर खर्च कर सकता है या अर्जित करके रख सकता है और धन, जमीन या जायदाद के रूप में व्यक्ति द्वारा रक्षित इस धन को विना मुआवजा दिये उससे छीना नहीं जा सकता है।

1 "Over himself, over his own body mind and soul, the individual is sovereign." —J.S. Mill

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्तमान समय में सम्पत्ति के अधिकार को अनियन्त्रित रूप में स्वीकार नहीं किया जाता है। इसका कारण यह है कि सम्पत्ति का अधिकार जहां एक ओर दया, दान, उदारता, स्नेह, कार्यक्षमता, आदि मानवीय गुणों की ओर प्रेरित करता है, वहां यह विषमता, भेदभाव, वैमनस्य और शोषण के दुर्गुणों का भी कारण बन जाता है। अतः जनकल्याण की दृष्टि से सम्पत्ति के अधिकार को सीमित किया जा सकता है।

(iv) रोजगार का अधिकार—व्यक्ति को स्वयं अपने और परिवार के भरण-पोषण, आवास एवं शिक्षा के लिए धन की आवश्यकता होती है और व्यक्ति यह आर्थिक शक्ति किसी-न-किसी प्रकार का काम किये बिना प्राप्त नहीं कर सकता। अतः वर्तमान समय में यह आवश्यक समझा जाता है कि व्यक्ति को काम प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए और इस काम के बदले में व्यक्ति को उचित पारिश्रमिक प्राप्त होना चाहिए।

नैतिक रूप में वर्तमान समय के सभी राज्य रोजगार के अधिकार को स्वीकार करते हैं, किन्तु भारत जैसे अनेक राज्यों में आर्थिक साधनों के अभाव के कारण राज्य कानूनी रूप में नागरिकों को अब तक इस प्रकार का अधिकार प्रदान नहीं कर सका है।

(v) शिक्षा का अधिकार—शिक्षा मानव की मानसिक एवं आध्यात्मिक खुराक है और शिक्षा के आधार पर ही व्यक्तित्व का विकास सम्भव है। अतः वर्तमान समाज में यह बात सर्वमान्य है कि नागरिक को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए। केवल इतना ही नहीं, शासन को धनवान एवं निर्धन, दोनों ही वर्गों को शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाएं प्रदान करनी चाहिए। वाचनालय, पुस्तकालय और संग्रहालयों की स्थापना की जानी चाहिए। प्रारम्भिक शिक्षा की अनिवार्य तथा निःशुल्क रूप में व्यवस्था की जानी चाहिए।

(vi) जीवन का अधिकार—मानव के सभी अधिकारों में जीवन का अधिकार सबसे अधिक मौलिक व आधारभूत अधिकार है, क्योंकि इस अधिकार के बिना अन्य किसी भी अधिकार की कल्पना नहीं की जा सकती है। जीवन के अधिकार का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवित रहने का अधिकार है और राज्य इस बात की व्यवस्था करेगा कि कोई दूसरा व्यक्ति या राज्य व्यक्ति के जीवन का अन्त न कर सके।

जीवन के अधिकार के अन्तर्गत ही आत्मरक्षा का अधिकार भी निहित है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि किसी व्यक्ति के जीवन पर आघात किया जाता है तो सम्बन्धित व्यक्ति अपनी आत्मरक्षा के लिए आवश्यक कार्यवाही कर सकता है और आत्मरक्षा के निमित्त की गयी यह कार्यवाही अपराध की श्रेणी में नहीं आती है।

(vii) परिवार का अधिकार—राज्य के समान ही परिवार भी मानव जीवन के लिए एक अनिवार्य संस्था रही है और मानव जाति के विकास में परिवार का योग किसी भी दूसरी संस्था से कम नहीं है। केवल यौन तुष्टि और मानव जाति को बनाये रखने के लिए ही नहीं वरन् नागरिक गुणों के विकास हेतु भी परिवार का अस्तित्व आवश्यक है। अतः व्यक्ति को विवाह कर परिवार का निर्माण करने और सन्तान के पालन-पोषण का अधिकार होना चाहिए तथा राज्य को इस सम्बन्ध में अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

(II) राजनीतिक अधिकार (Political Rights)

राजनीतिक अधिकारों का तात्पर्य उन अधिकारों से है जो व्यक्ति के राजनीतिक जीवन के विकास के लिए आवश्यक होते हैं और जिनके माध्यम से व्यक्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से शासन प्रबन्ध में भाग लेते हैं। साधारणतया एक प्रजातन्त्रात्मक राज्य के द्वारा अपने नागरिकों को निम्नलिखित राजनीतिक अधिकार प्रदान किये जाते हैं :

(i) मत देने का अधिकार—वर्तमान समय के विशाल राज्यों में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्रीय व्यवस्था सम्भव नहीं रही है इसलिए प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र के रूप में एक ऐसी व्यवस्था की गयी है जिसमें जनता अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करती है और इन प्रतिनिधियों के द्वारा शासन कार्य किया जाता है। इस प्रकार जनता मताधिकार के माध्यम से ही देश के शासन में भाग लेती है और मतदान को प्रजातन्त्र की आधारशिला कहा जा सकता है। वर्तमान समय की प्रवृत्ति मताधिकार को अधिकाधिक व्यापक बनाने की है और इसलिए अधिकांश देशों में वयस्क मताधिकार को अपना लिया गया है।

(ii) निर्वाचित होने का अधिकार—प्रजातन्त्र में शासक और शासित का कोई भेद नहीं होता और योग्यता सम्बन्धी कुछ प्रतिबन्धों के साथ सभी नागरिकों को जनता के प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित होने का अधिकार होता है। इसी अधिकार के माध्यम से व्यक्ति देश की उन्नति में सक्रिय रूप से भाग ले सकता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(iii) सार्वजनिक पद ग्रहण करने का अधिकार—व्यक्ति को सभी सार्वजनिक पद ग्रहण करने का अधिकार होना चाहिए और इस सम्बन्ध में योग्यता के अतिरिक्त अन्य किसी आधार पर भेद नहीं किया जाना चाहिए।

(iv) आवेदन-पत्र और सम्मति देने का अधिकार—लोकतन्त्र का आदर्श यह है कि शासन का संचालन जनहित के लिए किया जाय। अतः नागरिकों को अपनी शिकायतें दूर करने या शासन को आवश्यक सम्मति प्रदान करने के लिए व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से कार्यपालिका या व्यवस्थापिका अधिकारियों को प्रार्थनापत्र देने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। इसके अन्तर्गत ही शासन की आलोचना का अधिकार भी सम्मिलित किया जाता है।

उक्त सभी अधिकारों को प्रत्येक लोकतान्त्रिक देश में संविधान या कानून के माध्यम से मान्यता प्रदान की गई है। संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा द्वारा 10 दिसम्बर 1948 को जारी मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा में भी उक्त अधिकारों को शामिल किया गया है।

कर्तव्य

कर्तव्य का अर्थ—किसी विशेष कार्य के करने या न करने के सम्बन्ध में व्यक्ति के उत्तरदायित्व को ही कर्तव्य कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, जिन कार्यों के सम्बन्ध में समाज एवं राज्य सामान्य रूप से व्यक्ति से यह आशा करते हैं कि उसे वे कार्य करने चाहिए, वे ही व्यक्ति के कर्तव्य कहे जा सकते हैं।

कर्तव्य के प्रकार (Kinds of Duties)—कर्तव्य दो प्रकार के होते हैं : (1) नैतिक कर्तव्य, और (2) कानूनी कर्तव्य।

कर्तव्य
(1) नैतिक कर्तव्य
(2) कानूनी कर्तव्य

(1) नैतिक कर्तव्य (Moral Duties)—नैतिक कर्तव्यों से तात्पर्य उन कर्तव्यों से है जिनका सम्बन्ध मनुष्य के अन्तःकरण, नैतिकता व औचित्य और अनौचित्य की प्रवृत्ति से होता है; जैसे, सत्य बोलना और प्राणी मात्र के हित की कामना, आदि। यद्यपि नैतिक दृष्टि से व्यक्तियों के द्वारा सदैव ही ये कार्य किये जाने चाहिए, लेकिन यदि व्यक्ति इन नैतिक कर्तव्यों के विरुद्ध भी आचरण करें, तो उन्हें किसी प्रकार का दण्ड नहीं दिया जा सकता है।

(2) कानूनी कर्तव्य (Legal Duties)—कानूनी कर्तव्य अपनी प्रकृति से ही नैतिक कर्तव्यों से भिन्न होते हैं। इन्हें करना या न करना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर नहीं होता, अपितु ये व्यक्ति के वे कर्तव्य होते हैं जिनका पालन करना अनिवार्य होता है जिनका पालन न करने पर व्यक्ति राज्य द्वारा प्रदत्त दण्ड के भागी होते हैं। नागरिकशास्त्र के अन्तर्गत प्रमुख रूप से इन कानूनी कर्तव्यों का ही अध्ययन किया जाता है।

नागरिक के प्रमुख कानूनी कर्तव्य

एक नागरिक के प्रमुख कानूनी कर्तव्य निम्नलिखित कहे जा सकते हैं :

(1) कानूनों का पालन—कानूनों का निर्माण राज्य में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने और राज्य में रहने वाले नागरिकों के हित के लिए किया जाता है। अतः व्यक्तियों का कर्तव्य हो जाता है कि वे राज्य द्वारा निर्मित सभी कानूनों का पालन करें। कानूनों का न मानना राज्य का विरोध करना है जो व्यक्ति और राज्य दोनों के लिए अहितकर है। यदि राज्य के कोई कानून अनुचित हों, तो उनमें परिवर्तन के लिए संवैधानिक उपायों का ही सहारा लिया जाना चाहिए।

(2) राज्य के प्रति भक्ति—प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य होता है कि वह उस राज्य के प्रति भक्ति रखे, जिसका वह नागरिक है। व्यक्ति के विकास के लिए राज्य प्रत्येक प्रकार का सम्भव प्रयत्न करता है और राज्य द्वारा किये गये इन कार्यों के बदले में व्यक्ति का कर्तव्य हो जाता है कि वह राज्य को अपना समझे, राज्य के सम्मान और स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए प्रत्येक प्रकार का कार्य करने को तत्पर हो और किसी भी परिस्थिति में राज्य की भूमि या स्वतन्त्रता का किसी बाहरी सत्ता के साथ सौदा न करे। आवश्यकता के समय सेना में भर्ती होना और राज्य में शान्ति व व्यवस्था बनाये रखना भी व्यक्ति के कर्तव्य के अन्तर्गत सम्मिलित हैं।

नागरिक के प्रमुख कानूनी कर्तव्य
(1) कानूनों का पालन
(2) राज्य के प्रति भक्ति
(3) कर देना

(3) कर देना—राज्य को शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने तथा नागरिक के हित में विविध प्रकार के दूसरे कार्य करने के

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए आर्थिक शक्ति की आवश्यकता होती है और इस आर्थिक शक्ति को प्राप्त करने के लिए राज्य विविध प्रकार के कर लगाता है। नागरिकों का कर्तव्य है कि वे सहर्ष इस प्रकार के करों को स्वीकार करें और पूर्ण ईमानदारी के साथ इस प्रकार के सभी करों का भुगतान करें। कर देने के सम्बन्ध में बेईमानी, आनाकानी या छल अपराध की श्रेणी में आते हैं।

राज्य के प्रति भक्ति, कानूनों का पालन और कर देना इन कर्तव्यों के अतिरिक्त ईमानदारी के साथ मताधिकार का प्रयोग करना, सेवाभाव के साथ सार्वजनिक पदों को ग्रहण करना, सार्वजनिक सम्पत्ति की रक्षा करना और राज्य कर्मचारियों को उनके कर्तव्यपालन में सहायता देना, आदि को व्यक्ति के राजनीतिक कर्तव्यों में सम्मिलित किया जाता है, किन्तु इस प्रकार के कार्यों को विशुद्ध कानूनी कर्तव्य नहीं कहा जा सकता है। इसका कारण यह है कि इस प्रकार के कार्य न करने पर अर्थात् मताधिकार का प्रयोग न करने या सार्वजनिक पद को स्वीकार न करने पर किसी प्रकार के दण्ड की व्यवस्था नहीं की गयी है। साधारण रूप से यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति को प्रत्येक सम्भव रूप में राज्य के साथ सहयोग करना चाहिए और व्यक्ति द्वारा स्वयं अपने हित के साथ-साथ समाज एवं राज्य के हित का भी ध्यान रखा जाना चाहिए। इस प्रकार का मार्ग अपनाते हुए ही व्यक्ति समाज एवं राज्य की उन्नति में योग दे सकता है।

पर्यावरण की सुरक्षा के प्रति नागरिक के दायित्व

पर्यावरण का अर्थ—मनुष्य और प्रकृति के बीच गहरा सम्बन्ध है। हमारे चारों ओर का प्राकृतिक वातावरण एवं परिवेश जिसमें हम मनुष्य और अन्य जीवधारी रहते हैं तथा जिसमें वनस्पति जगत[1] भी सम्मिलित हैं; सब मिलकर पर्यावरण बनाते हैं।

हमारा यह पर्यावरण मुख्यतया तीन भागों में बंटा हुआ है : **स्थलमण्डल, जलमण्डल और वायुमण्डल। भौतिक जगत के इन तीनों मण्डलों (स्थलमण्डल, जलमण्डल और वायुमण्डल) की रक्षा तथा उनकी विशुद्धता को बनाए रखना ही पर्यावरण की सुरक्षा है।**

पर्यावरण की सुरक्षा और उसका महत्व

वर्तमान युग में पर्यावरण पर दबाव बढ़ता ही जा रहा है। आज विकास के नाम पर मानव प्रकृति से दूर होता जा रहा है। बीसवीं सदी में तथाकथित सभ्य मानव ने प्रकृति के साथ बहुत छेड़छाड़ की है। निरन्तर बढ़ती हुई जनसंख्या और अन्य कारणों से समस्त मानव जाति के सम्मुख प्रकृति का संतुलन डगमगाने लगा है, उसकी शान्ति, सादगी और पवित्रता नष्ट हो रही है।

अपनी बढ़ती जरूरतों को पूरा करने के लिए मकान बनाने, खेती करने, ईंधन प्राप्त करने, पैसा बनाने और अन्य उपयोगों के लिए पेड़ों और जंगलों का सफाया हो रहा है। रोज ही नई-नई सड़कों, गगनचुम्बी इमारतों, मिलों और कारखानों का निर्माण हो रहा है। इस प्रक्रिया में हानिकारक रसायनों और गैसों का प्रयोग हो रहा है और यह समस्त प्रक्रिया पहले से बहुत बड़ी मात्रा में हानिकारक रसायनों एवं गैसों को ही जन्म दे रही है। इसके परिणामस्वरूप शहरों से लेकर गांवों तक पर्यावरण का प्राकृतिक स्वरूप नष्ट हो रहा है।

आज स्थिति यह है कि औद्योगिक प्रगति के प्रभावों के रूप में प्रतिवर्ष हमारे पर्यावरण में कार्बन डाइ-ऑक्साइड और अन्य हानिकारक गैसों की मात्रा 2 प्रतिशत बढ़ती जा रही है और यह समस्त विश्व के लिए भारी चिन्ता का विषय है। भारत और अन्य विकासशील देशों में पर्यावरण प्रदूषण की स्थिति इस कारण विशेष रूप से है कि उद्योगों का विकास अनियमित रूप से हुआ है तथा उद्योगों से पर्यावरण की रक्षा करने के लिए जिस प्रकार के प्रबन्ध किए जाने की आवश्यकता है, उस प्रकार के प्रबन्ध नहीं किए गये हैं। परिणामतया गंगा, यमुना और गोमती जैसी नदियां और अन्य छोटे जलाशय, सभी भारी प्रदूषण की स्थिति में पहुंच गए हैं। दूसरी ओर जंगलों में भारी तथा अंधाधुंध कटाई हो रही है जिससे 'प्राकृतिक असंतुलन' की स्थिति उत्पन्न हो गई है। जंगलों की अंधाधुंध कटाई से बहुत बड़े क्षेत्र में वर्षा का औसत गिर गया है और लगातार सूखे की स्थिति ने जन्म ले लिया है। यह स्थिति आज की तुलना में भविष्य में अधिक बड़े संकट का

1 वनस्पति भी जीवधारी हैं, यह बात वैज्ञानिक रूप से भी स्पष्ट और सिद्ध हो चुकी है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण बन सकती है। पर्यावरण के बढ़ते प्रदूषण तथा बढ़ती जनसंख्या के दबाव के कारण पर्यावरण के भौतिक व जैविक तत्वों में पाया जाने वाला सन्तुलन बिगड़ गया है। इसे पर्यावरण असन्तुलन भी कहते हैं जो दीर्घकाल में मानव समुदाय के लिए घातक है।

मनुष्य के जीवित रहने के लिए जिस तरह भूमि आवश्यक है, उसी तरह अन्य जीवधारी और वनस्पतियां भी आवश्यक हैं। प्रकृति का प्रत्येक ज़ीव यानी पेड़-पौधे, प्राणी, कीड़े-मकोड़े, पक्षी और हिंसक जीव, आदि भी प्रकृति के महत्वपूर्ण अंग और पुर्जे हैं, जो इस उपग्रह पर जीवन के प्राकृतिक तंत्र का संचालन और निर्धारण करते हैं। इसमें एक जीव की कमी या नष्ट होने का प्रभाव दूसरे जीवों के अस्तित्व और क्रियाकलाप पर पड़ता है। अतः पर्यावरण की सुरक्षा का आशय है : प्रकृति द्वारा प्रदत्त समस्त वातावरण की सुरक्षा।[1]

पर्यावरण की सुरक्षा के प्रति नागरिक का दायित्व

(पर्यावरण की रक्षा हेतु व्यक्ति द्वारा किए जा सकने वाले उपाय)

आज की परिस्थितियों में पर्यावरण की रक्षा समस्त मानव जाति के लिए जीवन-मरण का प्रश्न है। यदि मानव जाति ने पर्यावरण की रक्षा के प्रति आवश्यक जागरूकता का परिचय नहीं दिया, तो समस्त मानव जाति का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा। पर्यावरण को भारी आघात पहुंचा है और विभिन्न रूपों में प्रदूषण निरन्तर बढ़ता जा रहा है। प्रदूषण (Pollution) के ये विभिन्न रूप हैं : जल प्रदूषण, वायु प्रदूषण, भूमि प्रदूषण, ध्वनि प्रदूषण एवं अस्वास्थ्यजनक रहन-सहन से उत्पन्न प्रदूषण। प्रदूषण एक विश्वव्यापी दानवी समस्या है। पर्यावरण प्रदूषण की प्रकृति ऐसी है कि उसे राष्ट्रीय सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता। उदाहरण के लिए, जलवायु परिवर्तन (climate change) की समस्या जो आज विश्व की सबसे प्रमुख समस्या है। इससे निपटने के लिए विश्व के सभी देशों का एक सम्मेलन दिसम्बर 2009 में कोपेनहेगन (स्वीडन) में हुआ था। प्रदूषण की रोकथाम और पर्यावरण की रक्षा इन परिस्थितियों में हम सबका बहुत अधिक महत्वपूर्ण दायित्व हो जाता है।

इस दृष्टि से नागरिक द्वारा प्रमुख रूप से निम्न दिशाओं में प्रयत्न किए जाने चाहिए :

1. जनसंख्या की रोकथाम—यदि हम पर्यावरण की रक्षा करना चाहते हैं तो जनसंख्या की रोकथाम के लिए सभी सम्भव प्रयत्न करने होंगे। विधिवत् रूप से लगाये गये एक अनुमान के अनुसार 1988 में विश्व की जनसंख्या 508.2 करोड़ थी और आज यह जनसंख्या 670 करोड़ से अधिक हो गई है। विश्व के तीन महाद्वीपों; एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका में, जनसंख्या में चिन्ताजनक वृद्धि की स्थिति बनी हुई है। यदि जनसंख्या इसी गति से बढ़ती रही तो श्वास लेने के लिए वायु और पीने के लिए पानी का संकट खड़ा हो जाएगा। जनसंख्या की यह अंधाधुंध वृद्धि स्थलमण्डल, जलमण्डल और वायुमण्डल सभी में भारी प्रदूषण को जन्म दे रही है। अतः जनसंख्या में वृद्धि की रोकथाम के लिए सभी सम्भव प्रयत्न किए जाने चाहिए। भारत जैसे देश में इस प्रसंग में विशेष प्रयत्न किए जाने चाहिए।

2. वनों, पेड़-पौधों और वनस्पति जगत की रक्षा तथा वृद्धि—पर्यावरण की रक्षा की दृष्टि से वनों, पेड़-पौधों और वनस्पति जगत की रक्षा का विशेष महत्व है। वनों से होने वाले लाभ अनगिनत हैं। वन तापमान को नियन्त्रित करते हैं, नमी व वर्षा को आमन्त्रित करते हैं, तेज आंधियों को रोकते हैं और मरुस्थल के फैलाव में निर्णायक बाधा उपस्थित करते हैं। वन भूमि, वायु एवं जल के मध्य संतुलन बनाये रखते हैं। वनों की इसी महत्ता को दृष्टि में रखते हुए वेदों और पुराणों में वृक्षों को काटना नराधम कार्य और वृक्षों को लगाना संतान को जन्म देने से भी अधिक पवित्र कार्य माना गया है, लेकिन व्यवहार में स्थिति यह है कि मानव अपने तात्कालिक भौतिक लाभों के लिए अज्ञान और स्वार्थ-वश वनों की कटाई में लगा हुआ है।

पर्यावरण की दृष्टि से पृथ्वी के कुल क्षेत्रफल का लगभग एक-तिहाई वनों से आच्छादित होना चाहिए, लेकिन व्यवहार के अन्तर्गत विश्व के अधिकांश देशों में ऐसी स्थिति नहीं है। भारत में तो स्थिति चिन्ताजनक

1 हाल ही के वर्षों में प्राकृतिक साधनों के अंमर्यादित दोहन के कारण भी गंभीर समस्या उत्पन्न हो गई है। अब लोग इस बात को मानने लगे हैं कि विकास और पर्यावरण का निकटतम सम्बन्ध है तथा पर्यावरण की सुरक्षा के बिना विकास का न तो कोई अर्थ रह जाता है और न ही महत्व।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। अनुमान यह है कि लगभग 12 प्रतिशत भूमि ही वनों से आच्छादित है तथा इसमें भी लगातार कमी हो रही है। अतः पर्यावरण की सुरक्षा के लिए नागरिकों का दो दिशाओं में दायित्व बन जाता है। प्रथम, पुनः बन लगाए जाएं (Reforestation) और द्वितीय, बड़े पैमाने पर वृक्षारोपण हो। ये दोनों ही क्रियाएं वनों के संरक्षण का महत्वपूर्ण भाग और एक-दूसरे की पूरक हैं। वृक्षारोपण के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण बात यह है कि न केवल वृक्ष लगाए जाएं वरन् जो वृक्ष लगाए गये हैं उनकी रक्षा की जाए। वृक्षों को प्रथम दो वर्षों में विशेष संरक्षण की आवश्यकता होती है। भारत जैसे देश में स्थिति यह है कि पेड़ तो बड़ी संख्या में लगाये जाते हैं, लेकिन उनकी रक्षा पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। आवश्यकता इस बात की है कि वृक्षों का रख-रखाव और उनकी रक्षा को एक सामाजिक कर्तव्य और नैतिक दायित्व के रूप में स्वीकार किया जाए।

3. नदियों और जलीय स्रोतों की रक्षा तथा उनकी स्वच्छता एवं विशुद्धता को बनाए रखना—जल पर्यावरण का एक महत्वपूर्ण अंग है। आबादी के बढ़ने और सृष्टि का विकास होने के साथ पानी का खर्च निरन्तर बढ़ता जा रहा है, लेकिन वर्षा से प्राप्त पानी में कोई वृद्धि नहीं होती। ऐसी स्थिति में पानी को लेकर तीन प्रकार की समस्याएं हैं :

(क) पानी को नष्ट होने से बचाना,

(ख) पानी को प्रदूषण से बचाना,

(ग) प्रदूषित तथा इस्तेमाल किए गये पानी को शुद्ध कर उसे फिर से प्रयोग के योग्य करना।

इनमें भी पानी के प्रदूषित होने की समस्या सबसे अधिक गम्भीर रूप ले रही है। उदाहरण के लिए, धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भारत की सबसे अधिक पवित्र नदियां गंगा और यमुना आज सबसे अधिक प्रदूषित हैं। धार्मिक अंधविश्वास, स्नान और अस्थि विसर्जन भी नदियों के प्रदूषण का एक प्रमुख कारण है। बड़े शहरों की समस्या और गम्भीर है। जल-मल निकासी की उचित व्यवस्था न होने के कारण सारी गन्दगी नालों के माध्यम से समीपवर्ती नदियों में पहुंचती है और प्रदूषण का कारण बनती है।

अब तो समुद्र भी प्रदूषण से मुक्त नहीं है। समुद्रों में जहाजरानी, आणविक अस्त्रों के परीक्षण तथा समुद्र में फेंकी गई गन्दगी के कारण प्रदूषण होता है। अतः नदियों और अन्य जलीय स्रोतों के जल को प्रदूषित होने से बचाने के लिए हमें हर सम्भव चेष्टा करनी होगी। नागरिकों का दायित्व है कि नदियों और अन्य जलीय स्रोतों में गन्दगी न गिराई जाए। यदि हम अपने लिए और प्रकृति के लिए स्वस्थता की स्थिति चाहते हैं, तो हमें पानी की विशुद्धता को बनाए रखने के लिए हर सम्भव चेष्टा करनी होगी।

4. परिवहन के साधनों के सम्बन्ध में उचित व्यवस्था—परिवहन के साधन वायु प्रदूषण और ध्वनि प्रदूषण के प्रमुख कारण हैं। भारत और अन्य अनेक देशों में ऐसे वाहन भी सड़कों पर दौड़ रहे हैं, जो अब कूड़े-करकट में फेंके जाने योग्य हैं। ऐसे सभी वाहनों को सड़कों से अलग किया जाना चाहिए, जो अनावश्यक रूप से अधिक कार्बन छोड़कर वायुमण्डल को प्रदूषित करते हैं। सड़क परिवहन के प्रसंग में 'ध्वनि नियन्त्रण' के लिए उचित व्यवस्था की जानी चाहिए।

5. दैनिक जीवन में पर्यावरण की सुरक्षा—हमें अपने दैनिक जीवन में पर्यावरण की सुरक्षा से सम्बन्धित प्रत्येक बात पर पूरा ध्यान देना होगा। प्रतिक्षण स्वच्छता की स्थिति को अपनाकर प्रकृति को स्वस्थ बनाये रखने की चेष्टा करनी होगी। सार्वजनिक स्थानों पर धूम्रपान, आदि स्थितियों को अपनाने से दूर रहना होगा। नागरिकों का दायित्व हो जाता है कि कूड़ा-करकट, रद्दी एवं निष्प्रयोज्य पदार्थों को यथास्थान इकट्ठा करें। कूड़ा-करकट को यौगिक खादों में परिवर्तित कर कचरे की समस्या हल की जा सकती है। हमें अपने दिन-प्रतिदिन के कार्यक्षेत्र में ऐसे आचरण को अपनाना होगा, जिससे हम पर्यावरण सन्तुलन और मानव कल्याण में सहयोगी हो सकें।

6. जन जागरूकता अभियान—पर्यावरण प्रदूषण एक वैश्विक समस्या है। नागरिकों में इसके प्रति जागरूकता उत्पन्न करना आवश्यक है। पर्यावरण की रक्षा के लिए स्वयं सेवी संस्थाओं, सरकार, मीडिया, शिक्षण संस्थाओं द्वारा राष्ट्रीय व वैश्विक स्तर पर जन अभियान चलाए जाने की आवश्यकता है।

नागरिकों का दायित्व हो जाता है कि वे पर्यावरण की सुरक्षा को अपने जीवन और अपने नित्य-कार्य में पूरी निष्ठा के साथ अपनावें। यदि हमने प्रकृति के साथ खिलवाड़ की स्थिति को बनाये रखा, तो प्रकृति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समस्त मानव जाति को भीषण दण्ड देगी। भारत में पर्यावरण की दृष्टि से अन्य देशों की तुलना में भी विकट स्थिति है। जंगल नष्ट हो रहे हैं, जलीय संस्थान दूषित हो रहे हैं, भूमि की उर्वरा शक्ति में कमी आ रही है तथा अनियोजित औद्योगिक विकास वायुमण्डल को गम्भीर रूप से प्रदूषित कर रहा है। चैरनोबिल दुर्घटना और भोपाल गैस त्रासदी इस बात की साक्षी है कि पर्यावरण के प्रसंग में अपनाई गई गम्भीर लापरवाही कितनी अधिक भयानक स्थितियों को जन्म दे सकती है। हमें पर्यावरण की सुरक्षा को गम्भीर धार्मिक दायित्व के रूप में अपनाना होगा। हमारी अपनी सन्तति और समस्त मानव जाति की रक्षा के लिए ऐसा करना नितान्त आवश्यक हो गया है। पर्यावरण की दृष्टि से सर्वोच्च न्यायालय ने सुझाव दिया है कि 'पर्यावरण की रक्षा के लिए पर्यावरण कानूनों में आवश्यक परिवर्तन किए जाने चाहिए' और 'पर्यावरण अदालतें स्थापित की जानी चाहिए।' इसके साथ ही नागरिकों को पर्यावरण की सुरक्षा के प्रति अपने दायित्व धार्मिक निष्ठा के साथ निभाने होंगे, इसी में सबका कल्याण निहित है।

वस्तुतः पर्यावरण और विकास में सन्तुलन स्थापित किए जाने की आवश्यकता है। आर्थिक और वैज्ञानिक विकास आवश्यक है, लेकिन यह समस्त कार्य ऐसे तरीके से किया जाना चाहिए कि पर्यावरण की रक्षा सम्भव हो सके। पर्यावरण के सम्बन्ध में जन-जन के मस्तिष्क में जिस प्रकार की चेतना उत्पन्न होनी चाहिए, वैसी व्यापक चेतना अब तक भी उत्पन्न नहीं हो सकी है। सम्पूर्ण मानवता के भविष्य के लिए इस सम्बन्ध में चेतना उत्पन्न किए जाने की आवश्यकता है।

अधिकार और कर्तव्य का सम्बन्ध

अधिकार और कर्तव्य दोनों ही सार्वजनिक मांगें हैं और एक व्यक्ति के अधिकार दूसरे व्यक्तियों के कर्तव्य-पालन पर ही निर्भर करते हैं। वाइल्ड के शब्दों में कहा जा सकता है कि **"अधिकारों का महत्व कर्तव्यों के संसार में ही है।"**[1] अधिकार और कर्तव्य दोनों की ही सामाजिकता पर बल देते हुए डॉ. बेनीप्रसाद ने लिखा है कि **"दोनों ही सामाजिक हैं और दोनों ही तत्वतः सही जीवन की शर्तें हैं जो समाज के सभी व्यक्तियों को प्राप्त होनी चाहिए।"**

साधारणतया अधिकार और कर्तव्यों को एक-दूसरे का विरोधी समझा जाता है। अधिकार का आशय लिया जाता है कि कोई विशेष व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को किसी प्रकार का कार्य करने के लिए बाध्य कर सकता है। इस प्रकार अधिकार का अभिप्राय लाभ उठाने से लिया जाता है। कर्तव्य का तात्पर्य है दूसरों के लिए कोई कार्य करना और इस कारण इसे व्यक्तिगत हानि के रूप में समझा जाता है, किन्तु इस प्रकार का दृष्टिकोण मिथ्या एवं भ्रमात्मक है। वस्तुतः अधिकार और कर्तव्य एक-दूसरे के पूरक हैं और एक के अभाव में दूसरे की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। डॉ. बेनीप्रसाद ने ठीक ही कहा है कि, **"अधिकार और कर्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यदि व्यक्ति उन्हें अपने दृष्टिकोण से देखता है तो अधिकार है और इसी को दूसरों के दृष्टिकोण से देखता है तो वे कर्तव्य हो जाते हैं।"**[2]

अधिकार और कर्तव्य का पारस्परिक सम्बन्ध निम्न रूपों में स्पष्ट किया जा सकता है :

(1) एक व्यक्ति का अधिकार दूसरे व्यक्ति का कर्तव्य है—अधिकार एक व्यक्तिगत प्रश्न नहीं वरन् आवश्यक रूप से एक सामाजिक प्रश्न है। सहयोग के द्वारा ही अधिकार अस्तित्व में आते हैं और संहयोग के द्वारा ही उनका उपयोग किया जा सकता है। वस्तुतः एक व्यक्ति का अधिकार समाज के दूसरे व्यक्तियों का कर्तव्य होता है और व्यक्ति के अधिकार इस बात पर निर्भर करते हैं कि समाज के दूसरे व्यक्ति उसके प्रति अपने कर्तव्य का किस सीमा तक पालन करते हैं। उदाहरण के लिए, मैं अपने विचार और भाषण की स्वतन्त्रता के अधिकार का उसी समय उपयोग कर सकता हूं जबकि दूसरे लोग मेरे इस कार्य में किसी प्रकार की बाधा न डालें।

(2) व्यक्ति का अधिकार उसका यह कर्तव्य निश्चित करता है कि वह दूसरों के समान अधिकार को स्वीकार करे—अधिकार समाज के सभी व्यक्तियों को समान रूप से प्राप्त होते हैं और ऐसी परिस्थितियों में व्यक्ति का

1 "It is only in a world of duties, that rights have significance."
2 "They are two aspects of the same thing. If one looks at them from one's own stand point, they are rights. If one looks at them from the stand point of others, they are duties."
—*Dr. Beni Prasad*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिकार उसका यह कर्तव्य निश्चित करता है कि वह दूसरे व्यक्तियों के इसी प्रकार के समान अधिकार को स्वीकार करे। यदि मुझे सम्पत्ति का अधिकार है तो इस अधिकार के साथ ही मेरा यह कर्तव्य हो जाता है कि मैं दूसरे व्यक्तियों की सम्पत्ति को नष्ट करने का प्रयत्न न करूं। डॉ. बेनीप्रसाद ने ठीक ही कहा है कि "यदि प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने अधिकार का ही ध्यान रखे तथा दूसरों के प्रति कर्तव्यों का पालन न करे तो शीघ्र ही किसी के लिए भी अधिकार नहीं रहेंगे।"

(3) नागरिक का अधिकार राज्य का कर्तव्य—अधिकार की परिभाषा करते हुए कहा जाता है कि अधिकार व्यक्ति का वह दावा है कि जिसे समाज स्वीकार करता है और राज्य लागू करता है। इस प्रकार व्यक्ति के अधिकार राज्य के अधिकारों को लागू करने की क्षमता और तत्परता पर निर्भर करते हैं। यदि किसी व्यक्ति के अधिकारों में कोई दूसरा व्यक्ति या सरकारी अधिकारी बाधक सिद्ध होता है तो राज्य का कर्तव्य हो जाता है कि उसे दण्ड दे और इस प्रकार व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करे।

अधिकार और कर्तव्य का सम्बन्ध
(1) एक व्यक्ति का अधिकार दूसरे व्यक्ति का कर्तव्य है
(2) व्यक्ति का अधिकार उसका यह कर्तव्य निश्चित करता है कि वह दूसरों के समान अधिकार को स्वीकार करे
(3) नागरिक का अधिकार राज्य का कर्तव्य
(4) व्यक्ति का अधिकार समाज के प्रति उसका कर्तव्य है
(5) व्यक्ति के अधिकार राज्य के प्रति उसके कर्तव्य निर्धारित करते हैं

(4) व्यक्ति का अधिकार समाज के प्रति उसका कर्तव्य है—राज्य के द्वारा व्यक्ति को अधिकार प्रदान करने का उद्देश्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास और सामूहिक रूप से सम्पूर्ण समाज की उन्नति होता है। अतः व्यक्ति का अधिकार उसका यह कर्तव्य निश्चित करता है कि उसका उपयोग इन्हीं लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किया जाय। अधिकार का उचित ढंग से प्रयोग करना व्यक्ति का प्रथम कर्तव्य हो जाता है। राज्य के द्वारा विचार और भाषण की स्वतन्त्रता का अधिकार मुझे स्वयं अपनी और सम्पूर्ण समाज की उन्नति के लिए दिया गया है और यदि मेरे द्वारा इस अधिकार का प्रयोग किसी दूसरे व्यक्ति की मानहानि, न्यायालय के अपमान या सदाचार के नियमों के विरुद्ध किया जाय, तो मेरे इस अधिकार को भी सीमित किया जा सकता है और विशेष परिस्थितियों में इस अधिकार को समाप्त किया जा सकता है।

(5) व्यक्ति के अधिकार राज्य के प्रति उसके कर्तव्य निर्धारित करते हैं—राज्य के द्वारा व्यक्ति को जीवन, स्वतन्त्रता, शिक्षा और सम्पत्ति का अधिकार प्रदान किया जाता है और राज्य इस बात की व्यवस्था करता है कि व्यक्ति व्यवहार में इन अधिकारों का उपभोग कर सके। इस प्रकार राज्य व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा और व्यवस्था के जो कार्य करता है, उन कार्यों के बदले में व्यक्ति का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह राज्य का समर्थन और सहयोग करे, राज्य के प्रति भक्ति और निष्ठा रखे और संकट की स्थिति में राज्य के लिए प्रत्येक प्रकार का त्याग करने को तत्पर रहे।

इस सम्बन्ध में जैक (Jelk) महोदय का कथन है कि "प्रत्येक नागरिक को यह स्मरण रखना चाहिए कि समस्त अधिकारों के ऊपर उसका यह अधिकार है कि वह अपने कर्तव्यों का पालन करे।"[1]

भारतीय संविधान में 1975 ई. तक तो नागरिकों के मौलिक अधिकारों का ही उल्लेख था, लेकिन यह अनुभव किया गया कि अधिकारों के साथ-साथ कर्तव्यों का भी संविधान में उल्लेख होना चाहिए। अतः 1976 में 42वें संवैधानिक संशोधन के आधार पर नागरिकों के दस मूल कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों को स्थान दिया गया है। 86वें संविधान संशोधन (2002) द्वारा एक कर्तव्य इस सूची में बढ़ाया गया है। भारतीय संविधान में की गयी यह व्यवस्था अधिकार और कर्तव्य के परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध को ही स्पष्ट करती है। यद्यपि इन कर्तव्यों के पीछे स्वतः कोई बाध्यकारी शक्ति नहीं है, लेकिन पृथक् कानून बनाकर मौलिक कर्तव्यों को बाध्यकारी बनाया जा सकता है। पूर्व सोवियत संघ, जापान, चीन और अन्य अनेक देशों के संविधान में अधिकारों के साथ-साथ कर्तव्यों का भी उल्लेख किया गया है।

1 "Every citizen must remember that he has a right to duty above all other rights." —*Jelk*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुतः अधिकार और कर्तव्य परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। अधिकार कर्तव्य का तथा कर्तव्य अधिकार का प्रतिबिम्ब-मात्र होता है। एक के अन्त से दोनों का ही अस्तित्व समाप्त हो जाता है। विश्व में बढ़ती हुई ईर्ष्या, द्वेष, कलह, घृणा और असन्तोष का एकमात्र कारण यह है कि व्यक्ति अपने अधिकारों का तो उपभोग करना चाहते हैं, लेकिन कर्तव्यपालन के प्रति उदासीन हैं। सामाजिक जीवन को सुव्यवस्थित रूप प्रदान करने का एकमात्र उपाय यह है कि व्यक्ति पूर्ण निष्ठा के साथ कर्तव्यपालन करे। प्रो. गोल्ड ने कहा है कि "हमारा एकमात्र अधिकार अपने कर्तव्यों का पालन है।"[1] महात्मा गांधी के शब्दों में कहा जा सकता है कि "कर्तव्य का पालन कीजिए और अधिकार स्वतः ही आपको मिल जायेंगे।"[2]

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (प्रत्येक प्रश्न 6 अंक का, उत्तर लगभग 300 शब्दों में दीजिए)

1. कर्तव्य की परिभाषा कीजिए। नागरिक के प्रमुख कर्तव्य कौन-कौन से हैं?
2. नागरिक जीवन में अधिकारों का क्या महत्व है? इस कथन को समझाइए कि कर्तव्यों के संसार में ही अधिकारों का उपभोग सम्भव है।
3. "अधिकार के अस्तित्व के लिए कर्तव्यों का होना आवश्यक है।" इस कथन को समझाइए।
4. अधिकार का अर्थ समझाइए। इसके विभिन्न प्रकार कौन-कौन से हैं?
5. अधिकार से आप क्या समझते हैं? समानता तथा स्वतन्त्रता के अधिकारों के सम्बन्ध का विवेचन कीजिए।
6. अधिकार से क्या तात्पर्य है? लोकतन्त्र में उपलब्ध नागरिकों के अधिकारों का वर्गीकरण कीजिए और उनका वर्णन कीजिए।
7. नागरिकों के अधिकारों एवं कर्तव्यों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए? (उ.प्र., 2010)
8. प्राकृतिक पर्यावरण की सुरक्षा में नागरिकों की भूमिका का उल्लेख कीजिए। (उ.प्र., 2010)

लघु उत्तरीय प्रश्न

(अ) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 50 शब्दों में दीजिए (2 अंक)।

1. अधिकार किसे कहते हैं?
2. अधिकार कितने प्रकार के होते हैं?
3. कानूनी अधिकार को मुख्य रूप से कितने भागों में बांटा जा सकता है?
4. राजनीतिक अधिकार किसे कहते हैं?
5. कर्तव्य किसे कहते हैं?
6. कर्तव्यों के भेद बताइए।

(ब) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिए (4 अंक)।

7. चार प्रमुख राजनीतिक अधिकारों के नाम बताइए।
   अथवा, राजनीतिक अधिकारों के भेद बताइए।
8. कानून का पालन करना क्यों आवश्यक है? सकारण उत्तर दीजिए। (उ.प्र., 2010)
9. अधिकारों की मानव जीवन में क्या उपयोगिता तथा महत्व है?
10. दो दृष्टान्त देते हुए बताइए कि अधिकार तथा कर्तव्य एक-दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं।
11. पर्यावरण की रक्षा हेतु नागरिकों के क्या कर्तव्य हैं?

अति लघु उत्तरीय प्रश्न [प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का, उत्तर दस शब्द (एक वाक्य) में]

प्रश्न 1—अधिकारों के दो प्रमुख भेद बताइए।
उत्तर—अधिकारों के दो प्रमुख भेद हैं—(1) सामाजिक या नागरिक अधिकार, तथा (2) राजनीतिक अधिकार।
प्रश्न 2—नागरिकों के कोई दो राजनीतिक अधिकार बताइए। (उ.प्र., 2010)
अथवा, दो प्रमुख राजनीतिक अधिकारों के नाम बताइए।
उत्तर—दो प्रमुख राजनीतिक अधिकार हैं—(1) मत देने का अधिकार, तथा (2) निर्वाचित होने का अधिकार।

1 "Our only right is to do our duties."
2 "Perform your duties and rights will come automatically to you." —F. G. Gould —M. Gandhi

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न 3—कर्तव्यों के दो प्रमुख भेद बताइए।
उत्तर—कर्तव्यों के दो प्रमुख भेद हैं—(1) नैतिक कर्तव्य, तथा (2) कानूनी कर्तव्य।

प्रश्न 4—नागरिकों के दो प्रमुख कर्तव्य बताइए।
उत्तर—नागरिकों के दो प्रमुख कर्तव्य हैं—(1) राज्य के प्रति भक्ति, और (2) राज्य के द्वारा बनाये गये कानूनों का पालन करना।

प्रश्न 5—दो मानव अधिकारों को लिखिए।
उत्तर—दो मानव अधिकार—(1) जीवन का अधिकार, (2) स्वतन्त्रता का अधिकार।

प्रश्न 6—पर्यावरण की सुरक्षा का आशय क्या है?
उत्तर—पर्यावरण की सुरक्षा का आशय है—प्रकृति द्वारा प्रदत्त समस्त वातावरण की सुरक्षा।

प्रश्न 7—पर्यावरण की सुरक्षा के कोई दो उपाय बताइए। (उ.प्र., 2010)
उत्तर—(1) जनसंख्या की रोकथाम हेतु सभी सम्भव प्रयत्न, (2) वनों, पेड़-पौधों और वनस्पति जगत की रक्षा तथा वृद्धि।

प्रश्न 8—दो सामाजिक अधिकार बताइए।
उत्तर—दो सामाजिकअधिकार—(1) समानता का अधिकार, (2) स्वतन्त्रता का अधिकार।

बहुविकल्पीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों में चार विकल्प दिए गए हैं। उनमें से एक सही विकल्प छांटकर लिखिए :

1. "अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियां हैं जिनके अभाव में सामान्यतया कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर पाता है।" यह कथन किस विचारक का है :
   (अ) लास्की का (ब) वाइल्ड का
   (स) बोसांके का (द) डॉ. बेनीप्रसाद का

2. अधिकार का आवश्यक लक्षण है :
   (अ) अधिकार के लिए सामाजिक स्वीकृति आवश्यक है
   (ब) लोकहित में प्रयोग
   (स) राज्य का संरक्षण
   (द) उपर्युक्त सभी

3. "अधिकार वह मांग है जिसे समाज स्वीकार करता और राज्य लागू करता है।" यह कथन किस विचारक का है :
   (अ) लास्की का (ब) बोसांके का
   (स) वाइल्ड का (द) जैफरसन का

4. निम्नलिखित में से कौन-सा सामाजिक या नागरिक अधिकार है :
   (अ) समानता का अधिकार (ब) स्वतन्त्रता का अधिकार
   (स) सम्पत्ति का अधिकार (द) इनमें से सभी

5. निम्नलिखित में से कौन-सा राजनीतिक अधिकार से सम्बन्धित है :
   (अ) मत देने का अधिकार (ब) निर्वाचित होने का अधिकार
   (स) रोजगार का अधिकार (द) सार्वजनिक पद ग्रहण करने का अधिकार

6. 'राजनीतिक दायित्व के सिद्धान्त' पुस्तक की रचना किसने की थी :
   (अ) लास्की (ब) टी. एच. ग्रीन
   (स) महात्मा गांधी (द) बेंथम

7. "व्यक्ति का सर्वोच्च कर्तव्य अपनी अन्तरात्मा के प्रति होता है।" यह कथन किसका है :
   (अ) बेंथम का (ब) जे. एस. मिल का
   (स) महात्मा गांधी का (द) लास्की का

8. निम्नलिखित में से कौन-सा कानूनी कर्तव्य नहीं है :
   (अ) कानूनों का पालन (ब) सत्य बोलना
   (स) राज्य के प्रति भक्ति (द) कर देना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

9. पर्यावरण की सुरक्षा की दृष्टि से नागरिकों द्वारा कौन-सा प्रयास किया जाना चाहिए :
(अ) जनसंख्या की रोकथाम हेतु सभी सम्भव प्रयत्न
(ब) वनों, पेड़-पौधों और वनस्पति जगत की रक्षा तथा वृद्धि
(स) नदियों और जलीय स्रोतों की रक्षा तथा उनकी स्वच्छता एवं विशुद्धता को बनाए रखना
(द) उपर्युक्त सभी

10. "अधिकारों का महत्व कर्तव्यों के संसार में ही है।" यह कथन किसका है :
(अ) लास्की का (ब) वाइल्ड का
(स) डॉ. बेनीप्रसाद का (द) बोसांके का

11. किस संवैधानिक संशोधन द्वारा भारतीय संविधान में मूल कर्तव्यों की व्यवस्था की गई है :
(अ) 42वें संशोधन द्वारा (ब) 43वें संशोधन द्वारा
(स) 44वें संशोधन द्वारा (द) 45वें संशोधन द्वारा

12. भारतीय संविधान में नागरिकों के लिये कितने मूल कर्तव्य निर्धारित किये गये हैं :
(अ) 5 (ब) 11
(स) 15 (द) 20

13. किसने कहा था कि "कर्तव्य का पालन कीजिए और अधिकार स्वतः ही आपको मिल जाएंगे।" :
(अ) जवाहरलाल नेहरू (ब) महात्मा गांधी
(स) प्रो. गोल्ड (द) जैक

[उत्तर—1. (अ), 2. (द), 3. (ब), 4. (द), 5. (स), 6. (ब), 7. (स), 8. (ब), 9. (द), 10. (ब), 11. (अ), 12. (ब), 13. (ब)]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

6

राज्य

[STATE]

"शक्ति नहीं, वरन् इच्छा ही राज्य का आधार है।"[1] —टी. एच. ग्रीन

राज्य : अर्थ और परिभाषा

एक स्थान पर मैकाइवर ने लिखा है कि "यह आश्चर्य की बात है कि राज्य जैसे स्पष्ट शब्द की परिभाषाएं विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की हैं।" राज्य के सम्बन्ध में इस प्रकार की विभिन्नता का कारण यह है कि राज्य के संगठन, उद्देश्य और कार्यों के सम्बन्ध में अलग-अलग समय पर विभिन्न प्रकार के विचार प्रचलित रहे हैं। अब तक राज्य की प्रमुख रूप से जो परिभाषाएं की गयी हैं, उन्हें मोटे तौर पर प्राचीन और आधुनिक—इस प्रकार के दो भागों में बांटा जा सकता है।

प्राचीन विचारकों के अनुसार—प्राचीन विचारक राज्य के दो लक्षण मानते हैं। प्रथम, राज्य व्यक्तियों का एक समुदाय है और द्वितीय, राज्य व्यक्तियों के सुख और लाभ के लिए निर्मित एक श्रेष्ठ समुदाय है। इसी विचारधारा के आधार पर अरस्तू और सिसरो ने राज्य की परिभाषा इस प्रकार की है :

अरस्तू के अनुसार, "राज्य परिवारों और ग्रामों का एक समुदाय है जिसका उद्देश्य पूर्ण और आत्मनिर्भर जीवन की प्राप्ति है।"

इसी प्रकार सिसरो के शब्दों में, "राज्य उस समुदाय को कहते हैं जिसमें यह भावना विद्यमान हो कि सब मनुष्यों को उस समुदाय के लाभों को परस्पर साथ मिलकर उपभोग करना है।"

आधुनिकयुगीन परिभाषाएं—प्राचीन विचारकों द्वारा राज्य को व्यक्तियों का एक समुदाय कहा गया है, लेकिन आधुनिक विचारकों के अनुसार केवल व्यक्तियों से ही राज्य का निर्माण नहीं हो जाता है, राज्य का रूप प्राप्त करने के लिए व्यक्ति एक निश्चित क्षेत्र पर भली प्रकार बसे हुए होने चाहिए और इनमें शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिए कोई राजनीतिक सत्ता होनी चाहिए। ब्लण्टशली, बुडरो विल्सन और बर्गेस के द्वारा राज्य की परिभाषा इसी दृष्टि से की गयी है।

बुडरो विल्सन के शब्दों में, "किसी निश्चित प्रदेश के भीतर कानून के लिए संगठित जनता को राज्य कहते हैं।"

ब्लण्टशली के अनुसार, "किसी निश्चित भू-प्रदेश में राजनीतिक दृष्टि से संगठित व्यक्तियों को राज्य कहा जाता है।"[2]

थोड़े समय बाद यह समझा गया कि इस प्रकार के संगठन को भी उस समय तक राज्य नहीं कहा जा सकता है, जब तक कि इस संगठन के पास सम्प्रभुता या सर्वोच्च शक्ति न हो। इस प्रकार राज्य के आवश्यक तत्वों में सम्प्रभुता को सम्मिलित किया गया और इस बात को दृष्टि में रखते हुए लास्की ने राज्य की परिभाषा करते हुए कहा है कि "राज्य एक ऐसा प्रादेशिक समाज है जो सरकार और प्रजा में विभाजित है और जो अपने निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में सभी समुदायों पर सर्वोच्च सत्ता रखता है।"

---

1 "Will, not force, is the basis of the state." —*T. H. Green*

2 "The State is a politically organized people of a definite territory." —*Bluntschli*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु प्रो. लास्की द्वारा दी गयी राज्य की परिभाषा को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह है कि सम्प्रभुता के जो दो पक्ष होते हैं—आन्तरिक पक्ष और बाहरी पक्ष—उनमें लास्की के द्वारा सम्प्रभुता के केवल आन्तरिक पक्ष का ही विवेचन किया गया है, बाहरी पक्ष का नहीं।

वस्तुतः अब तक राज्य की जो परिभाषाएं की गयी हैं उनमें फिलिमोर और गार्नर की परिभाषाएं ही सबसे अधिक मान्य हैं। ये परिभाषाएं इस प्रकार हैं :

फिलिमोर के शब्दों में, "राज्य मनुष्यों का वह समुदाय है जो एक निश्चित भू-भाग पर स्थायी रूप से बसा हुआ हो और जो एक सुव्यवस्थित सरकार द्वारा उस भू-भाग की सीमा के अन्तर्गत व्यक्तियों तथा पदार्थों पर पूरा नियन्त्रण तथा प्रभुत्व रखता हो और जिसे विश्व के अन्य किसी भी राज्य से सन्धि या युद्ध करने अथवा अन्य किसी प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार प्राप्त हो।"

फिलिमोर की इस परिभाषा में राज्य के सभी तत्वों—जनसंख्या, निश्चित भू-भाग, सरकार और आन्तरिक तथा बाहरी सम्प्रभुता—का क्रमशः उल्लेख हो गया है।

इसी प्रकार गार्नर के अनुसार, "राजनीति विज्ञान और सार्वजनिक कानून की धारणा के रूप में, राज्य संख्या में कम या अधिक व्यक्तियों का ऐसा संगठन है जो किसी प्रदेश के निश्चित भू-भाग में स्थायी रूप से रहता हो, जो बाहरी नियन्त्रण से पूर्ण स्वतन्त्र या लगभग स्वतन्त्र हो और जिसका एक ऐसा संगठित शासन हो, जिसके आदेशों का पालन नागरिकों का विशाल समुदाय स्वभावतः करता हो।"[1]

गार्नर की इस परिभाषा में भी राज्य के चारों तत्वों—जनसंख्या, भूमि, शासन एवं सम्प्रभुता—का उल्लेख होता है। 'राज्य कम या अधिक व्यक्तियों का एक ऐसा संगठन' इसमें प्रथम तत्व जनसंख्या का उल्लेख है। 'एक निश्चित भू-भाग में स्थायी रूप में रहता हो' इसमें भू-भाग का उल्लेख हो गया है। राज्य के तीसरे तत्व शासन का संकेत 'जिसका एक ऐसा संगठित शासन हो' इस वाक्यांश में किया गया है। इसी प्रकार 'जिसके आदेशों का पालन नागरिकों का विशाल समुदाय स्वभावतः करता हो' इन शब्दों में सम्प्रभुता के आन्तरिक पक्ष का और 'जो बाहरी नियन्त्रण से पूर्ण स्वतन्त्र या लगभग स्वतन्त्र हो' इन शब्दों में सम्प्रभुता के बाहरी पक्ष का उल्लेख हो जाता है।

राज्य के तत्व

राज्य के तत्व या प्रकृति के सम्बन्ध में प्राचीन भारत के राजनीतिक साहित्य (रामायण, महाभारत, मनुस्मृति, शुक्र नीति और सबसे अधिक प्रमुख ग्रन्थ कौटिल्य का अर्थशास्त्र, आदि) में भी पर्याप्त विस्तार के साथ विचार व्यक्त किये गये हैं। मनु, भीष्म, कौटिल्य और शुक्र, आदि ने राज्य को 7 अंगों वाला संगठन या 7 प्रकृति युक्त माना है। कौटिल्य के अनुसार राज्य की 7 प्रकृति या अंग इस प्रकार हैं : स्वामी (राजा), आमात्य (मन्त्री), जनपद (प्रदेश), दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र। भारतीय चिन्तन में इस विषय पर न केवल संगठन, वरन् कार्यकरण की दृष्टि से विचार करते हुए व्यापक दृष्टिकोण अपनाया गया है, लेकिन वर्तमान समय में हम इस विषय पर केवल संगठन की दृष्टि से विचार करते हैं और ऐसा करते हुए पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन को अधिक महत्व देने की परम्परा बन गयी है।

राज्य के तत्वों के सम्बन्ध में विभिन्न विचारकों द्वारा भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किये गये हैं। बिलोबी के अनुसार राज्य के तीन आवश्यक तत्व होते हैं—(1) सामाजिक दृष्टि से एकता में बंधा हुआ जनसमुदाय, (2) सरकार या शासनतन्त्र के रूप में एक राजनीतिक व्यवस्था, तथा (3) शासनाधिकारियों के कर्तव्य और अधिकारों की सीमा निश्चित करने वाले नियमों का लिखित या अलिखित संकलन। सिजविक ने राज्य के तीन आवश्यक तत्व—जनता, भू-खण्ड तथा सरकार—बताये हैं। ब्लण्टशली के अनुसार, भू-खण्ड, जनता, एकता और संगठन—राज्य के ये 4 आवश्यक तत्व हैं, लेकिन वर्तमान समय में राज्य के सम्बन्ध में डॉ. गार्नर के विचार मान्य हैं। डॉ. गार्नर के अनुसार राज्य के चार आवश्यक तत्व हैं—(1) मनुष्यों का समुदाय, (2) एक प्रदेश, जिसमें वे स्थायी रूप से रहते हैं, (3) आन्तरिक सम्प्रभुता तथा बाहरी नियन्त्रण से स्वतन्त्रता, (4) जनता

1 "State as a concept of political science and public law, is a community of persons, more or less numerous, permanently occupying a definite portion of territory, independent or nearly so of external control and possessing an organized government to which the great body of inhabitants render habitual obedience."
—*Dr. Garner*

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की इच्छा को कार्यरूप में परिणत करने हेतु एक राजनीतिक संगठन। गैटल के द्वारा भी इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया गया है और इन विद्वानों द्वारा व्यक्त विचारों के आधार पर राज्य के आवश्यक तत्वों का वर्णन निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है :

(1) जनसंख्या (Population)—मानव के सामाजिकता के गुण के आधार पर राज्य का जन्म हुआ और व्यक्तियों से मिलकर ही राज्य का निर्माण होता है। अतः सभी विद्वान जनसंख्या को राज्य के आवश्यक तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं, लेकिन एक राज्य के अन्तर्गत कितनी जनसंख्या होनी चाहिए, इस सम्बन्ध में विद्वानों के विचारों में पर्याप्त मतभेद हैं और अपनी कल्पना की आदर्श शासन-व्यवस्था तथा राज्य की शक्ति के सम्बन्ध में अपने विचारों के आधार पर विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग विचार व्यक्त किये हैं। प्लेटो, अरस्तू, रूसो, आदि विद्वान प्रत्यक्ष प्रजातन्त्रीय शासन को श्रेष्ठ समझते थे और क्योंकि प्रजातन्त्र के इस रूप को थोड़ी जनसंख्या वाले राज्य में ही अपनाया जा सकता है, अतः प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' (*Republic*) में आदर्श राज्य का चित्रण करते हुए कहा है कि एक आदर्श राज्य में 5,040 नागरिक ही होने चाहिए। अरस्तू के अनुसार राज्य की जनसंख्या न अधिक न बहुत अधिक होनी चाहिए। जनसंख्या इतनी अधिक न हो कि जीवनयापन कठिन हो जाए। जनसंख्या इतनी कम भी न हो कि राज्य को अपने कार्यों हेतु श्रेष्ठ व्यक्ति उपलब्ध न हो। इसी प्रकार रूसो के अनुसार राज्य की जनसंख्या लगभग 10 हजार होनी चाहिए। दूसरी ओर हिटलर, मुसोलिनी तथा अन्य अनेक व्यक्तियों का विचार है कि राज्य एक शक्ति है और यह शक्ति ठीक प्रकार से कार्य कर सके, इसके लिए यह आवश्यक है कि इसमें अधिकतम जनसंख्या हो।

राज्य के तत्व
(1) जनसंख्या
(2) निश्चित क्षेत्र या भू-भाग
(3) शासनतन्त्र अथवा सरकार
(4) सम्प्रभुता

वस्तुतः जनसंख्या का कम या अधिक होना बहुत अधिक महत्वपूर्ण नहीं है और एक राज्य में कितनी जनसंख्या होनी चाहिए, इसके सम्बन्ध में गार्नर के शब्दों में कहा जा सकता है कि "जनता राज्य के संगठन के निर्वाह के लिए संख्या में पर्याप्त होनी चाहिए तथा यह उससे अधिक नहीं होनी चाहिए, जितनी के लिए भू-खण्ड तथा राज्य के साधन पर्याप्त हों।" व्यवहार में जहां एक ओर भारत, चीन, रूस और अमरीका जैसे करोड़ों जनसंख्या वाले राज्य हैं तो दूसरी और सेनमेरिनो और मोनाको जैसे राज्य भी हैं, जिनकी जनसंख्या केवल कुछ हजार ही है। जनसंख्या के सम्बन्ध में संख्या की अपेक्षा गुण का प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि जनता के स्वरूप पर ही राज्य का स्वरूप निर्भर करता है।

(2) निश्चित क्षेत्र या भू-भाग (Definite Territory)—डिग्विट और सीले, आदि कुछ विद्वानों ने तो निश्चित क्षेत्र को राज्य के आवश्यक तत्व के रूप में स्वीकार नहीं किया है, किन्तु एक निश्चित क्षेत्र के अभाव में व्यक्तियों द्वारा व्यवस्थित जीवन व्यतीत नहीं किया जा सकता है, इसलिए वर्तमान समय में सभी विद्वान निश्चित क्षेत्र को राज्य के एक आवश्यक तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं। ब्लण्टशली के शब्दों में कहा गया है कि "जैसे राज्य का वैयक्तिक आधार जनता है, उसी प्रकार उसका भौतिक आधार प्रदेश है। जनता उस समय तक राज्य का रूप धारण नहीं कर सकती जब तक उसका कोई निश्चित प्रदेश न हो।"

इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि राज्य के आवश्यक तत्व के रूप में भूमि का अभिप्राय केवल भू-क्षेत्र से ही नहीं है, अपितु इसके अन्तर्गत वे सभी प्राकृतिक साधन भी सम्मिलित होते हैं जो किसी देश को स्थल, जल और वायु से प्राप्त हों अर्थात् किसी राज्य में विद्यमान नदियां, सरोवर, झीलें, खनिज पदार्थ, तट से 12 मील तक का समुद्र और वायुमण्डल सभी भूमि के अन्तर्गत आते हैं।

राज्य की भूमि का विस्तार कितना होना चाहिए इस सम्बन्ध में विद्वानों के विचारों में मतभेद है। प्लेटो, अरस्तू, डी. टाकविल और रूसो के अनुसार राज्य का क्षेत्र कम ही होना चाहिए; किन्तु वर्तमान परिस्थितियों में राज्य का क्षेत्र कम होना हानिकारक समझा जाता है। आज राज्यों का विशाल आकार शक्ति का साधन बन गया है और जनसामान्य विशाल राज्यों के पक्ष में है। इसके अतिरिक्त, कम क्षेत्र वाले राज्य आर्थिक दृष्टि से भी आत्मनिर्भर नहीं हो सकते हैं। संघवाद की व्यवस्था के कारण भी सामान्य बहुमत बड़े राज्यों के पक्ष में हो गया है। वस्तुतः राज्य के क्षेत्र की सीमा के बारे में इतना ही कहा जा सकता है कि राज्य की जनसंख्या

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और क्षेत्र के बीच कोई अनुपात अवश्य ही होना चाहिए। यदि दोनों के बीच अनुपात में बहुत अधिक अन्तर हुआ, तो राज्य राजनीतिक और आर्थिक अयोग्यता से पीड़ित होगा और उसकी प्रगति अवरुद्ध हो जायेगी।

(3) शासनतन्त्र अथवा सरकार (Government)—मानव समूह एक निश्चित क्षेत्र में जिस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संगठित होता है, वह उद्देश्य उस समय तक पूर्ण नहीं हो सकता, जब तक इन व्यक्तियों का जीवन कुछ नियमों द्वारा नियमित न हो। सरकार ही वह संस्था या साधन है जो उक्त उद्देश्यों को पूर्ण कर सकती है। इसके अतिरिक्त, सरकार ही राज्य में बसे हुए जनसमुदाय की इच्छा को कार्यरूप में परिणत कर सकती है। सरकार के अभाव में सभी लोग अपने-अपने हितों की भाषा में अलग-अलग स्वर से बोलेंगे और कोई भी निश्चित मत पर नहीं पहुंच सकेगा। इस प्रकार सरकार राज्य का अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व है।

सरकार का कोई ऐसा निश्चित रूप नहीं है जो सभी राज्यों को मान्य हो। सरकार राजतन्त्रात्मक, कुलीनतन्त्रात्मक या प्रजातन्त्रात्मक किसी भी प्रकार की हो सकती है, यद्यपि वर्तमान समय में प्रजातन्त्रात्मक सरकार दूसरे प्रकार की सरकारों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय है।

(4) सम्प्रभुता (Sovereignty)—एक निश्चित क्षेत्र में रहने वाले तथा सरकार से सम्पन्न लोग भी उस समय तक राज्य का निर्माण नहीं कर सकते, जब तक कि इनके हाथ में प्रभुसत्ता न हो। उदाहरणार्थ, 15 अगस्त, 1947 के पूर्व भारत की अपनी जनसंख्या, क्षेत्र और सरकार थी, किन्तु भारत राष्ट्र स्वयं प्रभुसत्तासम्पन्न न होने के कारण राज्य नहीं था। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत को सम्प्रभुता प्राप्त हुई और तभी भारत एक राज्य हुआ।

राज्य की सम्प्रभुता से हमारा तात्पर्य है कि राज्य आन्तरिक रूप में उच्चतम हो अर्थात् अपने क्षेत्र में स्थित सभी व्यक्तियों और समुदायों को आज्ञा प्रदान कर सके और वह बाहरी नियन्त्रण से मुक्त हो अर्थात् दूसरे राज्यों के साथ अपनी इच्छानुसार सम्बन्ध स्थापित कर सके, किन्तु, यदि कोई राज्य स्वेच्छा से अपने ऊपर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध स्वीकार कर लेता है, तो इससे राज्य की सम्प्रभुता समाप्त नहीं हो जाती है। उदाहरण के लिए, संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता से विभिन्न राज्यों की सम्प्रभुता सीमित नहीं हुई है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक राज्य के अन्तर्गत जनसंख्या, निश्चित प्रदेश, नियमपूर्वक स्थापित सरकार और सम्प्रभुता होनी चाहिए। इनमें से किसी एक तत्व के अभाव में उस संगठन को राज्य नहीं कहा जा सकता है।

फिर भी यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि राज्य के चारों तत्वों में सम्प्रभुता ही सबसे महत्वपूर्ण तत्व है, क्योंकि लास्की के शब्दों में यही वह तत्व है जो राज्य को दूसरे समुदायों से अलग करता है।

गार्नर द्वारा इन चार तत्वों के अतिरिक्त राज्य का एक पांचवां तत्व भी बताया गया है और वह है जनता का स्वाभाविक आज्ञा-पालना प्रो. विलोबी भी इसे राज्य का एक आवश्यक तत्व बताते हैं; लेकिन आज्ञा-पालन स्वाभाविक है अथवा नहीं व्यवहार में यह निश्चित कर पाना बहुत अधिक कठिन हो जाता है।

क्या संघ राज्य की इकाइयां या संयुक्त राष्ट्रसंघ राज्य है?

भारतीय संविधान के अन्तर्गत कश्मीर, पश्चिम बंगाल या भारतीय संघ की दूसरी इकाइयों के लिए राज्य शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका के संघ की 50 इकाइयों के लिए भी राज्य शब्द का प्रयोग किया जाता है, किन्तु राज्य शब्द का इस रूप में प्रयोग करना त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि संघ की इन इकाइयों में राज्य का निर्माण करने वाले प्रथम तीन तत्व तो पूर्ण रूप से उपस्थित हैं, किन्तु इनकी आन्तरिक सम्प्रभुता सीमित होती है और इन्हें बाहरी सम्प्रभुता प्राप्त नहीं होती है। अतः सम्प्रभुता के अभाव के कारण इन्हें राज्य नहीं कहा जा सकता है।

इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ को भी राज्य नहीं कहा जा सकता है। यह ठीक है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के अनेक अंग हैं और इसके पास निश्चित क्षेत्र भी है, किन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ के पास न तो अपनी जनसंख्या है और न ही अपनी प्रभुसत्ता। हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि संयुक्त राष्ट्रसंघ एक अन्तर्राष्ट्रीय राज्य नहीं है, यह तो स्वतन्त्र राज्यों का एक स्वैच्छिक संघ (Voluntary Union) है। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ भी एक राज्य नहीं है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य तथा अन्य संस्थाओं में अन्तर

साधारण रूप से जनता प्रायः राज्य, समाज, शासन तथा राष्ट्र आदि शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग करती है, लेकिन वस्तुतः राज्य समाज, समुदाय, सरकार और राष्ट्र से भिन्न है। इस अन्तर को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है :

राज्य और समाज में अन्तर

राज्य और समाज में निम्नलिखित अन्तर हैं :

	राज्य (State)	समाज (Society)
1.	राज्य का कार्य-क्षेत्र समाज की तुलना में सीमित है।	समाज का कार्य-क्षेत्र व्यापक है।
2.	राज्य के लिए एक निश्चित भू-भाग आवश्यक है।	समाज के लिए निश्चित भू-भाग आवश्यक नहीं।
3.	राज्य में प्रभुत्व शक्ति होती है।	समाज में प्रभुत्व शक्ति नहीं होती।
4.	राज्य के पास सरकार होती है।	समाज के पास सरकार नहीं होती।
5.	राज्य के नियमों का पालन न करने पर दण्ड मिलता है।	समाज के नियमों का पालन व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करता है।
6.	राज्य के संगठन में एकता होती है।	समाज का संगठन बहुमुखी होता है।
7.	राज्य के चार आवश्यक तत्व होते हैं।	समाज के आवश्यक तत्व मूलतः दो ही हैं—व्यक्ति और उनके बीच आपसी सम्बन्ध।

राज्य और समुदाय में अन्तर

राज्य और समुदाय में निम्नलिखित अन्तर हैं :

	राज्य (State)	समुदाय (Association)
1.	राज्य की सदस्यता अनिवार्य है।	समुदाय की सदस्यता ऐच्छिक है।
2.	राज्य का एक निश्चित क्षेत्र होता है।	समुदाय का क्षेत्र निश्चित नहीं होता है।
3.	मनुष्य एक समय पर एक ही राज्य का सदस्य हो सकता है।	मनुष्य एक ही समय में अनेक समुदायों का सदस्य हो सकता है।
4.	राज्य प्रभुसत्ता-सम्पन्न समुदाय है।	समाज में सम्प्रभुता नहीं होती उसकी शक्ति का आधार नैतिकता है।
5.	राज्य एक स्थायी संस्था है।	समुदाय एक अस्थायी संगठन है।
6.	राज्य के नियमों की अवहेलना करने पर व्यक्ति को दण्ड मिलता है।	समाज की अवहेलना करने पर बाध्यकारी दण्ड नहीं दिया जा सकता। समाज नैतिक शक्ति के आधार पर कार्य करता है।
7.	राज्य को कर (टैक्स) लगाने का अधिकार है।	समुदाय को कर लगाने का अधिकार नहीं होता।
8.	राज्य का उद्देश्य व्यापक है।	समुदायों का उद्देश्य सामान्यतया सीमित और निश्चित होता है।

राज्य और सरकार में अन्तर

सरकार राज्य का एक प्रमुख तत्व है। प्रायः लोग राज्य और सरकार को एक ही वस्तु समझते हैं। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि राज्य और सरकार में निम्नलिखित प्रमुख अन्तर हैं :

	राज्य (State)	सरकार (Government)
1.	राज्य एक स्थायी संस्था है। यह सदैव बना रहता है।	सरकार अस्थायी है और यह समय-समय पर जनता की इच्छानुसार अथवा अन्य कारणों से बदलती रहती है।
2.	राज्य एक अमूर्त संस्था है। यह एक कल्पना मात्र है।	सरकार का साकार रूप होता है। उसको हम जान सकते या देख सकते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3.	राज्य एक व्यापक शब्द है। राज्य में शासक वर्ग और शासित जन-समूह दोनों ही शामिल हैं।	सरकार राज्य का एक अंग है। सरकार में केवल शासक वर्ग ही रहता है।
4.	सभी राज्यों के लक्षण समान होते हैं।	सभी सरकारें एकसमान नहीं होतीं।
5.	राज्य प्रभुत्व-सम्पन्न संस्था है। व्यक्ति इसका विरोध नहीं कर सकते।	यदि सरकार के कार्य जनहित में नहीं हों तो नागरिक सरकार का विरोध कर सकते हैं।
6.	राज्य का वर्तमान स्वरूप विकास का परिणाम है।	सरकार मनुष्य निर्मित होती है। यह विकास का परिणाम नहीं होती।
7.	राज्य के अधिकार मौलिक हैं।	सरकार के अधिकार मौलिक नहीं हैं।

राज्य और राष्ट्र में अन्तर

राज्य और राष्ट्र अपने आप में मिलते-जुलते शब्द हैं। बहुत-से लोग राज्य और राष्ट्र में कोई अन्तर नहीं मानते हैं, परन्तु यह गलत है। राज्य और राष्ट्र में निम्नलिखित प्रमुख अन्तर हैं :

	राज्य (State)	राष्ट्र (Nation)
1.	राज्य में प्रभुसत्ता होती है। यह बल-पूर्वक नागरिकों से आज्ञापालन करा सकता है।	राष्ट्र में सम्प्रभुता नहीं होती यह एकता की भावना के आधार पर अस्तित्व में आता है।
2.	राज्य में एक संगठित सरकार होती है।	राष्ट्र में संगठित सरकार का होना अनिवार्य नहीं है।
3.	राज्य का निर्माण एक निश्चित भू-भाग पर होता है।	राष्ट्र के लिए एक निश्चित भू-भाग की आवश्यकता नहीं है।
4.	राज्य सदैव वाह्य नियन्त्रण से मुक्त होता है।	राष्ट्र पर वाह्य नियन्त्रण हो भी सकता है।
5.	राज्य के लिए पारस्परिक एकता की भावना का होना आवश्यक है।	राष्ट्र का आधार ही पारस्परिक एकता की भावना है।
6.	राज्य एक राजनीतिक व विधिक अवधारणा है।	राष्ट्र एक सांस्कृतिक व मनोवैज्ञानिक अवधारणा है।

वस्तुतः राज्य सम्पूर्ण अर्थों में एक राजनीतिक संगठन ही है, राष्ट्र में सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक एकता का तत्व बहुत प्रमुख होता है।

राज्य के कार्य

राज्य सभ्य जीवन की अनिवार्य दशा है। राज्य सभी समुदायों में अपेक्षाकृत अधिकतम महत्वपूर्ण समुदाय है। राज्य के कार्य उसके उद्देश्य के अनुसार निर्धारित किए जाते हैं। आधुनिक काल में राज्य के बदलते हुए स्वरूप के साथ-साथ उसके कार्यों में अपार वृद्धि हुई है। राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में कई विचारधाराएं अथवा सिद्धान्त प्रचलित हैं जो इस प्रकार हैं :

(1) अराजकतावादी सिद्धान्त—अराजकतावादी सिद्धान्त के समर्थक राज्य के विरोधी हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य निरर्थक है। अतः इसका अस्तित्व ही नहीं होना चाहिए।

(2) व्यक्तिवादी सिद्धान्त—व्यक्तिवादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक आवश्यक बुराई है। अपराधों को रोकने के लिए राज्य का अस्तित्व आवश्यक है। राज्य का प्रमुख कार्य अपराधों को रोकना तथा बाहरी आक्रमणों से देश की रक्षा करना है।

(3) उपयोगितावादी सिद्धान्त—उपयोगितावादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य को उन सभी कार्यों को करना चाहिए जो व्यक्ति और समाज दोनों के लिए उपयोगी हों।

(4) आदर्शवादी सिद्धान्त—आदर्शवादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य मानवीय जीवन का सर्वोत्तम रूप है। इसका मानवीय जीवन पर पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य अपने आप में एक साध्य है।

(5) समाजवादी सिद्धान्त—समाजवादी सिद्धान्त व्यक्तिवादी सिद्धान्त का विरोधी है। इस सिद्धान्त के समर्थकों के अनुसार व्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता तथा विकास के लिए यह आवश्यक है कि समाज के प्रत्येक क्षेत्र में राज्य का अधिकार हो।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (प्रत्येक प्रश्न 6 अंक का, उत्तर लगभग 300 शब्दों में दीजिए)

1. "राज्य सभ्य जीवन की अनिवार्य दशा है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।
2. राज्य की परिभाषा कीजिए। राज्य एवं समाज का अन्तर स्पष्ट कीजिए।
3. राज्य की परिभाषा कीजिए और उसके तत्वों की विवेचना कीजिए। (उ.प्र., 2010)
4. राज्य के स्वरूप का विश्लेषण कीजिए तथा राज्य व सरकार के बीच अन्तर बताइए।
5. राज्य का सामाजिक जीवन में क्या महत्व है? राज्य तथा अन्य समुदायों के मध्य अन्तर बताइए।
6. राज्य की परिभाषा दीजिए तथा उसके आवश्यक तत्वों का वर्णन कीजिए। क्या 1947 के पहले भारत एक राज्य था? (उ.प्र., 2010)

लघु उत्तरीय प्रश्न

(अ) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 50 शब्दों में दीजिए (2 अंक)।

1. राज्य की सर्वोत्तम परिभाषा किस विद्वान की है?
2. राज्य वाह्य आक्रमणों से नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा किस प्रकार करता है?
3. राज्य आर्थिक विकास में किस प्रकार सहायक सिद्ध होता है?
4. राज्य के चार अनिवार्य तत्व कौन-कौन से हैं? सबसे महत्वपूर्ण तत्व कौन है?
5. तर्क देकर बताइए कि उत्तर प्रदेश एक राज्य है अथवा नहीं?

(ब) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिए (4 अंक)।

6. राज्य व राष्ट्र में कोई चार अन्तर बताइए। (उ.प्र., 2010)
7. राज्य और सरकार के मध्य चार अन्तर स्पष्ट कीजिए।
8. राज्य और समाज के मध्य चार अन्तर स्पष्ट कीजिए।
9. राज्य और समुदाय के मध्य चार अन्तर स्पष्ट कीजिए।
10. आधुनिक राज्य के चार प्रमुख कार्यों का विवेचन कीजिए? (उ.प्र., 2010)

अति लघु उत्तरीय प्रश्न [प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का, उत्तर दस शब्द (एक वाक्य) में]

प्रश्न 1—राज्य की सर्वोत्तम परिभाषा किस विद्वान् की मानी जाती है?
उत्तर—राज्य की सर्वोत्तम परिभाषा गार्नर की मानी जाती है।

प्रश्न 2—प्लेटो के अनुसार एक आदर्श राज्य की जनसंख्या कितनी होनी चाहिए?
उत्तर—प्लेटो के अनुसार आदर्श राज्य की जनसंख्या 5,040 होनी चाहिए।

प्रश्न 3—राज्य और समुदाय में सरकार किसका आवश्यक तत्व है?
उत्तर—सरकार राज्य का आवश्यक तत्व है न कि समुदाय का।

प्रश्न 4—राज्य के तत्व लिखिए।
अथवा, राज्य के किन्हीं दो तत्वों के नाम लिखिए। (उ.प्र., 2010)
उत्तर—राज्य के चार तत्व हैं—(1) जनसंख्या, (2) निश्चित भू-भाग, (3) सरकार, और (4) सम्प्रभुता।

प्रश्न 5—राज्य और सरकार में कोई दो अन्तर बताइए। (उ.प्र., 2010)
उत्तर—(1) राज्य स्थायी है जबकि सरकार अस्थायी है। (2) राज्य प्रधान है, जबकि सरकार उसकी प्रतिनिधि है।

प्रश्न 6—राज्य तथा राष्ट्र के बीच दो मुख्य अन्तर बताइए। (उ.प्र., 2010)
उत्तर—(i) सम्प्रभुता का अन्तर; राष्ट्र के लिए सम्प्रभुता आवश्यक नहीं है। (ii) राज्य के चार निश्चित तत्व हैं, राष्ट्र के कोई निश्चित निर्माणकारी तत्व नहीं हैं।

प्रश्न 7—प्राचीन भारत के चिन्तन के अनुसार राज्य के आवश्यक तत्व लिखिए।
अथवा, कौटिल्य के अनुसार राज्य के अंगों की संख्या लिखिए? (उ.प्र., 2010)
उत्तर—प्राचीन भारतीय चिन्तन के अनुसार राज्य के 7 आवश्यक तत्व ये हैं—(1) स्वामी (राजा), (2) आमात्य (मन्त्री), (3) जनपद (प्रदेश), (4) दुर्ग, (5) कोष, (6) दण्ड और (7) मित्र।

प्रश्न 8—वह कौन-सा तत्व है, जो राज्य को अन्य सभी समुदायों से अलग करता है?
उत्तर—सम्प्रभुता राज्य का विशिष्ट तत्व है। राज्य के अतिरिक्त अन्य किसी समुदाय में सम्प्रभुता नहीं होती।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न 9—अरस्तू द्वारा दी गई राज्य की परिभाषा लिखिए।

उत्तर—"राज्य परिवारों और ग्रामों का एक समुदाय है, जिसका उद्देश्य पूर्ण और आत्मनिर्भर जीवन की प्राप्ति है।"

प्रश्न 10—राज्य और समुदाय के बीच दो अन्तर क्या हैं?

उत्तर—1. राज्य की सदस्यता अनिवार्य, समुदाय की सदस्यता ऐच्छिक। 2. राज्य के पास दण्ड शक्ति होती है, समुदाय के पास नहीं।

बहुविकल्पीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों में चार विकल्प दिए गए हैं। उनमें से एक सही विकल्प छांटकर लिखिए :

1. "राज्य परिवारों और ग्रामों का एक समुदाय है जिसका उद्देश्य पूर्ण और आत्मनिर्भर जीवन की प्राप्ति है।" यह कथन किस विचारक का है :
   (अ) सुकरात (ब) प्लेटो
   (स) अरस्तू (द) एक्वीनास
2. कौटिल्य के अनुसार राज्य के कितने प्रकृति या अंग हैं :
   (अ) 4 (ब) 5 (स) 7 (द) 11
3. सिजविक के अनुसर राज्य का आवश्यक तत्व है :
   (अ) जनता (ब) भू-खण्ड
   (स) सरकार (द) इनमें से सभी
4. राज्य के कितने प्रमुख तत्व हैं :
   (अ) 2 (ब) 4 (स) 5 (द) 6
5. प्लेटो के अनुसार एक आदर्श राज्य की जनसंख्या कितनी होनी चाहिए :
   (अ) 5,040 (ब) 10,000
   (स) 10,040 (द) 15,040
6. 'रिपब्लिक' (Republic) की रचना किसने की थी :
   (अ) हाब्स (ब) लॉक
   (स) रूसो (द) प्लेटो
7. अरस्तू के अनुसार राज्य की जनसंख्या कितनी होनी चाहिए :
   (अ) 5000 (ब) 5,040
   (स) लगभग 10 हजार (द) लगभग 12 हजार
8. लेवियाथन नामक पुस्तक का लेखक है : (उ.प्र., 2010)
   (अ) रूसो (ब) लॉक
   (स) हाब्स (द) गार्नर
9. निम्नलिखित में से कौन-सा राज्य नहीं है :
   (अ) अमरीका (ब) रूस
   (स) संयुक्त राष्ट्र संघ (द) भारत
10. 15 अगस्त, 1947 से पहले भारत एक राज्य नहीं था, क्योंकि :
    (अ) इसकी अपनी निश्चित जनसंख्या नहीं थी। (ब) इसकी अपनी कोई निर्वाचित सरकार नहीं थी।
    (स) इसके पास सम्प्रभुता नहीं थी। (द) इसका कोई संविधान नहीं था।
11. निम्नलिखित में से कौन-सा राज्य नहीं है :
    (अ) गुजरात (ब) केरल (स) पंजाब (द) जापान
12. निम्नलिखित में से कौन-सा कथन असत्य है :
    (अ) राज्य एक ऐसे पूर्ण का नाम है जिसका एक अंग सरकार है।
    (ब) राज्य प्रधान है और सरकार उसकी प्रतिनिधि होती है।
    (स) प्रकृति की दृष्टि से सरकार प्राकृतिक है और राज्य कृत्रिम।
    (द) राज्य स्थायी है जबकि सरकार अस्थायी।
13. "राज्य के बाहर या उसके विरुद्ध कुछ नहीं है, सभी कुछ राज्य के अन्तर्गत ही है।" यह कथन किसका है :
    (अ) प्लेटो (ब) अरस्तू (स) मुसोलिनी (द) माओ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

14. निम्नलिखित में से कौन-सा कथन असत्य है :
(अ) लक्ष्य की दृष्टि से समाज व्यापक तथा राज्य संकुचित है।
(ब) समाज राज्य से प्राचीन है।
(स) कार्यक्षेत्र की दृष्टि से भी राज्य समाज से बहुत सीमित है।
(द) समाज के भी चार आवश्यक तत्व होते हैं—जनसंख्या, भूमि, सरकार और सम्प्रभुता।

15. निम्नलिखित में से कौन-सा कथन असत्य है :
(अ) राज्य की सदस्यता व्यक्ति के लिए अनिवार्य होती है, किन्तु समुदायों की सदस्यता ऐच्छिक होती है।
(ब) राज्य एक स्थायी समुदाय है, किन्तु समुदाय अधिकांशतया अल्पकालीन होते हैं।
(स) समुदाय के पास सम्प्रभुता होती है, जो राज्य के पास नहीं होती है।
(द) लक्ष्य की दृष्टि से राज्य की तुलना में समुदाय का लक्ष्य बहुत अधिक विशिष्ट और सीमित होता है।

16. निम्नलिखित में से कौन-सी विचारधारा राज्य को शोषण का एक यन्त्र मानती है :
(अ) व्यक्तिवादी (ब) बहुलवादी
(स) साम्यवादी (द) इनमें-में से कोई नहीं

17. निम्नलिखित में से किस विचारधारा के अनुसार राज्य एक अनावश्यक बुराई है : (उ.प्र., 2010)
(अ) व्यक्तिवादी विचारधारा (ब) अराजकतावादी विचारधारा
(स) साम्यवादी विचारधारा (द) इनमें से कोई नहीं

18. "राज्य का जन्म मनुष्यों की मूल आवश्यकताओं के कारण हुआ और उत्तम जीवन के लिए ही राज्य का अस्तित्व बना हुआ है।" यह कथन किसका है :
(अ) प्लेटो (ब) अरस्तू
(स) हाब्स (द) बेंथम

19. राज्य का अनिवार्य तत्व है : (उ.प्र., 2010)
(अ) संविधान (ब) न्यायपालिका
(स) सम्प्रभुता (द) राष्ट्रीयता

20. 'राज्य का आधार शक्ति नहीं इच्छा है', यह कथन किसका है? (उ.प्र., 2010)
(अ) थामस हाब्स (ब) जॉन लॉक
(स) टी.एच.ग्रीन (द) जेरेमी बेन्थम

21. "सम्प्रभुता के कारण ही राज्य अन्य सभी प्रकार के मानव समुदायों से भिन्न है।" किसने कहा था? (उ.प्र., 2010)
(अ) बोंदा ने (ब) ब्लैकस्टोन ने
(स) ग्रोसियस ने (द) लास्की ने

[उत्तर—1. (स), 2. (स), 3. (द), 4. (ब), 5. (अ), 6. (द), 7. (स), 8. (स), 9. (स), 10. (स), 11. (द), 12. (स), 13. (स), 14. (द), 15. (स), 16. (स), 17. (ब), 18. (ब), 19. (स), 20. (स), 21. (द)]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

7

राज्य के कार्यों के सिद्धान्त

[THEORIES OF THE FUNCTIONS OF STATE]

"कौटिल्य के अनुसार राज्य का कार्य-क्षेत्र अति विस्तृत होना चाहिए। प्रजा को सुशिक्षित करने, समृद्ध बनाने और उसके हित सम्पादन हेतु राज्य द्वारा सभी सम्भव प्रयत्न किये जाने चाहिए।"

—एन. सी. बंद्योपाध्याय

राज्य साध्य है या साधन

नागरिकशास्त्र के अध्ययन में यह प्रश्न बहुत अधिक विवादग्रस्त रहा है कि राज्य अपने आप में साध्य है या मनुष्य के हित और कल्याण का साधन मात्र है। इस सम्बन्ध में दोनों ही पक्षों की विवेचना इस प्रकार है :

राज्य साध्य है (State is an End)—अनेक विद्वानों का यह विचार रहा है कि राज्य मानव जीवन का उच्चतम लक्ष्य और अपने आप में एक साध्य है। प्लेटो और कुछ सीमा तक अरस्तू ने इसी विचार का प्रतिपादन किया है कि 'राज्य स्वयं साध्य है।' इन यूनानी विचारकों के अनुसार व्यक्तियों का सर्वोत्कृष्ट जीवन राज्य में ही सम्भव हो सकता है और इस बात की कल्पना ही नहीं की जा सकती है कि राज्य के हित से पृथक् व्यक्तियों का हित हो सकता है। सामान्य इच्छा के प्रतिपादक रूसो और हीगल, ब्रेडले बोसांके आदि आदर्शवादी विचारकों तथा ट्रीट्श्के, नीत्से आदि जर्मन विचारकों ने इसी धारणा का प्रतिपादन किया है। राज्य को साध्य मानने से व्यक्ति का महत्व गौण हो जाता है तथा उसकी स्वतन्त्रता व अधिकारों का कोई महत्व नहीं होता। राज्य का विकास व उसका हित सर्वोपरि है। फासीवादी विचारक मुसोलिनी ने भी राज्य को साध्य माना है। आदर्शवादी विचारक नैतिकता के आधार पर राज्य को व्यक्ति से श्रेष्ठ मानते हैं।

राज्य साधन मात्र है (State is merely a Means)—राज्य को साध्य मानने के नितान्त विपरीत दूसरी ओर अनेक विचारकों ने व्यक्ति को साध्य मानकर राज्य को उसके हित का साधन मात्र माना है। यूनानी विचारधारा के विपरीत भारतीय विचारधारा में राज्य को साधन मानते हुए कहा गया है कि "राज्य द्वारा धर्म, अर्थ तथा काम त्रिवर्ग की साधना होती है।" उदारवाद अराजकतावाद, व्यक्तिवाद और बहुलवाद के द्वारा भी इसी प्रकार के विचार का प्रतिपादन किया गया है। राज्य की सत्ता के सबसे प्रबल विरोधी अराजकतावादी हैं जिनके मतानुसार राज्य होना ही नहीं चाहिए और राज्य की सत्ता का पूर्ण अन्त कर देने में ही व्यक्ति का कल्याण निहित है। राज्य को साधन मानने वाले विचारक राज्य को प्राकृतिक के स्थान पर कृत्रिम संस्था मानते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति राज्य की गतिविधियों का केन्द्र है।

निष्कर्ष—राज्य अपने आप में एक साध्य है, इस विचार को स्वीकार करने का परिणाम तो एक सर्वाधिकारवादी राज्य की स्थापना होगी, जिसे वर्तमान समय में स्वीकार किया ही नहीं जा सकता। इसके साथ ही अराजकतावादी, व्यक्तिवादी या बहुलवादी दृष्टिकोण को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, जिसके अन्तर्गत राज्य को एक सामान्य साधन मात्र माना गया है। वस्तुतः राज्य अपनी सदस्यता की अनिवार्यता और व्यक्तियों के सम्पूर्ण हितों का प्रतिनिधित्व करने के कारण दूसरे समुदायों से अत्यन्त उच्च स्थिति रखता है। राज्य को मानव कल्याण का एक साधन कहा जा सकता है, लेकिन यह साधन इतना महत्वपूर्ण है कि इसके बिना व्यक्तियों के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। राज्य का लक्ष्य किसी एक पीढ़ी के व्यक्तियों या समुदायों के कल्याण से कहीं अधिक होता है। वास्तव में, राज्य और व्यक्ति एक-दूसरे पर इतनी अधिक सीमा तक निर्भर हैं कि इनमें साध्य और साधन का विभाजन करना ही नितान्त अनुचित है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य के उद्देश्य

राज्य को मानवीय कल्याण का एक अत्यधिक महत्वपूर्ण साधन माना जा सकता है। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वे कौन-से विविध उद्देश्य हैं, जिनकी साधना राज्य के द्वारा की जाती है। इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण बात यह है कि राज्य के स्वरूप और संगठन में जैसे-जैसे परिवर्तन होते गये, वैसे-वैसे राज्य के उद्देश्यों से सम्बन्धित विचारधारा भी परिवर्तित होती रही है।

राज्य के उद्देश्यों के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये गये हैं, यद्यपि उनमें पर्याप्त भेद हैं, लेकिन फिर भी कुछ ऐसे उद्देश्य हैं, जिनका उल्लेख सभी विचारकों द्वारा समान रूप से किया गया है। सामान्य धारणा के आधार पर राज्य के निम्न उद्देश्य बताये जा सकते हैं :

राज्य के उद्देश्य
1. सामूहिक हित के कार्यों का सम्पादन
2. शान्ति व्यवस्था और सुरक्षा की स्थापना
3. राजसत्ता और वैयक्तिक स्वतन्त्रता के मध्य सामंजस्य की स्थापना
4. अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं मानवीय सभ्यता का विकास

(1) सामूहिक हित के कार्यों का सम्पादन—वर्तमान समय में मानव जीवन अत्यन्त जटिल हो गया है। ऐसी स्थिति में यातायात और डाक व्यवस्था, मुद्रा चलन, उद्योगों की स्थापना, आदि ऐसे कार्य हो गये हैं जिनका सम्पादन राज्य के द्वारा ही किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, राज्य का उद्देश्य व्यक्तियों के शारीरिक और मानसिक स्तर की उन्नति भी है।

(2) शान्ति व्यवस्था और सुरक्षा की स्थापना—सभी विचारकों द्वारा इस बात को स्वीकार किया गया है कि राज्य का सर्वप्रथम उद्देश्य शान्ति और व्यवस्था की ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करना है, जिनमें व्यक्तियों के द्वारा सुरक्षापूर्वक अपना जीवन व्यतीत किया जा सके।

(3) राजसत्ता और वैयक्तिक स्वतन्त्रता के मध्य सामंजस्य की स्थापना—राज्य और व्यक्ति के बीच उचित सम्बन्धों की स्थापना नागरिक जीवन की सबसे प्राचीन समस्या रही है। इस सम्बन्ध में वर्तमान समय में इस बात की आवश्यकता अनुभव की जाती है कि शासक वर्ग की सत्ता और व्यक्ति की स्वतन्त्रता के मध्य ऐसा सामंजस्य स्थापित किया जाना चाहिए कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकें और साथ-ही-साथ अन्य व्यक्तियों के विकास में बाधक न हों।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं मानवीय सभ्यता का विकास—अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और मानवीय सभ्यता का विकास भी राज्य का उद्देश्य कहा जा सकता है। विज्ञान और राजनीतिक चेतना ने विश्व के देशों को इतना अधिक समीप ला दिया है कि विश्व के अन्य देशों से पृथक् रहकर कोई भी राज्य अपना विकास नहीं कर सकता है।

वस्तुतः जिस प्रकार राज्य के स्वरूप और संगठन में परिवर्तन होते रहते हैं उसी प्रकार परिवर्तित वातावरण और विचारधाराओं के कारण राज्य के उद्देश्य से सम्बन्धित विचारों में भी परिवर्तन होते रहते हैं। वर्तमान समय की प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था को दृष्टि में रखते हुए एक शब्द में राज्य का उद्देश्य लोकहित या लोककल्याण कहा जा सकता है।

राज्य के कार्य

राज्य के कार्य देशकाल की परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होते रहे हैं। प्रारम्भिक काल में राज्य के द्वारा केवल वे ही कार्य किये जाते थे, जिनका करना राज्य के अस्तित्व के लिए नितान्त आवश्यक होता था, किन्तु वर्तमान समय में राज्य के द्वारा किये जाने वाले कार्य इतने अधिक बढ़ गये हैं कि उनकी एक सूची बनाना सम्भव नहीं है। वर्तमान समय में राज्य के द्वारा जो कार्य किये जाते हैं उनका वर्गीकरण दो शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है : (1) आवश्यक या अनिवार्य कार्य, तथा (2) ऐच्छिक कार्य।

राज्य के आवश्यक कार्य

आवश्यक कार्यों में राज्य के वे कार्य सम्मिलित हैं, जिनका करना राज्य को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए नितान्त आवश्यक है। प्रत्येक राज्य के द्वारा चाहे वह कितना ही पिछड़ा हुआ क्यों न हो, इन आवश्यक कार्यों को पूरा किया जाता है। ये आवश्यक कार्य अग्रलिखित हैं :

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(1) बाहरी आक्रमण से रक्षा—बाहरी आक्रमण से अपनी सीमाओं की रक्षा राज्य का एक ऐसा कार्य है, जिन्हें पूरा किये बिना राज्य अपने अस्तित्व की ही रक्षा नहीं कर सकता। राज्य के द्वारा यह कार्य एक व्यवस्थित और संगठित जल, थल और वायु सेना के द्वारा पूरा किया जाता है।

राज्य के आवश्यक कार्य
(1) बाहरी आक्रमण से रक्षा
(2) वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन
(3) आन्तरिक क्षेत्र में शान्ति और व्यवस्था
(4) न्याय प्रबन्ध

(2) वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन—बाहरी आक्रमण से अपनी रक्षा करने हेतु राज्य एक सुसंगठित सेना रखता है, किन्तु बाहरी आक्रमण की स्थिति उत्पन्न न हो और अन्य राज्यों के साथ परस्पर हितकारी सम्बन्ध बने रहें, इसके लिए राज्य के द्वारा वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन किया जाता है। अन्य राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का यह कार्य राज्य द्वारा अत्यन्त प्रारम्भिक काल से किया जाता रहा है। इस कार्य के अन्तर्गत राज्य अपने राजदूत दूसरे देशों में भेजता है और अन्य देशों के राजदूतों के लिए अपने यहां रहने की व्यवस्था करता है।

(3) आन्तरिक क्षेत्र में शान्ति और व्यवस्था—राज्य का एक मुख्य कार्य नागरिकों के जान-माल की रक्षा, आन्तरिक उपद्रवों से उनका बचाव तथा उनकी व्यक्तिगत स्वाधीनता की रक्षा करना है। शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने में असमर्थ राज्य, राज्य कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने हेतु राज्य पुलिस दल की व्यवस्था करता है और विशेष परिस्थितियों में राज्य इस कार्य हेतु सेना का प्रयोग भी करता है।

(4) न्याय प्रबन्ध—शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने का कार्य केवल सेना और पुलिस के द्वारा ही नहीं किया जा सकता वरन् इसके लिए उत्तम न्याय प्रबन्ध भी आवश्यक होता है। अतः न्याय प्रबन्ध भी राज्य का एक अनिवार्य कार्य है। एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति तथा व्यक्ति और राज्य के बीच उत्पन्न होने वाले विवादों को हल करने के लिए प्रत्येक राज्य में न्यायालयों की स्थापना की जाती है।

गैटिल के अनुसार, राज्य के इन आवश्यक कार्यों में आर्थिक कार्य को भी सम्मिलित करना है जिसके अन्तर्गत राज्य के द्वारा कर निर्धारित करना, आयात-निर्यात कर लगाना, मुद्रा सम्बन्धी व्यवस्था करना, भूमि, जंगल और सार्वजनिक सम्पत्ति का प्रबन्ध करना, डाक, तार और रेल का प्रबन्ध, आदि कार्य आते हैं।

यह उल्लेखनीय है कि जो राज्य केवल अनिवार्य कार्य करता है। उसे पुलिस राज्य (Police State) कहा जाता है। 20वीं शताब्दी के पूर्व राज्य का स्वरूप पुलिस राज्य का ही था।

राज्य के ऐच्छिक कार्य

ऐच्छिक कार्य का आशय उन कार्यों से होता है जिनका करना राज्य के अस्तित्व के लिए तो आवश्यक नहीं होता, किन्तु जो नागरिकों के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक हित में होते हैं। ये कार्य स्वतन्त्र रूप से व्यक्तियों द्वारा भी किये जा सकते हैं, किन्तु व्यक्तियों की तुलना में राज्य ये कार्य अधिक अच्छे प्रकार से कर सकता है। वर्तमान समय में ऐसा माना जाता है कि राज्य के द्वारा अधिक-से-अधिक ऐच्छिक कार्य किये जाने चाहिए। राज्य के ऐसे ऐच्छिक कार्य निम्नलिखित होते हैं :

(1) शिक्षा—शिक्षा श्रेष्ठ सामाजिक जीवन की प्रथम अवस्था है और शिक्षा के बिना कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता है। इसलिए वर्तमान समय के प्रत्येक राज्य में जनता को शिक्षित करने के कार्य पर अत्यधिक बल दिया जाता है। सामान्यतया ऐसा माना जाता है कि राज्य के द्वारा निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए। वर्तमान युग में औद्योगिक शिक्षा पर अधिक ज़ोर दिया जाना चाहिए और नागरिकों के मानसिक विकास के लिए वाचनालय, पुस्तकालय और प्रयोगशालाओं की स्थापना की जानी चाहिए।

(2) स्वास्थ्य-रक्षा और सफाई—जीवन का आनन्द अच्छे स्वास्थ्य पर ही निर्भर है और स्वस्थ व्यक्ति ही सामाजिक जीवन के कर्तव्यों को भली-भांति पूर्ण कर सकता है। जनता के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए राज्य किया जाता है। इनके अतिरिक्त सफाई, पेयजल, अस्पताल, नर्सिंग होम, आदि का प्रबन्ध भी

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य के द्वारा किया जाता है जिससे नागरिकों के शरीर की रक्षा और उनका शारीरिक विकास सम्भव हो सके।

राज्य के ऐच्छिक कार्य

(1) शिक्षा
(2) स्वास्थ्य रक्षा और सफाई
(3) यातायात के साधनों का प्रबन्ध
(4) व्यापार व उद्योग-धन्धों की सहायता
(5) श्रमिकों का कल्याण
(6) बैंकिंग और मुद्रा का प्रबन्ध
(7) कृषि की उन्नति और ग्राम संगठन
(8) असहाय, अपाहिज और वृद्ध व्यक्तियों की सहायता
(9) मनोरंजन की व्यवस्था
(10) सामाजिक सुधार

(3) यातायात के साधनों का प्रबन्ध—आधुनिक समय में यातायात के साधन देश के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन के प्राण हैं। आज कोई भी राज्य सड़कें, रेलें, तार, हवाई जहाज, रेडियो, टेलीफोन, कारखाने, आदि की सुविधा के बिना जीवित नहीं रह सकता है। जनता की सुविधा तथा देश के आर्थिक विकास के लिए राज्य के द्वारा इन सुविधाओं का प्रबन्ध किया जाता है।

(4) व्यापार व उद्योग-धन्धों की सहायता—राज्य का एक महत्वपूर्ण कार्य व्यापार व उद्योग-धन्धों की सहायता है। राज्य के द्वारा यह कार्य अनेक साधनों द्वारा किया जाता है; जैसे आयात किये गये माल पर कर लगाना, उद्योगों को वित्तीय सहायता, औद्योगिक अन्वेषण केन्द्रों की स्थापना, मेलों और प्रदर्शनियों का प्रबन्ध, वैज्ञानिक शिक्षा प्रदान करना, आदि।

(5) श्रमिकों का कल्याण—श्रमिकों का कल्याण भी राज्य का एक महत्वपूर्ण कार्य है और वर्तमान समय में राज्य श्रमिकों की पूंजीपतियों व बड़े जमींदारों से रक्षा करने के लिए फैक्टरी कानून व न्यूनतम मजदूरी कानून, आदि का निर्माण करता है।

(6) बैंकिंग और मुद्रा का प्रबन्ध—विश्व के प्रायः सभी सभ्य देशों में राज्य के द्वारा मुद्रा का प्रबन्ध किया जाता है और अन्य देशों के साथ अपनी मुद्रा की विनिमय दर निर्धारित की जाती है।

(7) कृषि की उन्नति और ग्राम संगठन—वर्तमान समय में सरकार कृषि की उन्नति तथा ग्रामीण संगठन के कार्य पर भी जोर देती है। कृषि की उन्नति के लिए बिजली, कुओं, कृषि अनुसन्धान तथा इसी प्रकार की दूसरी सुविधाएं दी जाती हैं और ग्रामीण संगठन के लिए ग्राम पंचायत, आदि की स्थापना की जाती है।

(8) असहाय, अपाहिज और वृद्ध व्यक्तियों की सहायता—वर्तमान समय का राज्य एक कल्याणकारी संस्था है और राज्य के द्वारा बूढ़े, निर्धन, अन्धे, असहाय और अपाहिज लोगों की रक्षा के लिए अनेक प्रकार के कार्य किये जाते हैं। कुछ राज्यों में बेकार लोगों को सहायता देने तथा वृद्धावस्था में लोगों को पेंशन देने का प्रबन्ध भी किया जाता है।

(9) मनोरंजन की व्यवस्था—स्वस्थ मनोरंजन सफल व्यक्तित्व और सामाजिक जीवन की आधारशिला है। अतः राज्य के द्वारा अपने नागरिकों को स्वस्थ मनोरंजन के साधन प्रदान करने का कार्य भी किया जाता है। राज्य बगीचे और पार्क, खेलकूद के मैदान, सार्वजनिक तरण तालों, सिनेमा, रेडियो, नाट्य-गृहों, आदि का प्रबन्ध करता है। अपने इसी कार्य के अन्तर्गत राज्य के द्वारा चलचित्रों और नृत्यघरों पर नियन्त्रण रखा जाता है, जिससे मनोरंजन अश्लील न हो जाय।

(10) सामाजिक सुधार—वर्तमान समय में राज्य के द्वारा सामाजिक उन्नति और सुरक्षा के लिए भी कार्य किया जाता है। उदाहरण के लिए, भारत में राज्य के द्वारा अस्पृश्यता, जाति-पांति के भेद, बाल-विवाह और बहु-विवाह के विरुद्ध प्रयत्न किये गये हैं। प्रत्येक प्रगतिशील राज्य का धर्म है कि वह सामाजिक बुराइयों को दूर करे।

वास्तव में राज्य के ऐच्छिक कार्य इतने अधिक हैं कि उनकी कोई एक सूची बनाना सम्भव नहीं है। राज्य का कार्य नागरिकों को वे सभी सुविधाएं और अवस्थाएं प्रदान करना है जिनके द्वारा उनकी भलाई और उन्नति हो सकती है। राज्य के ऐच्छिक कार्य भी आज आवश्यक कार्यों के समान ही महत्वपूर्ण हो गये हैं। कल तक राज्य के जिन कार्यों को उसके ऐच्छिक कार्य समझा जाता था, वे आज आवश्यक प्रतीत होने लगे हैं। सभ्यता के विकास के साथ-साथ राज्य का कार्यक्षेत्र बढ़ता ही जा रहा है।

राज्य के जो अनिवार्य और ऐच्छिक कार्य बताये गये हैं उन कार्यों को एक लोकतन्त्रात्मक और लोककल्याणकारी राज्य ही ठीक प्रकार से कर सकता है। लोककल्याणकारी राज्य 20वीं शताब्दी में अस्तित्व में आए। इनका कार्य क्षेत्र विस्तृत है तथा ये पुलिस राज्य के विपरीत जनकल्याण के कई कार्य करते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य का कार्यक्षेत्र : विविध विचारधाराएं

जिस प्रकार राज्य के उद्देश्यों के सम्बन्ध में विचार परिवर्तित होते रहे हैं उसी प्रकार राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में भी विचार बदलते रहे हैं। राज्य का कार्यक्षेत्र संकुचित होना चाहिए या व्यापक, इस सम्बन्ध में अब तक अनेक विचारधाराओं का प्रतिपादन किया जा चुका है, जिनमें व्यक्तिवाद, समाजवाद और लोककल्याणकारी राज्य की धारणा सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं।

1. व्यक्तिवाद

राज्य और राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में व्यक्तिवादी धारणा—व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य शक्ति के आधार पर कार्य करता है, लेकिन शक्ति के आधार पर किये गये राज्य के कार्य व्यक्ति के लिए असुविधाजनक और कष्टकर होते हैं। व्यक्ति के व्यक्तित्व का उच्चतम विकास स्वविवेक के आधार पर कार्य करने पर ही सम्भव है, क्योंकि राज्य इस मार्ग में बाधक है, इसलिए राज्य बुराई का प्रतीक है। लेकिन चोर, उचक्कों और हत्यारों के रूप में समाज में कुछ ऐसे अवांछनीय तत्व होते हैं, जिन पर नियन्त्रण रखने के लिए राज्य का अस्तित्व आवश्यक है। इस प्रकार व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य एक आवश्यक बुराई है, जिसका कार्यक्षेत्र अत्यन्त सीमित होना चाहिए। फ्रीमैन के शब्दों में, "वही सरकार सबसे अच्छी है, जो सबसे कम शासन करती है।"[1] व्यक्तिवादी राज्य के कार्य और व्यक्ति की स्वतन्त्रता को एक-दूसरे का विरोधी मानते हैं और इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता के हित में राज्य के द्वारा कम-से-कम कार्य ही किये जाने चाहिए।

राज्य का कार्यक्षेत्र : विविध विचारधाराएं
(1) व्यक्तिवाद
(2) समाजवाद या लोकतान्त्रिक समाजवाद
(3) लोककल्याणकारी राज्य

व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य का अस्तित्व व्यक्तियों की कुप्रवृत्तियों को नियन्त्रित रखने के लिए ही है, अतः राज्य का कार्यक्षेत्र निषेधात्मक ही होना चाहिए, सकारात्मक नहीं। हम्बोल्ट का कथन है कि "प्रत्येक नागरिक की प्रवृत्तियों और पूर्ण व्यक्तित्व का विकास ही राज्य का उद्देश्य होना चाहिए और इसलिए उसे केवल उन्हीं कार्यों को करना चाहिए, जिन्हें व्यक्ति स्वयं न कर सके, जैसे सुरक्षा।"

व्यक्तिवादी विचारधारा के अनुसार राज्य के द्वारा केवल निम्नलिखित कार्य ही किये जाने चाहिए :

(1) राज्य व राज्य के नागरिकों की बाहरी शत्रुओं से रक्षा करना;
(2) नागरिकों की सुरक्षा और मानहानि से उनकी रक्षा करना;
(3) लूटमार या अन्य प्रकार की क्षति से सम्पत्ति की रक्षा करना;
(4) संविधान के निर्वाह की व्यवस्था करना।

व्यक्तिवादियों के अनुसार वही सरकार सबसे अच्छी है जो कम शासन करती है। मिल का मानना है कि राज्य एक आवश्यक बुराई है।

व्यक्तिवाद का समर्थन (Support of Individualism)

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन यूरोप में 18वीं सदी के अन्तिम काल में हुआ था। इसके मुख्य समर्थक जॉन स्टुअर्ट मिल, एडम स्मिथ, हरबर्ट स्पेन्सर, रिकार्डो तथा माल्थस थे। जॉन स्टुअर्ट मिल इनमें निश्चित रूप से सबसे अधिक प्रमुख हैं। इस सिद्धान्त के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं :

(1) **नैतिक तर्क**—व्यक्तिवादियों के अनुसार मनुष्य समाज में उसी समय उन्नति कर सकता है, जबकि उसे अपने विवेक के अनुसार कार्य करने के लिए स्वाधीन छोड़ दिया जाय। यदि राज्य के द्वारा व्यक्तियों के कार्यों में हस्तक्षेप किया गया तो, व्यक्तियों का आत्मबल और आत्मविश्वास नष्ट होगा, उनमें स्वयं नया कार्य प्रारम्भ करने की शक्ति नहीं रहेगी, उनका विकास रुक जायेगा और वे दूसरों पर निर्भर रहने लगेंगे। इसके अतिरिक्त, स्वयं व्यक्ति ही अपने हितों के सम्बन्ध में ठीक प्रकार से निर्णय कर सकता है। अतः राज्य अपने आदेश-निर्देश

व्यक्तिवाद का समर्थन
(1) नैतिक तर्क
(2) आर्थिक तर्क
(3) प्राणिवैज्ञानिक तर्क
(4) राज्य की अयोग्यता का तर्क
(5) अनुभव का तर्क

1 "That government is best which governs the least." —Freeman

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के आधार पर व्यक्तियों के नैतिक विकास में बाधक ही होगा। मिल के शब्दों में, "राजकीय सहायता व्यक्ति के आत्मविश्वास के भाव को नष्ट कर देती है। यह उसके उत्तरदायित्व को दुर्बल बनाती और चरित्र के विकास को कुण्ठित कर देती है।"

(2) आर्थिक तर्क—व्यक्ति अपने आर्थिक हितों को सबसे अधिक अच्छे प्रकार से समझ सकता और अपने ही लाभों की प्रेरणा के आधार पर आर्थिक उन्नति के लिए सबसे अच्छे प्रकार से कार्य कर सकता है। इसके अतिरिक्त, आर्थिक क्षेत्र के प्राकृतिक नियमों—मांग और पूर्ति के नियम तथा स्वतन्त्र प्रतियोगिता के नियम—को स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने दिया जाय, तो समस्त आर्थिक गतिविधियां भली-भांति चलती रहती हैं, अतः राज्य के द्वारा आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए। एडम स्मिथ तथा रिकार्डो का विचार है कि "आर्थिक क्षेत्र में राज्य का हस्तक्षेप कम होने से न केवल उत्पादन में वृद्धि होगी, वरन् इसके साथ-ही-साथ उत्पादित वस्तुओं के गुण भी उच्चतर होंगे, पिछड़े हुए देशों का आर्थिक विकास होगा और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उन्नति होगी।" आर्थिक क्षेत्र में राज्य को दूर रखने के विचार को अहस्तक्षेप की नीति (Laissez faire) कहते हैं।

(3) प्राणिवैज्ञानिक तर्क (Biological Argument)—हरबर्ट स्पेन्सर ने डार्विन की विकासवादी विचारधारा के आधार पर सामाजिक जीवन के क्षेत्र में 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' (Struggle for existence) तथा 'योग्यतम की विजय' (Survival of the fittest) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। स्पेन्सर का विचार है कि असहाय, दरिद्र और बूढ़े व्यक्तियों की सहायता करने से सामूहिक रूप से समाज को लाभ की अपेक्षा बहुत अधिक हानि उठानी पड़ती है, अतः राज्य के द्वारा समाज के इन निर्बल तत्वों की सहायता नहीं की जानी चाहिए। स्वयं स्पेन्सर के ही शब्दों में, "यदि हम शक्तिशाली और कर्मठ सन्तति का विकास करना चाहते हैं तो हमें मनुष्यों को उनकी ही इच्छा पर छोड़ देना चाहिए, जिससे शक्तिशाली व्यक्तियों की उन्नति और कमजोर व्यक्तियों की समाप्ति हो सके।"

(4) राज्य की अयोग्यता का तर्क—राज्य के द्वारा इसलिए भी कम-से-कम कार्य किये जाने चाहिए कि राज्य एक अयोग्य संस्था है और राज्य का नियन्त्रण ऐसे व्यक्तियों द्वारा किया जाता है जो प्रायः अयोग्य होते हैं। इसके अतिरिक्त, राज्य के कार्यों में उत्तरदायित्व निश्चित न होने के कारण प्रत्येक का कार्य किसी का भी कार्य नहीं होता। उद्योग और व्यापार का यह सरल सिद्धान्त है कि जो लोग जोखिम उठाते हैं, वे उन राज्य-अधिकारियों की अपेक्षा अधिक योग्यता और मितव्ययता से व्यापार का संचालन कर सकते हैं, जिनकी अपनी कोई जोखिम नहीं होती है। इसके अतिरिक्त, राज्य प्रबन्ध का अर्थ है—लालफीताशाही, अनावश्यक देरी, फिजूलखर्ची और भ्रष्टाचार।

(5) अनुभव का तर्क—इतिहास मानवीय अनुभवों की खान है और इतिहास इस बात का साक्षी है कि राज्य का हस्तक्षेप सदैव ही मूर्खतापूर्ण होता है। जब कभी राज्य ने व्यक्तिगत, सामाजिक या आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप का प्रयत्न किया, तभी स्वतन्त्रता समाप्त हो गयी और विकास रुक गया। इस ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर कहा जाता है कि राज्य के द्वारा कम-से-कम कार्य ही किये जाने चाहिए।

व्यक्तिवाद की आलोचना (Criticism of Individualism)

अनेक व्यक्तियों द्वारा व्यक्तिवादी सिद्धान्त की कटु आलोचना की गयी है। उनका कहना है कि इस सिद्धान्त ने मनुष्य को मनुष्य का शोषण करना सिखाया तथा दमन और अनाचार के वातावरण को जन्म दिया। इस सिद्धान्त में प्रमुख रूप से निम्नलिखित दोष हैं :

(1) कानून स्वतन्त्रता को सीमित नहीं करते—व्यक्तिवादी विचारकों ने राज्य के कानून और व्यक्ति की स्वतन्त्रता को परस्पर विरोधी समझ लिया है, जो त्रुटिपूर्ण है। कानून व्यक्तियों की स्वतन्त्रता सीमित नहीं करते, वरन् सभी व्यक्तियों के लिए स्वतन्त्रता का उपभोग सम्भव बनाते हैं। सर्वसाधारण जनता कानूनों के माध्यम से ही स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकती है। यदि राज्य और कानून न हों, तो समाज के सबल सदस्यों द्वारा निर्बल सदस्यों की स्वतन्त्रता का अन्त कर दिया जाएगा। इसके अतिरिक्त, राज्य ऐसी सकारात्मक सुविधाएं प्रदान करता है, जिनकी सहायता से व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकें। व्यक्तिवादी जिस

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वतन्त्रता की बात करते हैं। उसे राज्य के कानूनों के अभाव में लागू करना मुश्किल है। इसी कारण बार्कर ने मिल को 'खोखली स्वतन्त्रता का मसीहा' कहा है।

व्यक्तिवाद की आलोचना

(1) कानून स्वतन्त्रता को सीमित नहीं करते
(2) राज्य एक बुराई नहीं है
(3) प्रतियोगिता हानिकारक होती है
(4) 'योग्यतम की विजय' का सिद्धान्त भ्रमात्मक है
(5) राज्य की अयोग्यता का तर्क असत्य है
(6) व्यक्ति सदैव ही अपने हितों का सर्वोत्तम निर्णायक नहीं होता
(7) ऐतिहासिक दृष्टि से व्यक्तिवाद के आर्थिक और राजनीतिक परिणाम भयंकर हुए हैं
(8) व्यक्तिगत व सार्वजनिक हितों में समन्वय

(2) राज्य एक बुराई नहीं है—व्यक्तिवादियों का यह विचार गलत है कि राज्य की उत्पत्ति बुराई में हुई है और राज्य बुराई का प्रतीक है। यदि राज्य बुराई होता तो कभी का समाप्त हो गया होता। वास्तव में राज्य व्यक्ति के नैतिक विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करते हुए उसके व्यक्तित्व के विकास का सफल प्रयत्न करता है।

(3) अतिशय प्रतियोगिता हानिकारक होती है—व्यक्तिवादियों द्वारा आर्थिक क्षेत्र में जिस स्वतन्त्र प्रतियोगिता का प्रतिपादन किया गया है, वह तो दानव (पूंजीपति) और बौने (श्रमिक) के बीच संघर्ष के समान होती है जिसमें निर्बल श्रमिक वर्ग को दीनता, भूख, अस्वस्थता और अयोग्यता के परिणाम प्राप्त होते हैं। प्रतियोगिता के इस सिद्धान्त का परिणाम एकाधिकार की प्रवृत्ति, मांग और पूर्ति के बीच असमानता, अनुचित लाभ की प्रवृत्ति और राज्यों का पारस्परिक संघर्ष होता है। सिजविक के अनुसार, "स्वतन्त्र प्रतियोगिता की धारणा व्यक्तिवादी विचारधारा की सबसे बड़ी कमजोरी है।"

(4) 'योग्यतम की विजय' का सिद्धान्त भ्रमात्मक है—पशु जगत में प्रचलित 'योग्यतम की विजय' के सिद्धान्त को मानव प्राणियों पर लागू नहीं किया जा सकता है। इस सिद्धान्त को स्वीकार करने का परिणाम तो हिंसक शक्तियों की विजय और जंगलीपन को स्थिर रखना होगा। जीवन-संघर्ष में सफलता प्राप्त कर लेना योग्यता की उचित कसौटी नहीं है। लीकॉक ने कहा है कि "यदि जीवित रहने को ही जीवित रहने की योग्यता की कसौटी मान लिया जाय तो एक समृद्ध चोर प्रशंसा का पात्र बन जायेगा और एक भूखा कलाकार घृणा का।" केवल योग्य व्यक्तियों को ही जीवित रखने के स्थान पर सभी जीवित व्यक्तियों को योग्य बनाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

(5) राज्य की अयोग्यता का तर्क असत्य है—वास्तव में, राज्य एक अयोग्य संस्था नहीं है। यदि कुछ कार्यों को राज्य की अपेक्षा व्यक्ति भली प्रकार कर सकता है तो दूसरी ओर ऐसे अनेक कार्य हैं, जिन्हें स्वतन्त्र रूप से व्यक्तियों की अपेक्षा राज्य अधिक अच्छे प्रकार से कर सकता है और सामाजिक जीवन की जटिलता बढ़ने के साथ-साथ ऐसे कार्यों की संख्या बढ़ती ही जा रही है।

(6) व्यक्ति सदैव ही अपने हितों का सर्वोत्तम निर्णायक नहीं होता—व्यक्तिवाद की यह मान्यता सही नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों का सर्वोत्तम निर्णायक होता है। वास्तव में, व्यक्तिवादियों का व्यक्तियों की दूरदर्शिता और सूझबूझ में उचित से अधिक विश्वास है और वे प्रत्येक से बहुत अधिक आशा करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति वर्तमान समय में जटिल सामाजिक जीवन की समस्याओं को समझकर अपना मार्ग निश्चित नहीं कर सकता और राज्य ही उसके मार्ग का सही निर्देश कर सकता है।

(7) ऐतिहासिक दृष्टि से व्यक्तिवाद के आर्थिक और राजनीतिक परिणाम भयंकर हुए हैं—व्यक्तिवाद की आलोचना का सबसे सबल आधार यह है कि व्यक्तिवादी नीति को अपनाने के परिणाम कभी अच्छे नहीं रहे। इस नीति को अपनाने के परिणामस्वरूप पूंजी केवल कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित हो गयी, असंख्य जनसमुदाय आश्रयहीन हो गये और मानव का नैतिक पतन हो गया। इन बुराइयों को दूर करने के लिए राज्य को आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप करना पड़ा और इस प्रकार समाजवादी विचारधारा का उदय हुआ। गिलक्राइस्ट के शब्दों में, "व्यक्तिवाद के विरुद्ध सबसे बड़ा तर्क यह है कि इस नीति को अपनाने का राजनीतिक, सामाजिक और औद्योगिक जीवन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा।"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(8) व्यक्तिगत व सार्वजनिक हितों में समन्वय—व्यक्तिवादी विचारधारा केवल व्यक्ति के हितों पर जोर देने के कारण एकांगी है। व्यक्ति के साथ-साथ समाज के सार्वजनिक हितों पर भी ध्यान दिया जाना आवश्यक है। दोनों में समन्वय की आवश्यकता है।

वर्तमान परिस्थितियों में राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में व्यक्तिवादी विचारधारा को स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

2. समाजवाद या लोकतांत्रिक समाजवाद
(SOCIALISM OR DEMOCRATIC SOCIALISM)

समाजवादी विचारधारा की उत्पत्ति व्यक्तिवाद की प्रतिक्रिया के रूप में हुई और वर्तमान समय में यह विचारधारा बहुत अधिक लोकप्रिय है। **समाजवाद का अंग्रेजी पर्यायवाची 'Socialism', '*Socius*' शब्द से लिया गया है, जिसका अर्थ है समाज और जैसा कि शब्द व्युत्पत्ति से ही स्पष्ट है समाजवाद व्यक्तिवाद के विरुद्ध समाज के महत्व पर आधारित है।** समाजवाद का आधारभूत उद्देश्य समानता की स्थापना करना है और इस समानता की स्थापना के लिए स्वतन्त्र प्रतियोगिता का अन्त किया जाना चाहिए। उत्पादन के साधनों पर सम्पूर्ण समाज का अधिकार होना चाहिए और उत्पादन व्यवस्था का संचालन किसी एक वर्ग के लाभ को दृष्टि में रखकर नहीं, वरन् सभी वर्गों के सामूहिक हित को दृष्टि में रखकर किया जाना चाहिए। समाजवाद की परिभाषा करते हुए रॉबर्ट ब्लैकफोर्ड ने कहा है कि "समाजवाद के अनुसार भूमि तथा उत्पादन के अन्य साधन सबकी सम्पत्ति रहे और उनका प्रयोग तथा संचालन जनता द्वारा जनता के लिए ही हो।" इसी प्रकार फ्रेड ब्रेमेल ने कहा है कि समाजवाद का अर्थ है—"व्यक्तिगत हित को सामाजिक हित के अधीन रखना।"

समाजवाद के अनुसार राज्य का कार्यक्षेत्र

राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में समाजवाद का मत व्यक्तिवाद के नितान्त विपरीत है। इस विचारधारा के अनुसार राज्य के द्वारा वे सभी कार्य किये जाने चाहिए, जो व्यक्ति और समाज की उन्नति के लिए आवश्यक हों, और क्योंकि व्यक्ति एवं समाज की उन्नति के लिए किये जाने वाले कार्यों की कोई सीमा नहीं है, अतः यह कहा जा सकता है कि सामाजिक जीवन के प्रायः सभी कार्य राज्य के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत आ जाते हैं।

साधारणतया यह कहा जा सकता है कि समाजवादी विचारधारा के अनुसार राज्य को आन्तरिक एवं बाहरी सुरक्षा एवं न्याय-व्यवस्था के साथ-ही-साथ सार्वजनिक शिक्षा एवं स्वास्थ्य का प्रबन्ध करना चाहिए, उत्पादन में वृद्धि और आर्थिक विषमता के अन्त का प्रयत्न करना चाहिए, सभी व्यक्तियों के लिए स्वस्थ मनोरंजन का प्रबन्ध एवं अपाहिज और बूढ़े व्यक्तियों की सहायता की व्यवस्था करनी चाहिए।

इस प्रकार समाजवाद राज्य को अधिक-से-अधिक कार्य सौंपना चाहता है।

समाजवाद के प्रमुख सिद्धान्त (Main Tenets of Socialism)

समाजवाद व्यक्तिवादी विचारधारा और पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध एक सशक्त विचारधारा और आन्दोलन है। यह समानता को अपना आदर्श मानकर चलता है और राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में अधिकाधिक समानता स्थापित करना चाहता है। समाजवाद के प्रमुख सिद्धान्तों का अध्ययन निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है :

(1) समाजवाद समाज की आंगिक एकता पर बल देता है—समाजवाद का आधारभूत विचार यह है कि व्यक्ति कोई एक अकेला प्राणी नहीं है, वरन् यह समाज के दूसरे व्यक्तियों से उसी प्रकार सम्बन्धित है, जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंग परस्पर सम्बन्धित होते हैं।

(2) समाजवाद प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग को प्रतिष्ठित करता है—समाजवाद का विचार यह है कि पूंजीवादी व्यवस्था में प्रचलित प्रतियोगिता से धनिक वर्ग को ही लाभ होता है और श्रमिक वर्ग को हानि। प्रतियोगिता के कारण प्रत्येक व्यवसायी अपनी वस्तुओं को इतनी सस्ती बेचना चाहता है कि उसकी श्रेष्ठता बिल्कुल नष्ट हो जाती है। अतः समाजवाद जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग को प्रतिष्ठित करना चाहता है।

(3) समाजवाद का ध्येय समानता है—समाजवाद वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में विद्यमान असमानता का अत्यन्त विरोधी है और यह नवीन समाज का निर्माण ऐसे सिद्धान्तों के आधार पर करना चाहता है कि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसमें वर्तमान समय में विद्यमान गम्भीर असमानता कम-से-कम हो जाय। योग्यता के अन्तर को तो समाजवादी भी स्वीकार करते हैं और वे यह भी मानते हैं कि पूर्ण समानता अनुचित, अनावश्यक और असम्भव है, किन्तु साथ ही उनका लक्ष्य एक ऐसे वातावरण का निर्माण करना है जिसमें प्रत्येक को उन्नति के समान अवसर प्राप्त हो सकें। वास्तव में समाजवादी समानता व स्वतन्त्रता में समानता को राजनीतिक अधिकारों की तुलना में आर्थिक व सामाजिक अधिकारों को अधिक महत्व देते हैं। इसके विपरीत उदारवादी स्वतन्त्रता व राजनीतिक अधिकारों को प्रमुखता प्रदान करते हैं।

समाजवाद के प्रमुख सिद्धान्त

(1) समाजवाद समाज की आंगिक एकता पर बल देता है
(2) समाजवाद प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग को प्रतिष्ठित करता है
(3) समाजवाद का ध्येय समानता है
(4) समाजवाद का उद्देश्य पूंजीवाद का अन्त है
(5) समाजवाद एक प्रजातान्त्रिक विचारधारा है
(6) समाजवाद उत्पादन के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व के पक्ष में है
(7) समाजवाद व्यक्ति की अपेक्षा समाज को प्राथमिकता देता है
(8) समाजवाद राज्य को एक सकारात्मक गुण मानता है
(9) समाजवाद राज्य को अधिकाधिक कार्य सौंपना चाहता है

(4) समाजवाद का उद्देश्य पूंजीवाद का अन्त है—समाजवाद व्यक्तिवादी विचारधारा तथा पूंजीवादी व्यवस्था के विरोध पर आधारित है। समाजवाद के अनुसार पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में कुछ लोग बहुत अधिक अमीर और कुछ लोग बहुत अधिक गरीब हो जाते हैं और इस प्रकार की आर्थिक विषमता से राष्ट्र की प्रगति रुक जाती है। इस प्रकार समाजवाद के अनुसार वर्तमान समय की पूंजीवादी व्यवस्था दोषपूर्ण, जर्जर, अन्यायी व शोषक है और सम्पूर्ण समाज के हित में इस अर्थव्यवस्था का अन्त कर दिया जाना ही उचित है।

(5) समाजवाद एक प्रजातान्त्रिक विचारधारा है—समाजवाद के सम्बन्ध में प्रमुख बात यह है कि यह एक प्रजातान्त्रिक विचारधारा है। अनेक बार समाजवाद को साम्यवाद का पर्यायवाची मान लिया जाता है, जो नितान्त भ्रमपूर्ण है। पूंजीवाद के विरोध में परस्पर सहमत होते हुए भी समाजवाद और साम्यवाद परस्पर नितान्त विरोधी विचारधाराएं हैं। इबन्सटीन (Ebenstein) के शब्दों में, "ये (समाजवाद और साम्यवाद) विचार और जीवन के दो नितान्त विरोधी ढंग हैं, उतने ही विरोधी जितने कि उदारवाद और सर्वाधिकारवाद।" इन दोनों विचारधाराओं में प्रमुख भेद साधनों के सम्बन्ध में है। साम्यवाद हिंसक साधनों को अपनाने के पक्ष में है, किन्तु समाजवाद का विचार है कि वांछित परिवर्तन प्रजातन्त्रात्मक और संवैधानिक साधनों से ही लाया जाना चाहिए। समाजवाद प्रजातन्त्रवादी विचार है, साम्यवाद सर्वाधिकारवादी।

(6) समाजवाद उत्पादन के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व के पक्ष में है—पूंजीवादी व्यवस्था का घोर विरोधी होने के कारण समाजवाद भूमि और उद्योगों पर व्यक्तिगत स्वामित्व के अन्त की मांग करता है और उत्पादन के समस्त साधनों पर सामाजिक स्वामित्व स्थापित करना चाहता है। समाजवादियों के अनुसार, 'वैयक्तिक उद्योग वैयक्तिक लूटमार है' और व्यक्तिगत सम्पत्ति को सामाजिक अथवा सामूहिक संम्पत्ति का रूप देना ही उचित है।

(7) समाजवाद व्यक्ति की अपेक्षा समाज को प्राथमिकता देता है—समाजवाद का विचार है कि सम्पूर्ण समाज का सामूहिक हित अकेले व्यक्ति के हित से अधिक मूल्यवान है और आवश्यकता पड़ने पर समष्टि के हित में व्यक्ति के हित का बलिदान किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में समाजवादियों का विचार है कि सामूहिक हित में व्यक्तिगत हित निहित होता है और सामूहिक हित की साधना से व्यक्तिगत हित की साधना अपने आप ही हो जाती है।

(8) समाजवाद राज्य को एक सकारात्मक गुण मानता है—समाजवाद व्यक्तिवाद के इस कथन को अस्वीकार करता है कि 'राज्य एक आवश्यक दुर्गुण है' और इसके विपरीत राज्य को एक ऐसी कल्याणकारी संस्था मानता है जिसका जन्म ही नागरिकों के जीवन को सभ्य और सुखी बनाने के लिए होता है। अधिकांश समाजवादी इतिहास से उदाहरण देते हुए कहते हैं कि राज्य संस्था चिरकाल से मानव जाति की सेवा करती चली आ रही है और यदि इसने कहीं बल का प्रयोग किया भी है तो सामूहिक हित के लिए ही। इस प्रकार साधारणतया समाजवादी राज्य को एक जनहितकारी संस्था मानते हैं।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(9) समाजवाद राज्य को अधिकाधिक कार्य सौंपना चाहता है—समाजवादी राज्य को एक कल्याणकारी संस्था मानते हैं और व्यक्ति को अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्रदान करने के लिए राज्य के कार्यक्षेत्र को व्यापक करना चाहते हैं। समाजवाद के अनुसार, व्यक्तिवादी पुलिस राज्य समाज की पूरी-पूरी भलाई नहीं कर सकता और इस पुलिस राज्य में 99 प्रतिशत जनता पूंजीवादी शोषण से पिसकर अपने प्राण दे देगी। ऐसी स्थिति में गरीबों और मजदूरों के हित में राज्य के द्वारा आर्थिक क्षेत्र से सम्बन्धित अधिक-से-अधिक कार्य किये जाने चाहिए।

इस प्रकार समाजवाद व्यक्तिवाद के विरुद्ध एक ऐसी प्रतिक्रिया है जिसके द्वारा वैयक्तिक हित के स्थान पर सामूहिक हित और प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग को प्रतिष्ठित करके, उत्पादन के साधनों पर सामाजिक नियन्त्रण के आधार पर आर्थिक समानता स्थापित कराने का प्रयत्न किया जाता है।

समाजवाद की आलोचना (Criticism of Socialism)

आधुनिक पूंजीवादी व्यवस्था के अन्त के लिए समाजवाद एक सुन्दर मार्ग प्रस्तुत करता है। समाजवाद ने व्यक्तिगत हित की अपेक्षा सामाजिक हित को उच्चतर स्थान प्रदान कर प्रशंसनीय कार्य किया है, किन्तु इन गुणों के होते हुए भी समाजवादी व्यवस्था दोषमुक्त नहीं है। इस व्यवस्था की प्रमुख रूप से निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है :

समाजवाद की आलोचना
- (1) उत्पादन क्षमता में कमी
- (2) नौकरशाही का विकास
- (3) समानता की धारणा प्राकृतिक विधान के विरुद्ध
- (4) राज्य की कार्यकुशलता में कमी
- (5) मनुष्य का नैतिक पतन
- (6) समाजवादी व्यवस्था अपव्ययी होगी
- (7) व्यक्ति की स्वतन्त्रता के अन्त का भय

(1) उत्पादन क्षमता में कमी—यह मानव स्वभाव है कि व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा पर ही वह ठीक प्रकार से कार्य कर सकता है। समाजवादी व्यवस्था में उत्पादन कार्य राज्य के हाथ में आ जाने और सभी व्यक्तियों का पारिश्रमिक निश्चित होने के कारण कार्य करने के लिए प्रेरणा का अन्त हो जाता है और व्यक्ति आलसी बन जाता है। इसी कारण आर्थिक प्रगति भी रुक जाती है। समाजवाद के दुष्परिणाम हम सोवियत संघ के विघटन के रूप में देख सकते हैं। इसका प्रमुख कारण आर्थिक विकास की कमी थी।

(2) नौकरशाही का विकास—समाजवादी व्यवस्था में सभी उद्योगों पर राजकीय नियन्त्रण होगा और उनका प्रबन्ध सरकारी अधिकारियों द्वारा किया जायेगा। सरकारी अधिकारियों के हाथ में शक्ति आ जाने का स्वाभाविक परिणाम नौकरशाही का विकास होगा। काम की गति शिथिल हो जायेगी, सरल से सरल काम देर से होंगे और घूंसखोरी तथा भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलेगा।

(3) समानता की धारणा प्राकृतिक विधान के विरुद्ध—समाजवाद समानता, सबसे प्रमुख रूप में आर्थिक समानता पर बल देता है और आलोचकों के अनुसार समानता का यह विचार प्राकृतिक विधान और प्राकृतिक व्यवस्था के विरुद्ध है। प्रकृति के द्वारा व्यक्तियों को शारीरिक, मानसिक और नैतिक शक्तियां समान रूप में नहीं वरन् असमान रूप में प्रदान की गयी हैं और इसी कारण समानता स्थापित करने के किसी भी प्रयत्न में सफलता प्राप्त होना बहुत अधिक सन्देहपूर्ण है।

(4) राज्य की कार्यकुशलता में कमी—समाजवादी व्यवस्था में राज्य के कार्यक्षेत्र में बहुत अधिक विस्तार हो जाने के कारण राज्य की कार्यकुशलता में भी कमी हो जायेगी। समाजवादी व्यवस्था में सार्वजनिक निर्माण सम्बन्धी, उत्पादन, वितरण तथा श्रमिक विधान सम्बन्धी सभी कार्य राज्य द्वारा होंगे। आलोचकों का कथन है कि राज्य के हाथ में इतने अधिक कार्यों के आ जाने से एक भी कार्य ठीक प्रकार से सम्पन्न नहीं हो सकेगा।

(5) मनुष्य का नैतिक पतन—सभी कार्यों को करने की शक्ति राज्य के हाथ में आ जाने से आत्मनिर्भरता, आत्मविश्वास, साहस और आरम्भक के नैतिक गुणों का व्यक्तियों में अन्त हो जायेगा। समाजवादी व्यवस्था में उसे अपने विकास की नवीन दिशाएं और दशाएं न प्राप्त होने के कारण वह हतप्रभ हो जायेगा और उसका नैतिक पतन हो जायेगा।

(6) समाजवादी व्यवस्था अपव्ययी होगी—आलोचक यह भी कहते हैं कि समाजवादी व्यवस्था पूंजीवादी व्यवस्था से बहुत अधिक खर्चीली होगी। जब सरकार के द्वारा किसी प्रकार का कार्य किया जाता है तो एक छोटे से काम के लिए अनेक कर्मचारी रखे जाते हैं और फिर भी यह कार्य सफलतापूर्वक नहीं हो पाता।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(7) व्यक्ति की स्वतन्त्रता के अन्त का भय—समाजवाद के अन्तर्गत जब सरकार के द्वारा बहुत अधिक कार्य किये जाते हैं तो इस बात का भय रहता है कि व्यक्तियों के जीवन में सरकार के इस अत्यधिक हस्तक्षेप से उनकी स्वतन्त्रता का अन्त हो जायेगा। समाजवादी राज्य समाजवाद की स्थापना के नाम पर व्यक्ति की स्वतन्त्रता व उसके राजनीतिक अधिकारों को सीमित कर देते हैं।

समाजवाद के पक्ष में तर्क (Case in Favour of Socialism)

समाजवाद के विपक्ष में जो विभिन्न तर्क दिये गये हैं उनके आधार पर यह अनुमान नहीं लगाया जाना चाहिए कि समाजवाद एक सारहीन दर्शन है। समाजवाद के पक्ष में प्रमुख रूप से निम्नलिखित बातें कही जाती हैं :

(1) समाजवाद वर्तमान व्यवस्था की बुराइयों का प्रभावशाली वर्णन और सुन्दर हल है—समाजवाद वर्तमान व्यवस्था की बुराइयों का स्पष्ट, विस्तृत और प्रभावशाली वर्णन है। समाजवाद पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत निर्धन वर्ग के दुखों और कष्टों का व्यापक वर्णन करता है और नागरिकों को पूंजीवादी व्यवस्था की बुराइयां दूर करने का सन्देश प्रदान करता है।

समाजवाद के पक्ष में तर्क
1. समाजवाद वर्तमान व्यवस्था की बुराइयों का प्रभावशाली वर्णन और सुन्दर हल है
2. समाजवाद के प्रति की गयी अधिकांश आलोचनाएं भ्रमपूर्ण हैं
3. समाजवाद में सम्पत्ति का अपव्यय नहीं होगा
4. समाजवाद सबको उन्नति के समान अवसर देगा
5. समाजवाद पर-परिश्रमजीवी वर्ग का अन्त कर देगा.
6. समाजवाद भ्रातृत्व तथा समाज-सेवा भाव को बढ़ाता है
7. समाजवाद एक न्यायपूर्ण तथा जनतान्त्रिक विचारधारा है

इसके अलावा समाजवाद इन बुराइयों को दूर करने का व्यावहारिक मार्ग भी बताता है। आज के समाज में जो भी शोषण, अन्याय तथा भीषण असमानता दिखायी देती है, उन सबका मूल कारण पूंजी का असमान वितरण और उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व है। ऐसी स्थिति में उत्पादन के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व की स्थापना हो जाय और सबको उपभोग के लिए बराबर मिले, तो वर्तमान काल की सभी आर्थिक और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न सामाजिक तथा राजनीतिक बुराइयों का अन्त हो जायेगा।

(2) समाजवाद के प्रति की गयी अधिकांश आलोचनाएं भ्रमपूर्ण हैं—समाजवाद के आलोचकों द्वारा व्यक्ति को आलसी, निकम्मा और कमजोर मानकर इस बात का प्रतिपादन किया जाता है कि समाजवादी व्यवस्था में उद्योग के अन्तर्गत कार्य करने वाले व्यक्तियों का उद्योग के साथ लाभ-हानि का प्रश्न जुड़ा न होने के कारण उन्हें कुशलतापूर्वक कार्य करने के लिए कोई प्रेरणा नहीं मिलती और उत्पादन में कमी हो जाती है। आलोचकों का यह विचार मानव स्वभाव की त्रुटिपूर्ण मान्यता पर आधारित है।

समाजवाद से व्यक्ति की स्वतन्त्रता सीमित हो जायेगी, यह भी एक भ्रान्ति ही है। वास्तव में तो समाजवाद में प्राप्त आर्थिक स्वतन्त्रता व्यक्ति को सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में स्वतन्त्र कर देगी। समाजवाद को सर्वाधिकारवाद पर आधारित नौकरशाही व्यवस्था भी नहीं कहा जा सकता। वास्तव में कर्मचारी वर्ग का सहारा तो सभी प्रकार की व्यवस्थाओं को लेना होता है। समाजवाद की आलोचनाएं तो भ्रमपूर्ण हैं ही, इसके विपरीत समाजवाद कुछ सकारात्मक श्रेष्ठताओं पर आधारित है।

(3) समाजवाद में सम्पत्ति का अपव्यय नहीं होगा—व्यक्तिवादी अर्थव्यवस्था में आपसी प्रतियोगिता के कारण विज्ञापन, आदि पर बहुत अधिक खर्च करना पड़ता है, जिससे वस्तु का लागत मूल्य बहुत अधिक बढ़ जाता है। समाजवादी व्यवस्था में आवश्यकता के अनुसार उत्पादन होने तथा विज्ञापन और मध्यस्थों की कोई जरूरत न होने के कारण बहुत अधिक मितव्ययता सम्भव हो सकेगी।

(4) समाजवाद सबको उन्नति के समान अवसर देगा—समाजवाद का लक्ष्य समानता है और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए समाजवाद सभी व्यक्तियों को उन्नति के समान अवसर देने की व्यवस्था करता है। समाजवाद व्यक्तियों तथा राष्ट्र के चरित्र एवं भाग्य-निर्धारण में वातावरण के महत्व को स्वीकार करता है और एक ऐसे वातावरण के निर्माण पर जोर देता है जिनमें प्रत्येक के द्वारा अपने व्यक्तित्व का उच्चतम विकास किया जा सके।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(5) समाजवाद पर-परिश्रमजीवी वर्ग का अन्त कर देगा—समाजवादी दर्शन 'जो काम नहीं करेगा, वह खायेगा भी नहीं' (He, who will not work, neither shall he eat) के विचार पर आधारित है। इससे स्पष्ट है कि समाजवाद में स्वयं परिश्रम कर रोजी कमाने वाले वर्ग को ही जीवित रहने का अधिकार होगा और आज की सामाजिक व्यवस्था में विद्यमान पर-परिश्रमजीवी पूंजीपति वर्ग का अन्त हो जायेगा। समाजवाद का यह विचार और कार्य पूर्णतया न्यायोचित है।

(6) समाजवाद भ्रातृत्व तथा समाज-सेवा भाव को बढ़ाता है—समाजवादी राज्य समानता पर आधारित होगा। यह राज्य सामूहिक हानि-लाभ के विचार को ध्यान में रखते हुए भ्रातृत्व की ओर अग्रसर होगा। व्यक्तियों पर समाजवादी व्यवस्था को अपनाने का मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी पड़ेगा और इस बात की आशा की जा सकती है कि समाजवादी व्यवस्था में उनकी प्रवृत्ति व्यक्तिगत स्वार्थों की तुष्टि के स्थान पर सामूहिक हितों की साधना ही हो जायेगी।

(7) समाजवाद एक न्यायपूर्ण तथा जनतान्त्रिक विचारधारा है—राजनीतिक क्षेत्र में समाजवाद जनतन्त्र के प्रति विश्वास व्यक्त करता है, क्योंकि राजतन्त्रीय या कुलीनतन्त्रीय व्यवस्था में अनिवार्य रूप से विद्यमान भेद समाजवाद को मान्य नहीं है। इसके अलावा समाजवाद उत्पादन पर 'सामूहिक स्वामित्व' और उसकी 'सामूहिक व्यवस्था' का समर्थक है, जो पूर्णतया प्रजातान्त्रिक तथा न्यायोचित विचार है। वास्तव में प्रजातन्त्र और समाजवाद परस्पर पूरक हैं जिनमें से एक राजनीतिक समानता का प्रतिपादन करता है तो दूसरा आर्थिक समानता का। लैडलर के शब्दों में, "प्रजातान्त्रिक आदर्श का आर्थिक पक्ष वास्तव में समाजवाद ही है।"[1]

निष्कर्ष—यह तथ्य है कि समाजवाद एक न्यायपूर्ण तथा जनतान्त्रिक विचारधारा है। समाजवाद के पक्ष में एक विशेष बात यह है कि समाजवाद के व्यावहारिक रूप के सम्बन्ध में मतभेद होने पर भी यह सर्वत्र स्वीकार कर लिया गया है कि लोककल्याण की दृष्टि से राज्य द्वारा आर्थिक क्षेत्र और मानव जीवन के सभी पक्षों पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण रखा जाना चाहिए। 1991 में सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के अन्य राज्यों में जो घटनाचक्र बना, वह साम्यवाद की असफलता का उदाहरण है, यह समाजवाद की असफलता नहीं है।

3. लोककल्याणकारी राज्य

लोककल्याणकारी राज्य की धारणा का अभ्युदय (Origin of the Concept of Welfare State)—साधारणतया लोककल्याणकारी राज्य का तात्पर्य एक ऐसे राज्य से होता है, जिसके अन्तर्गत शासन की शक्ति का प्रयोग किसी वर्ग विशेष के कल्याण हेतु नहीं वरन् सम्पूर्ण जनता के कल्याण के लिए किया जाता है। इस रूप में लोककल्याणकारी राज्य का विचार नया नहीं है। भारत में प्राचीनकाल से रामराज्य की जो धारणा प्रचलित है, वह एक ऐसे राज्य का प्रतीक है, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वांगीण रूप से विकास करने का प्रयत्न किया जाता है। इसी दृष्टि से वेदव्यास ने 'महाभारत' में कहा है कि "जो नरेश अपनी प्रजा को पुत्र के समान समझकर उसकी चतुर्मुखी उन्नति का प्रयत्न नहीं करता, वह नरक का भागी होता है।"[2] लगभग इसी प्रकार की धारणा यूनान के नगर राज्यों में प्रचलित थी और इसी विचार को लक्ष्य करते हुए अरस्तू ने कहा है कि "राज्य जीवन के लिए अस्तित्व में आया और सद्जीवन के लिए अस्तित्व में बना हुआ है।"

इस प्रकार अपने मूल रूप में लोककल्याणकारी राज्य की धारणा सदैव ही विद्यमान रही है, लेकिन वर्तमान समय में जिस अर्थ विशेष में इस धारणा का प्रयोग किया जाता है, वह वर्तमान परिस्थितियों की ही उपज है। 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध और 19वीं सदी के प्रारम्भ में विश्व के अधिकांश राज्यों द्वारा व्यक्तिवादी 'अहस्तक्षेप' (*Laissez faire*) की नीति को अपना लिया गया था, जिसके परिणामस्वरूप यूरोप के राज्य अधिकाधिक सम्पत्तिशाली बनते गये, लेकिन इसके साथ ही सम्पत्ति का केवल कुछ ही हाथों में केन्द्रीयकरण भी होने लगा। एक ओर तो अत्यधिक सम्पत्तिशाली वर्ग उत्पन्न हो गया और दूसरी ओर एक ऐसा श्रमिक वर्ग था, जिसके पास अपनी क्षमता से अधिक कार्य करने पर भी जीवन के साधन नहीं थे। ऐसी स्थिति में बहुसंख्यक जनता में विद्यमान व्यवस्था के प्रति असन्तोष उत्पन्न हुआ और रस्किन, कार्लायल, विलियम गाडविन, आदि विद्वानों द्वारा इस असन्तोष की अभिव्यक्ति की गयी।

1 "The economic side of the democratic ideal is, in fact, socialism itself."
—Laidler, *Social and Economic Movement*, p. 193.

2 शान्ति पर्व; 57 : 33.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्तिवादी व्यवस्था को नष्ट करने के उद्देश्य से ही 1848 में कार्ल मार्क्स और ऐंजिल्स ने 'साम्यवादी घोषणा-पत्र' (*Communist Manifesto*) प्रकाशित किया। साम्यवादी विचारधारा से प्रेरणा ग्रहण करते हुए ही 1917 में सोवियत संघ में सर्वहारा वर्ग द्वारा एक सफल क्रान्ति की गयी और समस्त आन्तरिक एवं बाहरी विरोधों के बावजूद सोवियत संघ में साम्यवादी शासन-व्यवस्था स्थापित की गयी। यह साम्यवादी व्यवस्था निश्चित रूप से पाश्चात्य देशों में प्रचलित पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध और उनके लिए भय का एक कारण थी। ऐसी स्थिति में पूंजीवादी देशों ने अपनी व्यवस्था पर पुनर्विचार करना प्रारम्भ किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि विद्यमान व्यवस्था को बनाये रखने के लिए उसमें मूल परिवर्तन आवश्यक है। उनके द्वारा अपनी शासन-व्यवस्था को सर्वजन हितकारी बनाने का प्रयत्न किया गया और अपनी शासन-व्यवस्था में परिवर्तन करने के उद्देश्य से उनके द्वारा राज्य के जिस रूप विशेष को अपनाया गया, वह लोककल्याणकारी राज्य के नाम से प्रसिद्ध है। लोककल्याणकारी राज्य का विचार एक लोकतान्त्रिक विचार है लोकतन्त्र के विकास के साथ इसका विकास जुड़ा है। वस्तुतः लोककल्याणकारी राज्य आर्थिक व सामाजिक क्षेत्र में प्रजातन्त्र का विस्तार है। भारत के संविधान में नीति निदेशक तत्वों के माध्यम से लोककल्याणकारी विचार को लागू किया गया।

20वीं शताब्दी में ब्रिटिश विचारक लास्की पहला चिन्तक है जिसने 'पुलिस राज्य' की धारणा के विपरीत सर्वप्रथम कल्याणकारी राज्य की धारणा का समर्थन किया। ब्रिटेन पहला राज्य है जहां कल्याणकारी राज्य की धारणा को आधुनिक अर्थों में मूर्तरूप दिया गया। ब्रिटेन में 20वीं शताब्दी में श्रमिक संघ आन्दोलन, फेबियनवाद के प्रभाव तथा श्रमिक दल (Labour Party) के जनाधार के विस्तार के कारण कल्याणकारी राज्य की मांग जोर पकड़ने लगी। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद लॉर्ड एटली के प्रधानमन्त्री काल में राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा का आरम्भ किया गया तथा कई बड़े उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट की 'न्यू डील' (New Deal) की नीति जनकल्याण की नीति थी। यूरोप के अन्य राज्यों—स्वीडन, नार्वे, डेनमार्क आदि में राज्य द्वारा कल्याणकारी कार्यक्रमों को लागू किया गया। समाजवादी राज्यों में पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से इस विचार को लागू किया गया। भारत के नए संविधान में नीति निदेशक तत्वों के माध्यम से कल्याणकारी राज्य की स्थापना का लक्ष्य रखा गया तथा योजनागत विकास व अन्य कानूनी प्रावधानों द्वारा कल्याणकारी राज्य की धारणा को मूर्त रूप प्रदान किया गया। इस प्रकार 20वीं शताब्दी में अधिकांश राज्य लोकतन्त्र के विकास के साथ-साथ कल्याणकारी राज्य की धारणा की ओर अग्रसर हुए।

लोककल्याणकारी राज्य की परिभाषा (Definition of Welfare State)

अपने वर्तमान रूप में लोककल्याणकारी राज्य की प्रमुख रूप से निम्न प्रकार परिभाषाएं की गयी हैं :

1918 में प्रकाशित '*Encyclopaedia of Social Sciences*' में लोककल्याणकारी राज्य की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि "लोककल्याणकारी राज्य का तात्पर्य एक ऐसे राज्य से है जो अपने सभी नागरिकों को न्यूनतम जीवन-स्तर प्रदान करना अपना अनिवार्य उत्तरदायित्व समझता है।"

टी. डब्ल्यू. केण्ट के अनुसार, "लोकहितकारी वह राज्य है जो अपने नागरिकों के लिए व्यापक समाज सेवाओं की व्यवस्था करता है।" इन समाज सेवाओं के अनेक रूप होते हैं। इनके अन्तर्गत शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, वृद्धावस्था में पेंशन, आदि की व्यवस्था होती है। इसका मुख्य उद्देश्य नागरिकों को सभी प्रकार की सुरक्षा प्रदान करना होता है।

डॉ. अब्राहम के अनुसार "कल्याणकारी राज्य वह है जो अपनी आर्थिक व्यवस्था का संचालन आय के अधिकाधिक समान वितरण के उद्देश्य से करता है।"

जवाहरलाल नेहरू ने अपने एक भाषण में लोककल्याणकारी राज्य को परिभाषित करते हुए कहा था, "सबके लिए समान अवसर प्रदान करना, अमीरों और गरीबों के बीच अन्तर मिटाना और जीवन-स्तर को ऊपर उठाना लोककल्याणकारी राज्य के आधारभूत तत्व हैं।"

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं में लोककल्याण के आर्थिक पक्ष पर अधिक बल दिया गया है, परन्तु कल्याण की धारणा केवल भौतिक ही नहीं, वरन् मानवीय स्वतन्त्रता और प्रगति से भी सम्बन्धित है। सन् 1954 में

1 "It (welfare state) is a state that provides for its citizens, a wide range of Social Services."
—*T. W. Kent*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैसूर विश्वविद्यालय में दीक्षान्त भाषण देते हुए, न्यायमूर्ति छागला ने कल्याणकारी राज्य की सही धारणा को व्यक्त करते हुए कहा था, "लोककल्याणकारी राज्य का कार्य एक ऐसे पुल का निर्माण करना है जिसके द्वारा व्यक्ति जीवन की पतित अवस्था से निकलकर एक ऐसी अवस्था में प्रवेश कर सके जो उत्थानकारी और उद्देश्यपूर्ण हो। लोककल्याणकारी राज्य का यथार्थ उद्देश्य नागरिक द्वारा सच्ची स्वतन्त्रता के उपभोग को सम्भव बनाना है।"

इस प्रकार लोककल्याणकारी राज्य का अर्थ है—राज्य के कार्यक्षेत्र का विस्तार। राज्य के कार्यक्षेत्र के विस्तार का अर्थ प्रायः व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर बन्धन से लिया जाता है, लेकिन कल्याणकारी राज्य का अर्थ राज्य के कार्यक्षेत्र का इस प्रकार विस्तार करना होता है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर कोई विशेष बन्धन न लगे, राज्य के कार्यक्षेत्र के साथ-ही-साथ व्यक्ति का भी अपना स्वतन्त्र कार्यक्षेत्र हो। वास्तव में लोककल्याणकारी राज्य की धारणा पश्चिमी प्रजातन्त्र और साम्यवादी अधिनायकतन्त्र—दोनों से ही भिन्न है। पश्चिमी प्रजातन्त्र राजनीतिक स्वतन्त्रता को एक ऐसी स्थिति प्रदान करता है जिसके अन्तर्गत नागरिकों को आर्थिक सुरक्षा प्राप्त नहीं होती हैं। इसके विपरीत, आर्थिक सुरक्षा के विचार पर आधारित साम्यवादी अधिनायकतन्त्र में राजनीतिक स्वतन्त्रता का अभाव होता है। लेकिन लोककल्याणकारी राज्य की धारणा राजनीतिक स्वतन्त्रता और आर्थिक सुरक्षा के बीच सामंजस्य का एक सफल प्रयत्न है।

हॉबमैन (Hobman) के शब्दों में, "यह (कल्याणकारी राज्य) दो अतियों में एक समझौता है जिसमें एक तरफ साम्यवाद है और दूसरी तरफ अनियन्त्रित व्यक्तिवाद।"[1] लोककल्याणकारी राज्य लोकहित पर आधारित होता है और इस सम्बन्ध में लोकहित से हमारा तात्पर्य राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से व्यक्ति की अवसर की असमानता को दूर कर उसकी साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है। इस व्यवस्था का उद्देश्य किसी एक समुदाय या वर्ग विशेष के हितों की साधना न होकर जनता के सभी वर्ग के हितों की साधना होता है।

लोककल्याणकारी राज्य के लक्षण (Elements of Welfare State)

लोककल्याणकारी राज्य की उपर्युक्त धारणा को दृष्टि में रखते हुए इस प्रकार के राज्य के प्रमुख रूप से निम्नलिखित लक्षण बताये जा सकते हैं :

(1) **आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था**—लोककल्याणकारी राज्य प्रमुख रूप से आर्थिक सुरक्षा के विचार पर आधारित है। हमारा अब तक का अनुभव स्पष्ट करता है कि शासन का रूप चाहे कुछ भी हो, व्यवहार में राजनीतिक शक्ति उन्हीं लोगों के हाथों में केन्द्रित होती है, जो आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली होते हैं। अतः राजनीतिक शक्ति को जनसाधारण में निहित करने और जनसाधारण के हित में इसका प्रयोग करने के लिए आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था नितान्त आवश्यक है। लोककल्याणकारी राज्य के सन्दर्भ में आर्थिक सुरक्षा का तात्पर्य निम्न तीन बातों से लिया जा सकता है :

लोककल्याणकारी राज्य के लक्षण
- (1) आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था
  - (i) सभी व्यक्तियों को रोजगार
  - (ii) न्यूनतम जीवन-स्तर की गारण्टी
  - (iii) अधिकतम समानता की स्थापना
- (2) राजनीतिक सुरक्षा की व्यवस्था
  - (i) लोकतन्त्रीय शासन
  - (ii) नागरिक स्वतन्त्रताएं
- (3) सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था
- (4) राज्य के कार्यक्षेत्र में वृद्धि
- (5) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना

(i) **सभी व्यक्तियों को रोजगार**—ऐसे सभी व्यक्तियों को, जो शारीरिक और मानसिक दृष्टि से कार्य करने की क्षमता रखते हैं, राज्य के द्वारा उनकी योग्यतानुसार उन्हें किसी-न-किसी प्रकार का कार्य अवश्य ही दिया जाना चाहिए। जो व्यक्ति किसी भी प्रकार का कार्य करने में असमर्थ हैं या राज्य जिन्हें कार्य प्रदान नहीं कर सका है, उनके जीवनयापन के लिए राज्य द्वारा 'बेरोजगार बीमे' की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(ii) **न्यूनतम जीवन-स्तर की गारण्टी**—एक व्यक्ति को अपने कार्य के बदले में इतना पारिश्रमिक अवश्य ही मिलना चाहिए कि उसके द्वारा न्यूनतम आर्थिक स्तर की प्राप्ति की जा सके। न्यूनतम जीवन-स्तर से आशय

1 Hobman, C. L., *The Welfare State*, p. 1.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है—भोजन, वस्त्र, निवास, शिक्षा और स्वास्थ्य की सुविधाएं। लोककल्याणकारी राज्य में किसी एक के लिए अधिकता के पूर्व सबके लिए पर्याप्त की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(iii) अधिकतम समानता की स्थापना—सम्पत्ति और आय की पूर्ण समानता न तो सम्भव है और न ही वांछनीय; तथापि आर्थिक न्यूनतम के पश्चात् होने वाली व्यक्ति की आय का उसके समाज सेवा सम्बन्धी कार्य से उचित अनुपात होना चाहिए। जहां तक सम्भव हो, व्यक्तियों की आय के न्यूनतम और अधिकतम स्तर में अत्यधिक अन्तर नहीं होना चाहिए। इस सीमा तक आय की समानता तो स्थापित की ही जानी चाहिए कि कोई भी व्यक्ति अपने धन के आधार पर दूसरे का शोषण न कर सके।

(2) राजनीतिक सुरक्षा की व्यवस्था—लोककल्याणकारी राज्य की दूसरी विशेषता राजनीतिक सुरक्षा की व्यवस्था कही जा सकती है। इस प्रकार की व्यवस्था की जानी चाहिए कि राजनीतिक शक्ति सभी व्यक्तियों में निहित हो और ये अपने विवेक के आधार पर इस राजनीतिक शक्ति का प्रयोग कर सकें। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु निम्न बातें आवश्यक हैं :

(i) लोकतन्त्रीय शासन—लोककल्याणकारी राज्य में व्यक्ति के राजनीतिक हितों की साधना को भी आर्थिक हितों की साधना के समान ही आवश्यक समझा जाता है, अतः एक लोकतन्त्रीय शासन-व्यवस्था वाला राज्य ही लोककल्याणकारी राज्य हो सकता है।

(ii) नागरिक स्वतन्त्रताएं—संविधान द्वारा लोकतन्त्रीय शासन की स्थापना कर देने से ही राजनीतिक सुरक्षा प्राप्त नहीं हो जाती। व्यवहार में राजनीतिक सुरक्षा के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए नागरिक स्वतन्त्रता का वातावरण होना चाहिए अर्थात् नागरिकों को विचार अभिव्यक्ति और राजनीतिक दलों के संगठन की स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। इन स्वतन्त्रताओं के अभाव में लोकहित की साधना नहीं हो सकती। **लोकहित की साधना के बिना लोककल्याणकारी राज्य, आत्मा के बिना शरीर के समान होगा।**

पूर्व सोवियत संघ और वर्तमान चीन, आदि साम्यवादी राज्यों में नागरिकों के लिए नागरिक स्वतन्त्रताओं और परिणामतः राजनीतिक सुरक्षा का अभाव होने के कारण उन्हें लोककल्याणकारी राज्य नहीं कहा जा सकता।

(3) सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था—सामाजिक सुरक्षा का तात्पर्य सामाजिक समानता से है और इस सामाजिक समानता की स्थापना के लिए आवश्यक है कि धर्म, जाति, वंश, रंग और सम्पत्ति के आधार पर उत्पन्न भेदों का अंत करके व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में महत्व प्रदान किया जाय। डॉ. बेनी प्रसाद के शब्दों में, **"सामाजिक समानता का सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि प्रत्येक व्यक्ति के सुख का महत्व हो सकता है तथा किसी को भी अन्य किसी के सुख का साधनमात्र नहीं समझा जा सकता है।"** वस्तुतः लोककल्याणकारी राज्य में जीवन के सभी पक्षों में समानता के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए।

(4) राज्य के कार्यक्षेत्र में वृद्धि—लोककल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त व्यक्तिवादी विचार के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है और इस मान्यता पर आधारित है कि राज्य को वे सभी जनहितकारी कार्य करने चाहिए, जिनके करने से व्यक्ति की स्वतन्त्रता नष्ट या कम नहीं होती। इसके द्वारा न केवल आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सुरक्षा की व्यवस्था वरन् जैसा कि हॉब्स ने कहा है, **"डॉक्टर, नर्स, शिक्षक, व्यापारी, उत्पादक, बीमा कम्पनी के एजेण्ट, मकान बनाने वाले, रेलवे नियन्त्रक तथा अन्य सैकड़ों रूपों में कार्य किया जाना चाहिए।"**

(5) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना—इन सबके अतिरिक्त एक लोककल्याणकारी राज्य, अपने राज्य विशेष के हितों से ही सम्बन्ध न रखकर सम्पूर्ण मानवता के हितों से सम्बन्ध रखता है और इसका स्वरूप राष्ट्रीय न होकर अन्तर्राष्ट्रीय होता है। एक लोककल्याणकारी राज्य तो **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** अर्थात् **'सम्पूर्ण विश्व ही मेरा कुटुम्ब है'** के विचार पर आधारित होता है।

लोककल्याणकारी राज्य के कार्य (Functions of Welfare State)

परम्परागत विचारधारा राज्य के कार्यों को दो वर्गों (अनिवार्य और ऐच्छिक) में विभाजित करने की रही है और यह माना जाता रहा है कि अनिवार्य कार्य तो राज्य के अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए किये जाने जरूरी हैं, किन्तु ऐच्छिक कार्य राज्य की जनता के हित में होते हुए भी राज्य के द्वारा उनका किया जाना तत्कालीन समय की विशेष परिस्थितियों और शासन के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है, लेकिन

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोककल्याणकारी राज्य की धारणा के विकास के परिणामस्वरूप अनिवार्य और ऐच्छिक कार्यों की यह सीमा रेखा समाप्त हो गयी है और यह माना जाने लगा है कि परम्परागत रूप में ऐच्छिक कहे जाने वाले कार्य भी राज्य के लिए उतने ही आवश्यक हैं जितने कि अनिवार्य समझे जाने वाले कार्य। लोककल्याणकारी राज्य के प्रमुख कार्य निम्न हैं :

(1) आन्तरिक सुव्यवस्था तथा विदेशी आक्रमण से रक्षा।
(2) व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों और राज्य एवं व्यक्तियों के सम्बन्धों की व्यवस्था।
(3) कृषि, उद्योग तथा व्यापार का नियमन और विकास।
(4) आर्थिक सुरक्षा सम्बन्धी कार्य।
(5) जनता के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाना।
(6) शिक्षा और स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्य।
(7) सार्वजनिक सुविधा सम्बन्धी कार्य।
(8) समाज-सुधार।
(9) आमोद-प्रमोद की सुविधाएं।
(10) नागरिक स्वतन्त्रताओं की व्यवस्था।
(11) अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र के कार्य।

इस प्रकार लोककल्याणकारी राज्य के कुछ कर्तव्य गिनाये गये हैं, किन्तु लोककल्याणकारी राज्य के समस्त कर्तव्यों की सूची तैयार करना सम्भव नहीं है। व्यक्ति के जीवन में राज्य का हस्तक्षेप कहां से आरम्भ हो और कहां पर समाप्त हो जाय, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर स्थानीय तथा राष्ट्रीय परिस्थितियों और आवश्यकताओं के सन्दर्भ में ही दिया जा सकता है। आज की जटिल परिस्थितियों में कोई भी व्यक्ति केवल अपने लिए या अपने ही प्रयास से जीवित नहीं रह सकता है और समाज द्वारा जनहितकारी कार्यों का सम्पादन अच्छे जीवन की एक आवश्यकता बन गयी है। अतः राज्य के द्वारा अपने नागरिकों को वे समस्त सुविधाएं प्रदान की जानी चाहिए जो उनके सामूहिक कल्याण की वृद्धि करने वाली हों।

लोककल्याणकारी राज्य का मूल्यांकन (Evaluation of Welfare State)

यद्यपि लोककल्याण वर्तमान समय की सर्वाधिक लोकप्रिय प्रवृत्ति है, फिर भी लोककल्याणकारी राज्य के विरुद्ध कुछ तर्क दिये जाते हैं, जो निम्न प्रकार हैं :

(1) **ऐच्छिक समुदायों पर आघात**—जब लोककल्याण की प्रवृत्ति को अपना लेने पर राज्य के कार्य बहुत अधिक बढ़ जाते हैं, तो राज्य अनेक ऐसे कार्य करने लगता है, जो वर्तमान समय में ऐच्छिक समुदायों द्वारा किये जाते हैं। इस प्रकार लोककल्याणकारी राज्य ऐच्छिक समुदाय के लिए घातक होता है और मानव जीवन के सम्बन्ध में उपयोगी भूमिका निभाने वाले ये ऐच्छिक समुदाय समाप्त हो जाते हैं।

लोककल्याणकारी राज्य का मूल्यांकन
(1) ऐच्छिक समुदायों पर आघात
(2) वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अन्त
(3) नौकरशाही का भय
(4) अत्यधिक खर्चीला
(5) प्रशासनिक अक्षमता

(2) **वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अन्त**—व्यक्तियों का कहना है कि लोककल्याण की प्रवृत्ति को अपना लेने पर जब राज्य के कार्य बहुत अधिक बढ़ जाते हैं, तो स्वभावतः राज्य की शक्तियों में भी वृद्धि होती है और अति शक्तिशाली राज्य वैयक्तिक स्वतन्त्रता को समाप्त कर देता है। अमरीकी राज्य सचिव बायर्नेस ने इसी आधार पर इसमें 'वृहद सरकार' (Big Government) की संज्ञा दी थी।

(3) **नौकरशाही का भय**—लोककल्याण की प्रवृत्ति को अपना लेने पर राज्य-नौकरशाही में भी बहुत अधिक वृद्धि होगी और नौकरशाही में यह अत्यधिक वृद्धि लालफीताशाही, भाई-भतीजावाद, भ्रष्टाचार, आदि अन्य बुराइयों को जन्म देगी।

(4) **अत्यधिक खर्चीला**—लोककल्याणकारी राज्य बहुत अधिक खर्चीला आदर्श है, क्योंकि राज्य को विभिन्न लोककल्याणकारी सेवाएं सम्पादित करने में बहुत अधिक धनराशि की आवश्यकता होती है। सामान्य

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्थिक साधनों वाला राज्य इस प्रकार का व्यय-भार वहन नहीं कर सकता। सिनेटर टाफ्ट ने इसी कारण कहा है कि "**लोककल्याण की नीति राज्य को दिवालियेपन की ओर ले जायेगी।**"

(5) **प्रशासनिक अक्षमता**—लोककल्याणकारी राज्य को सामाजिक व आर्थिक क्षेत्र में अनेक ऐसे कार्य करने पड़ते हैं जो प्रशासन की क्षमता के बाहर हैं, क्योंकि उनका स्वरूप सामाजिक है। प्रशासन इन कार्यों का कुशलता पूर्व निष्पादन करने में असफल रहा है। जैसे शिक्षा को बढ़ावा, दहेज प्रथा का अन्त या बाल विवाह को रोकना।

लोककल्याणकारी राज्य के जो उपर्युक्त दोष बताये जाते हैं, उनके कारण लोककल्याणकारी राज्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वास्तव में ये दोष लोककल्याणकारी राज्य के नहीं वरन् मानवीय जीवन की दुर्बलताओं के तथा हमारी अपनी राजनीतिक और प्रशासनिक व्यवस्था के हैं। **सर्वप्रथम**, लोककल्याणकारी राज्य और सर्वाधिकारवादी राज्य में आधारभूत अन्तर है और लोककल्याणकारी राज्य का तात्पर्य राज्य द्वारा व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन पर अधिकार नहीं है। लोककल्याणकारी राज्य में न केवल व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए एक बहुत बड़ा क्षेत्र बच जाता है, वरन् यह व्यक्ति की स्वतन्त्रता को वास्तविकता का रूप प्रदान करता है। लोककल्याणकारी राज्य के कारण ऐच्छिक समुदायों के कार्यक्षेत्र पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता है। इससे उनके कार्य और महत्व में वृद्धि ही होती है, कमी नहीं। **द्वितीय**, जहां तक नौकरशाही की बुराइयों का सम्बन्ध है, वे तो दोषपूर्ण राज-व्यवस्था और मानवीय चरित्र की दुर्बलता के परिणाम हैं और इनमें सुधार कर इन्हें दूर किया जा सकता है। **तृतीय**, इसके अतिरिक्त, यह देखने में आया कि लोककल्याण की प्रवृत्ति तत्काल तो राजकोष में भारी व्यय का कारण होती है, लेकिन लम्बे समय में इसका नागरिकों की कार्यकुशलता पर अच्छा प्रभाव पड़ता है, जिससे उत्पादन में वृद्धि होती है और राष्ट्रीय आय तेजी के साथ बढ़ती है। व्यवहार में लोककल्याणकारी राज्य की प्रवृत्ति को विश्व के लगभग सभी राज्यों द्वारा किसी-न-किसी रूप में अपना लिया गया है और इसे अपनाने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग भी नहीं है। लोकतन्त्र आज की सबसे अधिक लोकप्रिय शासन-व्यवस्था है और लोकतन्त्रीय शासन लोककल्याण के आदर्श को अपनाकर ही सफलता के मार्ग पर आगे बढ़ सकता है। लोकतन्त्र और लोककल्याणकारी राज्य एक-दूसरे के अनुकूल और परस्पर पूरक हैं।

भारत में लोककल्याणकारी राज्य

भारत में लोककल्याण की परम्परा बहुत प्राचीन है। अपनी इस प्राचीन परम्परा के अनुसार भारतीय संविधान-निर्माता लोककल्याणकारी राज्य के विचार से प्रेरित थे, लेकिन एक लोककल्याणकारी राज्य से जिन कार्यों को करने की आशा की जा सकती है उन कार्यों को करने के लिए बहुत अधिक आर्थिक शक्ति और साधनों की आवश्यकता होती है। ग्रेट ब्रिटेन द्वारा भारत का एक लम्बे समय तक शोषण किये जाने के कारण, स्वतन्त्र भारत की सरकार के पास इतने साधन नहीं थे कि राज्य इस प्रकार के सभी जनहितकारी कार्यों को सम्पन्न कर सकता। अतः संविधान-निर्माताओं द्वारा संविधान के नीति निदेशक तत्वों में ही इस बात की घोषणा की गयी है कि हमारा उद्देश्य भारत को एक लोककल्याणकारी राज्य का स्वरूप प्रदान करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए संविधान के नीति निदेशक तत्वों में अनेक बातों का उल्लेख किया गया है, जो इस प्रकार हैं :

(1) राज्य अपनी नीति का इस प्रकार संचालन करेगा कि (अ) समान रूप से नर और नारी सभी नागरिकों को जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त हों, (आ) राष्ट्रीय धन का स्वामित्व और वितरण सबके हित में हो, (इ) पुरुषों और स्त्रियों को समान कार्य के लिए समान वेतन मिले, (ई) बालकों का शोषण न किया जाय, इत्यादि।

(2) राज्य अपने आर्थिक साधनों की सीमा में काम दिलाने, बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी व अंगहीन होने की दशा में सार्वजनिक सहायता देने की व्यवस्था करे।

(3) राज्य काम करने की दशाओं में सुधार करे और स्त्रियों के लिए प्रसूति सहायता का प्रबन्ध करे।

(4) राज्य नागरिकों के स्वास्थ्य को सुधारे तथा उनके आहार, पुष्टि तल और जीवन-स्तर को ऊंचा उठाये।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपर्युक्त बातों को दृष्टि में रखते हुए भारत सरकार तथा राज्य सरकारों ने कल्याणकारी राज्य की स्थापना की दिशा में कुछ कदम उठाये हैं। भारत के तत्कालीन शासक दल राष्ट्रीय कांग्रेस के द्वारा अपने 1955 के अबाड़ी अधिवेशन में 'समाजवादी ढंग के समाज की व्यवस्था' (Socialistic Pattern of Society) का लक्ष्य घोषित किया जा चुका है। कल्याणकारी राज्य के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए भारत ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से ही नियोजन का मार्ग अपनाया और अब तक दस पंचवर्षीय योजनाओं के आधार पर अनेक लोककल्याण योजनाएं स्वीकार और लागू की गयी हैं। 42वें संविधान संशोधन द्वारा संविधान के प्रस्ताव में 'समाजवाद' शब्द जोड़ा गया। भारत में प्रजातान्त्रिक समाजवाद का जो रूप अपनाया गया है वह लोककल्याणकारी राज्य का ही एक प्रकार है।

शिक्षा के क्षेत्र में प्रति वर्ष विभिन्न प्रकार की शिक्षा सुविधाओं का विस्तार हो रहा है और दिसम्बर 2003 में राष्ट्रपति द्वारा स्वीकृत 86वें संवैधानिक संशोधन (2002) के अन्तर्गत 6 से 14 वर्ष तक की आयु वर्ग के बच्चों हेतु निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने का प्रावधान है। मई 1998 से 'राष्ट्रीय साक्षरता मिशन' तथा नवम्बर 2000 से 'सर्व शिक्षा अभियान' का भी राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम चलाया जा रहा है। शिक्षा की तरह ही सभी राज्यों में सार्वजनिक स्वास्थ्य व चिकित्सा सेवाओं का भी विस्तार हो रहा है। 2010 में पूरे देश में शिक्षा के अधिकार कानून को लागू कर दिया गया है तथा शिक्षा के मौलिक अधिकार को व्यावहारिक रूप प्रदान कर दिया गया है।

आर्थिक क्षेत्र में भूमि सुधार, जमींदारी उन्मूलन, चकबन्दी, सहकारी खेती, ग्रामोद्योग और रोजगार सम्बन्धी कानून बने हैं और योजनाएं चालू हैं। भारत गांवों का देश है, अतः गांवों के बहुमुखी विकास के लिए 'सामुदायिक योजनाएं' और 'राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्ड' की योजना सभी गांवों में लागू की गयी है। मजदूरों के कल्याण के लिए अनेक कानूनों का निर्माण किया गया है और उनके लिए जीवन बीमा योजनाएं, प्रॉविडेण्ट फण्ड योजना व बोनस देने की योजनाएं लागू की गयी हैं, जिनसे लाखों मजदूरों को लाभ पहुंच रहा है। इसी प्रकार 'औद्योगिक कर्मचारियों के लिए पारिवारिक पेंशन' की योजना भी लागू की गयी है।

भारत जैसे देश में लोककल्याण का मूलाधार गांवों का विकास और गांवों में सदियों से चली आ रही पंचायत व्यवस्था को सुदृढ़ करना ही हो सकता है। अतः पहले तो 2 अक्टूबर, 1959 से 'पंचायती राज' की व्यवस्था को अपनाया गया तथा इसके बाद पंचायती राज और शहरी क्षेत्र की स्थानीय स्वशासन की कमियों को दूर करने के लिए 1993 ई. में 73वां और 74वां संविधान संशोधन अधिनियम पारित किया गया। आशा की जाती है कि समस्त देश में स्थापित स्थानीय स्वशासन की यह व्यवस्था देश को लोककल्याण और विकास की दिशा में बहुत आगे ले जाने में सफल होगी।

वर्ष 2004-05 में चौदहवीं लोकसभा चुनाव के पूर्व (राजग सरकार) और पश्चात् (यूपीए सरकार) द्वारा लोक कल्याण की दिशा में कुछ कदम बढ़ाए गए हैं। राजग सरकार द्वारा 'बाल श्रम उन्मूलन योजना' लागू की गई। ग्रामीण क्षेत्रों में आवास सुविधाओं के विस्तार के लिए 'अटल ग्रामीण गृह योजना' नाम से एक नई योजना लागू की गई। असंगठित क्षेत्र के लगभग 37 करोड़ श्रमिकों के लिए 'सामाजिक सुरक्षा योजना' अपनाई गई और बालिकाओं के शैक्षणिक पिछड़ेपन को दूर करने के लिए 'कस्तूरबा गांधी विद्यालयों' की योजना लागू की गई। मई 2004 में गठित 'संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन' की सरकार ने अपने 'साझा न्यूनतम कार्यक्रम' (CMP) में लोककल्याण की दिशा में कुछ सारभूत कदम उठाने और तीव्र गति से आगे बढ़ने की बात कही है। एक महत्वपूर्ण चरण के रूप में 'राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी अधिनियम, 2005' के रूप में उठाया गया है, जिसके अनुसार देश की ग्रामीण जनसंख्या (प्रति परिवार एक सदस्य) को वर्ष में न्यूनतम 100 दिन के लिए रोजगार की गारण्टी दी गई है। प्रारम्भ में देश के 200 जिलों में इसे लागू किया गया। इस प्रकार यह योजना सीमित क्षेत्रों के लिए और अनेक सीमाओं के साथ है, लेकिन इसके बावजूद यह लोककल्याण की दिशा में एक महत्वपूर्ण चरण है। इसी प्रकार स्कूल जाने वाले बच्चों के लिए शिक्षण संस्थाओं में 'मध्यावकाश भोजन व्यवस्था' (Mid-day Meals) लागू की गई है तथा 'राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन' योजना भी लागू की गई है।

2008 ई. में पेश किए गए वार्षिक बजट में सीमान्त किसानों, निर्धन वर्ग, महिलाओं, बच्चों और बुजुर्गों आदि के लिए विशेष बजट प्रावधान करते हुए उनके हितों को विशेष रूप से ध्यान में रखा गया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदाहरण के लिए, सीमान्त किसानों को ऋण माफी दी गई है। 'राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार योजना' 200 जिलों से आगे बढ़ाकर देश के सभी जिलों में लागू कर दी गई है। यह इतनी बड़ी रोजगार योजना है कि गतवर्ष जुलाई 2009 तक इसके अन्तर्गत 85.29 करोड़ कार्य दिवसों (Persondays) का सृजन कर ग्रामीण व्यक्तियों को रोजगार के अवसर प्रदान किए गए हैं (India-2010, Govt. of India)। इस प्रकार काम के अधिकार को ग्रामीण क्षेत्रों में एक कानूनी अधिकार का दर्जा दे दिया गया है। 'मध्यावकाश भोजन व्यवस्था' (Mid-day meals), प्राथमिक स्तर के बच्चों से आगे बढ़कर पूर्व माध्यमिक स्तर तक लागू कर दी गई है। वस्तुतः लोकतन्त्र और लोककल्याण एक-दूसरे से गहरे रूप में जुड़ी हुई स्थितियां हैं। शासक दल चाहे जो दल हो, उसे लोककल्याण की दिशा में आगे बढ़ना ही होगा, तीव्र गति से और ठोस कदमों के आधार पर आगे बढ़ना होगा।

इस प्रकार लोककल्याण की दिशा में कुछ कदम उठाये गये। इस दिशा में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कदम सभी नागरिकों के लिए 'काम का अधिकार' ही हो सकता है, लेकिन अनेक घोषणाओं के बावजूद अब तक भी इस कार्य को नहीं किया जा सका है। वस्तुतः लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना औपचारिक घोषणाओं, कोरी नारेबाजी या मात्र कानून निर्माण पर निर्भर नहीं करती; वरन् ऐसे ठोस प्रयत्नों पर निर्भर करती है, जिनसे जनसाधारण की स्थिति में वास्तविक रूप में सुधार हो। वस्तुतः आर्थिक सुरक्षा तथा समानता की दिशा में अभी बहुत अधिक किया जाना शेष है।

यह तथ्य है कि एक वास्तविक लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना से अभी हम बहुत दूर हैं और इस सम्बन्ध में तीव्र गति से ठोस प्रयत्न किये जाने की आवश्यकता है।

राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में भारतीय विचारकों (मनु और कौटिल्य) का दृष्टिकोण

प्राचीन भारत में राजनीतिक चिन्तन की परम्परा

अनेक पाश्चात्य विद्वानों, विशेषतया मैक्समूलर और डनिंग द्वारा इस धारणा का प्रतिपादन किया गया है कि प्राचीनकाल में भारतीयों की दृष्टि अध्यात्मवाद पर केन्द्रित थी और प्राचीन भारत के दर्शन में राजनीतिक चिन्तन का अभाव है। इन विद्वानों द्वारा प्रतिपादित यह विचार एक भ्रान्ति मात्र ही है। वस्तुस्थिति यह है कि भारत में राजनीतिक चिन्तन की भी अपनी एक सुदीर्घ परम्परा रही है जो पाश्चात्य राजदर्शन की तुलना में निश्चित रूप से अधिक प्राचीन, समृद्ध और सुव्यवस्थित है।

मनु और कौटिल्य का सप्तांग सिद्धान्त

भारतीय राजशास्त्र के अन्तर्गत मनु, भीष्म, शुक्र और कौटिल्य आदि प्रमुख राजशास्त्रियों के द्वारा राज्य की कल्पना एक ऐसे जीवित एवं जाग्रत शरीर के रूप में की गई है, जिसके 'सात अंग' होते हैं। 'मनुस्मृति' के अध्याय 9 के श्लोक 294 में कहा गया है कि राज्य की ये सात प्रवृत्तियां हैं : स्वामी, मन्त्री, पुर, राष्ट्र, कोष, दण्ड तथा मित्र।

इसी प्रकार कौटिल्य के अनुसार राज्य की ये 7 प्रवृत्तियां या अंग इस प्रकार हैं : स्वामी, आमात्य (मंत्री), जनपद (प्रदेश), दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र।

राज्य की इन सप्त प्रकृतियों में मनु और कौटिल्य दोनों ही राजा को सर्वोच्च महत्व देते हुए, उसे पूरे शासन, समस्त व्यवस्था के संचालन की आधारशिला मानते हैं।

इस प्रकार भारतीय विचारकों ने राज्य और राज्य के अंगों के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत अधिक विस्तार के साथ विवेचना की है। पाश्चात्य विचारकों ने राज्य के चार तत्वों या अंगों का उल्लेख किया है। भारतीय विचारकों ने 7 तत्वों या अंगों का उल्लेख किया है। भारतीय विचारकों मनु, भीष्म, शुक्र और कौटिल्य आदि का दृष्टिकोण इस प्रसंग में अधिक यथार्थ-परक है।

प्राचीन भारतीय विचारकों—मनु, शुक्र, भीष्म, कौटिल्य, बृहस्पति और 'रामायण' तथा 'महाभारत' जैसे महाकाव्यों में राज्य के कार्यों और राजा के कर्तव्यों पर पर्याप्त विस्तार के साथ विचार किया गया है। सामान्य रूप से, प्राचीन भारत के राजनीतिक चिन्तन में राज्य को व्यापक कार्यक्षेत्र प्रदान किया गया है। भारत में प्राचीन काल से 'रामराज्य' की जो धारणा प्रचलित है, वह एक ऐसे राज्य का प्रतीक है, जिसके अन्तर्गत

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्येक व्यक्ति का सर्वांगीण रूप से विकास करने का प्रयत्न किया जाता है। इसी दृष्टि से वेदव्यास ने 'महाभारत' में कहा है कि "जो नरेश अपनी प्रजा को पुत्र के समान समझकर उसकी चतुर्मुखी उन्नति का प्रयत्न नहीं करता, वह नरक का भागी होता है।"

मनु का दृष्टिकोण

मनु ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'मनुस्मृति' में राज्य के कार्यों पर समुचित विचार किया है। मनु राज्य और राज्य के शासक के रूप में राजा को व्यापक कार्यक्षेत्र प्रदान करता है। मनु के अनुसार राज्य के प्रमुख रूप से निम्नलिखित कार्य हैं :

(1) बाहरी आक्रमण से देश की रक्षा करना—मनु के अनुसार बाहरी आक्रमण से देश की रक्षा करना राज्य का सबसे प्रमुख कार्य है। राजा को युद्ध से कदापि भी डरना नहीं चाहिए। उसे अप्राप्त को पाने की इच्छा व प्राप्त भूमि की रक्षा करनी चाहिए। राजा सेना को तैयार रखे, सैनिक शक्ति का प्रदर्शन करता रहे और गुप्तचरों की सहायता से शत्रु की क़मजोरियों का ज्ञान प्राप्त करे। राजा को राज्य की सुरक्षा के लिए स्वयं पहाड़ी दुर्ग में निवास करना चाहिए, क्योंकि वह सब दुर्गों में श्रेष्ठ होता है। दुर्ग के बीच में एक बड़ा सुरक्षित महल बनवाना चाहिए।

(2) आन्तरिक शान्ति स्थापित करना—मनु इस बात से परिचित थे कि समाज के कण्टक तत्व आन्तरिक शान्ति भंग करने का कारण बन सकते हैं। अतः राज्य का एक प्रमुख कार्य दण्ड शक्ति के आधार पर दुष्टों को नियन्त्रित करना है। दुष्टों के प्रति राज्य और राजा के द्वारा आवश्यकतानुसार बहुत कठोर व्यवहार किया जाना चाहिए। राज्य के द्वारा भ्रष्ट आचरण करने वाले व्यक्तियों, जुआरियों, धोखेबाजों तथा दुष्टों को दण्डित किया जाना चाहिए और गलत ढंग से चिकित्सा करने वालों पर भारी जुर्माने किये जाने चाहिए। मनु के अनुसार वैश्यों तथा शूद्रों को अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिए विवश करना भी राज्य का कार्य है। मनु ने इस बात पर बल दिया है कि स्त्रियों की सम्पत्ति का गबन करने वाले व्यक्तियों को राज्य के द्वारा बहुत कठोर दण्ड दिया जाना चाहिए।

(3) विवादों का निर्णय या न्यायिक कार्य—राज्य का एक महत्वपूर्ण कार्य यह है कि वह नागरिकों के आपसी विवादों का निर्णय करे और विभिन्न समुदायों के बीच होने वाले झगड़ों का निपटारा करे। न्याय करने में राज्य के द्वारा भावना या दुर्भावना को नहीं अपनाया जाना चाहिए। न्यायाधीशों को सभी विवादों का निर्णय निष्पक्षतापूर्वक करना चाहिए, क्योंकि 'जिस सभा (न्यायालय) में सत्य असत्य से पीड़ित होता है, उसके सदस्य ही पाप से नष्ट हो जाते हैं।'

(4) राज्य का आर्थिक विकास और समृद्धि—मनु के अनुसार राज्य का आर्थिक विकास व समृद्धि भी राज्य का एक प्रमुख कार्य है। इस प्रसंग में शासन की नीति चार सूत्री होनी चाहिए : शक्ति और वैध उपायों द्वारा धन अर्जित करना, रक्षण करना, वृद्धि करना और सुपात्रों को दान करना।

राज्य की समस्त व्यवस्था का संचालन करने के लिए धन की आवश्यकता होती है, अतः मनु ने करों की व्यवस्था भी की है। मनु ने चार प्रकार के कर बतलाये हैं : बलि (विभिन्न प्रकार के कर), शुल्क (बाजार या हाट के व्यापारियों द्वारा बिक्री के लिए लायी गयी वस्तुओं पर चुंगी), दण्डकर (जुर्माने) और भाग (लगान)। मनु की कर सम्बन्धी धारणा में उसकी बुद्धिमत्ता, प्रगतिशीलता और लोककल्याणकारी प्रवृत्ति के स्पष्ट दर्शन होते हैं। मनु कहते हैं कि "कर न लेने से राजा के और अत्यधिक कर लेने से प्रजा के जीवन का अन्त हो जाता है।"[1] अधिक कर का निषेध करते हुए मनु लिखते हैं, "जिस प्रकार जोंक, बछड़ा और मधुमक्खी थोड़े-थोड़े अपने खाद्य क्रमशः रक्त, दूध और मधु ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार राजा को प्रजा से थोड़ा-थोड़ा वार्षिक ग्रहण करना चाहिए।"[2] मनु का स्पष्ट मत था कि कर इस प्रकार निर्धारित किये और वसूल किये जाने चाहिए कि गरीब जनता पर कर का भार कम पड़े और समृद्धिशाली लोगों पर कर-भार अधिक पड़े। मनु ने वस्तुओं के मूल्य को नियन्त्रित करना भी राज्य का एक कर्तव्य बताया है।

1 मनुस्मृति 7 : 129.
2 Saletore : *Ancient Indian Political Thought and Institutions*, pp. 171-72.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(5) असहाय व्यक्तियों की सहायता करना—मनु के अनुसार सभी असहाय व्यक्तियों की सहायता कर राज्य का एक प्रमुख कार्य है। राज्य के द्वारा सन्तान-विहीन स्त्रियों, विधवाओं तथा रोगग्रस्त स्त्रियों की देखभा की जानी चाहिए और अवयस्कों की सम्पत्ति की विशेष रूप से रक्षा करनी चाहिए। जो व्यक्ति गायब हो गये हैं, राज्य के द्वारा उनकी सम्पत्ति अपने संरक्षण में ले ली जानी चाहिए और जब वे प्रकट हो जायें, तब उनकी सम्पत्ति लौटा दी जानी चाहिए।

(6) शिक्षा का प्रबन्ध—राज्य के द्वारा शिक्षा की व्यवस्था भी की जानी चाहिए और शिक्षकों का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए। राज्य के द्वारा वेदों का अध्ययन और अध्यापन करने वाले ब्राह्मणों को दान अवश्य ही दिया जाना चाहिए।

(7) स्थानीय संस्थाओं का प्रबन्ध—मनु ने अपनी प्रशासनिक व्यवस्था के अन्तर्गत स्थानीय संस्थाओं के महत्व को भी स्वीकार किया है और स्थानीय विषयों का भार इन संस्थाओं को ही सौंपने का निर्देश दिया है।

राज्य के कार्यक्षेत्र और राजा की शक्तियों के प्रसंग में मनु के राजनीतिक चिन्तन की दो प्रमुख बातें हैं : प्रथम, उसने सदैव इस बात पर बल दिया है कि राजा द्वारा कर्तव्य पालन किया जाना चाहिए और राजा का सर्वोच्च कर्तव्य है, प्रजा पालन। मनु के अनुसार, "राजा के द्वारा अपनी प्रजा के प्रति पिता के समान व्यवहार किया जाना चाहिए क्योंकि प्रजा का पालन करना राजा का श्रेष्ठ धर्म है और प्रजा पालन द्वारा शास्त्रोक्त फल को भोगने वाला राजा धर्म से युक्त होता है।"

द्वितीय, उसने राजा को निरंकुश शक्तियां प्रदान नहीं कीं, वरन् राजसत्ता को सीमित किया है। केवल मोटवानी मनु के चिन्तन की व्याख्या करते हुए लिखते हैं, "राजा को समझना चाहिए कि वह धर्म के नियमों के अधीन है। कोई भी राजा धर्म के विरुद्ध व्यवहार नहीं कर सकता, धर्म राजाओं और सामान्यजन पर एकसमान ही शासन करता है। इसके अतिरिक्त, राजा राजनीतिक प्रभु—जनता के भी अधीन है। वह अपनी शक्तियों के प्रयोग में जनता की आज्ञापालन की क्षमता से सीमित है।"[1] इसी प्रकार सालेटोर ने लिखा है कि "मनु ने निस्सन्देह यह कहा है कि जनता राजा को गद्दी से उतार सकती है और उसे मार भी सकती है, यदि वह अपनी मूर्खता से प्रजा को सताता है।"[2]

राज्य के कार्यक्षेत्र सम्बन्धी मनु के चिन्तन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि उसने मानव मात्र के कर्तव्यों और स्वधर्म पालन पर बल दिया है। यह एक ऐसी बात है जिसे अपनाकर सम्पूर्ण मानव जाति सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर सकती है। पाश्चात्य जगत के प्रसिद्ध विधिशास्त्री जस्टिनियन ने एक बार गर्वपूर्वक कहा था कि उन्होंने एक ऐसी पद्धति का प्रतिपादन किया है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को उसके अधिकार प्राप्त हो सकेंगे। मनु गर्वपूर्वक यह कह सकते हैं कि उन्होंने ऐसी कानूनी पद्धति तथा राजधर्म का वर्णन किया है जिसमें सभी वर्गों के व्यक्तियों के कर्तव्यों की व्याख्या है।

इस प्रकार मनु के अनुसार, राज्य का कार्यक्षेत्र बहुत अधिक व्यापक है। केवल मोटवानी के अनुसार, "मनु के निर्देशन में राज्य द्वारा बनाये जाने वाले अनेक कानून वर्तमानकालीन राजशास्त्र के विद्यार्थी को समाजवादी प्रतीत होंगे।"[3] वस्तुतः मनु द्वारा चित्रित राज्य एक कल्याणकारी राज्य है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास की सर्वोच्च अवस्था प्राप्त कर लेने का अवसर मिलता है।

राज्य के कार्यक्षेत्र के प्रसंग में कौटिल्य का दृष्टिकोण

मनु के समान ही कौटिल्य ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' में राज्य के कार्यों और राजा के कर्तव्यों पर पर्याप्त विस्तार के साथ विचार किया है। कौटिल्य की पुस्तक का शीर्षक 'अर्थशास्त्र' देखकर यह भ्रम हो जाता है कि यह पुस्तक राजनीति विज्ञान की है अथवा अर्थशास्त्र विषय की। वस्तुतः कौटिल्य के समय में 'अर्थ' का व्यापक तात्पर्य है जिसका मतलब है राज्य की भूमि व संसाधनों से अर्थात् 'अर्थशास्त्र' पुस्तक राज्य की भूमि को सुरक्षित करने तथा उसका विस्तार करने से सम्बन्धित पुस्तक है। यही 'अर्थशास्त्र' का प्रमुख उद्देश्य है। इस प्रकार इस पुस्तक की विषय-वस्तु राजनीतिक है। जहां तक राज्य व नागरिकों के सम्बन्ध की

1 Kewal Motwani : *Manu Dharmshastra*, p. 137.
2 B. A. Saletore : *Ancient Indian Political Thought and Institutions*, p. 133.
3 "Some of the legislations recommended by Manu would seem almost socialistic to student of Modern Political Science."
— Kewal Motwani : *Manu Dharmshastra*, p. 160.

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बात है। कौटिल्य की विचारधारा का मूल तत्व यह है कि "प्रजा के सुख में राजा का सुख है, प्रजा के हित में राजा का हित है। राजा के लिए प्रजा के सुख से अलग अपना कोई सुख नहीं है।" उसके अनुसार, "राजा और प्रजा में पिता और पुत्र का सम्बन्ध होना चाहिए।" जैसे पिता पुत्र का ध्यान रखता है, वैसे ही राजा के द्वारा प्रजा का ध्यान रखा जाना चाहिए। इस सामान्य धारणा के प्रतिपादन के साथ कौटिल्य राज्य के कार्यक्षेत्र या राजा के कर्तव्यों की विशद् विवेचना भी करता है। उसके अनुसार राज्य के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं :

(1) वर्णाश्रम धर्म को बनाये रखना—प्राचीन भारतीय जीवन के अन्तर्गत चार वर्णों और वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था को स्वीकार किया गया था। चार वर्ण थे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। कौटिल्य के अनुसार, राज्य का एक प्रमुख कार्य वर्णाश्रम धर्म को बनाये रखना और सभी प्राणियों को अपने धर्म से विचलित न होने देना है क्योंकि "जिस राजा की प्रजा आर्य मर्यादा के आधार पर व्यवस्थित रहती है, जो वर्ण और आश्रम के नियमों का पालन करती है और जो त्रयी (तीन वेद) द्वारा निहित विधान से रक्षित रहती है वह प्रजा सदैव प्रसन्न रहती है और उसका कभी नाश नहीं होता।"

(2) दण्ड की व्यवस्था करना—राज्य और राजा का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य दण्ड की व्यवस्था करना है क्योंकि दण्ड "अपर्याप्त वस्तु को प्राप्त करता है, उसकी रक्षा करता है, रक्षित वस्तु को बढ़ाता है और बढ़ी हुई वस्तु का उपभोग करता है।" समाज और सामाजिक व्यवहार दण्ड पर ही निर्भर करते हैं, इसलिए दण्ड की व्यवस्था महत्वपूर्ण है, किन्तु इस सम्बन्ध में स्वामी को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि दण्ड न तो आवश्यकता और औचित्य से अधिक हो और न ही कम। यथोचित दण्ड देने वाला राजा ही पूज्य होता है और केवल यथोचित दण्ड ही प्रजा को धर्म, अर्थ तथा काम से परिपूर्ण करता है। "यदि काम, क्रोध या अज्ञानवश दण्ड दिया जाय तो जनसाधारण की कौन कहे, वानप्रस्थी और संन्यासी तक क्षुब्ध हो जाते हैं। यदि दण्ड का उचित प्रयोग नहीं होता, तो बलवान मनुष्य निर्बलों को वैसे ही खा जाते हैं जैसे बड़ी मछली छोटी को।"

(3) आर्थिक विषयों का प्रबन्ध—कौटिल्य ने इस बात पर बहुत बल दिया है कि राज्य की अर्थव्यवस्था सुदृढ़ होनी चाहिए और आर्थिक विषयों का प्रबन्ध सुव्यवस्थित रूप में होना चाहिए। राज्य के पास भरा-पूरा कोष और आय के स्थायी स्रोत होने चाहिए। इस सम्बन्ध में उसका विचार है कि राजा प्रजा से उपज का छठा भाग ले तथा कोष में बहुमूल्य धातुएं तथा मुद्राएं पर्याप्त मात्रा में रखे। कौटिल्य के अनुसार, "कोष धर्मपूर्वक एकत्रित किया गया होना चाहिए और वह मात्रा में इतना अधिक हो कि उससे विपत्तिकाल में भी दीर्घ समय तक निर्वाह हो सके।"[1] कौटिल्य ने इस बात पर बल दिया है कि आवश्यक होने पर राज्य के द्वारा धनवानों पर अधिक कर लगाये जाने चाहिए और इस प्रकार एकत्रित की गयी धनराशि गरीबों में बांट दी जानी चाहिए।

(4) लोकहित और सामाजिक कल्याण सम्बन्धी कार्य—कौटिल्य ने राजा को लोकहित और सामाजिक कल्याण के भी कार्य सौंपे हैं। इसके अन्तर्गत राजा दान देगा और अनाथ, वृद्ध तथा असहाय लोगों के पालन-पोषण की व्यवस्था करेगा। असहाय गर्भवती स्त्रियों की उचित व्यवस्था करेगा और उनके बच्चों का पालन-पोषण करेगा। जो किसान खेती न करके जमीन परती छोड़ देते हों, उनके पास से जमीन लेकर वह दूसरे किसानों को देगा। राज्य के अन्य कर्तव्य हैं : कृषि के लिए बांध बनाना, जल मार्ग, स्थल मार्ग, बाजार और जलाशय बनाना, दुर्भिक्ष के समय जनता की सहायता करना और उन्हें बीज देना, आदि।

कौटिल्य के अनुसार खदानें, वस्तुओं का निर्माण, जंगलों में इमारती लकड़ी और हाथियों को प्राप्त करना तथा अच्छी नस्ल के जानवरों को पैदा करने का प्रबन्ध भी राज्य के द्वारा ही किया जाना चाहिए। राजा के लोकहित और समाज-कल्याण सम्बन्धी इन कार्यों के उल्लेख में कौटिल्य की दूरदर्शिता ही झलकती है।

(5) युद्ध करना तथा राज्य की सीमाओं का विस्तार—वर्तमान समय में युद्ध करने को राजा के कर्तव्यों में सम्मिलित करने पर भले ही आपत्ति की जाय, कौटिल्य के अनुसार युद्ध करना राज्य का एक प्रमुख कार्य है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' का केन्द्र एक ऐसा विजिगीषु (विजय की इच्छा रखने वाला) राजा है जिसका उद्देश्य निरन्तर नयी भूमि प्राप्त कर अपने क्षेत्र में वृद्धि करना है। कौटिल्य राज्य की सभी आर्थिक और अन्य संस्थाओं की महत्ता इसी मापदण्ड से निश्चित करता है कि ये राज्य को किस सीमा तक सफल युद्ध के लिए

1 अर्थशास्त्र, अधिकरण 6, अध्याय 1.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तैयार करती हैं। नयी भूमि प्राप्त करना अर्थशास्त्र का इतना प्रमुख विषय है कि अर्थशास्त्र के 15 अधिकरण में से 9 अधिकरण प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में युद्ध से ही सम्बन्ध रखते हैं।

राजा के द्वारा उपर्युक्त सभी कार्यों का सम्पादन लोकहित की भावना से ही किया जाना चाहिए।

क्या कौटिल्य का राजा निरंकुश है?

कौटिल्य राजतन्त्र को शासन का एकमात्र स्वाभाविक और श्रेष्ठ प्रकार मानता है और राज्य के सप्त अंगों में राजा को सर्वोच्च स्थिति प्रदान करता है, किन्तु ऐसा होने पर भी कौटिल्य का राजा निरंकुश नहीं है, उस पर कुछ ऐसे प्रतिबन्ध हैं जिनके कारण वह मनमानी नहीं कर सकता। ये प्रतिबन्ध निम्न प्रकार हैं—

राजा की शक्ति पर प्रथम प्रतिबन्ध अनुबन्धवाद का था। कौटिल्य के अनुसार मनुष्यों ने राजा की आज्ञाओं के पालन की जो प्रतिज्ञा की उसके बदले में राजा ने अपने प्रजाजन के धन-जन की रक्षा का वचन दिया था। इसका स्वाभाविक निष्कर्ष यह है कि राजा के द्वारा प्रजा के धन-जन को हानि पहुंचाने वाला कोई कार्य नहीं किया जा सकता। कौटिल्य ने एक स्थान पर बताया है कि राजा की स्थिति वेतन-भोगी सैनिकों के समान ही होती है। इसका तात्पर्य यह है कि राजा कर्तव्यपालन के लिए बाध्य है और वह राजकोष से निश्चित वेतन ही ले सकता है। कौटिल्य के राजा को मनमाने ढंग से राज्य की सम्पत्ति का व्यय कर भोग-विलास के साधन प्राप्त करने का अधिकार नहीं था।

राजा की शक्ति पर दूसरा प्रतिबन्ध धार्मिक नियमों और रीति-रिवाजों का था। राजा के अधिकार धर्म और रीति-रिवाजों से सीमित थे और वह इनका पालन करने के लिए बाध्य था। इस बात की आशंका रहती थी कि राजा द्वारा इन नियमों का उल्लंघन किये जाने पर जनता क्षुब्ध होकर स्वयं ही उसके जीवन का अन्त कर दे। तत्कालीन जीवन में धर्म और परलोक की भावना बहुत प्रबल होने के कारण नरक का भय भी राजा को मनमानी करने से रोकता था। उसकी निजी नैतिक और धार्मिक भावना उसे निरंकुश बनने से रोकती थी। कौटिल्य का राजा स्वयं राजधर्म के नियमों से बंधा है। राजधर्म का तात्पर्य है राजा का कर्तव्य। राजा का प्रमुख कार्य प्रजा की रक्षा व उसका कल्याण है। राजधर्म का अर्थ किसी पन्थ विशेष का पालन करना नहीं, वरन् राजा के कर्तव्यों से है।

राजा की शक्ति पर तीसरा प्रतिबन्ध मन्त्रिपरिषद् का था। उसके अनुसार राज्य रूपी रथ के दो चक्र राजा और मन्त्रिपरिषद् हैं, इसलिए मन्त्रिपरिषद् का अधिकार राजा के बराबर ही है। मन्त्रिपरिषद् राजा की शक्ति पर नियन्त्रण रख उसे निरंकुश बनने से रोकती थी।

इन सबके अतिरिक्त कौटिल्य ने राजा की निरंकुशता पर अन्तिम, किन्तु एक अत्यन्त प्रभावशाली प्रतिबन्ध राजा के व्यक्तित्व तथा उसे प्रदान की गयी शिक्षा के आधार पर लगाया है। कौटिल्य ने राजा के लिए अनेक मानसिक और नैतिक गुण आवश्यक बताये हैं और इस प्रकार का सर्वगुणसम्पन्न राजा अपने स्वभाव से ही निरंकुश नहीं हो सकता। इसके अलावा उसने राजा की शिक्षा पर बल देकर उस पर ऐसे संस्कार डालने चाहे हैं कि वह निरंकुशता का मार्ग न अपनाकर लोकहित के कार्यों में ही लगा रहे। वस्तुतः कौटिल्य ने राजतन्त्र का समर्थन और इस व्यवस्था में राजा को पर्याप्त शक्तियां देने का कार्य प्रजाजन के हित को दृष्टि में रखकर ही किया है।

श्री कृष्ण राव ने ठीक लिखा है कि "कौटिल्य का राजा अत्याचारी नहीं हो सकता, चाहे वह कुछ बातों में स्वेच्छाचारी रहे, क्योंकि वह धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र के सुस्थापित नियमों के अधीन रहता है।"[1] इसी बात को स्वीकार करते हुए सालेटोर (Saletore) ने लिखा है कि "वह अपना राज्य और जीवन खोये बिना यूनान के अत्याचारी राजाओं जैसा नहीं बन सकता, क्योंकि भारत में जनता ऐसे राजा को सहन नहीं कर सकती थी। यद्यपि राजा का पद सर्वोच्च था, किन्तु न तो वह जनता से पृथक् था और न उसके लिए विदेशी ही और वह जैसा चाहे जनता के प्रति व्यवहार करने के लिए स्वतन्त्र न था।"[2]

---

1 "The king was to regard himself as an agent of people and had to abide by the law as laid down in the Shastras; embodied in the customs of the country which were both a political constitution as well as an ethical law. With these checks operating on the governmental system, it was very difficult for any king to make himself absolute and weild despotic authority."
—M. V. Krishna Rao, *Studies of Kautilya*, p. 90

2 B. A. Saletore, *Ancient Indian Political Thought and Institutions*, pp. 319-31.

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (प्रत्येक प्रश्न 6 अंक का, उत्तर लगभग 300 शब्दों में दीजिए)

1. आचार्य कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित राज्य की अवधारणा बताइए। (उ.प्र., 2010)
2. राज्य के कार्यों के समाजवादी सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
3. लोककल्याणकारी राज्य की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए और बताइए कि यह समाजवादी राज्य से किस प्रकार भिन्न है? (उ.प्र., 2010)
4. राज्य के आवश्यक कार्यों का विवरण दीजिए तथा लोककल्याणकारी राज्य की धारणा को स्पष्ट कीजिए।
5. राज्य के कार्यों के व्यक्तिवादी सिद्धान्त का परीक्षण कीजिए। व्यक्तिवाद आधुनिक युग के लिए कहां तक उपयुक्त है?
6. राज्य की परिभाषा कीजिए। उसके अनिवार्य तथा ऐच्छिक कार्यों का उल्लेख कीजिए।
7. समाजवादी राज्य के कार्यों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। (उ.प्र., 2010)
8. लोककल्याणकारी राज्य के कार्यों का वर्णन कीजिए।
9. राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में मनु के दृष्टिकोण की विवेचना कीजिए।
10. राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में कौटिल्य के दृष्टिकोण की विवेचना कीजिए। क्या कौटिल्य का राजा निरंकुश है?
11. टिप्पणी लिखिए :
    (i) कल्याणकारी राज्य।
    (ii) राज्य के कार्यों का व्यक्तिवादी सिद्धान्त।
    (iii) राज्य के कार्यों पर मनु के विचार।
12. लोक कल्याणकारी राज्य या समाजवादी राज्य में चार अन्तर स्पष्ट कीजिए? (उ.प्र., 2010)

लघु उत्तरीय प्रश्न

(अ) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 50 शब्दों में दीजिए (2 अंक)।

1. राज्य के कौन-कौन से प्रमुख उद्देश्य हैं?
2. राज्य के कार्यों को किन-किन दो भागों में बांटा जा सकता है?
3. राज्य के आवश्यक या अनिवार्य कार्य क्या हैं?
4. समाजवाद के अनुसार राज्य का कार्यक्षेत्र स्पष्ट कीजिए।
5. कल्याणकारी राज्य के किन्हीं दो कार्यों को लिखिए। (उ.प्र., 2010)
6. लोककल्याणकारी राज्य से आपका क्या आशय है?
   अथवा, लोककल्याणकारी राज्य की धारणा को स्पष्ट कीजिए।
7. उदारवादी राज्य व कल्याणकारी राज्य के कोई दो अन्तर समझाइए? (उ.प्र., 2010)

(ब) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिए (4 अंक)।

8. राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में कौन-कौन सी विचारधाराएं अथवा सिद्धान्त प्रचलित हैं?
9. राज्य के प्रमुख ऐच्छिक कार्य क्या हैं?
10. राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में व्यक्तिवादी सिद्धान्त का वर्णन कीजिए।
11. व्यक्तिवाद के समर्थन में कौन-कौन से तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं?
12. व्यक्तिवादी सिद्धान्त की आलोचना किन-किन तर्कों के आधार पर की जाती है?
13. समाजवाद के प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।
14. समाजवाद की आलोचना किन-किन तर्कों के आधार पर की जाती है?
15. राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में कौटिल्य के विचार बताइए।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न [प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का, उत्तर दस शब्द (एक वाक्य) में]

प्रश्न 1—राज्य के कार्य सम्बन्धी कौन-कौन सी विचारधाराएं हैं?

उत्तर—(1) व्यक्तिवादी विचारधारा, (2) समाजवादी विचारधारा, (3) आदर्शवादी विचारधारा, और (4) लोककल्याणकारी विचारधारा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न 2—राज्य के कार्यों को कितने भागों में बांटा जा सकता है?
उत्तर—(1) अनिवार्य कार्य, (2) ऐच्छिक कार्य।

प्रश्न 3—शिक्षा की व्यवस्था राज्य का अनिवार्य कार्य है अथवा ऐच्छिक?
उत्तर—ऐच्छिक कार्य।

प्रश्न 4—राज्य के कोई दो अनिवार्य कार्य लिखिए।
उत्तर—(1) राज्य में शान्ति तथा सुव्यवस्था की स्थापना करना, (2) न्याय प्रदान करना।

प्रश्न 5—समाजवाद की कोई दो मान्यताएं बताइए।
उत्तर—(1) व्यक्ति की अपेक्षा समाज को प्राथमिकता, (2) उत्पादन के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व।

प्रश्न 6—व्यक्तिवादी सिद्धान्त के समर्थक किस बात पर सर्वाधिक जोर देते हैं?
उत्तर—व्यक्तिवादी सिद्धान्त के समर्थक व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर सर्वाधिक जोर देते हैं।

प्रश्न 7—व्यक्तिवाद का प्रतिपादन कब हुआ?
उत्तर—व्यक्तिवाद का प्रतिपादन यूरोप में 18वीं शताब्दी के अन्तिम काल में हुआ था।

प्रश्न 8—व्यक्तिवाद के समर्थन में दिये जाने वाले दो तर्कों को लिखिए।
उत्तर—(1) आर्थिक तर्क, (2) प्राणिवैज्ञानिक तर्क।

प्रश्न 9—व्यक्तिवाद के प्रमुख दोष लिखिए।
उत्तर—(1) कानून स्वतन्त्रता को सीमित नहीं करते, (2) राज्य एक बुराई नहीं है।

प्रश्न 10—वैज्ञानिक समाजवाद का जनक कौन है?
उत्तर—वैज्ञानिक समाजवाद का जनक प्रसिद्ध विद्वान कार्ल मार्क्स है।

प्रश्न 11—समाजवाद के पक्ष में दो तर्क दीजिए।
उत्तर—(1) न्याय की रक्षा, (2) व्यक्तित्व का विकास सम्भव होना।

प्रश्न 12—समाजवाद का एक प्रमुख दोष लिखिए।
उत्तर—व्यक्तिगत क्षमता का ह्रास (पतन)।

प्रश्न 13—व्यक्तिवाद और समाजवाद के मध्य एक अन्तर स्पष्ट कीजिए।
उत्तर—व्यक्तिवाद व्यक्ति के हित को महत्व देता है, जबकि समाजवाद समाज के हित को महत्व देता है।

प्रश्न 14—कौन-सा सिद्धान्त राज्य के उन्मूलन के पक्ष में है?
उत्तर—अराजकतावाद।

प्रश्न 15—कल्याणकारी राज्य के दो प्रमुख कार्य लिखिए।
उत्तर—(1) सामाजिक सुरक्षा, (2) आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था।

प्रश्न 16—कल्याणकारी राज्य किस सिद्धान्त पर आधारित है?
उत्तर—कल्याणकारी राज्य इस सिद्धान्त पर आधारित है कि सामूहिक कल्याण करना राज्य का परम कर्तव्य है।

प्रश्न 17—कल्याणकारी राज्य में राज्य के कार्य बढ़ते हैं या घटते हैं?
उत्तर—कल्याणकारी राज्य में राज्य के कार्य बढ़ते हैं।

प्रश्न 18—राज्य के कार्यों से सम्बन्धित व्यक्तिवादी सिद्धान्त के दो समर्थकों के नाम लिखिए।
उत्तर—(1) जॉन स्टुअर्ट मिल, (2) हरबर्ट स्पेन्सर।

प्रश्न 19—कौटिल्य की प्रसिद्ध पुस्तक का नाम। (उ.प्र., 2010)
उत्तर—'अर्थशास्त्र'।

प्रश्न 20—'अर्थशास्त्र' पुस्तक के लेखक का नाम बताइए।
उत्तर—कौटिल्य (चाणक्य)।

प्रश्न 21—प्लेटो की प्रमुख पुस्तक का नाम क्या है?
उत्तर—प्लेटो की सबसे प्रमुख पुस्तक का नाम है : 'रिपब्लिक' (Republic)।

प्रश्न 22—मनु के अनुसार राज्य के दो कार्य क्या हैं?
उत्तर—(1) राज्य का आर्थिक विकास और समृद्धि, (2) असहाय व्यक्तियों की सहायता करना।

प्रश्न 23—"राज्य एक आवश्यक बुराई है" यह किसने कहा? (उ.प्र., 2010)
उत्तर—यह कथन व्यक्तिवादियों का है।

प्रश्न 24—किस विचारक ने राजा व उसकी प्रजा सम्बन्धों की तुलना पिता-पुत्र सम्बन्धों से की है?
उत्तर—कौटिल्य।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुविकल्पीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों में चार विकल्प दिए गए हैं। उनमें से एक सही विकल्प छांटकर लिखिए :

1. निम्नलिखित में से किस विचारक के अनुसार राज्य साध्य है :
   (अ) प्लेटो (ब) रूसो
   (स) हीगल (द) इनमें से सभी
2. सामान्य इच्छा की अवधारणा का प्रतिपादन किसके द्वारा किया गया :
   (अ) रूसो (ब) हीगल
   (स) बोसांके (द) ब्रेडले
3. "राज्य स्वयं ईश्वर है, यह पृथ्वी पर स्थित दैवीय विचार है।" यह कथन किस विचारक का है(उ.प्र., 2010)
   (अ) प्लेटो का (ब) अरस्तू का
   (स) हीगल का (द) ग्रीन का
4. राज्य का प्रमुख उद्देश्य है :
   (अ) सामूहिक हित के कार्यों का सम्पादन
   (ब) शान्ति-व्यवस्था और सुरक्षा की स्थापना
   (स) राजसत्ता और वैयक्तिक स्वतन्त्रता के मध्य सामंजस्य की स्थापना
   (द) उपर्युक्त सभी उद्देश्य
5. राज्य का आवश्यक कार्य है :
   (अ) बाहरी आक्रमण से रक्षा (ब) वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन
   (स) आन्तरिक क्षेत्र में शान्ति एवं व्यवस्था (द) इनमें से सभी
6. राज्य का ऐच्छिक कार्य है :
   (अ) स्वास्थ्य रक्षा और सफाई (ब) शिक्षा
   (स) यातायात के साधनों का प्रबन्ध (द) इनमें से सभी
7. निम्नलिखित में से किस विचारधारा के अनुसार राज्य एक आवश्यक बुराई है, जिसका कार्यक्षेत्र अत्यन्त सीमित होना चाहिए : (उ.प्र., 2010)
   (अ) व्यक्तिवाद (ब) समाजवाद
   (स) लोककल्याणकारी राज्य की धारणा (द) अराजकतावाद
8. "वही सरकार सबसे अच्छी है, जो सबसे कम शासन करती है।" यह कथन किसका है :
   (अ) एडम स्मिथ का (ब) फ्रीमैन का
   (स) हरबर्ट स्पेन्सर का (द) रिकार्डो का
9. व्यक्तिवादी विचारधारा के अनुसार राज्य के द्वारा कौन-सा कार्य किया जाना चाहिए :
   (अ) राज्य व राज्य के नागरिकों की बाहरी शत्रुओं से रक्षा करना
   (ब) नागरिकों की सुरक्षा और मानहानि से उसकी रक्षा करना
   (स) संविधान के निर्वाह की व्यवस्था करना
   (द) उपर्युक्त सभी
10. निम्नलिखित में से कौन-सा विचारक व्यक्तिवाद का समर्थक नहीं है :
    (अ) जॉन स्टुअर्ट मिल (ब) एडम स्मिथ
    (स) हरबर्ट स्पेन्सर (द) हीगल
11. सामाजिक जीवन के क्षेत्र में 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' तथा 'योग्यतम की विजय' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किसने किया :
    (अ) हरबर्ट स्पेन्सर ने (ब) रिकार्डो ने
    (स) माल्थस ने (द) एडम स्मिथ ने
12. "समाजवाद का अर्थ है—व्यक्तिगत हित को सामाजिक हित के अधीन रखना।" यह कथन किसका है :
    (अ) रॉबर्ट ब्लेकफोर्ड का (ब) फ्रेड ब्रेमेल का
    (स) जोड का (द) हॉबहाउस का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

13. समाजवाद का प्रमुख सिद्धान्त है :
(अ) यह समाज की आंगिक एकता पर बल देता है
(ब) समाजवाद का ध्येय समानता है
(स) समाजवाद का उद्देश्य पूंजीवाद का अन्त है
(द) उपर्युक्त सभी

14. "राज्य जीवन के लिए अस्तित्व में आया और सद्जीवन के लिए अस्तित्व में बना हुआ है।" यह कथन किस विचारक का है :
(अ) प्लेटो का (ब) अरस्तू का
(स) वेदव्यास का (द) कौटिल्य का

15. कार्ल मार्क्स और ऐंजिल्स ने साम्यवादी घोषणा-पत्र (Communist Manifesto) कब प्रकाशित किया :
(अ) 1648 में (ब) 1748 में
(स) 1848 में (द) 1948 में

16. "कल्याणकारी राज्य वह है जो अपनी आर्थिक व्यवस्था का संचालन आय के अधिकाधिक समान वितरण के उद्देश्य से करता है।" यह कथन किसका है :
(अ) टी. डब्ल्यू केण्ट का (ब) डॉ. अब्राहम का
(स) जवाहरलाल नेहरू का (द) होब्सेन का

17. लोककल्याणकारी राज्य का प्रमुख लक्षण है :
(अ) राज्य के कार्यक्षेत्र में वृद्धि (ब) आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था
(स) सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था (द) इनमें से सभी

18. "कर न लेने से राजा के और अत्यधिक कर लेने से प्रजा के जीवन का अन्त हो जाता है।" यह कथन किसका है :
(अ) मनु का (ब) कौटिल्य का
(स) शुक्र का (द) वेदव्यास का

19. कौटिल्य के अनुसार राज्य का प्रमुख कार्य है :
(अ) वर्णाश्रम धर्म को बनाए रखना (ब) दण्ड की व्यवस्था करना
(स) आर्थिक विषयों का प्रबन्ध करना (द) इनमें सभी

20. 'अर्थशास्त्र' नामक पुस्तक का लेखक कौन था? (उ.प्र., 2010)
(अ) मनु (ब) लास्की
(स) नेहरू (द) कौटिल्य

21. वैज्ञानिक समाजवाद का जनक कौन है? (उ.प्र., 2010)
(अ) रूसो (ब) कार्लमार्क्स
(स) स्पेन्सर (द) टी. एच. ग्रीन

22. राज्य का कार्य एक उत्तम जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं में बाधा डालना है। उक्त कथन सम्बन्धित है : (उ.प्र., 2010)
(अ) थामस एक्यूनास से (ब) जे. एस. मिल से
(स) जॉन लाक से (द) टी. एच. ग्रीन से

[उत्तर—1. (द), 2. (अ), 3. (स), 4. (द), 5. (द), 6. (द), 7. (अ), 8. (ब), 9. (द), 10. (द), 11. (अ), 12. (ब), 13. (द), 14. (ब), 15. (स), 16. (ब), 17. (द), 18. (अ), 19. (द), 20. (द), 21. (ब), 22. (द)]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

8

सम्प्रभुता एवं विधि

[SOVEREIGNTY AND LAW]

राज्य के चार आवश्यक तत्व हैं—जनसंख्या, क्षेत्र (निश्चित भू-भाग), सरकार तथा सम्प्रभुता। सम्प्रभुता राज्य का ऐसा तत्व है जो राज्य को किसी अन्य संघ उसे भिन्न करता है। सम्प्रभुता का स्थान राज्य की इच्छा तथा शक्ति की सर्वोच्चता में निहित है। सम्प्रभुता का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द 'सॉवरेनटी' (Sovereignty) है। यह लैटिन भाषा के शब्द 'सुपरैनस' (Superanus) से बना है, जिसका अर्थ है 'सर्वोच्च शक्ति'। इस प्रकार प्रभुसत्ता का तात्पर्य राज्य की सर्वोच्च शक्ति से है। प्रभुसत्ता शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम फ्रान्स के प्रसिद्ध राजनीतिक विचारक जीन बोंदा ने अपनी पुस्तक 'सिक्स बुक्स ऑन द रिपब्लिक' (*Six Books on the Republic*, 1576) में किया था। बोंदा के अनुसार, "सम्प्रभुता नागरिकों एवं प्रजाजनों पर राज्य की सर्वोच्च शक्ति है, जो कानून के नियन्त्रण से परे है।" सम्प्रभुता को प्रभुसत्ता भी कहा जाता है।

सम्प्रभुता की परिभाषाएं

राजनीति के अनेक विद्वानों द्वारा सम्प्रभुता की परिभाषा विभिन्न शब्दों में दी गयी है, किन्तु सभी एक बात पर सहमत हैं कि सम्प्रभुता राज्य की सर्वोच्च शक्ति है। कुछ विद्वानों द्वारा दी गयी परिभाषाएं निम्नलिखित हैं :

लास्की के अनुसार, "प्रभुसत्ता के कारण ही राज्य अन्य सभी प्रकार के कानूनों से भिन्न है"।

बर्गेस के अनुसार, "सम्प्रभुता राज्य के सभी व्यक्तियों तथा व्यक्ति समुदायों के ऊपर मौलिक, पूर्ण एवं असीमित शक्ति का नाम है।"

बिलोबी के अनुसार, "राज्य की सर्वोच्च इच्छा प्रभुसत्ता कहलाती है।"

पोलक के अनुसार, "सम्प्रभुता वह शक्ति है जो न अस्थायी हो, न प्रदत्त हो, और ऐसे नियमों के अधीन हो जिसको वह बदल न सके और न पृथ्वी की किसी शक्ति के प्रति उत्तरदायी हो।"

ब्लैकस्टोन के अनुसार, "प्रभुसत्ता सर्वोच्च, अप्रतिरोधनीय परम, अनियन्त्रित शक्ति है जिसमें राज्य की उच्चतम वैधानिक शक्ति निवास करती है।"

डुग्वी के अनुसार, "प्रभुसत्ता राज्य की आदेशित करने वाली शक्ति है, यह राज्य में व्यवस्थित राष्ट्र की इच्छा है। यह राज्य के क्षेत्र में सभी व्यक्तियों को अनियन्त्रित रूप से आदेश देने का अधिकार है।"

विल्सन के अनुसार, "प्रभुसत्ता कानूनों का निर्माण करने तथा उन्हें लागू करने वाली प्रतिदिन की क्रियाशील शक्ति है।"

सम्प्रभुता की विशेषताएं

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर सम्प्रभुता की निम्नलिखित विशेषताएं हैं :

(1) मौलिकता—इसका अर्थ है कि प्रभुसत्ता मौलिक है, वह किसी पर निर्भर नहीं है और न वह कहीं से प्राप्त हुई है उसका अस्तित्व स्वयं है। यदि यह शक्ति कहीं दूसरे में स्थित है तो उसे धारण करने वाला प्रभुसत्ताधारी नहीं हो सकता बल्कि, जिसमें वह शक्ति स्थित है वही वास्तव में राजसत्ताधारी है।

(2) सर्वव्यापकता—सम्प्रभुता की व्यापकता का अर्थ कि राज्य के प्रत्येक क्षेत्र, पदार्थ तथा जन समुदाय पर उसका अधिकार तथा नियन्त्रण होता है कोई भी नियन्त्रण से बाहर नहीं हो सकता, केवल उनको छोड़कर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिनको राज्य ने स्वयं अपनी इच्छा से अपने नियन्त्रण से बाहर रखना स्वीकार कर लिया है, जैसे विदेशी दूतावास, विदेशी राजप्रमुख, विदेशी सेना आदि।

(3) स्थिरता—सरकार या शासनों के परिवर्तन से सार्वभौमिकता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि वह स्थिर है। राजा की मृत्यु हो जाए या राजा भाग जाए तब भी सार्वभौमिकता बनी रहती है। सार्वभौमिकता राज्य का एक आवश्यक तत्व है अतः जब तक राज्य है राज्यसत्ता स्थिर रहती है। राज्य की समाप्ति पर ही प्रभुसत्ता का अन्त होता है। गार्नर के अनुसार, "जिस प्रकार किसी भौतिक वस्तु में बाहरी परिवर्तन होने से गुरुत्वाकर्षण केन्द्र एक भाग से हटकर दूसरे भाग में चला जाता है। उसी प्रकार प्रभुसत्ताधारी की मृत्यु या पदच्युति होने के कारण प्रभुसत्ता समाप्त नहीं होती बल्कि तुरन्त दूसरे प्रभुसत्ताधारी में निवास करने लगती है।

(4) नियन्त्रणहीनता—सम्प्रभुता का एक गुण उसकी नियन्त्रणहीनता है। वह स्वयं सब मनुष्यों तथा समुदायों पर नियन्त्रण रखती है। वह कानून बनाती है और उन्हें रद्द कर सकती है तथा उनमें परिवर्तन कर सकती है। राज्य के प्रत्येक नागरिक पर यह कानून आवश्यक रूप से लागू होते हैं, जो उल्लंघन करता है उन्हें दण्ड देती है। यह सब होते हुए भी प्रभुसत्ता स्वयं इन कानूनों से ऊपर है।

(5) अदेयता—सम्प्रभुता को राज्य से पृथक् नहीं किया जा सकता, प्रभुसत्ता राज्य का प्राण है। जिस प्रकार व्यक्ति के प्राण चले जाने पर उसकी मृत्यु हो जाती है। उसी प्रकार राज्य से प्रभुसत्ता की समाप्ति पर राज्य का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। लीबर का कथन है कि "जिस प्रकार आत्महत्या के बिना मनुष्य अपने जीवन को या वृक्ष अपने फलने-फूलने के गुण को पृथक् नहीं कर सकता उसी प्रकार प्रभुसत्ता को भी राज्य से पृथक् नहीं किया जा सकता।

(6) अविभाज्यता—प्रभुसत्ता को विभाजित नहीं किया जा सकता यह एक राजनीतिक तथ्य है। प्रभुसत्ता का विभाजन करना उसका अन्त करना है। यदि किसी राज्य में दो सर्वोच्च शक्तियां हैं तब वे दो पृथक् राज्य कहलाएंगे। सरकार के विभिन्न अंगों में प्रभुसत्ता निवास कर सकती है, किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं होगा कि वह विभाजित हो जाती है। गैटेल के शब्दों में, "विभाजित प्रभुसत्ता में विरोधाभास है।"

प्रभुसत्ता के पक्ष

आन्तरिक और बाह्य दृष्टि से सम्प्रभुता के दो पक्ष हैं। इन दोनों पक्षों का विवरण निम्न है :

(1) आन्तरिक सम्प्रभुता—आन्तरिक प्रभुसत्ता का अर्थ है कि राज्य अपने नियन्त्रण के अधीन क्षेत्र में सर्वोच्च सत्ताधारी है। सभी लोग तथा उनके संघ राज्य के नियन्त्रण के अधीन हैं। राज्य की प्रत्येक आज्ञा का पालन मानव समाज को स्वाभाविक रूप से करना चाहिए। इसी प्रकार धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक अथवा आर्थिक समुदायों में से कोई भी राज्य के नियन्त्रण से परे कार्य नहीं कर सकता इन समुदायों को अपने-अपने क्षेत्रों में कार्य करने का अधिकार राज्य के पास होता है। इसके साथ-साथ स्वयं प्रभुसत्ता किसी का नियन्त्रण स्वीकार नहीं करती। सम्प्रभुता के आन्तरिक पक्ष की व्याख्या करते हुए लास्की ने कहा कि "प्रभुसत्ता राज्य की सीमा के अन्दर सभी मनुष्यों व समुदायों के लिए आज्ञाएं प्रसारित करती है, किन्तु इनमें से किसी भी आज्ञा को नहीं मानती। इसकी इच्छा पर किसी प्रकार की सीमा नहीं होती।

(2) बाह्य सम्प्रभुता—सम्प्रभुता के बाह्य लक्षण का यह अर्थ है कि राज्य किसी भी प्रकार के बाह्य नियन्त्रण से मुक्त होता है। यदि किसी राज्य की नीतियों का निर्माण दबाव में आकर किसी दूसरे देश के इशारे पर होता है तो वह देश राज्य नहीं कहला सकता। किसी देश की विदेश नीति कैसी हो? युद्ध, सन्धि, व्यापारिक समझौते आदि के बारे में वह क्या नीति अपनाएं? यह सभी प्रश्न उस देश के अपने प्रश्न हैं जिनका निर्णय वह अपने हितों को ध्यान में रखकर स्वयं करता है। ऐसा करने वाला देश ही वास्तविक अर्थों में राज्य कहलाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पालन करने से प्रभुसत्ता पर अंकुश लगता है, क्योंकि एक ओर वह इन कानूनों का पालन स्वेच्छा से करता है और दूसरी ओर विश्व के सभी राज्य इन्हें मानते हैं अतः अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृभाव को सुदृढ़ करने के लिए ये बन्धन सभी राज्यों ने स्वेच्छा से स्वीकार किए हैं। अतः किसी दूसरे राज्य का बन्धन नहीं लगता।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri and Sarayu Trivedi Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्प्रभुता के प्रकार

यद्यपि सम्प्रभुता एक कानूनी अवधारणा है, किन्तु विभिन्न दार्शनिकों ने इसका विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया है। सम्प्रभुता के सभी प्रकारों का नीचे विवेचन किया गया है :

(1) नाममात्र की प्रभुसत्ता व वास्तविक प्रभुसत्ता—कुछ राज्यों में प्रभुसत्ता के दो रूप देखे जा सकते हैं। नाममात्र की प्रभुसत्ता वह है जिसकी सत्ता नाममात्र की होती है वास्तविक प्रभुसत्ताधारी वह है जो वास्तव में अपनी शक्तियों का प्रयोग करता है। इंग्लैण्ड का राजा नाममात्र के शासक का सर्वोत्तम उदाहरण है। सारा प्रशासन उसके नाम से होता है, परन्तु शक्तियों का वास्तविक प्रयोग प्रधानमन्त्री व उसके मन्त्रियों में निहित है, जो सामूहिक रूप से संसद के प्रति उत्तरदायी हैं। भारत का राष्ट्रपति भी इसी श्रेणी में आता है, परन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका तथा फ्रान्स के राष्ट्रपति वास्तविक सम्प्रभु की श्रेणी में आते हैं। यह इस तथ्य के कारण है कि वे अपने विवेक के अनुसार राज्य की शक्ति का प्रयोग करते हैं तथा किसी कृत्य से हुई गलती के लिए वे उत्तरदायी होते हैं। वे सही अर्थ में शासन करते हैं।

(2) वैधानिक सम्प्रभुता व राजनीतिक सम्प्रभुता—वैधानिक प्रभुसत्ता सम्पन्न शासन वह है जिसके पास कानून के निर्माण तथा उसे लागू करने की सर्वोच्च शक्ति हो ऐसे सम्प्रभु द्वारा निर्मित कानून सभी सम्बद्ध लोगों तथा वर्गों पर अनिवार्यतः लागू होता है और वही सत्ता कानून को परिवर्तित या निरस्त कर सकती है। ब्रिटेन की संसद वैधानिक सम्प्रभुता का सर्वोत्तम उदाहरण है, जो अपने विवेक के अनुसार कानून बना सकती है। वैधानिक शब्दावली में, यह सर्वशक्तिमान है, क्योंकि यह किसी अवयस्क को वयस्क घोषित कर सकती है, यह राजद्रोही की मृत्यु के बाद भी ताड़ित कर सकती है और यदि यह उचित समझे, किसी व्यक्ति को अपने मामले का स्वयं निर्णायक बना सकती है, परन्तु राजनीतिक प्रभुसत्ता निर्वाचक मण्डल की शक्ति की द्योतक है। मतदाता संसद को बना सकते हैं और उसे बदल सकते हैं। संसद के सदस्य कोई ऐसा कानून नहीं बना सकते, जो मतदाताओं की स्वीकार्य न हो और यदि ऐसा हो तो मतदाता विद्रोह करके संसद को बदल सकते हैं। इसी कारण यह कहा गया है कि वैधानिक सम्प्रभुता के पीछे राजनीतिक प्रभुसत्ता वास करती है। गिलक्राइस्ट के अनुसार, "राजनीतिक प्रभुसत्ता किसी राज्य में उन प्रभावों का समग्र योग है जो कानून के पीछे होते हैं। तथापि यहां यह मानना होगा कि वैधानिक प्रभुसत्ता का विचार एक प्रामाणिक सत्य है और इसे आसानी से समझा जा सकता है, किन्तु राजनीतिक प्रभुसत्ता सम्बन्धी विचार एक कल्पना है और इस कारण यह एक भ्रम व विवाद का विषय है।

(3) वैध सम्प्रभुता तथा यथार्थ सम्प्रभुता—प्रभुसत्ता के वैध तथा यथार्थ रूप में भी भेद किए गए हैं। वैध या विधानतः राज्य सम्प्रभु वह है, जो अपने राज्य के सुस्थापित कानून एवं परम्पराओं के अनुसार अपने पद पर आसीन है और इसलिए उसके पास आदेश देने तथा सम्बद्ध लोगों से उनके आज्ञापालन की प्राप्ति करने का वैध अधिकार है। इसका अभिप्राय यह है कि उसका पद पर आसीन रहना तथा सभी शक्तियों का उपयोग करना देश के कानून की व्यवस्था के अनुकूल है।

यथार्थ सम्प्रभु वह है जो राज्य के सर्वोच्च पद पर गैर-कानूनी अथवा असंवैधानिक ढंग से आसीन होता है और उसके उपरान्त अपनी इच्छा को लागू करने के लिए बल का प्रयोग करता है।

किसी देश में युद्ध या विद्रोह के परिणामस्वरूप ऐसा हो सकता है। जैसा कि ब्राइस का कहना है, "व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का निकाय जो अपनी या उन सबकी इच्छा को कानूनी या कानून विरोधी ढंग से सर्वोपरि बना सकता है, वही व्यक्ति या निकाय यथार्थ राज्यप्रभु है जिसके प्रति वास्तविक आज्ञाकारिता होती है।" वैध व यथार्थ सम्प्रभु के बीच ऐसा भेद कुछ समय तक चलता रहता है और उसके उपरान्त यह भेद विलुप्त हो जाता है जब सत्ताच्युत शासक पुनः सत्ता प्राप्त करे जैसे इथियोपिया के सम्राट हेल सेलासी इटली की पराजय के बाद पुनः सम्राट बना, अथवा यथार्थ शासक देश के संवैधानिक कानून को बदल कर अपनी सत्ता को वैध बना ले जैसा 1973 में अफगानिस्तान में राष्ट्रपति दाऊद खां ने अपने देश में राजतन्त्र प्रणाली को हटा कर किया।

(4) लोक सम्प्रभुता—इसका अर्थ जनता की प्रभुसत्ता है स्पष्टतया यह प्रजातान्त्रिक व्यवस्था की आधारशिला है। वास्तव में इसका प्रादुर्भाव स्वेच्छाचारी राजाओं से जनता की मुक्ति के लिए हुआ। लोक प्रभुसत्ता का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्धान्त रूसो ने प्रतिपादित किया था। प्राचीन भारतीय राजनीतिज्ञ भी लोक प्रभुसत्ता से अपरिचित नहीं थे रोमन साम्राज्य के सत्ताधारी भी जनता से शक्ति प्राप्त करते थे। 16वीं शताब्दी में तानाशाही से विरोध प्रकट करने के लिए लोकप्रिय प्रभुसत्ता का जन्म हुआ। रूसो ने अपने सामान्य इच्छा के सिद्धान्त के आधार पर यह घोषित किया कि सर्वोच्च शक्ति जनता में निहित है। फ्रान्स की राज्य क्रान्ति का यही आधार बना। बाद में अमरीका में भी इसी सिद्धान्त को अपनाया गया। इसी लोकप्रिय प्रभुसत्ता के आधार पर प्रजातन्त्र शासन बने। जब किसी देश की सम्पूर्ण वयस्क जनता निर्वाचन में भाग लेती है और स्वयं कानून बनाती है तब उस देश में लोकप्रिय प्रभुसत्ता विद्यमान है ऐसा समझा जाता है। इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक रिषी का कहना है कि जनता निर्वाचन के समय सर्वोच्च सत्ता का प्रयोग प्रत्यक्ष रूप से करती है।

सम्प्रभुता के सिद्धान्त

राज्य की सम्प्रभुता के सम्बन्ध में दो सिद्धान्त—एकलवादी और बहुलवादी।

एकलवादी विचारधारा

एकलवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्वप्रथम फ्रान्स के विचारक जीन बोंदा ने किया जिनके अनुसार प्रभुसत्ता राज्य की सर्वोच्च व स्थाई शक्ति है। एकलवादी सिद्धान्त के मुख्य समर्थकों में हाब्स, हीगल, आस्टिन आदि का नाम आता है। एकलवादियों के अनुसार सम्प्रभुता असीम, अविभाज्य अथवा एकवचनात्मक है। यह सिद्धान्त मानता है कि केवल राज्य ऐसे कानून के निर्माण करने व उसे लागू करने में समर्थ है जो इसके नियन्त्रण में रहने वाले व्यक्तियों अथवा समूहों सभी पर अनिवार्य रूप से लागू होता है। इस शक्ति में कोई अन्य संघ भागीदार नहीं होता। एकलवादी सिद्धान्त के प्रतिपादकों में आस्टिन का सिद्धान्त प्रमुख है जिसका वर्णन निम्नलिखित है :

आस्टिन का प्रभुसत्ता का सिद्धान्त

जॉन आस्टिन एक अंग्रेज विद्वान था। 19वीं शताब्दी में उसने प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को विस्तृत रूप में कानूनी विवेचन किया। 1832 में "विधि दर्शन पर व्याख्यान" में उसने अपने मत का प्रतिपादन किया था। आस्टिन पर बैन्थम तथा हॉब्स के विचारों का प्रभाव स्पष्ट रूप से पता चलता है। उसने अपने सिद्धान्त का तर्कपूर्ण विश्लेषण किया है।

प्रभुसत्ता की परिभाषा करते हुए वह कहता है कि "यदि कोई निश्चित उच्च सत्ताधारी मनुष्य जो स्वयं किसी दूसरे ऐसे ही उच्च सत्ताधारी के आदेश प्राप्त करने का अभ्यस्त न हो और जिसके आदेश पालन करने का किसी मनुष्य समाज का एक बड़ा भाग अभ्यासी हो तो वह उच्च सत्ताधारी मनुष्य उस समाज में प्रभुत्व सम्पन्न होता है और वह समाज उस उच्च सत्ताधारी सहित एक राजनीतिक तथा स्वाधीन समाज होता है।

आस्टिन के प्रभुसत्ता सिद्धान्त की विशेषताएं

(1) राज्य में प्रभुसत्ता का होना अनिवार्य है—आस्टिन की दृष्टि में प्रत्येक राजनीतिक समाज अर्थात् राज्य में प्रभुसत्ता का होना आवश्यक है। इस प्रभुसत्ता की अभिव्यक्ति कोई व्यक्ति या व्यक्ति समूह करता है। किसी निश्चित सम्प्रभु के अभाव में समाज को स्वाधीन और राजनीतिक नहीं माना जा सकता। यही सम्प्रभु कानूनों का निर्माण तथा उनका पालन कराता है।

(2) प्रभुसत्ता का निश्चित होना आवश्यक है—आस्टिन का कथन है कि प्रभुसत्ता किसी निश्चित व्यक्ति या व्यक्ति समूह में निहित होनी चाहिए जिसको पहचाना जा सके और जिसकी ओर संकेत किया जा सके। यदि प्रभुसत्ता किसी व्यक्ति समूह में निहित हो तो उस व्यक्ति समूह का निश्चित स्वरूप होना आवश्यक है, चूंकि आस्टिन की प्रभुसत्ता की अवधारणा का स्वरूप कानूनी है। अतः यह आवश्यक है कि राज्य में एक निश्चित शक्ति हो जो कानून का अन्तिम स्रोत हो।

(3) प्रभुसत्ता की शक्ति असीम होती है—आस्टिन के अनुसार प्रभुसत्ताधारी असीम शक्ति रखता है। एक ओर उसके आदेशों का पालन सभी व्यक्ति व समुदाय करते हैं और दूसरी ओर वह अपने जैसे किसी दूसरे प्रभुसत्ताधारी के आदेशों को स्वीकार नहीं करता। इस प्रकार प्रभुसत्ताधारी की इच्छा सर्वोच्च व अनियन्त्रित होती है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(4) प्रभुसत्ता अविभाज्य होती है—प्रभुसत्ता अपने में एक पूर्ण इकाई है और उसे विभाजित नहीं किया जा सकता। उसका विभाजन विभिन्न समुदायों में नहीं किया जा सकता, क्योंकि विभाजन से सम्प्रभुता नष्ट हो जाएगी।

(5) आन्तरिक व बाह्य नियन्त्रण से मुक्ति—सत्ताधारी व्यक्ति किसी अन्य ऐसे ही व्यक्ति के आदेशों का पालन नहीं करता और न राज्य के अन्दर कोई शक्ति उसके आदेशों के पालन का विरोध कर सकती है, अर्थात् वह आन्तरिक और बाह्य नियन्त्रण से मुक्त होती है, क्योंकि उसकी शक्ति सर्वोच्च है।

(6) सत्ताधारी कानूनों से बंधा नहीं है—सत्ताधारी का आदेश कानून है वास्तव में उसकी इच्छा का प्रकटीकरण ही कानून है। चूंकि कानून उसकी इच्छा की अभिव्यक्ति है इस कारण कानून न उसके बांध सकता है न सीमित कर सकता है।

आस्टिन के सिद्धान्त की आलोचना

आस्टिन के प्रभुसत्ता के सिद्धान्त की अनेक आधारों पर कड़ी आलोचना की गयी है। लॉर्ड ब्राइस, सर हेनरीमेन सिजविक आदि इसके प्रमुख आलोचक हैं। निम्नलिखित आधारों पर आस्टिन की आलोचना की जा सकती है :

(1) सर हेनरीमेन के अनुसार प्रभुसत्ता जनता में निवास करती है, लेकिन आस्टिन ने इसे स्वीकार नहीं किया। वह सम्प्रभुता के केवल वैधानिक पक्ष को ही सामने रखता है, किन्तु वह यह भूल जाता है कि राज्य में लोकप्रिय प्रभुसत्ता तथा राजनीतिक सत्ता भी निवास करती है।

(2) आस्टिन के अनुसार प्रभुसत्ताधारी का अपने से छोटे अधिकारी को दिया आदेश कानून कहलाता है, किन्तु वर्तमान समय में इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। विश्व में कुछ ऐसे नैतिक, धार्मिक तथा परम्परागत ऐसे कानून भी होते हैं, जो राज्य द्वारा निर्मित कानूनों से भी अधिक प्रभावकारी होते हैं। इसके अतिरिक्त कानून किसी श्रेष्ठ व्यक्ति के आदेशों को नहीं कह सकते कानून लोकमत के आधार पर जनता बनाती है।

(3) आस्टिन के अनुसार प्रभुसत्ता का निश्चित होना आवश्यक है, किन्तु प्रजातन्त्र राज्य में प्रभुसत्ता निश्चित नहीं की जा सकती।

(4) यदि आस्टिन के सिद्धान्तों को ठीक मान लिया जाए तो वर्तमान संघात्मक राज्यों में राजसत्ता का निवास कहां है खोज करना अत्यन्त कठिन होगा। संघात्मक राज्यों में शक्ति केन्द्र तथा राज्यों में विभाजित होती है इस कारण राजसत्ता का प्रयोग दोनों स्थानों पर होता है और राजसत्ता संविधान में निहित होती है।

(5) आस्टिन के अनुसार प्रभुसत्ता आन्तरिक तथा बाह्य दृष्टियों से पूर्ण स्वतन्त्र होती है। उसकी शक्ति अमर्यादित होती है, किन्तु वास्तव में प्रत्येक देश की प्रभुसत्ता अनेक बातों में मर्यादित होती है देश के अनेक समुदाय उसकी शक्ति की सीमाएं बांध देते हैं, इसके साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों से भी देश की राजसत्ता मर्यादित होती है।

बहुलवादी सिद्धान्त

एकलवाद की विचारधारा के विपरीत प्रतिक्रियास्वरूप बहुलवादी विचारधारा का जन्म हुआ। यह विचारधारा यद्यपि राज्य के अस्तित्व को बनाए रखना चाहती है, किन्तु राज्य की सम्प्रभुता का अन्त करना श्रेयस्कर मानती है। इस सिद्धान्त के मुख्य समर्थक हैं—गियर्क, मैटलैण्ड, फिगिस, लिण्डसे, लास्की आदि। इस सिद्धान्त के अनुसार राजसत्ता सम्प्रभु और निरंकुश नहीं है। समाज में विद्यमान अन्य अनेक समुदायों का अस्तित्व राजसत्ता को सीमित कर देता है।

बहुलवादी समाज के संघीय स्वरूप का समर्थन करते हैं, जो विभिन्न समुदायों व वर्गों पर आधारित हैं लास्की ने कहा है कि "समाज का स्वरूप संघात्मक होता है अतः सत्ता भी संघात्मक होनी चाहिए।" इस प्रकार लास्की की दृष्टि में समाज विभिन्न समुदायों व वर्गों का संगठित रूप है और इसी कारण ऐसे समाज में विद्यमान सत्ता भी इन समुदायों व वर्गों में बंटी होनी चाहिए।

सम्प्रभुता के एकलवादी सिद्धान्त पर बहुलवादी आक्षेप

बहुलवादी विचारकों द्वारा एकलवादी सिद्धान्त के विरुद्ध प्रमुख रूप से अग्रलिखित आक्षेप लगाए गए हैं :

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(1) समाज की स्थिति और संरचना का आधार—बहुलवादियों के अनुसार वर्तमान समय में समाज की स्थिति इस प्रकार की है कि अकेला राज्य मानवीय जीवन की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति में असमर्थ है। व्यक्ति अपनी विभिन्न आवश्यकाओं की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार के समुदाय बनाता है। व्यवहार में अन्य समुदाय राज्य की अपेक्षा अधिक शक्ति रखते हैं और समुदायों ने अनेक बार राज्य को झुकने के लिए बाध्य किया है। अतः आज समाज का संगठन एकात्मक न होकर बहुलवादी है। इसलिए एकलवादी सिद्धान्त आज की परिस्थितियों में कोई औचित्य नहीं रखता।

(2) ऐतिहासिक आधार—बहुलवादियों के अनुसार, आस्टिन के पूर्ण प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य की सत्ता कभी नहीं रही। प्राचीन काल और मध्यकाल में भारत या यूनान में इस तरह के कोई राज्य नहीं थे उन पर अनेक प्रकार के धार्मिक और सामाजिक बन्धन थे। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से कहा जा सकता है कि प्रभुसत्ता का सिद्धान्त राज्य के लिए आवश्यक नहीं है और इस सिद्धान्त का अन्त करके वर्तमान काल के राज्यों को प्रभुसत्ता से शून्य ही बना देना उचित है।

(3) व्यक्ति के विकास का तर्क—बहुलवादियों के अनुसार सम्प्रभुता का विचार व्यक्ति के विकास में बाधक है, क्योंकि यह राज्य को चरमसाध्य और व्यक्ति को साधन मात्र बना देता है, जो वास्तविक स्थिति के नितान्त विपरीत है। राज्य व्यक्ति की प्रगति तथा आत्मसन्तुष्टि का साधन मात्र है और व्यक्ति का यह विकास तथा सन्तुष्टि बहुमुखी होती है। ऐसी स्थिति में राज्य तथा अन्य समुदायों के बीच विरोध उत्पन्न होने पर व्यक्ति को अपने विवेक के अनुसार अपनी भक्ति निर्धारित करने का अधिकार होना चाहिए जो केवल बहुलवादी व्यवस्था में ही सम्भव है।

(4) लोकतन्त्र की सफलता के आधार पर—सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य में नहीं वरन् बहुलवादी व्यवस्था में ही सम्भव है। लोकतन्त्र में व्यक्ति शासन के प्रत्येक कार्य में सक्रिय रूप से भाग लेता है यह केवल बहुलवादी व्यवस्था में ही सम्भव है जो विकेन्द्रीकरण और मानवीय जीवन के विविध पक्षों के उचित महत्व पर आधारित है।

(5) विश्व शान्ति के आधार पर—बहुलवादी कहते हैं कि सम्प्रभुता का सिद्धान्त ही संघर्षों एवं युद्ध का जनक है और विश्वशान्ति बनाए रखने के लिए सम्प्रभुता के सिद्धान्त का त्याग एक अनिवार्य आवश्यकता है।

(6) कानून के स्वरूप के आधार पर—आस्टिन ने कानून का एकमात्र स्रोत राज्य को माना था और उसने कहा कि कानून सम्प्रभुता का आदेश है, लेकिन बहुलवादियों के अनुसार राज्य कानूनों का निर्माता नहीं बल्कि घोषणा करने वाला ही है।

बहुलवाद की मान्यताएं

बहुलवादी सिद्धान्त की निम्नलिखित मुख्य मान्यताएं हैं :

(1) बहुलवादी राज्य के अस्तित्व का विरोध नहीं करते बल्कि वे राज्य को एक समुदाय मानते हैं। मैटलैण्ड के अनुसार, राज्य भी इन्हीं समुदायों में से एक है।

(2) बहुलवादी राज्य और समाज में अन्तर करते हैं वे राज्य को समाज का एक अंग मानते हैं।

(3) बहुलवादी नियन्त्रित राजसत्ता में विश्वास करते हैं।

उनके अनुसार राज्य सर्वसत्तावान नहीं है, क्योंकि वह बाहरी क्षेत्र में अन्य राज्यों के अधिकारों से सीमित है और आन्तरिक क्षेत्र में वह स्वयं अपनी प्रकृति तथा अपने नागरिकों के अधिकारों से सीमित है।

(4) बहुलवादी कानून को राज्य से स्वतन्त्र और उच्च मानते हैं। क्रेब के शब्दों में, "राज्य विधि का नहीं, विधि राज्य का निर्माण करती है।"

(5) बहुलवाद एक जनतन्त्रात्मक विचारधारा है और व्यावसायिक प्रतिनिधित्व में विश्वास रखता है। यह सर्वाधिकारवादी राज्य के स्थान पर ऐसे राज्य की स्थापना करना चाहता है जिसमें शासन व्यवस्था का संगठन नीचे से ऊपर की ओर हो।

बहुलवाद की समालोचना

बहुलवाद सम्प्रभुता के एकत्ववादी सिद्धान्त के विरुद्ध एक सशक्त प्रतिक्रिया है। एकलवादी सिद्धान्त ने राज्य को सम्प्रभुता का एकमात्र अधिकारी घोषित किया, जबकि बहुलवादी राज्य को समाज की केवल

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक संस्था मानते हैं उनके अनुसार समाज में राज्य के अतिरिक्त अन्य संस्थाओं व समूहों का अस्तित्व होता है तथा जो व्यक्ति के विकास और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। राज्य केवल व्यक्ति के राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति करता है; अतः उसे समाज की सर्वोच्च शक्ति प्रदान करना व्यक्ति और समाज दोनों के विकास के लिए उचित नहीं है इसलिए बहुलवादियों ने विभिन्न आधारों जैसे ऐतिहासिक, अन्तर्राष्ट्रीय, नैतिक, लोकतन्त्र आदि के आधार पर राज्य की असीमित सम्प्रभुता का विरोध किया है।

बहुलवाद की मुख्य कमी यह है कि वह एक व्यवस्थित सिद्धान्त नहीं है, एक प्रक्रिया मात्र है। इस सिद्धान्त में स्पष्टता का भी अभाव है, क्योंकि बहुलवादी एक तरफ राज्य की सम्प्रभुता की आलोचना करते हैं तो दूसरी तरफ राज्य को समाज के प्रथम समुदाय के रूप में बनाए भी रखना चाहते हैं। इस कमी के बावजूद बहुलवाद का प्रमुख योगदान राज्य की निरंकुशता पर रोक लगाना तथा समाज में विभिन्न समूहों के महत्व को रेखांकित करना है।

विधि
(LAW)

राज्य का उद्देश्य मानव जाति का कल्याण करना है, परन्तु इस उद्देश्य की प्राप्ति तभी हो सकती है, जब राज्य के नागरिक अपने जीवन में आचरण के कुछ सामान्य नियमों का पालन करते हों। अतः राज्य अपने नागरिकों के जीवन के संचालन हेतु नियमों का निर्माण करता है जिनका पालन करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक होता है और यदि व्यक्ति उनका पालन नहीं करता है तो वह दण्ड का भागी होता है। राजनीति विज्ञान में राज्य द्वारा निर्मित और लागू किए जाने वाले इन नियमों को ही कानून कहते हैं।

कानून आंग्ल भाषा के 'लॉ' शब्द का हिन्दी रूपान्तरण है। लॉ शब्द की उत्पत्ति ट्यूटानिक 'लैग' (Log) से हुई है जिसका अर्थ होता है जो वस्तु सदा स्थिर, स्थायी और निश्चित या सभी परिस्थितियों में समान रूप से रहे। अतः शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से कानून का अर्थ है वह जो एक रूप बना रहे।

कानून की कुछ प्रमुख परिभाषाएं निम्नलिखित हैं : मैकाइवर के अनुसार, "राज्य कानून का शिशु और जनक दोनों हैं।"

आस्टिन के अनुसार, "कानून सम्प्रभु की आज्ञा है।"

बुडरो विल्सन के अनुसार, "कानून स्थिति, विचार तथा स्वभाव का वह अंश है, जिसे शासक की शक्ति लागू करती है।"

ग्रीन के अनुसार, "अधिकारों और कर्तव्यों की उस पद्धति को कानून कहा जाता है जिसे सरकार लागू करती है।"

हॉलैण्ड के अनुसार, "आचरण के उन सामान्य नियमों को कानून कहते हैं, जो मनुष्य के बाहरी आचरण से सम्बन्धित होते हैं, और जिन्हें एक निश्चित सत्ता लागू करती है। यह निश्चित सत्ता राजनीतिक क्षेत्र की मानवीय सत्ताओं में सर्वोच्च होती है।

कानून के तत्व

कानून के निम्नलिखित पांच तत्व बताए जा सकते हैं :

(1) कानून के लिए नागरिक समाज का अस्तित्व आवश्यक है, क्योंकि नागरिक समाज ही एक सुव्यवस्थित संगठन है और इस संगठन के संचालन हेतु ही नियमों की आवश्यकता होती है।

(2) कानून ऐसे होने चाहिए, जिनका पालन न केवल दण्ड के भय से वरन् सामाजिक हित की भावना से किया जाए।

(3) कानूनों का सम्बन्ध व्यक्ति के बाहरी आचरण से होता है, उनकी आन्तरिक भावनाओं से नहीं।

(4) कानूनों के निर्माण तथा उनकी क्रियान्विति के लिए एक समप्रभुत्व पूर्ण सत्ता का अस्तित्व आवश्यक है।

(5) नागरिकों को कानून का अनिवार्य रूप से पालन करना होता है और कानून का उल्लंघन करने पर वे राज्य दण्ड के भागी होते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कानून के प्रकार

विधि शास्त्रियों द्वारा ग्रहण किए गए आधारों के अनुसार, "कानून को अनेक रूपों में वर्गीकृत किया गया है। विद्वानों ने सत्ता के आधार पर, निजी-सार्वजनिक विशेषताओं के आधार पर राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीयता के आधार पर कानूनों का वर्गीकरण किया। कानूनों के विभिन्न अनिवार्य रूपों का वर्णन इस प्रकार कर सकते हैं।

(1) प्राकृतिक तथा सकारात्मक कानून—प्रकृति या किसी अन्य अति-प्राकृतिक अभिकरण द्वारा निर्मित होने के कारण प्रकृति का कानून अमूर्त है, जबकि राज्य का कानून मानव द्वारा निर्मित होने के कारण मूर्त है। प्राकृति कानून अलिखित होता है। अतः इसे समझना आसान नहीं है, जबकि सकारात्मक कानून लिखित होता है। इसे सरलता से समझा जा सकता है। प्राकृतिक कानून लागू करने के पीछे अति-प्राकृतिक शक्ति के प्रति सम्मान या भय छिपा होता है, जबकि सकारात्मक कानून को राज्य लागू करता है। इस कारण इसे आदेशात्मक कानून कहा जाता है।

(2) राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय कानून—किसी प्रभुसत्ता सम्पन्न सत्ता द्वारा निर्मित कानून तथा उसके प्रादेशिक क्षेत्राधिकार में रहने वाले लोगों पर लागू होने वाले कानून को राष्ट्रीय कानून कहा जाता है। यह राज्य में रहने वाले लोगों के निजी एवं सार्वजनिक सम्बन्धों का निर्धारण करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यों के बीच परस्पर आचरण को विनियमित करता है। दोनों मानव निर्मित कानून हैं तथापि दोनों में अन्तर यह है कि राष्ट्रीय कानून के पीछे प्रभुसत्ता सम्पन्न सत्ता का बल है, जबकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून विश्व के सभ्य राष्ट्रों के सदविवेक से अपना बल ग्रहण करता है।

(3) संवैधानिक तथा साधारण कानून—यद्यपि दोनों राज्य के कानून हैं, परन्तु अपनी शक्ति के क्षेत्र में दोनों भिन्न हैं। संवैधानिक कानून का स्तर देश के संविधान का अंग होने के कारण उच्चतर होता है, जबकि साधारण कानून किसी विधायी निकाय या अन्य सत्ता द्वारा निर्मित हो सकता है।

(4) दीवानी तथा फौजदारी के कानून—दीवानी के कानून का सम्बन्ध किसी व्यक्ति द्वारा किए गए अन्य के हितों को क्षति पहुंचाने वाले कार्य से है। जैसे, ऋण का भुगतान न करना या किसी समझौते की शर्तों का उल्लंघन करना आदि, जबकि फौजदारी के कानून का सम्बन्ध किसी व्यक्ति के आपराधिक कृत्य (चोरी, डकैती, हत्या आदि) से है। दोनों मामलों में न्यायिक प्रक्रिया भी भिन्न होती है।

(5) निजी तथा सार्वजनिक कानून—हॉलैण्ड के अनुसार निजी कानून का तात्पर्य व्यक्तियों के बीच पारस्परिक सम्बन्धों से है, जबकि सार्वजनिक कानूनों का आशय लोगों तथा राज्यों के बीच सम्बन्धों से है। सार्वजनिक कानून का सम्बन्ध राज्य की व्यवस्था, शासन के कार्यों के सीमांकन तथा राज्य व उसके नागरिकों के बीच सम्बन्धों से है।

(6) प्रशासकीय कानून—किसी देश में साधारण नागरिकों से पृथक् सरकारी कर्मचारियों के लिए अलग कानून होते हैं। इन कानूनों को प्रशासकीय कानून कहते हैं। ये वे नियम हैं जो राज्य के सभी कर्मचारियों के अधिकारों तथा कर्तव्यों को निश्चित करते हैं। फ्रांस प्रशासकीय कानून का सर्वोत्तम उदाहरण है।

कानून के उद्गम या स्रोत

कानून के स्रोत से तात्पर्य उन साधनों से है जो प्रत्यक्ष रूप से कानून के निर्माण में सहायता देते हैं कानून के मुख्य स्रोत निम्नलिखित हैं।

(1) रीति-रिवाज या परम्पराएं—रीति-रिवाज कानून का प्राचीनतम तथा एक महत्वपूर्ण स्त्रोत है। रीति-रिवाजों का निर्माण नहीं होता, वरन् धीरे-धीरे उनका विकास होता है। ये समाज में प्रचलित वे नियम होते हैं जिन्हें समाज के सभी लोग लम्बे समय से मानते चले आ रहे हैं। इन रीति-रिवाजों के पीछे सामाजिक संगठन का नियन्त्रण तथा समाज का नैतिक बल रहता है। जब ये समाज में अधिक प्रचलित व मानव हो जाते हैं, तब राज्य उन्हें कानून का रूप दे देता है। इंग्लैण्ड में 'कॉमन लॉ' इसी की देन है।

(2) धर्म—परम्पराओं की तरह धर्म का भी कानून निर्माण में महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इसकी मान्यता लोगों की धार्मिक पुस्तकों में विद्यमान रही है। धार्मिक पुस्तकों में समाहित शब्दों तथा पुजारियों व अलौकिक

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरुषों द्वारा की गई व्याख्याओं से लोगों के धार्मिक कानून का गठन होता है। समय की गति के साथ धार्मिक कानून के अधिकांश सिद्धान्त राज्य द्वारा निश्चित नियमों में परिवर्तित कर दिए जाते हैं।

(3) न्यायिक निर्णय—जैसे-जैसे सामाजिक व्यवस्था जटिल होने लगी, वैसे-वैसे विभिन्न रीति-रिवाजों में संघर्ष उत्पन्न होने लगा ऐसे विवादों को सुलझाने के लिए समाज के उन बुद्धिमान व्यक्ति या व्यक्तियों की सलाह ली जाती थी जिनका निर्णय सबको स्वीकार हो। ऐसे व्यक्तियों के निर्णयों ने 'कानूनी दृष्टान्तों' का रूप धारण कर लिया। बाद में उत्पन्न विवाद सुलझाने के लिए इन पूर्ण दृष्टान्तों का अनुकरण किया जाने लगा और इस प्रकार न्यायिक निर्णय कानून के स्रोत बन गए। आज भी न्यायिक निर्णय कानून के विकास में काफी सहायक होते हैं।

(4) कानूनी टीकाएं—प्रत्येक क्षेत्र में कानून के प्रसिद्ध ज्ञाता कठिन कानूनों के अर्थ को स्पष्ट रूप से समझाने के लिए कानून की व्याख्या करते हुए ग्रन्थ रचना करते हैं। जिन्हें कानूनी टीकाएं कहा जाता है। न्याय शास्त्रियों की यह टीकाएं भी कानून का स्रोत होती हैं। न्यायालयों में न्यायाधीश इन टीकाओं को मान्यता देते हैं तथा अपने निर्णयों में इनका आदर के साथ उल्लेख करते हैं। इस प्रकार कानून की यह शास्त्रीय टीकाएं कानून के विकास में सहायक होती हैं।

(5) समता या औचित्य (Equity) कानून का एक अन्य महत्वपूर्ण स्रोत 'औचित्य' की भावना है यह प्राकृतिक न्याय (Natural Justice) के सिद्धान्तों पर आधारित है। न्यायालयों के समय यदि ऐसा विवाद उत्पन्न हो जाए जिसके सम्बन्ध में कानून मौन हो तो न्यायालय 'औचित्य' के सिद्धान्त के आधार पर नए नियमों व मापदण्डों का निर्धारण करता है बाद में यही नियम कानून का रूप धारण कर लेते हैं।

(6) व्यवस्थापन (Legislation)—आधुनिक युग में कानून का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत व्यवस्थापन है। इसका तात्पर्य आवश्यकतानुसार व्यवस्थापिका द्वारा कानून का निर्माण किया जाना है।

आज प्रचलित अधिकांश कानून ऐसे हैं जिनका निर्माण व्यवस्थापिका द्वारा किया जाता है। व्यवस्था द्वारा निर्मित कानून सुस्पष्टत व सुनिश्चित होते हैं तथा उनकी अभिव्यक्ति लिखित अधिनियमों के माध्यम से की जाती है।

कानून का स्वरूप अथवा कानून के सिद्धान्त

आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाएं 'विधि के शासन' की धारणा पर संचालित होती हैं। विधि के शासन का विचार इंग्लैण्ड के विचार ए. वी. डायसी ने अपनी पुस्तक '*Law of Constitution*' में दिया था। इसके अनुसार कानून सभी के लिए एक जैसा है। शासन का संचालन शासकों की व्यक्तिगत इच्छाओं से नहीं वरन् कानूनों से होना चाहिए। अतः कानून शासकों व नागरिकों दोनों को नियन्त्रित करता है।

इसी दृष्टि से आज के लोकतन्त्रों में कानून के निर्माण व उन्हें जनभावनाओं के अनुसार बनाने पर विशेष बल दिया जाता है। कानून का स्वरूप कैसा है? इस विषय पर कई दृष्टिकोण प्रचलित हैं जिन्हें कानून के सिद्धान्त भी कहा जाता है। इनका विवरण निम्नलिखित है :

(1) विश्लेषणात्मक सिद्धान्त (Analytical Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार सम्प्रभु का आदेश है। सम्प्रभु ही कानून का एक मात्र स्रोत है तथा कानूनों का पालन जनता सम्प्रभु के दण्ड के भय से करती है। कानून की पीछे बाह्यकारी शक्ति सम्प्रभु की आज्ञा है।

यह सिद्धान्त बेन्थम व आस्टिन के विचारों पर आधारित है। इसका प्रतिपादन हॉलैण्ड व बिलोबी जैसे सिद्धान्तों द्वारा किया गया है। इसके अनुसार कानून का स्रोत मुख्यतः व्यवस्थापिका ही है।

(2) ऐतिहासिक सिद्धान्त (Historical Theory)—इस धारणा के अनुसार कानून का निर्माण नहीं वरन् उसका क्रमिक विकास होता है। यह विचारधारा कानून के स्रोत (सम्प्रभु) के स्थान पर कानून की विषय वस्तु पर अधिक बल देती है। इस विचारधारा के अनुसार राज्य कानूनों का निर्माण अचानक नहीं कर देता वरन् उसका आधार लम्बे समय से चली आ रही परम्पराएं व रीति-रिवाज होते हैं व्यक्ति कानूनों का पालन इसलिए करते हैं कि उन्हें इन परम्पराओं में विश्वास होता है तथा इनके पालन की आदत होती है।

इस विचारधारा के प्रवर्तक सर हेनरीमैन, फ्रेडरिक पोलक, मेटलैण्ड व सैविग्नी हैं।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(3) दार्शनिक सिद्धान्त (Philosophical Theory)—इस विचारधारा के समर्थक हीगल, काण्ट, ग्रीन पाउण्ड व कोहलर हैं। इस विचारधारा के समर्थक कानून के स्रोत व उसके विधिक पहलू पर ध्यान न देकर उसके नैतिक अथवा दार्शनिक प्रश्न पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। इनके अनुसार कानून आदर्श राज्य की नैतिकता की अभिव्यक्ति है। कानून के पालन का आधार भी उसमें निहित नैतिकता का तत्व है।

(4) समाजशास्त्रीय सिद्धान्त (Sociolosical Theory)—इस विचारधारा का मानना है कि कानून सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन है। उनकी उत्पत्ति सामाजिक शक्तियों का परिणाम है। व्यक्ति कानूनों का पालन सम्प्रभु के भय के कारण नहीं वरन् सामाजिक चेतना के कारण करते हैं। अतः कानूनों का वास्तविक जनक सामाजिक परिस्थितियां हैं। राज्य केवल उनकी सुनिश्चित व विधिक अभिव्यक्ति का साधन है। मैकाइवर, कैब, गयप्लाविज व अमेरिका के जस्टिस होल्म इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थ हैं।

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (प्रत्येक प्रश्न 6 अंक का, उत्तर लगभग 300 शब्दों में दीजिए)

1. सम्प्रभुता से आप क्या समझते हैं? इसकी प्रमुख विशेषताओं व प्रकारों से समझाइए।
2. कानून की परिभाषा दीजिए तथा इसके विभिन्न स्रोतों पर प्रकाश डालिए।
3. सम्प्रभुता पर एक लेख लिखिए। (उ.प्र., 2010)
4. कानून के विभिन्न स्रोतों का वर्णन कीजिए। (उ.प्र., 2010)
5. ऑस्टिन के सम्प्रभुता सिद्धान्त की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।
6. ऑस्टिन के एकत्ववादी सम्प्रभुता सिद्धान्त के प्रति बहुत्ववादी आक्षेपों की विवेचना कीजिए।
7. कानून को परिभाषित करते हुए इसके स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

(अ) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 50 शब्दों में दीजिए (2 अंक)।

1. प्रभुसत्ता की दो विशेषताएं लिखिए। (उ.प्र., 2010)
2. लोक सम्प्रभुता का अर्थ समझाइए।
3. ऑस्टिन के सम्प्रभुता सिद्धान्त की दो आलोचनाएं लिखिए।
4. बहुत्ववाद की कोई दो विशेषताएं लिखिए।
5. वैध (Defure) तथा यथार्थ (Defacto) सम्प्रभु में क्या अन्तर है?
6. राजनीतिक सम्प्रभुता का अर्थ बताइए।

(ब) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिए (4 अंक)।

7. विधि के चार प्रकार बताइए। (उ.प्र., 2010)
8. विधि का विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण सिद्धान्त क्या है?
9. सम्प्रभुता की विशेषताएं बताइए।
10. सम्प्रभुता के विभिन्न प्रकार बताइए।
11. विधि के प्रमुख स्रोत बताइए।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न [प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का, उत्तर दस शब्द (एक वाक्य) में]

प्रश्न 1. सम्प्रभुता के किसी एक सिद्धान्त का उल्लेख कीजिए। (उ.प्र., 2010)
उत्तर—सम्प्रभुता का एक प्रमुख सिद्धान्त ऑस्टिन का एकत्ववादी सिद्धान्त है।

प्रश्न 2. लोक सम्प्रभुता का विचार किसने दिया था?
उत्तर—लोक सम्प्रभुता का विचार सर्वप्रथम रूसो ने दिया था।

प्रश्न 3. 'कानून सम्प्रभुता आदेश है' किसका कथन है?
उत्तर—यह कथन ऑस्टिन का है।

प्रश्न 4. दो बहुत्ववादी विचारकों के नाम लिखिए।
उत्तर—दो बहुत्ववादी विचारकों के नाम हैं—लॉस्की तथा लिण्डसे।

प्रश्न 5. राज्य अन्य समुदायों की भांति एक समुदाय है। यह विचार किस विचारधारा से सम्बन्धित है?
उत्तर—उक्त विचार बहुत्ववादी विचारधारा से सम्बन्धित है।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न 6. 'विधि दर्शन पर व्याख्यान' पुस्तक किसकी है :
उत्तर—यह पुस्तक ऑस्टिन की है।

प्रश्न 7. "समाज संघात्मक है अतः सत्ता भी संघात्मक होनी चाहिए।" यह कथन किसका है?
उत्तर—यह कथन लास्की का है।

प्रश्न 8. सम्प्रभुता का विचार सबसे पहले किसने दिया था?
उत्तर—सम्प्रभुता का विचार सबसे पहले जीन बोंदा ने दिया था।

प्रश्न 9. वह कौन-सा तत्व है जो राज्य को अन्य समुदायों से अलग करता है।
उत्तर—सम्प्रभुता राज्य का ऐसा तत्व है जो उसे अन्य समुदायों से अलग करता है। सम्प्रभुता राज्य के अतिरिक्त किसी अन्य समुदाय में नहीं पाई जाती।

प्रश्न 10. कानून के स्वरूप के बारे में दो सिद्धान्तों के नाम लिखिए।
उत्तर—कानून के स्वरूप के बारे में दो सिद्धान्त हैं : 1. विश्लेषणात्मक सिद्धान्त, 2. ऐतिहासिक सिद्धान्त।

बहुविकल्पीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों में चार विकल्प दिए गए हैं। उनमें से एक सही विकल्प छांटकर लिखिए :

1. निम्नलिखित में से कौन विधि का स्रोत नहीं है : (उ.प्र., 2010)
(अ) रीतिरिवाज व परम्पराएं (ब) न्यायिक निर्णय
(स) विधानमण्डल (द) ग्राम पंचायतें

2. 'कानून सम्प्रभु की आज्ञा है" : (उ.प्र., 2010)
(अ) ऑस्टिन (ब) बोंदा
(स) ग्रीन (द) लास्की

3. सम्प्रभुता के सिद्धान्त को सर्वप्रथम किसने प्रतिपादित किया? (उ.प्र., 2010)
(अ) जॉन लाक (ब) जे. एस. मिल
(स) रूसो (द) बोंदा

4. निम्नलिखित में कौन बहुलवादी विचारक नहीं है?
(अ) लास्की (ब) ऑस्टिन
(स) लिण्डसे (द) मैकाइवर

5. निम्नलिखित में कौन सम्प्रभुता की विशेषता नहीं है?
(अ) अविभाज्यता (ब) मौलिकता
(स) सर्वोच्चता (द) देयता/हस्तान्तरणशीलता

6. आधुनिक राज्यों में कानून निर्माण का कार्य किसके द्वारा किया जाता है?
(अ) व्यवस्थापिका (ब) कार्यपालिका
(स) मन्त्रिमण्डल (द) न्यायपालिका

7. नाममात्र के सम्प्रभु का कौन उदाहरण है?
(अ) अमेरिका का राष्ट्रपति (ब) ब्रिटिश सम्राट
(स) भारत का प्रधानमन्त्री (द) इनमें से कोई नहीं

8. 'विधि के शासन' का विचार किसने दिया था?
(अ) डायसी (ब) लास्की
(स) ऑस्टिन (द) रूसो

9. बहुलवादियों के अनुसार सम्प्रभुता :
(अ) अविभाज्य है। (ब) अदेय है।
(स) विभाज्य है। (द) स्थायी है।

10. अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधार पर सम्प्रभुता की आलोचना किसने की है?
(अ) ऑस्टिन (ब) लास्की
(स) सर हेनरीमैन (द) इनमें से कोई नहीं

[उत्तर—1. (द), 2. (अ), 3. (द), 4. (ब), 5. (द), 6. (अ), 7. (ब), 8. (अ), 9. (स), 10. (ब)]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

9

स्वतन्त्रता और समानता

[LIBERTY AND EQUALITY]

"स्वतन्त्रता किसी अन्य साध्य की प्राप्ति का साधन नहीं, वरन् यह सर्वोच्च साध्य है।"

—डॉ. राधाकृष्णन

स्वतन्त्रता की आवश्यकता या उसका महत्व

मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए अधिकारों का अस्तित्व नितान्त आवश्यक है और व्यक्ति के विविध अधिकारों में स्वतन्त्रता का स्थान निश्चित रूप में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। बर्ट्रेण्ड रसैल कहते हैं कि "स्वतन्त्रता की इच्छा व्यक्ति की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है और इसी के आधार पर सामाजिक जीवन का निर्माण सम्भव है।" मनुष्य का सम्पूर्ण भौतिक, मानसिक एवं नैतिक विकास स्वतन्त्रता के वातावरण में ही सम्भव है। स्वतन्त्रता प्रजातन्त्र का आधार स्तम्भ है। लॉक ने इसे जीवन व सम्पत्ति के अधिकारों के साथ प्राकृतिक अधिकारों की श्रेणी में रखा है। इसके अनुसार स्वतन्त्रता राज्य के पूर्व व्यक्ति को प्राकृतिक अवस्था में प्राप्त थी।

यदि हम प्रकृति पर दृष्टि डालें तो भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्वतन्त्रता के बिना किसी भी वस्तु का विकास सम्भव नहीं है। पेड़-पौधे भी स्वतन्त्रता के वातावरण में ही विकसित हो सकते हैं। जो पौधा या पेड़ किसी विशाल वृक्ष की छाया या दबाव में पड़ जाता है, उसका विकास रुक जाता है। इसी प्रकार पिंजड़े में बन्द पक्षी या सर्कस के कठहरे में बन्द शेर सही अर्थों में पक्षी या शेर नहीं रहते वे अपना सारभूत तत्व खो देते हैं। सृष्टि के इन प्राणियों के सम्बन्ध में जो बात सत्य है, वह विवेकशील मनुष्य के सम्बन्ध में और भी अधिक सत्य है। मनुष्य का भौतिक, बौद्धिक तथा नैतिक विकास स्वतन्त्रता के बिना सम्भव ही नहीं है। इसी आधार पर जे. एस. मिल द्वारा अपनी पुस्तक '*On Liberty*' में स्वतन्त्रता को मानव जीवन का मूल आधार बताया गया है। बर्न्स ने ठीक ही लिखा है कि "स्वतन्त्रता न केवल सभ्य जीवन का आधार है, वरन् सभ्यता का विकास भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर ही निर्भर करता है।" इसी प्रकार महाकवि तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में लिखा है 'करि विचार देखहु मन माहीं, पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।'

स्वतन्त्रता अमूल्य वस्तु है और उसका मानवीय जीवन में बहुत अधिक महत्व है। यह बात व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता दोनों के ही सम्बन्ध में सत्य है। स्वतन्त्रता का महत्व न होता, तो विभिन्न देशों में लाखों व्यक्तियों द्वारा स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए अपने प्राणों का बलिदान न दिया जाता। इटली के प्रसिद्ध देशभक्त मैजिनी (Mazzini) का कथन है कि "स्वतन्त्रता के अभाव में आप अपना कोई कर्तव्य पूरा नहीं कर सकते। अतएव आपको स्वतन्त्रता का अधिकार दिया जाता है और जो भी शक्ति आपको इस अधिकार से वंचित रखना चाहती हो, उससे जैसे भी बने, अपनी स्वतन्त्रता छीन लेना आपका कर्तव्य है।"

स्वतन्त्रता का अर्थ और परिभाषा

आधुनिक युग में स्वतन्त्रता शब्द सबसे अधिक लोकप्रिय है और इस शब्द की लोकप्रियता का परिणाम यह हुआ है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार स्वतन्त्रता के अलग-अलग अर्थ लेता है। अधिकांश मनुष्य स्वतन्त्रता का अर्थ मनमानी करने से या बिना किसी दूसरे व्यक्ति के हस्तक्षेप के अपनी इच्छानुसार कार्य करने से लेते हैं। स्वतन्त्र विचारक स्वतन्त्रता का अर्थ प्राचीन परम्पराओं और बन्धनों से मुक्त होने से लेते हैं, आध्यात्मिक सन्त स्वतन्त्रता का अभिप्राय सांसारिक माया-मोह से मुक्ति से लेते हैं और परतन्त्र देश के निवासी स्वतन्त्रता को स्वराज्य का पर्यायवाची समझते हैं, किन्तु व्यवहार में प्रचलित स्वतन्त्रता के इन विविध

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थों में कोई भी अर्थ सही नहीं है। स्वतन्त्रता का सही प्रकार से अभिप्राय दो रूपों में व्याख्या करते हुए समझा जा सकता है : (1) स्वतन्त्रता का निषेधात्मक अर्थ, और (2) स्वतन्त्रता का सकारात्मक अर्थ।

(1) स्वतन्त्रता का निषेधात्मक अर्थ—स्वतन्त्रता का अंग्रेजी रूपान्तर 'लिबर्टी' (Liberty) लैटिन भाषा के 'लिबर' (Liber) शब्द से निकला है, जिसका अर्थ होता है 'बन्धनों का अभाव', किन्तु स्वतन्त्रता शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर प्रचलित इस अर्थ को स्वीकार नहीं किया जा सकता। बन्धनों के अभाव के रूप में स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता का रूप धारण कर लेती है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और वह समाज में रहते हुए असीमित स्वतन्त्रता का उपयोग कर ही नहीं सकता। इस सम्बन्ध में मैक्केनी ने ठीक ही लिखा है कि "पूर्ण स्वतन्त्रता जंगली गधे की आवारागर्दी की स्वतन्त्रता ही हो सकती है।"[1] अतः राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत स्वतन्त्रता की जिस रूप में कल्पना की जाती है, उस रूप में स्वतन्त्रता मानवीय प्रकृति और सामाजिक जीवन के इन दो विरोधी तत्वों (बन्धनों का अभाव और नियमों के पालन) में सामंजस्य का नाम है। इसकी परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि "स्वतन्त्रता व्यक्ति की अपनी इच्छानुसार कार्य करने की शक्ति का नाम है, बशर्ते कि दूसरे व्यक्तियों की इसी प्रकार की स्वतन्त्रता में कोई बाधा न पहुंचे।" 1789 की 'मानवीय अधिकार घोषणा' (Declaration of Human Rights) में यही कहा गया है कि "स्वतन्त्रता वह सब कुछ करने की शक्ति का नाम है जिससे अन्य व्यक्तियों को आघात न पहुंचे।" सीले, मैक्केनी और लास्की ने स्वतन्त्रता की परिभाषा इस प्रकार से की है :

सीले के अनुसार, "स्वतन्त्रता अति शासन की विरोधी है।"[2]

मैक्केनी के अनुसार, "स्वतन्त्रता सभी प्रकार के प्रतिबन्धों का अभाव नहीं, अपितु अनुचित प्रतिबन्धों के स्थान पर उचित प्रतिबन्धों की व्यवस्था है।"

प्रो. लास्की के शब्दों में, "स्वतन्त्रता से मेरा अभिप्राय यह है कि उन सामाजिक परिस्थितियों के अस्तित्व पर प्रतिबन्ध न हो, जो आधुनिक सभ्यता में मनुष्य के सुख के लिए नितान्त आवश्यक हैं।"

(2) स्वतन्त्रता का सकारात्मक अर्थ—सीले और लास्की ने स्वतन्त्रता की जो परिभाषाएं की हैं, उनमें स्वतन्त्रता का चित्रण अनुचित प्रतिबन्धों के अभाव के रूप में किया गया है और इस प्रकार ये परिभाषाएं स्वतन्त्रता के नकारात्मक स्वरूप को प्रकट करती हैं, किन्तु जैसा कि गैटिल ने कहा है, "स्वतन्त्रता का समाज में केवल नकारात्मक स्वरूप ही नहीं है, वरन् सकारात्मक स्वरूप भी है।" स्वतन्त्रता के सकारात्मक स्वरूप की सर्वप्रथम विधिवत् व्याख्या अंग्रेज विचारक प्रो. टी. एच. ग्रीन ने की है। स्वतन्त्रता के सकारात्मक या वास्तविक स्वरूप की नकारात्मक स्वरूप से भिन्नता बताये हुए टी. एच. ग्रीन ने लिखा है कि "जिस प्रकार सौन्दर्य कुरूपता के अभाव का ही नाम नहीं होता, उसी प्रकार स्वतन्त्रता प्रतिबन्धों के अभाव का ही नाम नहीं है।" सकारात्मक या वास्तविक स्वरूप की नकारात्मक स्वरूप से भिन्नता बताते हुए आगे चलकर ग्रीन ही स्वतन्त्रता के सकारात्मक रूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि "स्वतन्त्रता ऐसे कार्य करने और उपभोग करने की शक्ति का नाम है जो करने योग्य या उपभोग के योग्य हो।"[3] स्वतन्त्रता के इस रूप की व्याख्या करते हुए लास्की ने भी कहा है कि "स्वतन्त्रता उस वातावरण को बनाये रखना है जिसमें व्यक्ति को जीवन का सर्वोत्तम विकास करने की सुविधा प्राप्त हो।"[4]

इस प्रकार सकारात्मक रूप में स्वतन्त्रता का तात्पर्य ऐसे वातावरण और परिस्थितियों की विद्यमानता से है जिसमें व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके।

(1) न्यूनतम प्रतिबन्ध—स्वतन्त्रता का प्रथम तत्व यह है कि व्यक्ति के जीवन पर शासन और समाज के दूसरे सदस्यों की ओर से न्यूनतम प्रतिबन्ध होने चाहिए, जिससे व्यक्ति अपने विचार और कार्य-व्यवहार में अधिकाधिक स्वतन्त्रता का उपभोग कर सके।

(2) व्यक्तित्व के विकास हेतु सुविधाएं—स्वतन्त्रता का दूसरा तत्व यह है कि समाज और राज्य द्वारा व्यक्ति को उसके व्यक्तित्व के विकास हेतु अधिकाधिक सुविधाएं प्रदान की जानी चाहिए।

1 "Absolute freedom is dissolute liberty of a wild ass." —*Mckechine*
2 "Liberty is the opposite of over-government." —*Seeley*
3 "The positive power of doing or enjoying something worth doing or worth enjoying." —*Green*
4 "Liberty is the eager maintenance of that atmosphere in which men have the opportunity of their best selves."

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः स्वतन्त्रता के नकारात्मक और सकारात्मक दोनों ही स्वरूपों को दृष्टि में रखते हुए स्वतन्त्रता की परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि "स्वतन्त्रता जीवन की ऐसी अवस्था का नाम है जिसमें व्यक्ति के जीवन पर न्यूनतम प्रतिबन्ध हों और व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास हेतु अधिकतम सुविधाएं प्राप्त हों।"

स्वतन्त्रता के विविध रूप

फ्रांसीसी विद्वान मॉण्टेस्क्यू ने एक स्थान पर कहा है कि "स्वतन्त्रता के अतिरिक्त शायद ही कोई ऐसा शब्द हो जिसके इतने अधिक अर्थ होते हों और जिसने नागरिक के मस्तिष्क पर इतना अधिक प्रभाव डाला हो।" मॉण्टेस्क्यू के इस कथन का कारण यह है कि राजनीति विज्ञान में स्वतन्त्रता के विविध रूप प्रचलित हैं, जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :

(1) प्राकृतिक स्वतन्त्रता (Natural Liberty)—इस घोषणा के अनुसार स्वतन्त्रता प्रकृति की देन है और मनुष्य जन्म से ही स्वतन्त्र होता है। इसी विचार को व्यक्त करते हुए रूसो ने लिखा है कि "मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न होता है, किन्तु सर्वत्र वह बन्धनों में बंधा हुआ है।"[1] लॉक ने भी स्वतन्त्रता के अधिकार को व्यक्ति का प्राकृतिक अधिकार माना है।

प्राकृतिक स्वतन्त्रता का आशय मनुष्यों को अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता से है। संविदावादी विचारकों का मत है कि राज्य की उत्पत्ति के पूर्व व्यक्तियों को इस प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त थी। संयुक्त राज्य अमरीका की 'स्वाधीनता की घोषणा' और फ्रांस की राज्य क्रान्ति में इसी प्रकार की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया गया था। प्राकृतिक स्वतन्त्रता की इस धारणा के अनुसार स्वतन्त्रता प्रकृति प्रदत्त और निरपेक्ष होती है अर्थात् समाज या राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता को किसी भी प्रकार से सीमित या प्रतिबन्धित नहीं कर सकता है।

परन्तु प्राकृतिक स्वतन्त्रता की यह धारणा पूर्णतया भ्रमात्मक है। प्राकृतिक स्वतन्त्रता की स्थिति में तो 'मत्स्य न्याय' का व्यवहार प्रचलित होगा और परिणामतः समाज के कुछ ही व्यक्ति अस्थायी रूप से स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त समाज में रहकर असीमित स्वतन्त्रता का उपभोग नहीं किया जा सकता। सामूहिक हित में स्वतन्त्रता को सीमित करना नितान्त आवश्यक है।

स्वतन्त्रता के विविध रूप
(1) प्राकृतिक स्वतन्त्रता
(2) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता
(3) नागरिक स्वतन्त्रता
(4) राजनीतिक स्वतन्त्रता
(5) आर्थिक स्वतन्त्रता
(6) राष्ट्रीय स्वतन्त्रता
(7) धार्मिक स्वतन्त्रता
(8) नैतिक स्वतन्त्रता

इस धारणा की आलोचना की जाने पर भी इसका पर्याप्त महत्व है। यह सिद्धान्त इस बात को स्पष्ट करता है कि प्रत्येक व्यक्ति की कुछ स्वाभाविक शक्तियां होती हैं तथा व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास इन शक्तियों के विकास पर ही निर्भर करता है। राज्य का कर्तव्य यह है कि वह नागरिकों को इन शक्तियों के विकास हेतु पूर्ण अवसर प्रदान करे। वर्तमान समय में प्राकृतिक स्वतन्त्रता का विचार इस रूप में मान्य है कि सभी व्यक्ति समान हैं और उन्हें व्यक्तित्व के विकास हेतु समान सुविधाएं प्राप्त होनी चाहिए।

(2) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता (Personal Liberty)—इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के उन कार्यों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए, जिनका सम्बन्ध केवल उसके ही निजी जीवन से हो, इस प्रकार के व्यक्तिगत कार्यों में भोजन, वस्त्र, धर्म और पारिवारिक जीवन को सम्मिलित किया जा सकता है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का सबसे प्रमुख समर्थक जे. एस. मिल है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के समर्थकों के अनुसार इनसे सम्बन्धित कार्यों में व्यक्तियों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। व्यक्तिवादी विचारक मिल व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का समर्थन करते हुए कहते हैं कि "मानव समाज को केवल आत्मरक्षा के उद्देश्य से ही किसी व्यक्ति की स्वतन्त्रता में व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से हस्तक्षेप करने का अधिकार हो सकता है। अपने ऊपर, अपने शरीर, मस्तिष्क और आत्मा पर व्यक्ति सम्प्रभु है।"[2]

इसमें सन्देह नहीं कि व्यक्ति के व्यक्तित्व का आदर किया जाना चाहिए, लेकिन वर्तमान समय में सामाजिक जीवन इतना जटिल हो गया है कि व्यक्ति के कौन से कार्य स्वयं उनसे ही सम्बन्धित हैं, इस सम्बन्ध

1 "Man is born free, but everywhere he is in chains." —*Rousseau*
2 "Over himself, over his own body, mind and soul, the individual is sovereign." —*J.S. Mill*

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है और अनेक बार ऐसे अवसर उपस्थित हो सकते हैं जबकि सार्वजनिक स्वास्थ्य, शालीनता और व्यवस्था के हित में व्यक्ति की भोजन, वस्त्र और धार्मिक आचरण की स्वतन्त्रता को प्रतिबन्धित करना पड़े। समाजवादी विचारधारा का तो आधार ही यह है कि व्यक्ति के सभी कार्य प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से समाज पर प्रभाव डालते हैं और उन पर समस्त समाज का नियन्त्रण होना चाहिए। इस प्रकार यद्यपि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के विचार को अब मान्यता प्राप्त नहीं रह गयी है, तथापि इस विचार में इतनी सत्यता अवश्य ही है कि जिन कार्यों का सम्बन्ध एक ही व्यक्ति से हो, उनके विषय में उसे पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए।

(3) नागरिक स्वतन्त्रता (Civil Liberty)—नागरिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय व्यक्ति की उन स्वतन्त्रताओं से है जो व्यक्ति समाज या राज्य का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है। नागरिक स्वतन्त्रता का उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर और अधिकार प्रदान करना होता है। अतः स्वभाव से ही यह स्वतन्त्रता असीमित या निरंकुश नहीं हो सकती।

नागरिक स्वतन्त्रता दो प्रकार की होती है—(1) शासन के विरुद्ध व्यक्ति की स्वतन्त्रता, (2) व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों तथा समुदायों से स्वतन्त्रता। शासन के विरुद्ध व्यक्ति की स्वतन्त्रता लिखित या अलिखित संविधान द्वारा मौलिक अधिकारों के माध्यम से या अन्य किसी प्रकार से स्वीकृत की जाती है। नागरिक स्वतन्त्रता का दूसरा रूप मनुष्य के वे अधिकार हैं जिन्हें वह राज्य के अन्य समुदायों के विरुद्ध प्राप्त करता है। नागरिक स्वतन्त्रताओं के अन्तर्गत, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, व्यवसाय की स्वतन्त्रता, संगठन बनाने, भ्रमण तथा निवास की स्वतन्त्रता आदि शामिल है।

नागरिक स्वतन्त्रता का स्तर सभी राज्यों में एकसा नहीं होता है। वस्तुतः जिस राज्य में नागरिक स्वतन्त्रता का स्तर जितना ऊंचा होता है, उसे उतना ही अधिक लोकतन्त्रात्मक एवं लोककल्याणकारी राज्य कहा जा सकता है।

(4) राजनीतिक स्वतन्त्रता (Political Liberty)—अपने राज्य के कार्यों में स्वतन्त्रतापूर्वक सक्रिय रूप से भाग लेने की स्वतन्त्रता को राजनीतिक स्वतन्त्रता कहा जाता है। लास्की के अनुसार, "राज्य के कार्यों में सक्रिय भाग लेने की शक्ति ही राजनीतिक स्वतन्त्रता है।"[1]

राजनीतिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत व्यक्ति को ये अधिकार प्राप्त होते हैं—(1) मत देने का अधिकार, (2) निर्वाचित होने का अधिकार, (3) उचित योग्यता होने पर सार्वजनिक पद प्राप्त करने का अधिकार, (4) सरकार के कार्यों की आलोचना का अधिकार। इन अधिकारों से स्पष्ट है कि राजनीतिक स्वतन्त्रता केवल एक प्रजातन्त्रात्मक देश में ही प्राप्त की जा सकती है। राजनीतिक स्वतन्त्रता के अभाव में नागरिक स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं रह जाता, क्योंकि राजनीतिक स्वतन्त्रता के उपयोग से ही ऐसे समाज का निर्माण सम्भव होता है जिसमें नागरिक स्वतन्त्रताओं की रक्षा सम्भव हो सके।

(5) आर्थिक स्वतन्त्रता (Economic Liberty)—वर्तमान समय में आर्थिक स्वतन्त्रता का तात्पर्य व्यक्ति की ऐसी स्थिति से है जिसमें व्यक्ति अपने आर्थिक प्रयत्नों का लाभ स्वयं प्राप्त कर सके तथा उसके श्रम का दूसरे के द्वारा शोषण न किया जा सके। लास्की के अनुसार, "आर्थिक स्वतन्त्रता का यह अभिप्राय है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जीविका कमाने की समुचित सुरक्षा तथा सुविधा प्राप्त हो।"[2] कुछ व्यक्ति आर्थिक स्वतन्त्रता का तात्पर्य 'उद्योग में प्रजातन्त्र' की स्थापना से भी लेते हैं।

(6) राष्ट्रीय स्वतन्त्रता (National Liberty)—प्रत्येक व्यक्ति के स्वतन्त्रता के अधिकार के समान ही राष्ट्र को भी स्वतन्त्र होने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए और राष्ट्रों की स्वतन्त्रता के विचार के अनुसार भाषा, धर्म, संस्कृति, नस्ल, ऐतिहासिक परम्परा, आदि की एकता पर आधारित राष्ट्र का यह अधिकार है कि वह स्वतन्त्र राज्य का निर्माण करे तथा अन्य किसी राज्य के अधीन न हो।

किन्तु जिस प्रकार व्यक्ति की स्वतन्त्रता दूसरे व्यक्तियों की समान स्वतन्त्रता से सीमित होती है, उसी प्रकार एक राष्ट्र की स्वतन्त्रता भी दूसरे राष्ट्रों की समान स्वतन्त्रता से सीमित होती है। सम्पूर्ण मानवता के हित में ऐसा होना भी चाहिए।

1 "The Power to be active in the affairs of the state." —*Laski*
2 "By economic liberty, Laski means "Security and the opportunity to find reasonable significance in the earning of daily bread." —*Laski*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(7) धार्मिक स्वतन्त्रता (Religious Liberty)—धार्मिक स्वतन्त्रता का आशय यह है कि सभी व्यक्तियों को अपनी इच्छानुसार धार्मिक जीवन व्यतीत करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। नागरिकों को अपने धर्म के प्रचार और प्रसार की भी स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। राज्य के द्वारा अपने नागरिकों में, उनके धर्म के आधार पर किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए।

(8) नैतिक स्वतन्त्रता (Moral Liberty)—व्यक्ति को अन्य सभी प्रकार की स्वतन्त्रताएं प्राप्त होने पर भी यदि वह नैतिक दृष्टि से परतन्त्र हो तो उसे स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। नैतिक स्वतन्त्रता ही वास्तविक एवं महान् स्वतन्त्रता है। नैतिक स्वतन्त्रता का तात्पर्य व्यक्ति की उस मानसिक स्थिति से है जिसमें वह अनुचित लोभ-लालच के बिना अपना सामाजिक जीवन व्यतीत करने की योग्यता रखता हो। प्लेटो, अरस्तू, ग्रीन, बोसांके तथा काण्ट ने इस बात पर बल दिया है कि नैतिक स्वतन्त्रता से ही मनुष्य का विकास सम्भव है। वैसे तो सभी प्रकार के जीवन और शासन-व्यवस्थाओं के लिए नैतिक स्वतन्त्रता की आवश्यकता होती है, किन्तु लोकतन्त्रात्मक शासन के लिए नैतिक स्वतन्त्रता नितान्त आवश्यक है।

स्वतन्त्रता और कानून का सम्बन्ध

स्वतन्त्रता और कानून के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय पर राजनीतिक विचारकों में बहुत अधिक मतभेद है और इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप से दो विचारधाराओं का प्रतिपादन किया गया है :

(1) अराजकतावादियों और व्यक्तिवादियों के विचार—प्रथम विचारधारा का प्रतिपादन अराजकतावादी और व्यक्तिवादी विचारकों द्वारा किया गया है। अराजकतावादियों के अनुसार, स्वतन्त्रता का तात्पर्य व्यक्तियों की अपनी इच्छानुसार कार्य करने की शक्ति का नाम है और राज्य के कानून शक्ति पर आधारित होने के कारण व्यक्तियों की इच्छानुसार कार्य करने में बाधक होते हैं, अतः स्वतन्त्रता और कानून परस्पर विरोधी हैं। अराजकतावादी विलियम गाडविन के शब्दों में, "कानून सबसे अधिक घातक प्रकृति की संस्था है।"[1] व्यक्तिवादी भी राज्य को एक आवश्यक बुराई मानते हुए कानून और स्वतन्त्रता को परस्पर विरोधी बताते हैं। उनका कथन है कि "एक की मात्रा जितनी अधिक होगी, दूसरे की मात्रा उतनी ही कम हो जायेगी।" जे. एस. मिल की कानून व स्वतन्त्रता को एक-दूसरे का विरोधी मानता है।

(2) आदर्शवादियों के विचार—अराजकतावादी और व्यक्तिवादी धारणा के नितान्त विपरीत आदर्शवादी विचारकों और राजनीति विज्ञान के वर्तमान विद्वानों ने इस विचार का प्रतिपादन किया है कि कानून स्वतन्त्रता को सीमित नहीं करते वरन् स्वतन्त्रता की रक्षा और उसमें वृद्धि करते हैं। बिलोबी के अनुसार, "जहां नियन्त्रण होते हैं, वहीं स्वतन्त्रता का अस्तित्व होता है।"[2] लॉक और रिची के द्वारा भी यही मत व्यक्त किया गया है और हाकिन्स ने तो यहां तक कहा है कि "व्यक्ति जितनी अधिक स्वतन्त्रता चाहता है उतनी ही अधिक सीमा तक उसे शासन की अधीनता स्वीकार कर लेनी चाहिए।"

इन आदर्शवादी विद्वानों का दृष्टिकोण बहुत कुछ सीमा तक सही है और कानून निम्नलिखित तीन प्रकार से व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा करते और उसमें वृद्धि करते हैं :

(1) कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता की अन्य व्यक्तियों के हस्तक्षेप से रक्षा करते हैं—यदि समाज के अन्तर्गत किसी भी प्रकार के कानून न हों तो समाज के शक्तिशाली व्यक्ति निर्बल व्यक्तियों पर अत्याचार करेंगे और संघर्ष की इस अनवरत प्रक्रिया में किसी भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता सुरक्षित नहीं रहेगी।

(2) कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता की राज्य के हस्तक्षेप से रक्षा करते हैं—साधारणतया वर्तमान समय के राज्यों में दो प्रकार के कानून होते हैं—साधारण कानून और संवैधानिक कानून। इन दोनों प्रकार के कानूनों में से संवैधानिक कानूनों द्वारा राज्य के हस्तक्षेप से व्यक्ति की स्वतन्त्रता को रक्षित करने का कार्य किया जाता है। भारत और अमरीका, आदि राज्यों के संविधानों में मौलिक अधिकारों की जो व्यवस्था है, वह इस सम्बन्ध में श्रेष्ठ उदाहरण है। यदि राज्य इन मौलिक अधिकारों (संवैधानिक कानूनों) के विरुद्ध कोई कार्य करता है तो व्यक्ति न्यायालय की शरण लेकर राज्य के हस्तक्षेप से अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा कर सकता है।

(3) स्वतन्त्रता के नकारात्मक स्वरूप के अतिरिक्त इसका एक सकारात्मक स्वरूप भी होता है—स्वतन्त्रता के सकारात्मक स्वरूप का तात्पर्य है व्यक्ति को व्यक्तित्व के विकास हेतु आवश्यक सुविधाएं प्रदान करना। कानून

1 "Law is an institution of the most pernicious type." —*William Godwin*
2 "Freedom exists only where there is restraint." —*Willoughby*

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्तियों के व्यक्तित्व के विकास की सुविधाएं प्रदान करते हुए उन्हें वास्तविक स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं। वर्तमान समय में लगभग सभी राज्यों द्वारा जनकल्याणकारी राज्य के विचार को अपना लिया गया है और राज्य कानूनों के माध्यम से एक ऐसे वातावरण के निर्माण में संलग्न हैं जिसके अन्तर्गत व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकें। राज्य के द्वारा की गयी अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था, अधिकतम श्रम और न्यूनतम वेतन के सम्बन्ध में कानूनी व्यवस्था, जनस्वास्थ्य का प्रबन्ध, आदि कार्यों द्वारा नागरिकों को व्यक्तित्व के विकास की सुविधाएं प्राप्त हो रही हैं और इस प्रकार राज्य नागरिकों को वास्तविक स्वतन्त्रता प्रदान कर रहा है।

यदि राज्य सड़क पर चलने के सम्बन्ध में किसी प्रकार के नियमों का निर्माण करता है, मद्यपान पर रोक लगाता है या टीके की व्यवस्था करता है तो राज्य के इन कार्यों से व्यक्तियों की स्वतन्त्रता सीमित नहीं होती, वरन् उसमें वृद्धि ही होती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि साधारण रूप से राज्य के कानून व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की रक्षा और उसमें वृद्धि करते हैं।

स्वतन्त्रता और कानून के इस घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण ही रैम्जे म्योर ने लिखा है कि "कानून और स्वतन्त्रता इस प्रकार अन्योन्याश्रित और एक-दूसरे के पूरक हैं।"[1]

सभी कानून स्वतन्त्रता के साधक नहीं—लेकिन राज्य द्वारा निर्मित सभी कानूनों के सम्बन्ध में इस प्रकार की बात नहीं कही जा सकती है कि वे मानवीय स्वतन्त्रता में वृद्धि करते हैं। यदि शासन अपने ही स्वार्थों को दृष्टि में रखकर कानूनों का निर्माण करता है, जनसाधारण के हितों की अवहेलना करता है और बिना किसी विशेष कारण के नागरिकों की स्वतन्त्रताएं सीमित करता है तो राज्य के इन कानूनों से व्यक्तियों की स्वतन्त्रता सीमित ही होती है। उदाहरणार्थ, हिटलर और मुसोलिनी द्वारा निर्मित अनेक कानून स्वतन्त्रता के विरुद्ध थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी कानून नागरिकों की स्वतन्त्रता में वृद्धि नहीं करते, वरन् ऐसा केवल उन्हीं कानूनों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है जिनके सम्बन्ध में, लास्की के शब्दों में "व्यक्ति यह अनुभव करते हैं कि मैं इन्हें स्वीकार कर सकता और इनका पालन कर सकता हूं।" उदारवाद के प्रतिपादक जॉन लाक ने भी कहा है, "जहां कानून नहीं है वहां स्वतन्त्रता नहीं है।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यदि राज्य का कानून जनता की इच्छा पर आधारित है तो वह स्वतन्त्रता का पोषक होगा और यदि वह निरंकुश शासन की इच्छा का परिणाम है तो स्वतन्त्रता का विरोधी हो सकता है।

समानता का अर्थ और परिभाषा

सामान्यतया समानता का यह अर्थ लगाया जाता है कि मनुष्य जन्म से ही समान होते हैं और इसी कारण सभी व्यक्तियों को व्यवहार और आय का समान अधिकार प्राप्त होना चाहिए इसे निरपेक्ष समानता (Absolute Equality) कहा जाता है, किन्तु समानता का यह अभिप्राय भ्रमपूर्ण है और प्रकृति के द्वारा भी सभी व्यक्तियों को समान शक्तियां प्रदान नहीं की गयी हैं। राज्य के द्वारा इस प्रकार की समानता को अपनाया जाना अनुचित ही नहीं वरन् असम्भव भी है। वर्तमान राज्यों में सापेक्ष समानता (Relative Equality) की धारणा अपनाई गई है। इसके अन्तर्गत समानता का अर्थ 'समानों में समानता तथा असमानों में असमानता है।" इसे दूसरे शब्दों में आनुपातिक समानता भी कहते हैं जिसका सर्वप्रथम प्रतिपादन अरस्तू ने किया था।

वर्तमान समय में हम समाज में जिस प्रकार की असमानता देखते हैं, उस असमानता के कारण दो प्रकार के हैं और इन दो प्रकार के कारणों के आधार पर असमानता भी दो प्रकार की है। एक प्रकार की असमानता वह है जिसका मूल प्रकृति द्वारा विभिन्न व्यक्तियों में किया गया बुद्धि, बल और प्रतिभा का भेद है और इस भेद के कारण जो असमानता उत्पन्न होती है, उसे प्राकृतिक असमानता कहते हैं। इस प्राकृतिक असमानता का निराकरण सम्भव और उचित नहीं है।

समाज में विद्यमान दूसरे प्रकार की असमानता वह है जिसका मूल समाज द्वारा उत्पन्न की गयी विषमताएं हैं। अनेक बार बुद्धि, बल और प्रतिभा की दृष्टि से श्रेष्ठ होने पर भी निर्धन व्यक्तियों के बच्चे

1 "Law and liberty are thus interdependent and complimentary to each-other." —*Ramsay Muir*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर पाते, जैसा विकास उनसे निम्नतर बुद्धि बल के धनिक बच्चे कर लेते हैं। इस सामाजिक असमानता का मूल कारण समाज द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों का वह वैषम्य होता है जिसके कारण सभी व्यक्तियों को व्यक्तित्व के विकास के समान अवसर प्राप्त नहीं हो पाते हैं। राजनीति विज्ञान की एक धारणा के रूप में समानता का तात्पर्य सामाजिक वैषम्य द्वारा उत्पन्न इस असमानता के अन्त से है। इसका तात्पर्य यह है कि राज्य के द्वारा सभी व्यक्तियों को व्यक्तित्व के विकास हेतु समान अवसर दिये जाने चाहिए, ताकि किसी भी व्यक्ति को यह कहने का अवसर न मिले कि यदि उसे यथेष्ट सुविधाएं प्राप्त होतीं, तो वह भी अपने जीवन का विकास कर सकता था। अतः समानता की विधिवत् परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि "समानता का तात्पर्य ऐसी परिस्थितियों के अस्तित्व से होता है जिसके कारण सब व्यक्तियों को व्यक्तित्व के विकास हेतु समान अवसर प्राप्त हो सकें और इस प्रकार उस असमानता का अन्त हो सके जिसका मूल कारण सामाजिक वैषम्य है।"

रशदल ने समानता की परिभाषा इस प्रकार की है : "समानता का अर्थ है कि बराबर वालों में समानता और असमान स्तर के व्यक्तियों में असमानता अर्थात् अन्य बातों के समान होने पर मेरा हित उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि किसी अन्य व्यक्ति का हित।"

लास्की के अनुसार, "समानता प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्तियों का उपयोग करने का यथाशक्ति समान अवसर प्रदान करने का प्रयत्न है।" हेराल्ड लास्की के अनुसार, समानता के लिए तीन प्रमुख आवश्यकताएं हैं :

(1) विशेष सुविधाओं का अभाव,

(2) सभी के लिए समान अवसरों की उपलब्धि,

(3) सबकी प्राथमिक आवश्यकताओं की सबसे पहले पूर्ति।

समानता के विविध रूप

स्वतन्त्रता के समान ही समानता के भी अनेक प्रकार हैं, जिनमें निम्न प्रमुख हैं :

समानता के विविध रूप
(1) नागरिक समानता
(2) सामाजिक समानता
(3) राजनीतिक समानता
(4) आर्थिक समानता
(5) प्राकृतिक समानता
(6) धार्मिक समानता
(7) सांस्कृतिक और शिक्षा सम्बन्धी समानता

(1) नागरिक समानता (Civil Equality)—नागरिक समानता के सामान्यतया दो अभिप्राय लिये जाते हैं। प्रथम, राज्य के कानूनों की दृष्टि में सभी व्यक्ति समान होने चाहिए और राज्य के कानूनों द्वारा दण्ड और सुविधा प्रदान करने में व्यक्ति-व्यक्ति में कोई भेद नहीं किया जाना चाहिए। द्वितीय, इसके अतिरिक्त सभी व्यक्तियों को नागरिक जीवन के अवसर अर्थात् नागरिक अधिकार एवं स्वतन्त्रताएं समान रूप से प्राप्त होनी चाहिए। सारांशतः सभी व्यक्तियों को कानून का समान संरक्षण प्राप्त होना चाहिए।

(2) सामाजिक समानता (Social Equality)—सामाजिक समानता का तात्पर्य यह है कि समाज से विशेषाधिकारों का अन्त हो जाना चाहिए और समाज में सभी व्यक्तियों को व्यक्ति होने के नाते ही महत्व दिया जाना चाहिए। समाज में जाति, धर्म, लिंग और व्यवसाय के आधार पर विभिन्न व्यक्तियों में किसी प्रकार का भेद नहीं किया जाना चाहिए। सामाजिक दृष्टिकोण से सभी व्यक्ति समान होने चाहिए और उन्हें सामाजिक उत्थान के समान अवसर प्राप्त होने चाहिए। भारत की जाति-व्यवस्था और भूतकाल में दक्षिणी अफ्रीका में प्रचलित रंगभेद तथा विश्व के अन्य कुछ देशों में किसी-न-किसी रूप में आज भी किया जा रहा रंगभेद सामाजिक समानता के घोर विरुद्ध हैं।

(3) राजनीतिक समानता (Political Equality)—वर्तमान समय में राजनीतिक समानता पर भी बहुत अधिक बल दिया जाता है। राजनीतिक समानता का अभिप्राय सभी व्यक्तियों को समान राजनीतिक अधिकार एवं अवसर प्राप्त होने से है, परन्तु इस सम्बन्ध में पागल, नाबालिग और घोर अपराधी व्यक्ति अपवाद कहे जा सकते हैं, क्योंकि इनके द्वारा अपने मत का उचित प्रयोग नहीं किया जा सकता है। राजनीतिक समानता का आधार यह है कि राजनीतिक अधिकार प्रदान करने के सम्बन्ध में रंग, जाति, धर्म और लिंग के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए और सभी व्यक्तियों को समान राजनीतिक अवसर प्राप्त होने चाहिए।

(4) आर्थिक समानता (Economic Equality)—वर्तमान समय में इस तथ्यपूर्ण विचार को लगभग सभी पक्षों द्वारा स्वीकार कर लिया गया है कि मानव जीवन में आर्थिक समानता का महत्व सबसे अधिक है

CC-0. Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक एवं नागरिक समानता का कोई मूल्य नहीं है। आर्थिक समानता का तात्पर्य अलग-अलग प्रकार के व्यक्तियों के समान वेतन से नहीं है वरन् इसका तात्पर्य केवल यह है कि मनुष्य की आय में बहुत अधिक असमानता नहीं होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, उनकी आय में इतना अधिक अन्तर नहीं होना चाहिए कि एक व्यक्ति अपने धन के बल पर दूसरे व्यक्ति के जीवन पर अधिकार कर ले। जब तक सभी व्यक्तियों की अनिवार्य आवश्यकताएं सन्तुष्ट नहीं हो जाती हैं उस समय तक समाज के किन्हीं भी व्यक्तियों को आरामदायक एवं विलासिता के साधनों के उपभोग का अधिकार प्राप्त नहीं होना चाहिए। इस प्रकार आर्थिक समानता धन के उचित वितरण पर बल देती है।

(5) प्राकृतिक समानता (Natural Equality)—प्राकृतिक समानता के प्रतिपादक इस बात पर बल देते हैं कि प्रकृति ने मनुष्य को समान बनाया है और सभी मनुष्य आधारभूत रूप में बराबर हैं। सामाजिक समझौता सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य की समानता का विशेष रूप से उल्लेख किया है। वर्तमान समय में प्राकृतिक समानता की इस धारणा को अमान्य किया जा चुका है और इसे 'कोरी कल्पना' बताया जाता है। कोल के शब्दों में, "मनुष्य शारीरिक बल, पराक्रम, मानसिक योग्यता, सृजनात्मक शक्ति, समाज सेवा की भावना और सम्भवतया सबसे अधिक कल्पना शक्ति में एक-दूसरे से मूलतः भिन्न हैं।"

(6) धार्मिक समानता (Religious Equality)—इसका अर्थ यह है कि सभी धर्म समान हैं और सभी व्यक्तियों को समान रूप से अपनी इच्छानुसार धार्मिक जीवन व्यतीत करने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। राज्य के द्वारा धर्म के आधार पर अपने नागरिकों में कोई भेद नहीं किया जाना चाहिए। धार्मिक समानता की प्राप्ति धर्मनिरपेक्ष राज्य में ही सम्भव है। भारत में धार्मिक आधार पर भेदभाव की मनाही के साथ धर्मनिरपेक्षता की ऐसी धारणा को अपनाया गया है जिसमें 'सर्वधर्म समभाव' का आदर्श निहित है।

(7) सांस्कृतिक और शिक्षा सम्बन्धी समानता (Cultural and Educational Equality)—सभी व्यक्तियों को समान रूप से शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए और शिक्षा के क्षेत्र में जाति, धर्म, वर्ण और लिंग के आधार पर कोई भेद नहीं किया जाना चाहिए। शिक्षा सम्बन्धी समानता में यह बात निहित है कि निर्धन विद्यार्थियों को शिक्षा प्राप्त करने के लिए विशेष सुविधाएं दी जानी चाहिए। सांस्कृतिक समानता का तात्पर्य यह है कि सांस्कृतिक दृष्टि से बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक सभी वर्गों को अपनी भाषा, लिपि और संस्कृति बनाये रखने का अधिकार होना चाहिए।

स्वतन्त्रता और समानता का सम्बन्ध

स्वतन्त्रता और समानता के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय पर राजनीतिशास्त्रियों में पर्याप्त मतभेद हैं और इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप से दो विचारधाराओं का प्रतिपादन किया गया है जो इस प्रकार हैं :

स्वतन्त्रता और समानता परस्पर विरोधी हैं—कुछ व्यक्तियों द्वारा स्वतन्त्रता और समानता के जन प्रचलित अर्थों के आधार पर इन्हें परस्पर विरोधी बताया गया है। उनके अनुसार स्वतन्त्रता अपनी इच्छानुसार कार्य करने की शक्ति का नाम है, जबकि समानता का तात्पर्य प्रत्येक प्रकार से सभी व्यक्तियों को समान समझने से है। इस आधार पर सामान्य व्यक्ति ही नहीं, वरन् डी. टाकविल और एक्टन जैसे विद्वानों द्वारा भी इन्हें परस्पर विरोधी माना गया है। लॉर्ड एक्टन एक स्थान पर लिखते हैं कि "समानता की उत्कृष्ट अभिलाषा के कारण स्वतन्त्रता की आशा ही व्यर्थ हो गयी है।"[1] स्वतन्त्रता व समानता को परस्पर विरोधी मानने वाले अधिकांश विद्वान वही हैं जिन्होंने नकारात्मक स्वतन्त्रता की धारणा को मान्यता दी है।

स्वतन्त्रता और समानता को परस्पर विरोधी मानने वाले इन विचारकों द्वारा अपने मत की पुष्टि में निम्नलिखित तर्क दिये गये हैं :

(1) व्यक्ति को स्वतन्त्रता तभी प्राप्त रह सकती है, जबकि उसके ऊपर किसी भी प्रकार के बन्धन न हों, परन्तु इसके ठीक विपरीत समानता स्थापित करने के लिए बन्धनों का होना नितान्त आवश्यक है। ऐसी स्थिति में हमारे द्वारा स्वतन्त्रता और समानता में से एक को ही प्राप्त किया जा सकता है, दोनों को नहीं।

1 "The passion for equality made vain the hopes for liberty." —*Lord Acton*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(2) यदि सभी व्यक्तियों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जाय तो समानता स्वतः ही समाप्त हो जायेगी, क्योंकि प्रकृति के द्वारा बल और बुद्धि प्रदान करने में भेद किया गया है और प्रत्येक व्यक्ति सामान्यतः अपने ही स्वार्थ की बात सोचता है। ऐसी स्थिति में अधिक बल तथा बुद्धि सम्पन्न व्यक्ति जीवन में बहुत अधिक विकास कर लेंगे और बल तथा बुद्धि की दृष्टि से हीन व्यक्ति जीवन में पिछड़ जायेंगे। इस प्रकार स्वतन्त्रता का परिणाम होगा—समाज में सर्वत्र असमानता।

(3) यदि समाज में पूर्ण रूप से समानता की स्थापना कर दी जाय, तो बुद्धिमान लोगों का स्वतन्त्र विकास असम्भव हो जायेगा। इस प्रकार समानता स्वतन्त्रता को नष्ट कर देगी।

यहां यह उल्लेखनीय है कि सामान्यता उदारवादी विचारकों ने समानता की तुलना में स्वतन्त्रता को अधिक महत्व दिया है। वहीं समाजवादियों ने समानता को प्रमुखता प्रदान की है।

स्वतन्त्रता और समानता परस्पर पूरक हैं—उपर्युक्त प्रकार की विचारधारा के नितान्त विपरीत दूसरी ओर विद्वानों का बड़ा समूह है, जो स्वतन्त्रता और समानता को परस्पर विरोधी नहीं वरन् पूरक मानते हैं। रूसो, टॉनी, लास्की और मैकाइवर इस मत के प्रमुख समर्थक हैं और अपने मत की पुष्टि में इन विद्वानों ने निम्न तर्क दिये हैं :

(1) स्वतन्त्रता और समानता को परस्पर विरोधी बताने वाले विद्वानों द्वारा स्वतन्त्रता और समानता की गलत धारणा को अपनाया गया है। स्वतन्त्रता का तात्पर्य 'प्रतिबन्धों के अभाव' या स्वच्छन्दता से नहीं है, वरन् इसका तात्पर्य केवल यह है कि अनुचित प्रतिबन्धों के स्थान पर उचित प्रतिबन्धों की व्यवस्था की जानी चाहिए और उन्हें अधिकतम सुविधाएं प्रदान की जानी चाहिए, जिससे उनके द्वारा अपने व्यक्तित्व का विकास किया जा सके। इसी प्रकार पूर्ण समानता एक काल्पनिक वस्तु है और समानता का तात्पर्य पूर्ण समानता जैसी किसी काल्पनिक वस्तु से नहीं, वरन् व्यक्तित्व के विकास हेतु आवश्यक और पर्याप्त सुविधाओं से है, जिससे सभी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकें और इस प्रकार उस असमानता का अन्त हो सके, जिसका मूल कारण सामाजिक परिस्थितियों का भेद है। इस प्रकार स्वतन्त्रता और समानता दोनों ही व्यक्तित्व के विकास हेतु नितान्त आवश्यक हैं।

(2) स्वतन्त्रता और समानता दोनों के लिए प्रतिबन्धों का होना अनिवार्य है। बिना प्रतिबन्धों के दोनों ही अव्यावहारिक और अपूर्ण हैं।

(3) वर्तमान समय की परिस्थितियों में अर्थ ने मानव जीवन में बहुत अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है और वस्तुस्थिति यह है कि आर्थिक समानता सभी प्रकार की स्वतन्त्रताओं की जननी है। प्रो. जोड के शब्दों में, "आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता एक भ्रम है।"[1]

(4) आधुनिक प्रजातन्त्र के युग में स्वतन्त्रता और समानता दोनों ही लोकतन्त्र के आधार-स्तम्भ हैं, अतः दोनों के मध्य किसी भी प्रकार का विरोध सम्भव नहीं। फ्रांस के क्रान्तिकारियों की घोषणा और भारतीय संविधान की प्रस्तावना, आदि में स्वतन्त्रता और समानता दोनों का एक साथ ही उल्लेख किया गया है। स्वतन्त्रता और समानता के परस्पर पूरक होने के कारण ही ऐसा किया गया है। डॉ. आशीर्वादम् ने ठीक ही लिखा है, "फ्रांस के क्रान्तिकारी न तो पागल थे और न ही मूर्ख, जब उन्होंने स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व का नारा लगाया था।"[2]

वास्तव में स्वतन्त्रता और समानता परस्पर विरोधी नहीं, वरन् पूरक हैं और समानता के बिना स्वतन्त्रता एक कल्पना बनकर रह जाती है। जिस समाज में किसी एक वर्ग को विशेषाधिकार प्राप्त रहते हैं और सामाजिक तथा आर्थिक अन्तर पाये जाते हैं, वहां वह वर्ग अन्य वर्गों पर अनुचित दबाव डालने की शक्ति प्राप्त कर लेता है और निम्न वर्गों को केवल नाममात्र की ही स्वतन्त्रता प्राप्त रह जाती है। लास्की के मतानुसार, "सम्पत्ति की असमानता स्वतन्त्रता की विरोधी है। साधनों के अभाव के कारण निर्धन व्यक्ति न्यायालयों से उचित न्याय प्राप्त नहीं कर पाते और मुकदमेबाजी की लम्बी प्रक्रिया से धनी लोग अपने निर्धन पड़ोसियों को तबाह कर देते हैं।" अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए वे लिखते हैं, "बिना कुछ समानता के स्वतन्त्रता छिछली

1 "Political liberty in the absence of economic equality is a mere myth." —*C. E. M. Joad*
2 "The French revolutionists were neither mad nor stupid when they made their war cry Liberty, Equality and Fraternity." —*Ashirvadam*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगी और स्वतन्त्रता के बिना समानता निरर्थक होगी।"[1] प्रो. पोलर्ड ने इस सच्चाई को एक वाक्य में इस प्रकार व्यक्त किया है कि "स्वतन्त्रता की समस्या का केवल एक हल है और वह हल समानता में ही निहित है।"[2]

यह नितान्त सम्भव है कि भारत के निर्धन किसानों और श्रमिकों में अनेक ऐसे व्यक्ति हों, जो नेहरू और टैगोर के समान ही प्रतिभासम्पन्न हों, लेकिन पर्याप्त सुविधाएं प्राप्त न होने के कारण वे अपने व्यक्तित्व का विकास न कर सके हों। वस्तुतः समानता के अभाव में सबसे अधिक योग्य व्यक्तियों की खोज उसी प्रकार से बहुत अधिक कठिन है, जिस प्रकार एक ऐसी दौड़ में सबसे तेज दौड़ने वाले का पता लगाना, जिसके अन्तर्गत प्रतियोगी अलग-अलग स्थानों से दौड़ शुरू करते हैं। इस प्रकार स्वतन्त्रता और समानता एक-दूसरे के पूरक और सहायक हैं। एच. आर. टॉनी ने सत्य ही कहा है कि "समानता की एक बड़ी मात्रा स्वतन्त्रता की विरोधी न होकर, उसके लिए नितान्त आवश्यक है।" आजकल अधिकांश विचारक दोनों को एक-दूसरे का पूरक मानते हैं।

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (प्रत्येक प्रश्न 6 अंक का, उत्तर लगभग 300 शब्दों में दीजिए)

1. स्वतन्त्रता की परिभाषा देते हुए इसके विभिन्न प्रकारों की व्याख्या कीजिए। (उ.प्र., 2010)
2. समानता किसे कहते हैं? इसके विभिन्न रूपों को स्पष्ट कीजिए? (उ.प्र., 2010)
3. टिप्पणी लिखिए:
   (i) आर्थिक स्वतन्त्रता।
   (ii) समानता।
   (iii) स्वतन्त्रता।
   (iv) आर्थिक समानता।
4. "स्वतन्त्रता नियन्त्रणों का अभाव है।" इस कथन पर टिप्पणी लिखकर समझाइए।
5. स्वतन्त्रता और समानता में सम्बन्धों की व्याख्या कीजिए।
6. स्वतन्त्रता की परिभाषा कीजिए और विधि के साथ उसका सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए।
7. स्वतन्त्रता का अर्थ और उसके प्रकार बताइए। व्यक्ति और समाज के जीवन में स्वतन्त्रता का क्या महत्व है?
8. समानता के विभिन्न प्रकारों को स्पष्ट कीजिए। कौन-सा अधिक महत्वपूर्ण है? (उ.प्र., 2010)
9. 'स्वतन्त्रता की समस्या का केवल एक ही समाधान है और वह समाधान में निहित है।' इस कथन की विवेचना कीजिए। (उ.प्र., 2010)

लघु उत्तरीय प्रश्न

(अ) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 50 शब्दों में दीजिए (2 अंक)।

1. स्वतन्त्रता क्या है?
2. स्वतन्त्रता कितने प्रकार की होती है?
3. समानता कितने प्रकार की होती है?
4. आर्थिक समानता का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
5. समानता का मानव जीवन में क्या महत्व है?
6. स्वतन्त्रता के किन्हीं चार प्रकारों का उल्लेख कीजिए।

(ब) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिए (4 अंक)।

7. आर्थिक स्वतन्त्रता पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
8. भाषण की स्वतन्त्रता पर लघु टिप्पणी लिखिए।
9. नागरिक स्वतन्त्रता पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
10. स्वतन्त्रता का मानव जीवन में महत्व स्पष्ट कीजिए।
11. समानता या समता पर एक लघु टिप्पणी लिखिए।

1 "Liberty would be hollow without some measure of equality and equality would be meaningless without liberty." —*H. J. Laski*

2 "There is only one solution of the problem of liberty. It lies in equality." —*Pollard*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

12. समानता और स्वतन्त्रता के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिए।
अथवा, समानता स्वतन्त्रता की पोषक किस प्रकार से है?

अति लघु उत्तरीय प्रश्न [प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का, उत्तर दस शब्द (एक वाक्य) में]

प्रश्न 1. स्वतन्त्रता की उपयुक्त परिभाषा दीजिए।
उत्तर—'स्वतन्त्रता अति-शासन की विरोधी है'—सीले।

प्रश्न 2. किन्हीं दो राजनीतिक स्वतन्त्रताओं का उल्लेख कीजिए।
उत्तर—राज्य के मामलों में सक्रिय रूप से भाग लेने को ही राजनीतिक स्वतन्त्रता कहते हैं। दो प्रमुख राजनीतिक स्वतन्त्रताएं इस प्रकार हैं—(1) निर्वाचित होने की स्वतन्त्रता, (2) सरकार की आलोचना करने की स्वतन्त्रता।

प्रश्न 3. स्वतन्त्रता के कोई दो भेद लिखिए।
उत्तर—(1) नागरिक स्वतन्त्रता, (2) राष्ट्रीय स्वतन्त्रता।

प्रश्न 4. समानता के कोई दो प्रकार लिखिए।
उत्तर—(1) राजनीतिक समानता, (2) आर्थिक समानता।

प्रश्न 5. स्वतंत्रता के सिद्धान्त का सबसे प्रमुख प्रतिपादक कौन है?
उत्तर—जॉन स्टुअर्ट मिल। मिल ने अपनी पुस्तक '*On Liberty*' में स्वतंत्रता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

प्रश्न 6. कानून के समक्ष समानता से क्या तात्पर्य है?
उत्तर—जब सभी के लिए बिना किसी भेदभाव के एकसे कानून तथा एकसे न्यायालय होते हैं, तब नागरिकों को कानूनी समानता प्राप्त हो जाती है।

प्रश्न 7. 'ऑन लिबर्टी' नामक पुस्तक के लेखक कौन हैं?
उत्तर—ऑन लिबर्टी नामक पुस्तक के लेखक जे.एस. मिल हैं।

बहुविकल्पीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों में चार विकल्प दिए गए हैं। उनमें से एक सही विकल्प छांटकर लिखिए :

1. '*On Liberty*' पुस्तक के लेखक हैं : (उ.प्र., 2010)
(अ) जे. एस. मिल (ब) बेन्थम
(स) वर्न्स (द) मार्क्स

2. "स्वतन्त्रता न केवल सभ्य जीवन का आधार है, वरन् सभ्यता का विकास भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर ही निर्भर करता है।" यह कथन किसका है :
(अ) डॉ. राधाकृष्णन का (ब) जे. एस. मिल का
(स) वर्न्स का (द) लास्की का

3. 'लिबर' (Liber) किस भाषा का शब्द है :
(अ) हिन्दी (ब) अंग्रेजी
(स) लैटिन (द) फारसी

4. लैटिन भाषा के 'लिबर' (Liber) शब्द का अर्थ होता है :
(अ) बन्धन (ब) बन्धनों का अभाव
(स) स्वच्छन्दता (द) इनमें से कोई नहीं

5. "स्वतन्त्रता सभी प्रकार के प्रतिबन्धों का अभाव नहीं, अपितु अनुचित प्रतिबन्धों के स्थान पर उचित प्रतिबन्धों की व्यवस्था है।" यह कथन किसका है :
(अ) सीले का (ब) मैक्केनी का
(स) प्रो. लास्की का (द) टी. एच. ग्रीन का

6. स्वतन्त्रता के सकारात्मक स्वरूप की सर्वप्रथम विविधत् व्याख्या किस विचारक ने की है :
(अ) सीले का (ब) लास्की का
(स) टी. एच. ग्रीन का (द) इनमें से कोई नहीं

7. "जिस प्रकार सौन्दर्य कुरूपता के अभाव का ही नाम नहीं होता है, उसी प्रकार स्वतन्त्रता प्रतिबन्धों के अभाव का ही नाम नहीं है।" यह कथन किस विचारक का है :
(अ) विलोबी का (ब) लास्की का
(स) टी. एच. ग्रीन का (द) सीले का

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

8. व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का सबसे प्रमुख समर्थक है :
(अ) हिटलर (ब) मुसोलिनी
(स) जे. एस. मिल (द) इनमें से कोई नहीं

9. राजनीतिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत व्यक्ति को कौन-सा अधिकार प्राप्त है :
(अ) मत देने का अधिकार (ब) निर्वाचित होने का अधिकार
(स) सरकार के कार्यों की आलोचना का अधिकार (द) उपर्युक्त सभी अधिकार

10. "जहां नियन्त्रण होते हैं, वहीं स्वतन्त्रता का अस्तित्व होता है।" यह कथन किसका है :
(अ) विलोवी का (ब) हाकिन्स का
(स) लॉक और रिची का (द) विलियम गाडविन का

11. स्वतन्त्रता और कानून परस्पर विरोधी हैं। इसे मानने वाली विचारधारा है :
(अ) अराजकतावादी (ब) व्यक्तिवादी
(स) उपर्युक्त दोनों विचारधाराएं (द) इनमें से कोई नहीं

12. नैतिक स्वतन्त्रता के समर्थक विचारक हैं :
(अ) प्लेटो (ब) अरस्तू
(स) ग्रीन (द) इनमें से सभी

13. "मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न होता है, किन्तु सर्वत्र वह बन्धनों में बंधा हुवा है।" यह कथन किसका है :
(अ) हॉब्स का (ब) लॉक का
(स) रूसो का (द) मार्क्स का

14. कानून किस प्रकार से व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा करते हैं :
(अ) कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता की अन्य व्यक्तियों के हस्तक्षेप से रक्षा करते हैं।
(ब) कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता की राज्य के हस्तक्षेप से रक्षा करते हैं।
(स) कानून व्यक्तियों के व्यक्तित्व के विकास की सुविधाएं प्रदान करते हुए उन्हें वास्तविक स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं।
(द) उपर्युक्त सभी प्रकार से।

15. "समानता प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्तियों का उपयोग करने का यथाशक्ति समान अवसर प्रदान करने का प्रयत्न है।" यह कथन किसका है :
(अ) लास्की का (ब) विलोवी का
(स) जोड का (द) रशदल का

16. स्वतन्त्रता एवं समानता को परस्पर पूरक मानने वाला विचारक है :
(अ) डी. टाकविल (ब) लॉर्ड एक्टन
(स) रूसो (द) इनमें से कोई नहीं

17. स्वतन्त्रता एवं समानता को परस्पर विरोधी मानने वाला विचारक है :
(अ) रूसो (ब) डी. टाकविल
(स) टॉनी (द) लास्की

18. "आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता एक भ्रम है।" यह कथन किसका है :
(अ) प्रो. जोड का (ब) रूसो का
(स) टॉनी का (द) लॉर्ड एक्टन का

19. "जहां कानून नहीं है, वहां स्वतन्त्रता भी नहीं है।" किसने कहा था? (उ.प्र., 2010)
(अ) जे. एस. मिल ने (ब) लॉक ने
(स) माण्टेस्क्यू ने (द) ऑस्टिन ने

[उत्तर—1. (अ), 2. (स), 3. (स), 4. (ब), 5. (ब), 6. (स), 7. (स), 8. (स), 9. (द), 10. (अ), 11. (स), 12. (द), 13. (स), 14. (द), 15. (अ), 16. (स), 17. (ब), 18. (अ), 19. (ब)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

10

संविधान

[CONSTITUTION]

"संविधान उस पद्धति का प्रतीक होता है जो किसी राज्य द्वारा अपने लिए अपनायी जाती है।"

—अरस्तू

संविधान की आवश्यकता—संविधान जीवन का वह मार्ग है जिसे राज्य ने अपने लिए चुना है। राज्य का रूप चाहे किसी भी प्रकार का हो, आवश्यक रूप से उसका अपना एक जीवन-मार्ग अर्थात् संविधान होता है। यह बात न केवल लोकतन्त्रात्मक वरन् निरंकुश राज्यों के सम्बन्ध में भी पूर्ण सत्य है और इतिहास के आधार पर इसकी पुष्टि की जा सकती है। लोकतन्त्र की स्थापना के पूर्व फ्रांस में बूर्बो वंश के निरंकुश व स्वेच्छाचारी राजाओं का शासन था। ये शासक अपनी इच्छा को ही कानून समझते थे, किन्तु इनके शासन में भी फ्रांस में एक प्रकार के संविधान की सत्ता विद्यमान थी और कुछ ऐसे कानून विद्यमान थे, जिनका उल्लंघन शासन द्वारा भी नहीं किया जा सकता था। कर लगाने के सम्बन्ध में शासक की शक्ति जनता की प्रतिनिधि संस्था 'इस्टेट्स जनरल' द्वारा सीमित थी और राजवंश के लोग किस क्रम से सिंहासन पर आरूढ़ हों, इस बात के सम्बन्ध में भी निश्चित नियम थे। राज्य के लिए संविधान की अनिवार्यता बताते हुए जैलीनेक (Jellineck) के शब्दों में कहा जा सकता है कि **"संविधानहीन राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। संविधान के अभाव में राज्य, राज्य न होकर एक प्रकार की अराजकता होगी।"**[1] वर्तमान में संविधानवाद व संवैधानिक सरकार की धारणा महत्वपूर्ण हो गई है। संवैधानिक सरकार वह है जो संविधान के अनुसार, चले, क्योंकि संविधान मौलिक कानून होने के साथ-साथ जनता की आकांक्षाओं व इच्छाओं का प्रतिविम्ब भी है। संविधानवाद का अर्थ सीमित शासन से है अर्थात् ऐसा संविधान जहां शासन की शक्ति को संविधान की विभिन्न व्यवस्थाओं यथा—मौलिक अधिकार, न्यायपालिका की स्वतन्त्रता आदि द्वारा सीमित कर दिया गया है। कुछ भी हो संविधान का अस्तित्व इस बात का प्रतीक है कि शासन कानूनों का है, व्यक्तियों का नहीं।

संविधान : अर्थ और परिभाषा

मानव शरीर के सन्दर्भ में संविधान के आंग्ल पर्यायवाची शब्द 'कॉन्स्टीट्यूशन' (Constitution) का प्रयोग मानव शरीर के ढांचे व उसकी बनावट के लिए किया जाता है। जिस प्रकार मानव शरीर के सन्दर्भ में 'कॉन्स्टीट्यूशन' का अर्थ शरीर के ढांचे व गठन से होता है, उसी प्रकार नागरिकशास्त्र में, कॉन्स्टीट्यूशन का तात्पर्य राज्य के ढांचे तथा संगठन से होता है।" विभिन्न विद्वानों द्वारा संविधान की परिभाषा अलग-अलग प्रकार से की गयी है, जिनमें से कुछ निम्न प्रकार हैं :

लीकाक के अनुसार, "किसी राज्य के ढांचे को उसका संविधान कहते हैं।"

फाइनर के अनुसार, "संविधान मूलभूत राजनीतिक संस्थाओं की एक व्यवस्था है।"

ब्राइस के अनुसार, "किसी राज्य अथवा राष्ट्र के संविधान का निर्माण उन नियमों अथवा कानूनों के योग से होता है जो सरकार के स्वरूप तथा सरकार के प्रति नागरिकों के अधिकारों तथा कर्तव्यों का निर्धारण करते हैं।"

1 "A State without a constitution, would not be a State, but a regime of anarchy." —*Jellineck*

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गिलक्राइस्ट का कथन है कि "संविधान उन लिखित या अलिखित नियमों अथवा कानूनों का समूह होता है जिनके द्वारा सरकार का संगठन, सरकार की शक्तियों का विभिन्न अंगों में वितरण और इन शक्तियों के प्रयोग के सामान्य सिद्धान्त निश्चित किये जाते हैं।"

प्रो. डायसी के अनुसार, "संविधान उन समस्त नियमों का संग्रह है जिनका राज्य की प्रभुत्व सत्ता के प्रयोग अथवा वितरण पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है।"

उपर्युक्त विद्वानों द्वारा संविधान शब्द की जो परिभाषा की गयी है, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी राज्य के संविधान द्वारा प्रमुख रूप से निम्नलिखित तीन बातें निश्चित की जाती हैं : (1) व्यक्ति-व्यक्ति का पारस्परिक सम्बन्ध, (2) व्यक्ति और राज्य अर्थात् शासक और शासित के पारस्परिक सम्बन्ध, (3) संविधान द्वारा इन दो कार्यों से अधिक महत्वपूर्ण कार्य सरकार के संगठन, उसके ढांचे और सरकार के विविध अंगों के पारस्परिक सम्बन्धों को निश्चित करने का किया जाता है।

इन तथ्यों के आधार पर अपने शब्दों में संविधान की परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि "संविधान राजकीय आचरण का वह विधान होता है जिसके द्वारा व्यक्ति-व्यक्ति और व्यक्ति एवं राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध को निश्चित किया जाता है और जिसके द्वारा सरकार के विविध अंगों का पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित किया जाता है।"

संविधानों का वर्गीकरण (Classification of Constitutions)—विभिन्न विद्वानों द्वारा संविधानों के जो विविध वर्गीकरण प्रस्तुत किये जाते हैं, उन्हें दृष्टि में रखते हुए वर्तमान समय में संविधानों का निम्नलिखित आधारों पर वर्गीकरण किया जा सकता है :

(1) संविधान की उत्पत्ति के आधार पर।
(2) संविधान में प्रथाओं और कानूनों के अनुपात के आधार पर।
(3) संविधान की परिवर्तनशीलता के आधार पर।

1. संविधान की उत्पत्ति के आधार पर

उत्पत्ति के आधार पर संविधान दो प्रकार के होते हैं—विकसित और निर्मित।

विकसित संविधान (Evolved Constitution)—इस प्रकार के संविधानों का निर्माण संविधान सभा जैसी संस्था द्वारा निश्चित समय पर नहीं किया जाता वरन् ये संविधान विभिन्न परम्पराओं, रीति-रिवाजों, प्रथाओं और न्यायालयों के निर्णयों पर आधारित होते हैं। इंगलैण्ड का संविधान विकसित संविधान का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है जिसके अन्तर्गत शासन-व्यवस्था का स्वरूप और सरकार के विविध अंगों की शक्तियां विकास का ही परिणाम हैं।

निर्मित संविधान (Enacted Constitution)—ये वे संविधान होते हैं जिनका निर्माण एक विशेष समय पर संविधान सभा जैसी किसी विशेष संस्था के द्वारा किया जाता है। निर्मित संविधान स्वाभाविक रूप से लिखित होते हैं और साधारणतया कठोर भी होते हैं, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि निर्मित संविधान का विकास नहीं होता। इनमें अन्तर केवल यही है कि विकसित संविधानों की तो उत्पत्ति ही विकास में होती है, लेकिन निर्मित संविधानों का विकास उनके निर्माण के बाद होता है। आजकल अधिकांश देशों में निर्मित व लिखित संविधान है जिनका निर्माण संविधान निमात्री सभा द्वारा किया गया है।

2. संविधान में प्रथाओं और कानूनों के अनुपात के आधार पर

इस आधार पर भी दो प्रकार के संविधान होते हैं—अलिखित और लिखित संविधान। संविधान का यह भेद इस तथ्य पर आधारित है कि प्रथाएं न्यायालय द्वारा मान्य नहीं होतीं, किन्तु कानून न्यायालय द्वारा मान्य होते हैं तथा उनके द्वारा लागू किये जाते हैं। अमेरिका का संविधान विश्व का सबसे पुराना लिखित संविधान (1789) है, जबकि ब्रिटेन का संविधान एकमात्र अलिखित संविधान है।

अलिखित संविधान (Unwritten Constitution)—इन संविधानों में परम्परागत प्रथाओं, परम्पराओं तथा समय-समय पर न्यायालयों द्वारा दिये गये निर्णयों का महत्व अधिक होता है। ऐसे संविधानों में सरकार के स्वरूप, शासन के विविध अंग तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध और नागरिकों के अधिकार तथा कर्तव्य, आदि महत्वपूर्ण बातें प्रथाओं और परम्पराओं पर ही आधारित होती हैं। इंगलैण्ड का संविधान इस प्रकार के संविधान का ही उदाहरण है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखित संविधान (Written Constitution)—लिखित संविधान से हमारा आशय उस संविधान से है जिसकी अधिकांश धाराएं कानून के रूप में लेखबद्ध हों। लिखित संविधान किसी एक संवैधानिक कानून के रूप में हो सकता है या अनेक ऐसे कानूनों के रूप में हो सकता है, जिसमें शासन विधि का विशुद्ध प्रतिपादन किया गया हो। लिखित संविधान आवश्यक रूप से निर्मित होते हैं। अमरीका, फ्रांस और भारत के संविधान लिखित संविधानों के श्रेष्ठ उदाहरण हैं।

अलिखित संविधान के गुण

अलिखित संविधान के निम्नलिखित गुण कहे जा सकते हैं :

(1) समय के साथ-साथ विकास—अलिखित संविधान में परिवर्तन सरल होता है, इसलिए यह सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार विकसित होता रहता है। वास्तव में, यह बदलती हुई परिस्थितियों का सच्चा प्रतिबिम्ब होता है। विकसित संविधान में संविधान के आदर्शों तथा व्यावहारिक परिस्थितियों में अधिक अन्तर नहीं होता है। इसके विपरीत लिखित संविधान थोपा हुआ प्रतीत होता है।

अलिखित संविधान के गुण
(1) समय के साथ-साथ विकास
(2) क्रान्ति की रोकथाम
(3) संकटकाल के लिए श्रेष्ठ

(2) क्रान्ति की रोकथाम—अलिखित संविधान में बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार सरलता से परिवर्तन हो सकता है, अतः संविधान में परिवर्तन के लिए किसी भी प्रकार की क्रान्ति की आवश्यकता नहीं रहती।

(3) संकटकाल के लिए श्रेष्ठ—अलिखित संविधान संकटकाल के लिए अधिक अच्छा रहता है क्योंकि इसमें संकटकाल का सामना करने के लिए आवश्यक परिवर्तन सरलता से किये जा सकते हैं।

अलिखित संविधान के दोष

अलिखित संविधान में निम्नलिखित दोष होते हैं :

(1) बहुसंख्यक दल के हाथों का खिलौना—अलिखित संविधान अपने लचीलेपन के कारण बहुसंख्यक दल के हाथों का खिलौना बन सकता है। बहुमत दल संविधान में मनमाने परिवर्तन कर अपने हाथों में अत्यधिक शक्ति ले सकता है।

अलिखित संविधान के दोष
(1) बहुसंख्यक दल के हाथों का खिलौना
(2) अधिकारों की सुरक्षा सम्भव नहीं
(3) अस्पष्ट तथा अनिश्चित
(4) अस्थायित्व
(5) संघात्मक शासन के लिए अनुपयुक्त

(2) अधिकारों की सुरक्षा सम्भव नहीं—अधिकार पूरी तरह से लिखित रूप में न होने पर अधिकारों की सुरक्षा पूरी तरह से नहीं की जा सकती क्योंकि संविधान बहुसंख्यक दल के हाथों की कठपुतली बन जाता है।

(3) अस्पष्ट तथा अनिश्चित—इसकी अधिकांश बातें लिखित रूप में न होने के कारण यह अस्पष्ट और अनिश्चित होता है। इसकी व्याख्या में भी कठिनाई होती है।

(4) अस्थायित्व—संविधान के अलिखित होने से इसमें अस्थायित्व रहता है।

(5) संघात्मक शासन के लिए अनुपयुक्त—संघात्मक शासन में संविधान द्वारा संघ और राज्यों में स्पष्टतया शक्तियां विभाजित की जाती हैं और ऐसा करने के लिए संविधान का लिखित होना आवश्यक है। इस प्रकार अलिखित संविधान संघात्मक शासन के लिए उपयुक्त नहीं होता है।

लिखित संविधान के गुण

लिखित संविधान में निम्नलिखित गुण होते हैं :

(1) स्थायित्व—लिखित संविधान अलिखित संविधान की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है। इसके साथ ही यदि वह कठोर भी हो तो उसका स्थायित्व और भी बढ़ जाता है और वह राजनीतिक दलों के हाथों का खिलौना नहीं हो सकता।

(2) अधिकारों की रक्षा—लिखित संविधान के द्वारा नागरिक अधिकारों की सुरक्षा अधिक अच्छे प्रकार से की जा सकती है। अतः अल्पसंख्यक वर्ग भी संविधान के प्रति पूर्ण विश्वास की भावना रखता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(3) स्पष्ट तथा निश्चित—लिखित संविधान स्पष्ट तथा निश्चित होता है, अतः उसका पालन सरलता से किया जा सकता है और उसकी व्याख्या में कोई कठिनाई नहीं होती है।

(4) संघात्मक शासन के लिए लिखित संविधान होना अनिवार्य—संघात्मक शासन के लिए लिखित संविधान का होना आवश्यक है, क्योंकि संघीय शासन में शक्तियां केन्द्र तथा राज्यों में बंटी हुई होती हैं और ऐसा केवल लिखित संविधान के अन्तर्गत ही सम्भव है

लिखित संविधान के गुण
(1) स्थायित्व
(2) अधिकारों की रक्षा
(3) स्पष्ट तथा निश्चित
(4) संघात्मक शासन के लिए लिखित संविधान होना अनिवार्य

लिखित संविधान के दोष

लिखित संविधान में निम्नलिखित दोष बताये जा सकते हैं :

(1) कम लचीलापन—इस संविधान में अलिखित संविधान की अपेक्षा कम लचीलापन होता है, इसलिए इसे बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार ठीक प्रकार से बदला नहीं जा सकता।

लिखित संविधान के दोष
(1) कम लचीलापन
(2) अधिकारों की रक्षा हेतु आवश्यक नहीं
(3) देश के विकास में बाधक
(4) क्रान्ति का कारण

(2) अधिकारों की रक्षा हेतु आवश्यक नहीं—नागरिक अधिकारों की रक्षा के लिए भी लिखित संविधान आवश्यक नहीं है। वास्तव में अधिकारों की सुरक्षा लिखित संविधान की अपेक्षा स्वतन्त्र न्यायालय, निष्पक्ष प्रेस, सबल विरोधी दल और जनता की जागरूकता पर अधिक निर्भर करती है। ब्रिटेन का उदाहरण इस बात का प्रमाण है कि अलिखित संविधान वाले देश में नागरिक के अधिकार कम सुरक्षित नहीं होते।

(3) देश के विकास में बाधक—लिखित संविधान में सरकार के प्रत्येक अंग के कार्य करने का निश्चित ढंग होता है, अतः बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार सरकार के अंगों के कार्यों में परिवर्तन नहीं हो सकता और संविधान देश के विकास में बाधक बन जाता है। ऐसी कठिनाई उस समय विशेष तौर पर सामने आ सकती है, जबकि संविधान लिखित के साथ-साथ कठोर भी हो।

(4) क्रान्ति का कारण—लिखित संविधान कई बार बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित नहीं हो पाता, अतः उसमें परिवर्तन करने के लिए क्रान्ति करनी पड़ती है।

लिखित संविधान के कुछ दोष बतलाए जा सकते हैं, लेकिन इन दोषों के बावजूद वर्तमान समय की प्रवृत्ति लिखित संविधान ही है। यह भी उल्लेखनीय है कि लिखित व अलिखित संविधान का अन्तर विवेचना का विषय तो है, लेकिन यह अन्तर व्यावहारिक नहीं है। उदाहरण के लिए इंग्लैण्ड में अलिखित संविधान है फिर भी वहां नागरिक स्वतन्त्रताएं सुरक्षित हैं तथा प्रजातन्त्र की जड़ें गहरी हैं। इसके विपरीत एशिया अफ्रीका के देशों में लिखित संविधान होने के बावजूद नागरिक स्वतन्त्रताएं व प्रजातन्त्र कमजोर हैं। इसीलिए कहा जाता है कि लिखित व अलिखित संविधान का अन्तर मात्रा का है गुण का नहीं।

3. संविधान की परिवर्तनशीलता के आधार पर

संविधान के सम्बन्ध में दिये गये उपर्युक्त वर्गीकरण अधिक वैज्ञानिक और तर्कसंगत नहीं हैं। उनकी तुलना में यह वर्गीकरण अधिक वैज्ञानिक और तर्कसंगत है। इस आधार पर भी संविधान के दो भेद किये जा सकते हैं—लचीला संविधान और कठोर संविधान। लचीले संविधान को नमनीय संविधान और कठोर संविधान को अनमनीय संविधान भी कहा जाता है।

लचीला या सुपरिवर्तनशील संविधान (Flexible Constitution)—यदि सामान्य कानून और संवैधानिक कानून के बीच कोई अन्तर न हो और संवैधानिक कानून में भी सामान्य कानून के निर्माण की प्रक्रिया से ही संशोधन-परिवर्तन किया जा सके, तो संविधान को लचीला या सुपरिवर्तनशील कहा जायेगा। डॉ. गार्नर के शब्दों में, "लचीला संविधान वह है जिसको साधारण कानून से अधिक शक्ति एवं सत्ता प्राप्त नहीं है और जो साधारण कानून की भांति ही बदला जा सकता है, चाहे वह एक प्रलेख या अधिकांशतः परम्पराओं के रूप में हो।" इंग्लैण्ड में संसद जिस प्रक्रिया द्वारा सड़क पर चलने के नियमों या मद्य निषेध नियमों में परिवर्तन करती है, बिल्कुल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसी प्रक्रिया के आधार पर संवैधानिक कानूनों में परिवर्तन कर सकती है, और इसी कारण इंग्लैण्ड के संविधान को लचीला संविधान कहा जाता है।

कठोर या दुष्परिवर्तनशील संविधान (Rigid Constitution)—ये वे संविधान होते हैं जिनमें संवैधानिक व साधारण कानून में मौलिक भेद समझा जाता है तथा जिसमें संवैधानिक कानूनों में संशोधन-परिवर्तन के लिए साधारण कानूनों के निर्माण से भिन्न प्रक्रिया, जो साधारण कानून के निर्माण की पद्धति से कठिन होती है, अपनाना आवश्यक होता है। कठोर संविधान की परिभाषा करते हुए डॉ. गार्नर लिखते हैं, "जो भिन्न स्रोत से उत्पन्न होता है और पद में साधारण कानून से वैध दृष्टि से कहीं उच्च है। इसका संशोधन भी किसी भिन्न तरीके से होता है।" सर्वप्रथम, संयुक्त राज्य अमेरिका ने 1789 ई. में लिखित और कठोर संविधान को अपनाया। अमरीकी कांग्रेस सामान्य कानूनों का निर्माण साधारण बहुमत से कर सकती है, लेकिन संविधान में संशोधन के लिए अमरीकी कांग्रेस के दो-तिहाई बहुमत के साथ ही तीन-चौथाई इकाइयों के विधानमण्डलों की स्वीकृति आवश्यक होती है। भारतीय संविधान भी कठोर संविधान का ही एक उदाहरण है।

कठोर और लचीले संविधान में भेद

कठोर और लचीले संविधान में निम्नलिखित भेद बताये जा सकते हैं :

(1) संशोधन पद्धति में अन्तर—लचीले संविधान में व्यवस्थापिका को संविधान में संशोधन का अधिकार होता है और यह सामान्य कानून-निर्माण की पद्धति द्वारा ही संविधान में किसी भी प्रकार का परिवर्तन कर सकती है, लेकिन कठोर संविधान में संवैधानिक संशोधन का अधिकार या तो संसद की अपेक्षा किसी उच्चतर संस्था को प्राप्त होता है या संसद सामान्य कानून निर्माण की प्रक्रिया से भिन्न विशेष पद्धति को अपनाकर संविधान में संशोधन कर सकती है। संक्षेप में जहां संविधान संशोधन प्रक्रिया, कानून निर्माण प्रक्रिया से भिन्न व जटिल हो वहां संविधान को कठोर संविधान कहा जाता है। अन्यथा की स्थिति में संविधान लचीला माना जाता है। इंग्लैण्ड का संविधान लचीले संविधान का उदाहरण है। वहीं अमेरिका का संविधान एक कठोर संविधान है। भारत में लचीले व कठोर संविधान का मिश्रण है।

कठोर और लचीले संविधान में भेद
(1) संशोधन पद्धति में अन्तर
(2) संवैधानिक कानून तथा साधारण कानून की स्थिति में अन्तर
(3) लेखबद्धता में भी अन्तर

(2) संवैधानिक कानून तथा साधारण कानून की स्थिति में अन्तर—लचीले संविधान में साधारण कानून तथा संवैधानिक कानून दोनों को ही समान स्थिति और महत्व प्राप्त होता है, किन्तु कठोर संविधान में संवैधानिक कानून को साधारण कानून की अपेक्षा उच्च स्थिति प्राप्त होती है और कोई ऐसा कानून नहीं बनाया जा सकता जो संवैधानिक कानून के प्रतिकूल हो।

(3) लेखबद्धता में भी अन्तर—लचीले और कठोर संविधानों में साधारणतया लेखबद्धता में भी अन्तर होता है। कठोर संविधान आवश्यक रूप से लेखबद्ध होते हैं, लेकिन लचीले संविधानों के लिए ऐसा होना आवश्यक नहीं है। लचीला संविधान लिखित या अलिखित किसी भी रूप में हो सकता है।

लचीले संविधान के गुण

निम्नलिखित गुणों के कारण लचीले संविधान को कठोर संविधान की अपेक्षा वांछनीय समझा जाता है :

(1) राजनीतिक प्रगति के अनुकूल—लचीले संविधान में सरलता से परिवर्तन किया जा सकता है। इस प्रकार संविधान में बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार विकास होता रहता है, परिणामतः इस प्रकार के संविधान राजनीतिक प्रगति के नितान्त अनुकूल होते हैं। उदाहरणार्थ, हम ग्रेट ब्रिटेन के पिछले 1500 वर्षों के इतिहास को ले सकते हैं, जिसमें संविधान के लचीलेपन के कारण ही वहां का राजनीतिक जीवन बिना किसी विशेष अशान्ति के प्रगति की ओर उन्मुख होता चला आया है।

(2) क्रान्ति की सम्भावना नहीं—लचीले संविधान में समय तथा परिस्थितियों की मांग के अनुसार सरलता से परिवर्तन किये जा सकते हैं, परिणामतः विद्रोह तथा क्रान्तियों की भयंकरता से राज्य की रक्षा बनी रहती है क्योंकि क्रान्ति उसी समय होती है जबकि आवश्यक परिवर्तन शान्तिपूर्ण ढंग से न किये जा सकें। यूरोप के दूसरे सभी देशों में वांछनीय परिवर्तन लाने के लिए क्रान्ति के मार्ग को अपनाया गया, लेकिन ब्रिटेन में

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिल्कुल शान्तिपूर्ण ढंग से ही कुलीन वर्ग के हाथ से राजसत्ता निकल कर सामान्य जनता के हाथ में आ गयी। ब्रिटेन के लचीले संविधान के कारण ही यह परिवर्तन शान्तिपूर्ण तरीके से सम्भव हो सका।

(3) राजनीतिक जीवन का सच्चा प्रतिबिम्ब—लचीला संविधान देश की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के साथ बदलते रहने के कारण जनता की मनः स्थितियों एवं इच्छाओं को सही रूप में प्रतिविम्बित करता है और कठोर संविधान की भ्रांति युग के पीछे न रहकर युग के साथ-साथ चलता है, अतः लचीले संविधान को राजनीतिक जीवन का दर्पण कहा जा सकता है।

लचीले संविधान के गुण
(1) राजनीतिक प्रगति के अनुकूल
(2) क्रान्ति की सम्भावना नहीं
(3) राजनीतिक जीवन का सच्चा प्रतिबिम्ब
(4) संकटकाल के लिए उपयुक्त

(4) संकटकाल के लिए उपयुक्त—संकटकाल में शीघ्रतापूर्वक देश की शासन-व्यवस्था में अनेक परिवर्तन करने की आवश्यकता होती है और शीघ्रतापूर्वक इस प्रकार के परिवर्तन केवल लचीले संविधान में ही किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध के समय ब्रिटिश संसद ने आवश्यकतानुसार अपना कार्यकाल बढ़ा लिया और युद्ध संचालन के लिए मन्त्रिपरिषद् को विशेष अधिकार भी दे दिये, लेकिन अमरीका जैसे कठोर संविधान वाले देश में सरलतापूर्वक ऐसा नहीं किया जा सका है। इस प्रकार लचीले संविधान की तुलना लचीली डालियों वाले पेड़ से की जाती है। ब्राइस ने लचीले संविधान के इस गुण का उल्लेख सुन्दर भाषा में किया है, उनके शब्दों में, "उन्हें (लचीले संविधान को) उनके आकार को भंग किये बिना संकट का सामना करने के लिए फैलाया अथवा घुमाया जा सकता है और जब संकट का समय निकल जाता है तो वे अपने पुराने रूप को उस वृक्ष की भाँति प्राप्त कर लेते हैं, जिसकी बाहरी शाखाओं को ऊंचे वाहन को निकलने देने के लिए एक ओर खींच दिया गया हो।"

प्रसिद्ध अमरीकी न्यायाधीश कुली (Cooley) ने भी लचीले संविधान को ही श्रेष्ठ ठहराया है।

लचीले संविधान के दोष

उपर्युक्त गुणों के होते हुए भी लचीले संविधान अनेक दृष्टियों से हानिकारक भी होते हैं। इन संविधानों के विपक्ष में प्रमुख रूप से निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं :

(1) राजनीतिक जीवन में अस्थिरता—लचीले संविधान में संशोधन-कार्य बहुत सरल होता है और संविधान में सरलतापूर्वक संशोधन की व्यवस्था होने के कारण इस प्रकार का संविधान राजनीतिक जीवन में अस्थिरता ही उत्पन्न करता है। सिजविक के शब्दों में, "लोक विरोध के क्षणिक झोंके में मूल्यवान सिद्धान्तों तथा संस्थाओं का उन्मूलन हो सकता और इस प्रकार प्राचीनता तथा अटूट परम्परा द्वारा प्रदत्त स्थिरता का नाश हो जाता है।"

(2) नागरिकों के अधिकार सुरक्षित नहीं—संविधान का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य शासक और शासित के सम्बन्ध निश्चित कर इन सम्बन्धों की मर्यादा बनाये रखना होता है, लेकिन लचीले संविधान में अत्यन्त सरलतापूर्वक संशोधन की व्यवस्था होने के कारण शासक वर्ग मनमाने तरीके से इन सम्बन्धों में परिवर्तन कर लेता है और जनता के अधिकार सुरक्षित नहीं रहते।

(3) राजनीतिक दलों के हाथों का खिलौना—लचीले संविधान राजनीतिक दलों के हाथों का खिलौना बन जाते हैं और इस प्रकार के संविधान को वह पवित्रता और सम्मान प्राप्त नहीं होता है, जो देश की जनता की ओर से उसे प्राप्त होना चाहिए।

लचीले संविधान के दोष
(1) राजनीतिक जीवन में अस्थिरता
(2) नागरिकों के अधिकार सुरक्षित नहीं
(3) राजनीतिक दलों के हाथ का खिलौना
(4) संघात्मक शासन के लिए उपयुक्त नहीं

(4) संघात्मक शासन के लिए उपयुक्त नहीं—संघात्मक राज्य में तो लचीले संविधान को अपनाया ही नहीं जा सकता, क्योंकि लचीले संविधान में अकेली केन्द्रीय व्यवस्थापिका सामान्य बहुमत से मनचाहे परिवर्तन कर सकती है। वर्तमान प्रवृत्ति संघात्मक राज्यों के निर्माण की ओर है, इसलिए भी लचीले संविधान को उपयुक्त नहीं कहा जा सकता है।

इन सबके अतिरिक्त लचीले संविधान केवल उसी देश के लिए उपयुक्त हो सकते हैं, जहां पर जनता राजनीतिक दृष्टि से जागरूक हो। उन्हें अपने अधिकार और कर्तव्यों का पूर्ण ज्ञान

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होना चाहिए और इनमें शासक वर्ग की शक्तियों पर नियन्त्रण रखने की क्षमता भी होनी चाहिए। इसी कारण ब्रिटेन जैसे राजनीतिक दृष्टि से जागरूक देश में ही लचीला संविधान ठीक प्रकार से कार्य कर सकता है और नव-स्वतन्त्रता प्राप्त किसी भी देश में लचीले संविधान को नहीं अपनाया गया है।

कठोर संविधान के गुण

निम्नलिखित गुणों के आधार पर कठोर संविधान को उपयुक्त समझा जाता है :

कठोर संविधान के गुण
(1) स्पष्ट एवं निश्चित
(2) राजनीतिक जीवन में स्थिरता
(3) नागरिक अधिकारों की रक्षा
(4) संविधान के सम्मान में वृद्धि
(5) संघात्मक राज्यों के लिए आवश्यक

(1) **स्पष्ट एवं निश्चित**—कठोर संविधान आवश्यक रूप से लिखित होते हैं और इनका निर्माण एक विशेष समय पर किसी विशेष समिति के द्वारा किया जाता है। कठोर संविधान के लिखित और निर्मित होने के कारण इसमें वह स्पष्टता एवं निश्चितता आ जाती है जो लचीले संविधान में नहीं पायी जाती। स्पष्टता एवं निश्चितता के कारण संविधान को सरलता से समझा जा सकता है और संवैधानिक विवाद उत्पन्न होने की आशंका कम हो जाती है।

(2) **राजनीतिक जीवन में स्थिरता**—कठोर संविधान में सरलता से परिवर्तन नहीं किया जा सकता तथा इसके परिणामस्वरूप राज्य की शासन विधि तथा उसके राजनीतिक जीवन में स्थिरता बनी रहती है। कठोर संविधान के कारण ही सामयिक आवेशों तथा दलगत राजनीति द्वारा राजनीतिक जीवन में उथल-पुथल पैदा कर सकने की आशंका भी कम हो जाती है।

(3) **नागरिक अधिकारों की रक्षा**—कठोर संविधान देश के सभी नागरिकों के, विशेष रूप से अल्पसंख्यकों के अधिकारों की भली-भांति रक्षा करता है। नागरिक अधिकारों के सम्बन्ध में कोई विवाद उत्पन्न होने पर संविधान और न्यायालय का आश्रय लिया जा सकता है। इस प्रकार के संविधान में नागरिक अधिकारों की रक्षा के लिए विशेष व्यवस्था भी की जा सकती है।

(4) **संविधान के सम्मान में वृद्धि**—स्पष्ट और स्थायी होने तथा देश के सर्वाधिक बुद्धिमान और अनुभवी राजनीतिज्ञों द्वारा निर्मित होने के कारण कठोर संविधान के प्रति नागरिकों में पवित्रता और सम्मान का वह भाव पाया जाता है जो लचीले संविधान में दिखायी नहीं देता।

(5) **संघात्मक राज्यों के लिए आवश्यक**—वर्तमान समय की प्रवृत्ति छोटे-छोटे एकात्मक राज्यों के स्थान पर विशाल संघात्मक राज्यों के निर्माण की ओर है और जहां तक संघात्मक राज्यों का सम्बन्ध है, इस प्रकार के राज्य के लिए कठोर संविधान एक अनिवार्य आवश्यकता है।

कठोर संविधान के दोष

उपर्युक्त गुणों के होते हुए भी कठोर संविधान पूर्णतया दोषमुक्त नहीं है। कठोर संविधान के प्रमुख दोष निम्नलिखित कहे जा सकते हैं :

(1) **क्रान्ति का कारण**—कठोर संविधान की दुष्परिवर्तनशीलता अनेक बार क्रान्ति या विद्रोह का कारण भी बन जाती है। जब बदली हुई सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार संविधान में परिवर्तन नहीं हो पाता तो इस प्रकार के परिवर्तनों को कार्यरूप प्रदान करने के लिए क्रान्ति की आवश्यकता होती है। इस प्रकार कठोर संविधान क्रान्ति का कारण बन जाते हैं। लॉर्ड मैकाले ने कहा है कि "क्रान्ति का सर्वप्रमुख कारण यह तथ्य है कि जहां राष्ट्र उन्नति के पथ पर अग्रसर होते हैं, संविधान वहीं के वहीं निश्चल पड़े रहते हैं।"[1]

(2) **राजनीतिक विकास में बाधक**—किसी राज्य का राजनीतिक जीवन सदैव एक-सा नहीं रहता है और उसमें सदा परिवर्तन होता रहता है, अतः किसी राज्य के संविधान के लिए आवश्यक है कि वह परिवर्तनशील राजनीतिक जीवन के अनुकूल परिवर्तनशील हो, लेकिन कठोर संविधान परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार सरलता से बदला नहीं जा सकता, अतः इस प्रकार का संविधान राजनीतिक विकास में बाधक होता है। गार्नर

1 "The greatest cause of revolution is that while nations move forward constitutions stand still."
—*Lord Macaulay*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(Garner) ने भी कहा है कि "कठोर संविधान व्यक्ति के उज्ज्वल भविष्य एवं उसके चतुर्मुखी विकास का ध्यान किये बिना ही हमेशा के लिए एक पोशाक फिट कर देने के समान है।"

कठोर संविधान के दोष
(1) क्रान्ति का कारण
(2) राजनीतिक विकास में बाधक
(3) जनता की इच्छाओं का प्रतिबिम्ब नहीं
(4) न्यायपालिका का अनुचित प्रभाव

(3) जनता की इच्छाओं का प्रतिबिम्ब नहीं—कठोर संविधान में परिवर्तन काफी कठिन होता है और इस प्रत्यक्ष परिवर्तन के अभाव में कठोर संविधान जनता की इच्छाओं को परिलक्षित नहीं कर पाते तथा राष्ट्र की वास्तविक स्थिति के प्रतिबिम्ब नहीं रहते हैं।

(4) न्यायपालिका का अनुचित प्रभाव—कठोर संविधान के अन्तर्गत न्यायपालिका संविधान के अधिकारी व्याख्याता और संरक्षक के रूप में कार्य करती है और अपनी इस शक्ति के आधार पर न्यायपालिका व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों को अवैधानिक घोषित कर सकती है। अमरीका जैसे कठोर संविधान वाले देश में न्यायपालिका द्वारा यह कार्य केवल कानूनी दृष्टिकोण के आधार पर ही नहीं, वरन् राजनीतिक और व्यावहारिक दृष्टिकोण के आधार पर भी किया जा सकता है। इस प्रकार न्यायपालिका, जनता की प्रतिनिधि संस्था—व्यवस्थापिका का स्थान ग्रहण कर लेती है, जिसे उचित नहीं कहा जा सकता। न्यायपालिका की यह शक्ति सामान्यतया प्रगति के कार्यों में बाधक सिद्ध हुई है।

निष्कर्ष—अलिखित और लचीले संविधान के चाहे जो भी गुण हों, वर्तमान समय की प्रवृत्ति लिखित और कठोर संविधानों को अपनाने की ही है। भारत का संविधान यहां की विशेष परिस्थितियों के अनुसार लचीले व कठोर का अनोखा मिश्रण है।

आदर्श संविधान के लक्षण

आदर्श संविधान के लक्षणों का पूर्ण निश्चितता पूर्वक वर्णन नहीं किया जा सकता क्योंकि विभिन्न परिस्थितियों में अलग-अलग प्रकार के संविधान ठीक प्रकार से कार्य कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, इंगलैण्ड में विकसित, अलिखित और लचीला संविधान ठीक प्रकार से कार्य कर रहा है तो दूसरी ओर अमरीका में लिखित, निर्मित और कठोर संविधान भी संवैधानिक प्रगति में बाधक सिद्ध नहीं हुआ है। सामान्य रूप से विविध संविधानों के अध्ययन एवं अनुभव के आधार पर आदर्श संविधान के निम्नलिखित लक्षण बताये जा सकते हैं :

आदर्श संविधान के लक्षण
(1) संक्षिप्तता
(2) व्यापकता
(3) स्पष्टता और निश्चितता
(4) मौलिक अधिकार और कर्तव्य
(5) स्वतन्त्र न्यायालय
(6) परिवर्तनशीलता

(1) संक्षिप्तता—संक्षिप्तता अच्छे संविधान का एक आवश्यक लक्षण है और कुछ विद्वानों का मत है कि संविधान जितना संक्षिप्त हो, उतना ही अच्छा है। संविधान के अन्तर्गत देश की शासन-व्यवस्था से सम्बन्धित मूल बातों का ही वर्णन किया जाना चाहिए और दिन-प्रतिदिन के राजनीतिक जीवन से सम्बन्धित विस्तार की बातें लिखकर संविधान का विस्तार नहीं किया जाना चाहिए। अधिक विस्तार से संविधान में बार-बार संशोधन की आवश्यकता पड़ती है जिसे उचित नहीं कहा जा सकता। अमरीकी संविधान संक्षिप्त संविधान का श्रेष्ठ उदाहरण है। यह उल्लेखनीय है कि संविधान इतना संक्षिप्त भी नहीं होना चाहिए कि वह अस्पष्ट हो जाय।

(2) व्यापकता—संविधान को संक्षिप्त रखने की दृष्टि से किन्हीं भी परिस्थितियों में उसकी व्यापकता का बलिदान नहीं किया जाना चाहिए। यद्यपि संविधान में दिन-प्रतिदिन की राजनीतिक बारीकियों का वर्णन तो नहीं होना चाहिए, लेकिन शासन के आधारभूत सिद्धान्तों एवं नियमों का यथासम्भव व्यापकतापूर्वक वर्णन किया जाना चाहिए जिससे सन्देह और विवाद के अवसर कम-से-कम हो जायें। वस्तुतः एक आदर्श संविधान में व्यापकता, संक्षिप्तता तथा निश्चितता के मध्य उचित समन्वय होना चाहिए। एक की कीमत पर दूसरी विशेषता हानिकारक है।

(3) स्पष्टता और निश्चितता—स्पष्टता एवं निश्चितता संविधान का एक अत्यन्त आवश्यक गुण है। संविधान द्वारा व्यक्ति-व्यक्ति, व्यक्ति एवं सरकार और सरकार के विविध अंगों के पारस्परिक सम्बन्धों को निश्चित किया जाता है। स्पष्टता के अभाव में संविधान से सम्बन्धित इन विविध पक्षों में निरन्तर विवाद उत्पन्न होते रहेंगे और संविधान ही संघर्ष का कारण बन जाएगा। अतः संविधान की भाषा इतनी स्पष्ट और निश्चित होनी चाहिए कि सरकार के विविध अंग उसे समझकर उसके अनुसार आचरण कर सकें।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(4) मौलिक अधिकार और कर्तव्य—संविधान का एक प्रमुख उद्देश्य शासन की मर्यादा निश्चित करना और दूसरे व्यक्तियों तथा राज्य के हस्तक्षेप से नागरिकों के अधिकारों एवं हितों की रक्षा करना होता है और यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि संविधान में ही नागरिकों के मौलिक अधिकारों का उल्लेख होने से नागरिकों की स्वतन्त्रता और हित सुरक्षित हो जाते हैं तथा व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका नागरिकों के अधिकारों के साथ मनचाहा खिलवाड़ नहीं कर सकती है। इसी कारण अमरीका, फ्रांस, भारत, आदि देशों के संविधानों में मौलिक अधिकारों का वर्णन किया गया है। वर्तमान समय में ऐसा माना जाने लगा है कि संविधान में नागरिकों के अधिकारों के साथ-साथ उनके कर्तव्यों का भी उल्लेख किया जाना चाहिए।

(5) न्यायपालिका की स्वतन्त्रता—वर्तमान समय में देश का शासन किसी एक व्यक्ति या एक ही संस्था द्वारा नहीं, वरन् विभिन्न विभागों द्वारा किया जाता है। शासन के इन विभिन्न विभागों को अपनी सीमा में रखने और इन विभिन्न विभागों के बीच उत्पन्न होने वाले विवादों के हल के लिए स्वतन्त्र न्यायालयों का अस्तित्व न केवल उपयोगी वरन् आवश्यक हो जाता है। नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए भी स्वतन्त्र न्यायालयों का अस्तित्व आवश्यक है। स्वतन्त्र न्यायालय शासक को अपनी सीमा में रखते हुए जनता के अधिकारों एवं स्वतन्त्रता की रक्षा करते हैं।

(6) परिवर्तनशीलता—जैनिंग्ज ने एक स्थान पर लिखा है कि "संविधान उन्हीं अवस्थाओं में क्रियान्वित नहीं होता, जिनमें उसकी रचना हुई थी, वरन् उसके शताब्दियों बाद तक वह कार्य करता है। इसलिए संविधान आवश्यक रूप से ऐसा होना चाहिए, जो अपने आपको परिस्थितियों के अनुरूप बदल सके।" मनुष्य एक विकासशील प्राणी है और आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन होने के साथ-ही-साथ संविधान में परिवर्तन होना भी अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार संविधान में परिवर्तनशीलता का होना नितान्त आवश्यक है, किन्तु इसके साथ-ही-साथ संविधान इतना सुपरिवर्तनशील भी नहीं होना चाहिए कि बार-बार मनचाहे तरीके से संविधान के मौलिक सिद्धान्तों में परिवर्तन किया जा सके। वस्तुतः एक अच्छे संविधान में स्थायित्व और परिवर्तनशीलता के बीच एक उचित सामंजस्य स्थापित किया जाना चाहिए।

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (प्रत्येक प्रश्न 6 अंक का, उत्तर लगभग 300 शब्दों में दीजिए)

1. संविधान की परिभाषा कीजिए। कठोर तथा नमनीय संविधानों में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
2. टिप्पणी लिखिए :
   (i) लिखित संविधान।
   (ii) लचीला संविधान।
   (iii) अच्छे संविधान के गुण।
   (iv) लिखित या अलिखित संविधान।
   (v) कठोर संविधान।
3. लचीले और कठोर संविधान के गुण-दोषों पर प्रकाश डालिए।
4. संविधान की परिभाषा कीजिए और संविधान के विभिन्न प्रकार बताइए।
5. संविधान से आप क्या समझते हैं? इसके मुख्य लक्षणों की व्याख्या कीजिए। (उ.प्र., 2010)
6. संविधान से आप क्या समझते हैं? अच्छे संविधान में किन बातों की आवश्यकता होती है?
7. लिखित और अलिखित संविधान में अन्तर स्पष्ट कीजिए तथा लिखित संविधान के गुण-दोषों का भी वर्णन कीजिए? (उ.प्र., 2010)

लघु उत्तरीय प्रश्न

(अ) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 50 शब्दों में दीजिए (2 अंक)।

1. संविधान का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. विकसित संविधान किसे कहते हैं?
3. निर्मित संविधान किसे कहते हैं?
4. अलिखित संविधान किसे कहते हैं?
5. लिखित संविधान किसे कहते हैं?

CC-0. Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4. अलिखित संविधान किसे कहते हैं?
5. लिखित संविधान किसे कहते हैं?
6. लचीला (नमनीय) अथवा परिवर्तनशील संविधान किसे कहते हैं?
7. कठोर या अपरिवर्तनशील या अनमनीय संविधान किसे कहते हैं?
8. कठोर और लचीले संविधान में दो अन्तर स्पष्ट कीजिए।

(ब) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिए (4 अंक)।

9. संविधान का वर्गीकरण किन-किन आधारों पर किया जाता है? (उ.प्र., 2010)
10. लिखित संविधान के चार गुण लिखिए।
11. लिखित संविधान के चार दोष लिखिए।
12. आदर्श संविधान के आवश्यक गुण लिखिए।
    अथवा, आदर्श संविधान के आवश्यक लक्षणों को लिखिए।
13. लचीले संविधान के दो गुणों और दो दोषों की विवेचना कीजिए। (उ.प्र., 2010)

अति लघु उत्तरीय प्रश्न [प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का, उत्तर दस शब्द (एक वाक्य) में]

प्रश्न 1. संविधान की कोई एक परिभाषा दीजिए।
उत्तर—ब्राइस के शब्दों में, "संविधान निश्चित नियमों का वह संग्रह है जो शासन के स्वरूप तथा तत्सम्बन्धी नागरिकों के अधिकारों तथा कर्तव्यों को निश्चित करते हैं।"

प्रश्न 2. उत्पत्ति के आधार पर संविधान का वर्गीकरण कीजिए।
उत्तर—(1) विकसित संविधान, (2) निर्मित संविधान।

प्रश्न 3. संविधान की परिवर्तनशीलता के आधार पर संविधान का वर्गीकरण कीजिए।
उत्तर—(1) लचीला संविधान, (2) कठोर संविधान।

प्रश्न 4. संविधान में प्रथाओं और कानूनों के अनुपात के आधार पर संविधान का वर्गीकरण कीजिए।
उत्तर—(1) अलिखित संविधान, (2) कठोर संविधान।

प्रश्न 5. अलिखित संविधान के दो गुणों के केवल नाम लिखिए।
उत्तर—(1) क्रान्ति की रोकथाम, (2) संकटकाल के लिए श्रेष्ठ।

प्रश्न 6. अच्छे संविधान के दो आवश्यक लक्षण लिखिए।
उत्तर—(1) स्पष्टता, (2) निश्चितता।

प्रश्न 7. अपरिवर्तनशील संविधान के किसी एक गुण का उल्लेख कीजिए। (बोर्ड प्रतिदर्श प्रश्न-पत्र से)
उत्तर—अनावश्यक परिवर्तनों से मुक्त।

प्रश्न 8. संघात्मक संविधान का एक लक्षण लिखिए। (बोर्ड प्रतिदर्श प्रश्न-पत्र से)
उत्तर—दोहरी सरकारें होना—एक केन्द्र की और दूसरी राज्यों की।

प्रश्न 9. लचीले और कठोर संविधान में एक अन्तर स्पष्ट कीजिए।
उत्तर—लचीले संविधान में साधारण कानून के निर्माण की प्रक्रिया से परिवर्तन किया जा सकता है, कठोर संविधान में इस तरीके से परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

प्रश्न 10. परिवर्तनशील या नमनीय संविधान का एक गुण लिखिए।
उत्तर—जनता की इच्छा का दर्पण।

प्रश्न 11. लिखित संविधान का एक गुण लिखिए।
उत्तर—यह नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा का प्रतीक है।

प्रश्न 12. लिखित संविधान का एक दोष लिखिए।
उत्तर—यह देश की प्रगति में बाधक होता है।

प्रश्न 13. विकसित और अलिखित संविधान का नमूना किस देश का संविधान है?
उत्तर—इंगलैण्ड का संविधान विकसित और अलिखित व लचीले संविधान का नमूना है।

प्रश्न 14. अलिखित संविधान के दो दोष लिखिए।
उत्तर—(1) अस्पष्ट तथा अनिश्चित, (2) अधिकारों की रक्षा सम्भव नहीं।

प्रश्न 15. विश्व का सबसे पुराना लिखित संविधान किस देश का है? (उ.प्र., 2010)
उत्तर—विश्व का सबसे पुराना लिखित संविधान अमेरिका का संविधान (1789) है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुविकल्पीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों में चार विकल्प दिए गए हैं। उनमें से एक सही विकल्प छांटकर लिखिए :

1. "संविधान मूलभूत राजनीतिक संस्थाओं की एक व्यवस्था है।" यह कथन किस विचारक का है :
(अ) लीकाक का (ब) फाइनर का (स) ब्राइस का (द) गिलक्राइस्ट का

2. किसी भी राज्य के संविधान द्वारा प्रमुख रूप से कौन-सी बात निश्चित की जाती है :
(अ) व्यक्ति-व्यक्ति का पारस्परिक सम्बन्ध (ब) व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध
(स) सरकार के संगठन, उसके ढांचे और सरकार के विविध अंगों के पारस्परिक सम्बन्धों को निश्चित करना
(द) उपर्युक्त सभी

3. किस देश का संविधान विकसित संविधान का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है :
(अ) भारत का संविधान (ब) इंग्लैण्ड का संविधान
(स) अमरीका का संविधान (द) पाकिस्तान का संविधान

4. अलिखित संविधान का उदाहरण है :
(अ) जापान का संविधान (ब) फ्रांस का संविधान
(स) इंग्लैण्ड का संविधान (द) चीन का संविधान

5. अलिखित संविधान का गुण है :
(अ) समय के साथ-साथ विकास (ब) क्रान्ति की रोकथाम
(स) संकटकाल के लिए श्रेष्ठ (द) इनमें से सभी

6. निम्नलिखित में से कौन-सा लिखित संविधान का गुण नहीं है :
(अ) स्पष्ट तथा निश्चित (ब) संघात्मक शासन के लिए अनिवार्य
(स) अस्थायित्व (द) अधिकारों की रक्षा

7. लचीले संविधान का उदाहरण है :
(अ) अमरीका का संविधान (ब) इंग्लैण्ड का संविधान
(स) भारत का संविधान (द) इनमें से कोई नहीं

8. सर्वप्रथम किस देश ने लिखित और कठोर संविधान को अपनाया :
(अ) भारत (ब) इंग्लैण्ड
(स) संयुक्त राज्य अमेरिका (द) चीन

9. लचीले संविधान का गुण है :
(अ) राजनीतिक प्रगति के अनुकूल (ब) क्रान्ति की सम्भावना नहीं
(स) संकटकाल के लिए उपयुक्त (द) इनमें से सभी

10. निम्नलिखित में से कौन-सा कठोर संविधान का गुण नहीं है :
(अ) स्पष्ट एवं निश्चित (ब) राजनीतिक जीवन में स्थिरता
(स) संघात्मक राज्यों के लिए उपयुक्त नहीं (द) नागरिक अधिकारों की रक्षा

11. आदर्श संविधान का प्रमुख लक्षण है :
(अ) संक्षिप्तता (ब) स्पष्टता और निश्चितता
(स) मौलिक अधिकार और कर्तव्यों का उल्लेख (द) इनमें से सभी

12. "संविधान हीन राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। संविधान के अभाव में राज्य, राज्य न होकर एक प्रकार की अराजकता होगी।" यह कथन किस विद्वान का है :
(अ) लीकाक का (ब) जैलीनेक का (स) फाइनर का (द) ब्राइस का

13. उत्पत्ति के आधार पर संविधान दो प्रकार के होते हैं :
(अ) विकसित और निर्मित (ब) लिखित एवं अलिखित
(स) लचीला और कठोर (द) इनमें से कोई नहीं

14. संविधान में प्रथाओं और कानूनों के अनुपात के आधार पर संविधान दो प्रकार के होते हैं :
(अ) विकसित और निर्मित संविधान (ब) अलिखित और लिखित संविधान
(स) लचीला और कठोर संविधान (द) इनमें से कोई नहीं

[उत्तर—1. (ब), 2. (द), 3. (ब), 4. (स), 5. (द), 6. (स), 7. (ब), 8. (ब), 9. (द), 10. (स), 11. (स), 12. (ब), 13. (अ), 14. (ब)]

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

11

सरकार के प्रकार तथा आधुनिक शासन प्रणालियां

[FORMS OF GOVERNMENT AND MODERN SYSTEMS OF GOVERNMENT]

"शासन के रूपों के लिए मूर्खों को लड़ने दो, जो शासन ठीक प्रकार से चले, वही सर्वश्रेष्ठ है।"[1]
—एजेक्जेण्डर पोप

"परिवार और सत्य, सूर्य के प्रकाश और फ्लोरेन्स नाइटेंगल की भांति लोकतन्त्र की श्रेष्ठता सन्देह के परे है।"[2]
—जे. के. गेलब्रेथ.

राज्यों का वर्गीकरण

मूलतः सभी राज्य एकसमान ही होते हैं क्योंकि सभी राज्य ऐसे जनसमुदाय होते हैं जो निश्चित भू-खण्ड पर बसे हुए हों, राजनीतिक संगठन में संगठित हों और प्रभुत्व शक्ति सम्पन्न हों। ये विशेषताएं सभी राज्यों में समान रूप से होती हैं, किन्तु सभी राज्यों में इस प्रकार की समानता होते हुए भी उनमें भौगोलिक स्थिति, शक्ति, शासन-व्यवस्था और शासन की राजनीतिक एवं आर्थिक नीति के आधार पर अनेक विभेद होते हैं। राज्य के इन विभिन्न भेदों में शासन-व्यवस्था का भेद अधिक महत्वपूर्ण है और इसे ही राज्यों के वर्गीकरण के आधार रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यद्यपि इस आधार पर किये गये वर्गीकरण की आलोचना करते हुए कहा जाता है कि राज्य और सरकार में भेद है और इस आधार पर किया गया वर्गीकरण तो राज्यों का वर्गीकरण न होकर सरकारों का वर्गीकरण होगा, लेकिन इस सम्बन्ध में, जैसा कि क्रोशे ने कहा है, "उनके लिए जो भावात्मकता की अपेक्षा वास्तविकता ढूंढना चाहते हैं, राज्य सरकार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है तथा राज्य की पूर्ण वास्तविकता सरकार द्वारा ही व्यक्त होती है।" वस्तुतः अरस्तू के समय से लेकर आज तक राज्यों के जो भी वर्गीकरण प्रस्तुत किये गये हैं, वे किसी-न-किसी रूप में सरकारों के भेद से ही सम्बन्धित हैं। अतः शासन-व्यवस्था का भेद राज्यों के वर्गीकरण का सबसे अधिक सन्तोषजनक आधार कहा जा सकता है।

अरस्तू का वर्गीकरण

राज्यों का सर्वप्रथम वैज्ञानिक वर्गीकरण यूनान के विचारक अरस्तू द्वारा किया गया। अरस्तू ने राज्यों के वर्गीकरण के दो आधार अपनाएं हैं :

(1) संख्या का आधार—संख्या के आधार का तात्पर्य यह है कि प्रभुत्व शक्ति का प्रयोग कितने व्यक्तियों द्वारा किया जाता है।

(2) उद्देश्य का आधार—इसका तात्पर्य यह है कि शासन करने वाले व्यक्तियों का उद्देश्य क्या है? अर्थात् शासक वर्ग निजी हित में कार्य करता है या जनहित के उद्देश्य से कार्य करता है। निजी उद्देश्य वाले शासन को उसका विकृत रूप माना है तथा जनहित वाले शासन को उसका आदर्श या स्वाभाविक रूप माना गया है।

---

1 "For forms of government, let the fools contest. Whatever is best administered is the best."
—*Alexander Pope*

2 "Like the family and truth and sunshine and Florence Nightingale; democracy stands above doubt." —*J. K. Galbraith in Reith Lectures* 1966-67 (Quoted from Pickel's Democracy, p. 11)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अरस्तू ने पहले आधार पर एक व्यक्ति का शासन, कुछ व्यक्तियों का शासन और बहुसंख्यक व्यक्तियों का शासन इस प्रकार के तीन भेद किये हैं और दूसरे आधार पर अरस्तू ने इन्हीं तीनों शासन-व्यवस्थाओं के दो रूपों—स्वाभाविक और विकृत—का निरूपण किया है।

प्रथम आधार (शासन करने वाले व्यक्तियों की संख्या)	द्वितीय आधार (शासन सत्ता के संचालन का उद्देश्य)	
	शासन का स्वाभाविक रूप (जनहित में किया गया शासन)	शासन का विकृत रूप (निजी हित में किया गया शासन)
एक	एकतन्त्र या राजतन्त्र (Monarchy)	आततायीतन्त्र (Tyranny)
कुछ व्यक्ति	कुलीनतन्त्र (Aristocracy)	वर्गतन्त्र या धनिकतन्त्र (Oiligarchy)
बहुसंख्यक	बहुतन्त्र या संवैधानिकतन्त्र (Polity)	भीड़तन्त्र[1] (Democracy)

इन विभिन्न शासन-व्यवस्थाओं से अरस्तू का आशय इस प्रकार है :

राजतन्त्र—इस प्रकार के राज्य में शासन की समस्त शक्ति एक ही व्यक्ति के हाथों में केन्द्रित होती है। अरस्तू के राजतन्त्र में यह व्यक्ति आवश्यक रूप से सामान्य हित को दृष्टि में रखकर ही शासन कार्य करता है।

आततायीतन्त्र—यह राजतन्त्र का भ्रष्ट रूप है। इसके अन्तर्गत भी शासन की समस्त शक्ति एक ही व्यक्ति के हाथों में केन्द्रित होती है, लेकिन राजतन्त्र के समान इस शासन शक्ति का प्रयोग सामान्य हित के लिए न किया जाकर स्वयं के स्वार्थ की पूर्ति के लिए ही किया जाता है।

कुलीनतन्त्र—इस प्रकार के शासन में प्रभुसत्ता थोड़े-से व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित होती है और इस शासन शक्ति का प्रयोग सामान्य हित को दृष्टि में रखकर किया जाता है।

वर्गतन्त्र या धनिकतन्त्र (Oligarchy)—कुलीनतन्त्र का भ्रष्ट रूप वर्गतन्त्र है जिसके अन्तर्गत शासन की समस्त शक्ति धनिक वर्ग के हाथों में केन्द्रित होती है और शासन करने वाला वर्ग इस शक्ति का प्रयोग सामान्य हित में न करके वर्गीय हित में ही करता है।

बहुतन्त्र या संवैधानिकतन्त्र—इस प्रकार के शासन में राज्य की सर्वोच्च सत्ता बहुसंख्यक व्यक्तियों के हाथों में निहित होती है और शासन करने वाले व्यक्ति सामान्य हित की वृद्धि के लिए कार्य करते हैं। अरस्तू के अनुसार बहुतन्त्र में मध्यम वर्ग की प्रधानता होती है। अरस्तू ने बहुतन्त्र (polity) को सबसे अच्छी व्यवस्था माना है।

भीड़तन्त्र (Democracy)—भीड़तन्त्र बहुतन्त्र का विकृत रूप है। जब शासन करने वाले बहुसंख्यक जनता के प्रतिनिधि सामान्य हित की बात भुलाकर अपने वर्ग विशेष के हित में कार्य करने लग जाते हैं तो सरकार का रूप विकृत हो जाता है और इसे भीड़तन्त्र या प्रजातन्त्र कहा जाता है।

अरस्तू के वर्गीकरण की आलोचना

आलोचकों द्वारा अरस्तू के वर्गीकरण की अनेक आधारों पर आलोचना की गयी है जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :

(1) **सरकारों का वर्गीकरण है**—आलोचकों के अनुसार अरस्तू ने राज्य और सरकार में कोई भेद नहीं माना है और उनका वर्गीकरण राज्यों का वर्गीकरण न होकर सरकारों का वर्गीकरण है। गार्नर के शब्दों में, "उन्होंने राज्य तथा सरकार में कोई अन्तर नहीं माना है और अन्तिम विश्लेषण में यह वर्गीकरण राज्यों का वर्गीकरण नहीं, अपितु सरकारों का वर्गीकरण है और इसलिए राज्यों के रूप के विवेचन में उसका कोई उचित स्थान नहीं हो सकता है।"

अरस्तू के वर्गीकरण की आलोचना
(1) सरकारों का वर्गीकरण है
(2) अवैज्ञानिक तथा संख्यावाचक वर्गीकरण
(3) प्रजातन्त्र को उचित स्थान नहीं
(4) वर्तमान राज्यों पर लागू नहीं

(2) **अवैज्ञानिक तथा संख्यावाचक वर्गीकरण**—आलोचकों के अनुसार यह वर्गीकरण किसी वैज्ञानिक आधार पर आधारित न होकर संख्या-विषयक भौतिक आधार पर आधारित है। यह वर्गीकरण सरकार के आन्तरिक संगठन पर भी प्रकाश नहीं डालता। वॉन महल (Von Mohl) ने कहा है कि "उस सिद्धान्त

1 अरस्तू ने बहुमत या 'पॉलिटी' (Polity) शब्द का प्रयोग आज की शब्दावली में 'डेमोक्रेसी' के अर्थ में और 'डेमोक्रेसी' शब्द का प्रयोग आज की शब्दावली में 'भीड़तन्त्र' (Mobocracy) के अर्थ में किया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का स्वरूप जिस पर यह आधारित है, राज्य के गठन से सम्बन्धित न होकर गणित से सम्बन्धित है तथा यह वर्गीकरण गुण-विषयक न होकर संख्या-विषयक है।

(3) प्रजातन्त्र को उचित स्थान नहीं—प्रजातन्त्र शासन के सम्बन्ध में अरस्तू के विचारों को स्वीकार नहीं किया जा सकता। अरस्तू प्रजातन्त्र को हुजूमशाही और भीड़तन्त्र का पर्यायवाची मानता है और इसे बहुत अधिक अव्यवस्थित एवं अनियन्त्रित शासन-व्यवस्था समझता है, लेकिन वर्तमान समय में प्रजातन्त्र को सर्वश्रेष्ठ शासन पद्धति समझा जाता है।

(4) वर्तमान राज्यों पर लागू नहीं—यह वर्गीकरण वर्तमान समय के राज्यों पर लागू नहीं किया जा सकता। वर्तमान राज्यों में प्रभुता का निवास ढूंढना बड़ा कठिन है। इसके अतिरिक्त, वर्तमान राज्यों के जो विविध स्वरूप हैं, वे सब इसी वर्गीकरण के अन्तर्गत नहीं आते हैं। एकात्मक, संघात्मक, संसदात्मक और अध्यक्षात्मक राज्यों के स्वरूप को इस वर्गीकरण में स्थान नहीं दिया गया है। ऐसा कोई भी प्रकार इस वर्गीकरण में नहीं है जिसमें इंगलैण्ड जैसे राज्य को रखा जा सके, क्योंकि वहां 'संवैधानिक राजतन्त्र' (Constitutional Monarchy) है।

महत्व

अरस्तू के वर्गीकरण की अनेक प्रकार से आलोचनाएं की जाती हैं, परन्तु इनका आशय यह नहीं है कि अरस्तू का वर्गीकरण आधुनिक समय में कोई महत्व नहीं रखता है। अरस्तू का वर्गीकरण ही सर्वप्रथम वैज्ञानिक वर्गीकरण है और यह अन्य सभी वर्गीकरणों के लिए ऐतिहासिक आधार रहा है। अरस्तू के वर्गीकरण की सबसे अच्छी विशेषता जनहित के तत्व का समावेश है। आज भी अच्छी शासन व्यवस्था वही है, जो जनहित का कार्य करे। दूसरा उसने शासन की शक्ति मध्यम बहुसंख्यक वर्ग को देने का समर्थन किया है, जो शासन के स्थायित्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। गिलक्राइस्ट के शब्दों में कहा जा सकता है कि "आधुनिक सरकारों के स्वरूप के लिए यह वर्गीकरण पर्याप्त नहीं है, पर आज तक जितने वर्गीकरण किये गये हैं, उन सबके लिए यह ऐतिहासिक आधार रहा है।"

आधुनिक वर्गीकरण
(MODERN CLASSIFICATION)

अरस्तू के पश्चात् अन्य अनेक लेखकों ने भी राज्यों के वर्गीकरण प्रस्तुत किये हैं जिनमें बेट्ज, वॉन महल, ब्लण्टशली, जैलीनेक, बर्गेस, मैरियट और लीकॉक के वर्गीकरण महत्वपूर्ण हैं।

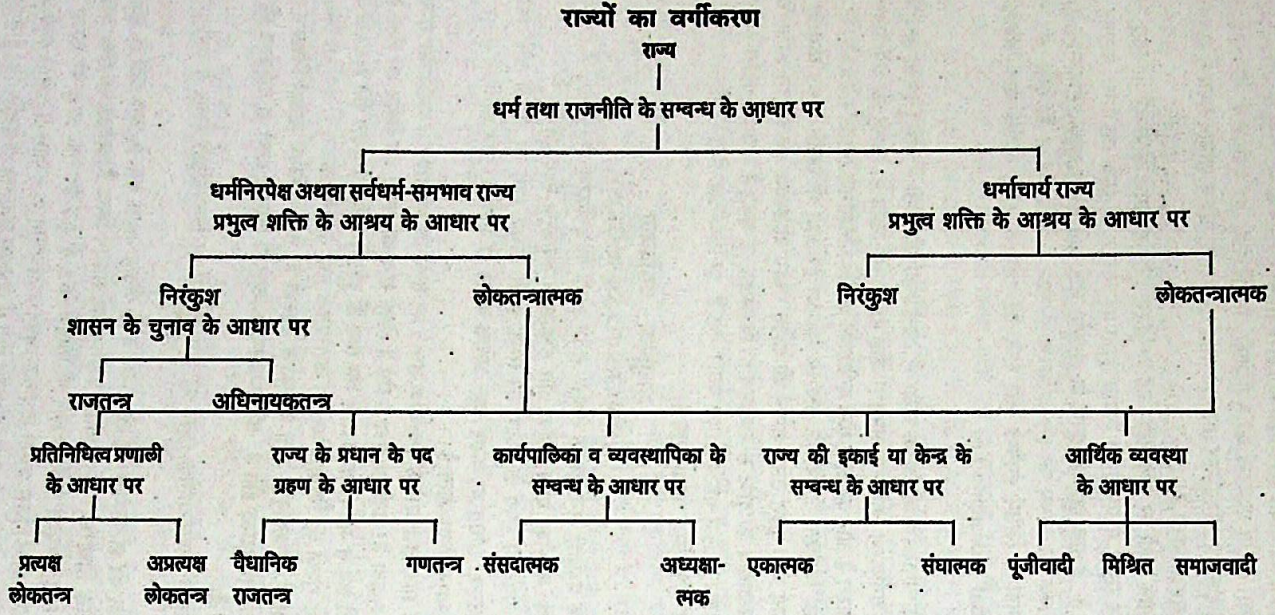
वर्तमान समय में राज्य के प्रकारों की संख्या इतनी अधिक होती जा रही है और उनके रूप इतने मिश्रित हैं कि उनका उचित वर्गीकरण बहुत अधिक कठिन हो जाता है। फिर भी निम्न प्रकार से राज्यों के वर्गीकरण का प्रयत्न किया जाता है :

सर्वप्रथम राज्य तथा धर्म के सम्बन्ध के आधार पर राज्यों का धर्माचार्य एवं धर्मनिरपेक्ष राज्यों के रूप में भेद किया जा सकता है। धर्माचार्य राज्य वे होते हैं जिनमें राज्य का अपना एक विशेष धर्म होता है; धर्मनिरपेक्ष राज्य में राज्य को धर्म से अलग रखा जाता है और राज्य की दृष्टि में सभी धर्म समान होते हैं। इसके बाद धर्माचार्य तथा धर्मनिरपेक्ष राज्यों को निरंकुश व्यवस्था के राजतन्त्र तथा अधिनायकतन्त्र में वर्गीकृत किया गया है। वे राज्य जिनमें शासक वंशक्रमानुगत होता है राजतन्त्र कहलाते हैं, तथा वे जिनमें शासक निर्वाचन अथवा सैनिक विप्लव के आधार पर पदारूढ़ होते हैं, अधिनायकतन्त्र कहलाते हैं। निरंकुश राज्यों के वर्गीकरण की समस्या यहीं समाप्त हो जाती है।

आगे चलकर लोकतन्त्रात्मक राज्यों का पांच आधारों पर निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है :

(1) जनता का प्रतिनिधित्व—वे लोकतन्त्र जिनमें जनता प्रत्यक्ष रूप से भाग लेती है प्रत्यक्ष लोकतन्त्र कहलाते हैं प्रसिद्ध विचारक रूसो ने प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का समर्थन किया है। प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र आज के युग में बड़े राज्यों के लिए उपयुक्त नहीं है। फिर भी स्विट्जरलैण्ड में कुछ हद तक आज भी प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के कतिपय रूप विद्यमान हैं। जिस शासन में जनता अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन कार्य करती है उसे अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र कहते हैं। आजकल अधिकांश देशों में अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र ही प्रचलित है। इंग्लैण्ड संवैधानिक प्रजातन्त्र का प्रमुख उदाहरण है तथा भारत में गणतन्त्रात्मक व्यवस्था है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.



CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(2) राज्य के प्रधान के पदग्रहण की पद्धति—इस आधार पर वे लोकतन्त्र जिनमें राज्य का प्रधान वंशक्रमानुगत होता है, लेकिन व्यवहार में अपनी समस्त शक्तियों का प्रयोग लोकप्रिय मन्त्रियों की सलाह से ही करता है, वैधानिक राजतन्त्र कहलाते हैं तथा वे लोकतन्त्र जिनमें राज्य का प्रधान प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा पद ग्रहण करता है, गणतन्त्र कहलाते हैं।

(3) कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का सम्बन्ध—वे लोकतन्त्र, जिनमें व्यवस्थापिका और कार्यपालिका परस्पर सम्बन्धित होती हैं तथा कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है, संसदात्मक लोकतन्त्र कहलाते हैं। वे लोकतन्त्र जिनमें कार्यपालिका और व्यवस्थापिका एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक् होती हैं, अध्यक्षात्मक लोकतन्त्र कहलाते हैं।

(4) राज्य की इकाइयों का केन्द्र के साथ सम्बन्ध—इस आधार पर वे लोकतन्त्र जिनमें राजशक्ति पूर्णतया केन्द्र में निहित होती है, एकात्मक लोकतन्त्र कहलाते हैं तथा वे लोकतन्त्र जिनमें राजशक्ति का केन्द्रीय सरकार और इकाइयों की सरकारों में विभाजन होता है, संघात्मक लोकतन्त्र कहलाते हैं।

(5) राज्यों में प्रचलित अर्थ-व्यवस्था—इस आधार पर जिन राज्यों में उत्पादन व वितरण के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व होता है, पूंजीवादी लोकतन्त्र कहलाते हैं तथा जिन राज्यों में उत्पादन के साधनों पर राज्य का स्वामित्व होता है, समाजवादी लोकतन्त्र कहलाते हैं। अमेरिका व ब्रिटेन आदि पश्चिमी देशों में पूंजीवादी व्यवस्था प्रचलित है। पूर्व सोवियत संघ तथा वर्तमान चीन समाजवादी व्यवस्था के उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त, वे लोकतन्त्र जिनमें उत्पादकता व वितरण के साधनों के स्वामित्व तथा नियन्त्रण में सामूहिक रूप से जनता की ओर से राज्य का तथा व्यक्तिगत रूप से व्यक्तियों का हाथ रहता है, मिश्रित अर्थ-व्यवस्था वाले लोकतन्त्र कहलाते हैं। भारत जैसे देशों के लोकतन्त्र इसी श्रेणी में आते हैं। वर्तमान समय में विश्व के लगभग सभी देशों ने किसी-न-किसी रूप में मिश्रित अर्थव्यवस्था ही अपनाई हुई है। वस्तुतः यही अर्थव्यवस्था का एकमात्र व्यावहारिक रूप है।

अधिनायकतन्त्र या तानाशाही

अधिनायकवाद का आशय (Meaning of Dictatorship)—अधिनायकवाद वह शासन-व्यवस्था है जिसमें एक व्यक्ति या दल विशेष का असीमित शासन होता है तथा वह जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं होता है। सर्वोच्च शासक या शासक वर्ग की शक्तियों की कोई सीमाएं नहीं होती हैं। अधिनायकवाद में सर्वोच्च शासक अपना पद चुनाव, सैनिक योग्यता अथवा एक विशेष राजनीतिक दल का सर्वोच्च नेता होने के आधार पर प्राप्त करता है।

अधिनायकवाद या तानाशाही की कुछ परिभाषाएं इस प्रकार हैं :

न्यूमैन के अनुसार, "अधिनायकवाद एक व्यक्ति अथवा ऐसे व्यक्ति समूह का शासन है जो राजसत्ता बलपूर्वक प्राप्त कर लेता है तथा उसका असीमित रूप में प्रयोग करता है।"

सॉल्टाउ के अनुसार, "अधिनायकवाद एक व्यक्ति का शासन है जो अपना पद वंश परम्परा से प्राप्त न कर शक्ति या सहमति, या दोनों के सहयोग से प्राप्त करता है। उसके पास पूर्ण सम्प्रभुता होती है जिसका प्रयोग वह कानून की अपेक्षा मनचाहे आदेश जारी करके करता है।"

अधिनायकतन्त्र भी दो रूपों (प्राचीन और नवीन) में हमारे सामने आता है। इन्हें क्रमशः सैनिक तानाशाही और दलीय तानाशाही भी कहा जा सकता है। प्राचीन अधिनायकतन्त्र (सैनिक तानाशाही) उसको कहा जा सकता है जिसमें सत्ताधारी व्यक्ति सैनिक शक्ति की योग्यता के आधार पर अधिनायक बन जाते थे। नेपोलियन बोनापार्ट का अधिनायकतन्त्र इसी प्रकार का था। आधुनिक युग में अधिनायकवाद का रूप अधिनायक के पदारूढ़ होने की दृष्टि से बदल गया है और अब अधिनायक उस दल का नेता होता है जो किसी देश विशेष का शासन प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार के अधिनायक जनता अथवा कम-से-कम दल विशेष की पसन्दगी के आधार पर पद ग्रहण करते हैं तथापि पदारूढ़ होने के बाद तानाशाही ढंग से ही शासन का संचालन करते हैं। इस आधुनिक अधिनायकतन्त्र को 'दलीय तानाशाही' कहा जा सकता है।

इस प्रकार के अधिनायकतन्त्र का उदय प्रमुख रूप से प्रथम विश्वयुद्ध के बाद हुआ। उदाहरणार्थ, 1922 में फासीदल की सहायता से मुसोलिनी इटली में, 1923 में प्रीमो दि रिवरा स्पेन में और 1932 में नाजीदल की सहायता से हिटलर जर्मनी में अधिनायक बन बैठे। भूतकाल में स्थापित अधिनायकतन्त्र के इस रूप को इसकी

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्थिक विचारधारा के आधार पर दक्षिणपन्थी कहा जा सकता है, लेकिन कार्ल मार्क्स के विचारों से प्रेरणा ग्रहण करते हुए 1917 में सोवियत संघ में और द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पूर्वी यूरोप के विभिन्न देशों और लालचीन में एक भिन्न प्रकार के अधिनायकवाद की स्थापना हुई जिसे वामपन्थी अधिनायकवाद, साम्यवादी अधिनायकवाद या सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद इनमें से किसी भी नाम से पुकारा जा सकता है।

अधिनायकवाद, विशेषतया आधुनिक अधिनायकवाद के लक्षण

न्यूमैन ने अधिनायकवादी राज्य के 5 लक्षण बताये हैं, जो इस प्रकार हैं :

1. यह एक पुलिस राज्य होता है, जो जनता की भलाई के स्थान पर शासकों के हितों के लिए केवल आवश्यक कार्य ही करता है।
2. इसमें शक्तियों का केन्द्रीकरण होता है।
3. इसमें एक सर्वाधिकारवादी राजनीतिक दल होता है।
4. इसमें सार्वजनिक जीवन पर कठोर नियन्त्रण होता है।
5. यह शक्ति पर आधारित होता है तथा नागरिकों में भय उत्पन्न करने में विश्वास करता है।

अधिनायकतन्त्र के गुण (Merits of Dictatorship)

अधिनायकतन्त्र के प्रमुख गुण निम्नलिखित कहे जा सकते हैं :

(1) शासन में एकता और कुशलता—अधिनायकतन्त्र में शासन-शक्ति एक व्यक्ति में ही निहित होती है। कानून-निर्माण, प्रशासन एवं न्यायिक निर्णय सभी कार्य इस व्यक्ति के द्वारा ही किये जाते हैं। एक ही व्यक्ति के अधिकार के अन्तर्गत सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था होने के कारण इसमें शासन संगठन में कार्यकुशलता एवं सरलता आ जाती है। अधिनायक का शासन सरल, शीघ्र एवं मितव्ययी होता है। जैक्सन द्वारा अपनी पुस्तक '*Europe Since War*' में स्पेन के अधिनायक रिवेरा की सफलताओं का जो वर्णन किया गया है, वह इस सम्बन्ध में उदाहरण रूप में है। उसने लिखा है कि "स्पेनवासियों के इतिहास में यह पहला मौका है जबकि रेलें समय पर चली हैं, नयी रेल लाइनें बनायी गयी हैं और स्पेन के परम्परागत खच्चरी मार्गों की जगह मोटरों ने ले ली है। अधिनायक के अधीन व्यापार और उद्योग समृद्ध हुए हैं, कृषि फली-फूली है और श्रम संकट दूर हो गया।" प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अव्यवस्थित वातावरण में एक अधिनायक ही आर्थिक सामाजिक जीवन का पुनरुद्धार कर सकता था।

अधिनायकतन्त्र के गुण
(1) शासन में एकता और कुशलता
(2) उत्तरदायित्व का विभाजन नहीं
(3) संकटकाल के लिए सर्वाधिक उपयुक्त
(4) मितव्ययता
(5) दलबन्दी के दोषों से मुक्त

(2) उत्तरदायित्व का विभाजन नहीं—प्रजातन्त्र में उत्तरदायित्व का विभाजन हो जाता है और यह कहावत ठीक ही है कि बहुतों का उत्तरदायित्व किसी का भी उत्तरदायित्व नहीं रहता, लेकिन अधिनायकतन्त्र में एक ही व्यक्ति समस्त राष्ट्रीय हितों का संरक्षक होता है और यह अधिनायक अपने राजनीतिक कर्तव्यों को धार्मिक उत्साह की भावना के साथ सम्पादित करता है। इससे निर्णय लेने तथा उनके क्रियान्वयन में कठिनाई नहीं आती।

(3) संकटकाल के लिए सर्वाधिक उपयुक्त—राष्ट्रीय संकट के समय शीघ्रतापूर्वक एवं अपूर्व साहसिकता से कार्य करने की आवश्यकता होती है। संकटकाल के अन्तर्गत केवल एक अधिनायक ही आन्तरिक प्रशासन एवं वैदेशिक सम्बन्ध का कार्य भली-भांति करके अपने देश की प्रतिष्ठा की रक्षा कर सकता है।

(4) मितव्ययता—अधिनायकवाद में शासन का आकार विस्तृत न होकर छोटा होता है। इससे शासन कार्य में बहुत कम व्यय होता है।

(5) दलबन्दी के दोषों से मुक्त—अधिनायकवाद में एक दलीय व्यवस्था होती है। अतः शासन राजनीतिक दलों के आपसी विवादों से मुक्त रहता है।

अधिनायकतन्त्र के दोष (Demerits of Dictatorship)

अधिनायकतन्त्र के इन गुणों की तुलना में दोषों की संख्या बहुत अधिक लम्बी है। इसके प्रमुख दोष निम्नलिखित कहे जा सकते हैं :

(1) विवेक एवं स्वतः प्रेरणा का अन्त—अधिनायकतन्त्र लोगों को खाने-पीने की और दूसरी भौतिक सुविधाएं दे सकता है, किन्तु मानव जीवन का लक्ष्य यही नहीं है। एक भौतिक प्राणी होने के साथ-साथ मानव

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक विवेकशील प्राणी है और मानव जीवन को एक ढर्रे पर चलाना और उसे पूर्णतया राज्य के अधीन कर देना विवेक और स्वतःप्रेरणा का अन्त कर देना है जो मानवीय जीवन का सबसे बहुमूल्य गुण है। अतः अधिनायकवादी शासन मानवीय गरिमा तथा मानव के नैतिक विकास की दृष्टि से घातक है।

अधिनायकतन्त्र के दोष
(1) विवेक एवं स्वतःप्रेरणा का अन्त
(2) अस्थायी शासन
(3) निरंकुश शासन
(4) युद्ध को प्रोत्साहन
(5) योग्य उत्तराधिकारी का आश्वासन नहीं

(2) अस्थायी शासन—अधिनायकवाद शक्ति पर आधारित शासन व्यवस्था है तथा इसमें सत्ता परिवर्तन के लिए चुनाव या मतपेटी जैसी कोई व्यवस्था नहीं होती। अतः सत्ता प्राप्ति के लिए निरन्तर षड्यन्त्र होते रहते हैं और सदैव ही अस्थायित्व बना रहता है। अधिनायकवादी शासन व्यवस्था में हिंसा व क्रान्ति के बीज निहित होते हैं। कभी कोई प्रभावशाली वर्ग क्रान्ति कर सत्ता प्राप्त कर लेता है। इसमें शासन सत्ता का जनाधार नगण्य होता है।

(3) निरंकुश शासन—अधिनायकवाद अपने स्वभाव से ही निरंकुश शासन होता है तथा तर्क एवं अनुभव से स्पष्ट है कि निरंकुश शासन जनता के हित में नहीं हो सकता। ऐसा शासन अनुत्तरदायी होने के साथ सभी के सर्वांगीण विकास के लिए अनुपयुक्त है।

(4) युद्ध को प्रोत्साहन—अधिनायकतन्त्र में अधिनायक का अस्तित्व उत्साहपूर्ण सफलताओं पर निर्भर करता है और जनता के मस्तिष्क को सदैव अपनी ओर आकर्षित रखने के लिए अधिनायक युद्ध, आदि कार्यों का आश्रय लेता है। वर्तमान समय में ईरान, इराक, आदि देशों की विदेशनीति के आधार पर यह बात अधिक स्पष्टतापूर्वक समझी जा सकती है। फ्रेडमेन (Friedmann) ने **'विश्व राजनीति की प्रस्तावना'** (*Introduction to World Politics*) में लिखा है कि **"अब तक का मानव इतिहास इस बात का स्पष्ट परिचायक है कि मानव जाति के बीच हुए सभी युद्ध किसी-न-किसी रूप में अधिनायकवादी राज्यों द्वारा ही आरम्भ किये गये।"**

(5) योग्य उत्तराधिकारी का आश्वासन नहीं—अधिनायकवाद के अधीन अच्छे प्रशासन को एक लम्बे समय तक जारी नहीं रखा जा सकता, क्योंकि एक योग्य अधिनायक का सुयोग्य उत्तराधिकारी प्राप्त करना अत्यन्त कठिन होता है।

इसमें सन्देह नहीं है कि अधिनायकतन्त्र के अन्तर्गत एक ही व्यक्ति के हाथ में सम्पूर्ण शक्ति होने के कारण शासन में कुशलता आ जाती है, लेकिन इस प्रकार की प्रशासनिक कुशलता केवल कुछ समय के लिए होती है और कुछ समय के बाद स्थिति बदतर हो जाती है। इसके अतिरिक्त, शासन की कुशलता ही शासन-व्यवस्था का एकमात्र मापदण्ड नहीं है। वर्तमान समय में तो सुशासन के स्थान पर स्वशासन को प्राथमिकता दी जाती है और गार्नर की इस बात पर विश्वास किया जाता है कि **"कोई भी सरकार जो लोकप्रियता पर आधारित नहीं है, जो लोगों में सार्वजनिक कार्यों के प्रति लगन उत्पन्न नहीं कर सकती तथा जो सजग, सक्रिय एवं बुद्धिमती नागरिकता उत्पन्न नहीं कर सकती, आदर्श नहीं कही जा सकती है।"** इसके अतिरिक्त, अधिनायकतन्त्र मानव स्वतन्त्रता के सिद्धान्त और वर्तमान समय के अनुकूल नहीं है। एक आधुनिक लेखक के शब्दों में, **"अधिनायक एक राक्षस होता है और उसका सर्वाधिकारवादी राज्य एक कारागृह है। साधारण जनता अदृश्य कारागृह की इस चारदीवारी में बन्द रहती है।"** अतः यह स्पष्ट है कि अधिनायकतन्त्र को प्रजातन्त्र का उपयुक्त विकल्प नहीं माना जा सकता है।

लोकतन्त्र

अरस्तू के समय से लेकर आज तक साधारणतया शासन-व्यवस्था के तीन रूप प्रचलित रहे हैं—राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और लोकतन्त्र। भूतकाल में साधारण रूप से राजतन्त्रात्मक या कुलीनतन्त्रात्मक शासन व्यवस्थाएं प्रचलित थीं, किन्तु एक लम्बे समय के ऐतिहासिक अनुभव से स्पष्ट हुआ कि राजतन्त्र या कुलीनतन्त्र जनसाधारण के हित में कार्य न करके एक वर्ग-विशेष या कुछ विशेष वर्गों के स्वार्थों का ही ध्यान रखते हैं। राजतन्त्र या कुलीनतन्त्र में इस प्रकार की प्रवृत्ति पाये जाने के निम्न दो कारण कहे जा सकते हैं :

(1) शासन-व्यवस्था के ये रूप एक वर्ग विशेष से ही सम्बन्धित होने के कारण शासक वर्ग जनसाधारण की आवश्यकताओं से परिचित नहीं होता।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(2) शासन शक्ति निरंकुश होने के कारण शासन शक्ति का भ्रष्ट रूप में प्रयोग किया जा सकता है।

इन दो तथ्यों के कारण शासन-व्यवस्था के मूल रूप में परिवर्तन करने की आवश्यकता अनुभव की गयी और इस प्रकार के परिवर्तन के रूप में लोकतन्त्र का उदय हुआ। प्रारम्भ में शासन के प्रकार के रूप में लोकतन्त्र को अपनाया गया और इसके अन्तर्गत या तो जनता प्रत्यक्ष रूप में शासन करती या जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा शासन किया जाने लगा। लोकतन्त्रीय शासन के इस द्वितीय रूप—अप्रत्यक्ष या प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र—को ही अधिकांश देशों द्वारा अपनाया गया। लेकिन प्रजातन्त्र का वर्तमान रूप एक लम्बे संघर्ष व विकास का परिणाम है। प्रजातन्त्र की स्थापना में अनेक क्रान्तियों का योगदान है। इंगलैण्ड की गौरवपूर्ण क्रान्ति, 1688 द्वारा, निरंकुश राजतन्त्र के विरुद्ध जनता के अधिकारों का महत्व दिया गया। 1789 की फ्रांस की क्रान्ति में स्वतन्त्रता, समानता व भाईचारे के आदर्श प्रस्तुत किए गए। 1776 की अमरीकी क्रान्ति द्वारा भी व्यक्ति के अधिकारों को रेखांकित किया गया। इन क्रान्तियों ने व्यक्ति की गरिमा, स्वतन्त्रता, समानता को रेखांकित किया। आज यही आदर्श प्रजातन्त्र के आधार स्तम्भ हैं।

लोकतन्त्रीय शासन या लोकतन्त्र
(DEMOCRACY OR DEMOCRATIC GOVERNMENT)

लोकतन्त्र का आंग्ल पर्यायवाची 'डेमोक्रेसी' (Democracy) ग्रीक शब्द-विधान के अनुसार 'डेमोस' (*Demos*) और 'क्रेटिया' (*Kratia*) इस प्रकार के दो शब्दों से मिलकर बना है, जिनका तात्पर्य 'जनता की शक्ति' से होता है। इस प्रकार शासन के प्रकार के रूप में लोकतन्त्र उस शासन प्रणाली को कहते हैं जिसमें जनता स्वयं प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से अपने प्रतिनिधियों द्वारा सम्पूर्ण जनता के हित को दृष्टि में रखकर शासन करती है।

विभिन्न विद्वानों द्वारा लोकतन्त्र की अलग-अलग प्रकार से परिभाषाएं की गयी हैं, जिनमें कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं :

राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन की सर्वप्रसिद्ध परिभाषा इस प्रकार है, "लोकतन्त्र शासन वह शासन है जिसमें शासन जनता का, जनता के द्वारा और जनता के लिए हो।"[1]

डायसी के शब्दों में, "लोकतन्त्र शासन का वह प्रकार है जिसमें शासक समुदाय सम्पूर्ण राष्ट्र का अपेक्षाकृत एक बड़ा भाग हो।"[2]

हेरोडोटस के शब्दों में, "लोकतन्त्र सरकार का वह स्वरूप है जिसमें राज्य की सर्वोच्च सत्ता सम्पूर्ण समाज के हाथों में हो।"

सीले के अनुसार, 'लोकतन्त्र वह शासन है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का एक भाग होता है।'[3]

इसी प्रकार ब्राइस के शब्दों में, "लोकतन्त्र शासन का वह रूप है जिसमें राज्य के शासन की शक्ति किसी विशेष वर्ग या वर्गों में निहित न होकर समस्त जनसमुदाय में निहित होती है।"[4]

लोकतन्त्र की परिभाषा करते हुए यद्यपि इन विद्वानों द्वारा भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है, लेकिन फिर भी इन परिभाषाओं के आधार पर लोकतन्त्र की सामान्य रूप से निम्न तीन विशेषताएं कही जा सकती हैं :

(1) जनता का प्रतिनिधित्व—इसके अन्तर्गत जनता की प्रतिनिधि सरकार द्वारा ही शासन किया जाता है और इस प्रकार शासन का आधार दैवीय न होकर लौकिक ही होता है।

(2) जनता के सार्वजनिक हितों का रक्षण—लोकतन्त्र में शासन का अस्तित्व जनता के सार्वजनिक हितों की रक्षा के लिए होता है अर्थात् लोकतन्त्र में सरकार सदैव एक साधन के रूप में ही होती है, साध्य रूप में नहीं। जनता के सार्वजनिक हितों में जनता के अधिकारों व स्वतन्त्रताओं का सम्मान व रक्षा भी सम्मिलित है।

---

1 "Democracy is a government of the people, by the people and for the people." —*Abraham Lincoln*
2 "Democracy is a form of government in which governing body is comparatively a large fraction of the entire nation." —*Dicey*
3 "Democracy is a form of government in which everyone has a share" —*Seeley*
4 "Democracy is a form of government in which the ruling power of the state is vested not in a particular class or classes but in the members of the community as a whole." —*Bryce*

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(3) जनता के प्रति उत्तरदायित्व—इसके अन्तर्गत सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी होती है अर्थात् यदि शासक द्वारा अपनी शक्ति का प्रयोग सर्वसाधारण के हित में नहीं किया जाता, तो सर्वसाधारण द्वारा शासन में परिवर्तन किया जा सकता है। जनता समय-समय पर होने वाले चुनावों के माध्यम से इस उत्तरदायित्व को व्यावहारिक रूप देती है।

उपर्युक्त तीन विशेषताओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शासन के प्रकार के रूप में लोकतन्त्र के अन्तर्गत सर्वसाधारण जनता सरकार की स्थापना करती है, सरकार सर्वसाधारण के हितों की ही रक्षा करती है और उसकी इच्छानुसार ही पदासीन रहती है।

लोकतन्त्रात्मक शासन के भेद (Kinds of Democratic Government)

साधारणतया लोकतान्त्रात्मक शासन के दो भेद माने जाते हैं—(1) प्रत्यक्ष लोकतन्त्र, और (2) अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र।

(1) प्रत्यक्ष लोकतन्त्र (Direct Democracy)—जब प्रभुसत्तावान् जनता प्रत्यक्ष रूप से शासन कार्यों में भाग लेती, नीति निर्धारित करती, कानून बनाती और प्रशासनाधिकारी नियुक्त कर उन पर नियन्त्रण रखती है, तो उसे प्रत्यक्ष लोकतन्त्र कहते हैं, हर्नशा के अनुसार, "शुद्ध रूप में लोकतन्त्रीय शासन वह शासन है जिसमें सम्पूर्ण जनता स्वयं प्रत्यक्ष रूप से और बिना प्रतिनिधियों के प्रभुसत्ता का प्रयोग करती है।"

प्राचीन काल में ग्रीक नगर राज्यों और भारत के वज्जि संघ में प्रत्यक्ष लोकतन्त्रीय शासन ही प्रचलित था और वर्तमान समय में स्विट्ज़रलैण्ड के कुछ कैण्टनों में यह शासन व्यवस्था प्रचलित है। प्रसिद्ध विचारक रूसो ने प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का समर्थन किया था। उसने राज्य की जनसंख्या 10,000 निर्धारित की थी। इस प्रकार की प्रत्यक्ष लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था कम जनसंख्या वाले छोटे राज्यों में ही सम्भव हो सकती है और वर्तमान समय के विशाल राष्ट्रीय राज्यों में इसे अपनाना सम्भव नहीं है।

(2) अप्रत्यक्ष या प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र (Indirect or Representative Democracy)—जब प्रभुसत्तासम्पन्न जनता स्वयं प्रत्यक्ष रूप से इस प्रकार की प्रभुसत्ता का प्रयोग न कर अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से कार्य करती है तो इसे प्रतिनिध्यात्मक या अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र कहते हैं। मिल के शब्दों में, "प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र वह होता है जिसमें सम्पूर्ण जनता अथवा उसका बहुसंख्यक भाग शासन की शक्ति का प्रयोग अपने उन प्रतिनिधियों द्वारा करती है, जिन्हें वह समय-समय पर चुनती है।" इसी प्रकार हर्नशा के शब्दों में, "यह प्रतिनिधियों के माध्यम से सर्वोच्च सत्तावान जनता का शासन होता है।" इस शासन प्रणाली में जनता संविधान द्वारा निर्धारित निश्चित अवधि के लिए अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करती है, जिससे कानून निर्माण करने वाली व्यवस्थापिका का निर्माण होता है। संसदात्मक शासन में तो इस व्यवस्थापिका में से ही कार्यपालिका का निर्माण हो जाता है, लेकिन अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था में जनता कार्यपालिका के प्रधान का भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से चुनाव करती है।

लोकतान्त्रिक शासन के मूल लक्षण या विशेषताएं (आधारभूत मान्यताएं)

लोकतन्त्र स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व पर आधारित एक ऐसी शासन-व्यवस्था है जिसमें सर्वसाधारण जनता द्वारा निश्चित समय के लिए निर्वाचित शासक वर्ग सत्ता का प्रयोग करता है। लोकतान्त्रिक शासन-व्यवस्था के कुछ सामान्य लक्षण हैं जिनके आधार पर इस बात का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है कि एक राजनीतिक व्यवस्थां कितनी सीमा तक लोकतान्त्रिक है। लोकतान्त्रिक शासन और लोकतान्त्रिक राजव्यवस्था के लक्षणों का अध्ययन निम्न प्रकार से किया जा सकता है :

(1) लोक प्रभुता में विश्वास (Belief in Popular Sovereignty)—लोक प्रभुता का आशय है कि 'सत्ता लोगों से उत्पन्न होती है और शासन सत्ता अन्तिम रूप से समस्त जनता में निवास करती है' तथा लोक प्रभुता की यह धारणा लोकतन्त्र का मूल विश्वास है। लोक प्रभुता की स्थिति को निम्न प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है :

(i) लोकप्रिय और नियतकालिक चुनाव—लोकतान्त्रिक व्यवस्था का यह आवश्यक लक्षण है कि शासक वर्ग समस्त वयस्क जनता द्वारा और एक निश्चित समय के लिए ही निर्वाचित होना चाहिए और इन चुनावों में संविधान और कानून द्वारा निर्धारित योग्यता रखने वाले सभी व्यक्तियों को जनप्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होने का अधिकार होना चाहिए। चुनाव जनता का विश्वास प्राप्त करने के साधन हैं, अतः शासक वर्ग द्वारा चुनावों को टालने का कोई भी प्रयत्न नहीं किया जाना चाहिए।

(ii) लोकप्रिय नियन्त्रण—न केवल शासक वर्ग जनता द्वारा निर्वाचित हो, वरन् जनता को शासक वर्ग पर प्रत्यक्ष या परोक्ष नियन्त्रण की स्थिति भी प्राप्त होनी चाहिए। जनता द्वारा शासक वर्ग पर यह नियन्त्रण जन-प्रतिनिधियों के माध्यम से ही रखा जा सकता है।

(iii) लोकप्रिय प्रभाव और उत्तरदायित्व—ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि जनता का शासक वर्ग पर निरन्तर प्रभाव बना रहे। इसके लिए आवश्यक है कि जनता को शासन की आलोचना करने के अधिकार सहित सभी नागरिक और राजनीतिक स्वतन्त्रताएं प्राप्त हों, संचार साधनों (प्रेस, रेडियो और टेलीविजन) को स्वतन्त्रता की स्थिति प्राप्त हो और जनता तथा शासक वर्ग में निरन्तर सम्पर्क की स्थिति विद्यमान हो। शासन जनता और जनप्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी भी होना चाहिए।

(2) राजनीतिक और नागरिक समानता—समानता लोकतन्त्र का मूल आधार है, अतः सभी नागरिकों को समान राजनीतिक शक्ति प्राप्त होनी चाहिए। वयस्क मताधिकार इस स्थिति को प्राप्त करने का साधन है। इसके अतिरिक्त सभी व्यक्तियों को कानून के समक्ष समानता की स्थिति प्राप्त होनी चाहिए।

वर्तमान समय में राजनीतिक और नागरिक समानता से आगे बढ़कर सामाजिक और आर्थिक समानता को लोकतन्त्र का लक्ष्य समझा जाने लगा है। समाज में धर्म, जाति, वर्ण, लिंग और सामाजिक स्थिति के आधार पर भेदभाव का प्रचलन नहीं होना चाहिए और पूर्ण आर्थिक समानता चाहे व्यावहारिक न हो; लेकिन इस सीमा तक आर्थिक समानता अवश्य होनी चाहिए कि एक व्यक्ति धन-सम्पदा के बल पर दूसरे का शोषण न कर सके और सभी व्यक्तियों को व्यक्तित्व के विकास के लिए लगभग समान अवसर प्राप्त हों।

(3) राजनीतिक और नागरिक स्वतन्त्रताएं—स्वतन्त्रता लोकतन्त्र की आत्मा है और लोकतन्त्र तभी सम्भव है जबकि सभी व्यक्तियों को राजनीतिक और नागरिक स्वतन्त्रताएं प्राप्त हों। राजनीतिक स्वतन्त्रता में ये बातें सम्मिलित हैं—मत देने का अधिकार, प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित होने का अधिकार, सार्वजनिक पद ग्रहण करने का अधिकार और शासन की आलोचना करने का अधिकार। नागरिक स्वतन्त्रता में ये बातें सम्मिलित हैं : विचार और भाषण की स्वतन्त्रता, प्रेस की स्वतन्त्रता, सम्मेलन की स्वतन्त्रता, राजनीतिक दल और अन्य संगठन स्थापित करने की स्वतन्त्रता, निवास स्थान, आवागमन, व्यापार-व्यवसाय और सीमित मात्रा में सम्पत्ति की स्वतन्त्रता, आदि। लोकतन्त्र प्रतियोगी राजनीति में विश्वास करता है, अतः लोकतान्त्रिक व्यवस्था वाले देश में एक से अधिक राजनीतिक दलों का अस्तित्व नितान्त आवश्यक है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति को अपने धार्मिक विश्वास के आधार पर आचरण की स्वतन्त्रता और सांस्कृतिक स्वतन्त्रता भी प्राप्त होनी चाहिए। जनता को शासन का संयमित विरोध करने की स्वतन्त्रता भी प्राप्त होनी चाहिए। ये राजनीतिक और नागरिक स्वतन्त्रताएं न केवल बहुमत वर्ग को, वरन् शासन की नीति से असहमत अल्पमत वर्ग को भी प्राप्त होनी चाहिए।

(4) व्यक्ति के व्यक्तित्व का सम्मान और गौरव—लोकतन्त्र मानवीय व्यक्तित्व के सम्मान और गौरव में विश्वास करता है और स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व इस स्थिति को प्राप्त करने के साधन ही हैं। व्यक्ति का आत्मविश्वास और आत्मगौरव, व्यक्ति की सजीवता, सक्रियता और उसमें पहल की प्रवृत्ति लोकतान्त्रिक व्यवस्था की मूल मान्यताएं हैं और व्यक्ति का सर्वांगीण विकास लोकतन्त्र का सर्वोच्च लक्ष्य।

(5) मानवीय विवेक में विश्वास—लोकतन्त्र 'बर्गसन के अबुद्धिवाद' में विश्वास नहीं करता, जिसके अनुसार व्यक्ति को मात्र 'भावनाओं का पुतला' बताया गया है। लोकतन्त्र की मान्यता है कि मानवीय जीवन में विवेक की प्रधानता होती है, राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में उचित निर्णय तक पहुंचाने का मार्ग विचारों का आदान-प्रदान ही हो सकता है और तीव्र मतभेद तथा विवाद की स्थिति में भी संघर्ष के बजाय विचारों के आदान-प्रदान से ही समस्या का समाधान ढूँढ़ने की चेष्टा की जानी चाहिए। कौरी तथा हाजट्स के शब्दों में, "लोकतान्त्रिक राजनीतिक प्रक्रिया वाद-विवाद, मेल-मिलाप और समझौते की प्रक्रिया है।"

(6) बहुमत शासन—लोकतन्त्र मतपेटी में विश्वास करता है और मतपेटी की प्रक्रिया के अनुसार जिसे बहुमत प्राप्त हो, उसे शासन करने का अधिकार होता है। लोकतन्त्र बहुमत शासन को यह सोचकर स्वीकार नहीं करता है कि बहुमत आवश्यक रूप से और सदैव सही होता है; वरन् यह सोचकर स्वीकार करता है कि 'जनता के शासन का एकमात्र व्यावहारिक मार्ग बहुमत शासन ही है।' 'बहुमत शासन' में यह बात निहित है कि बहुमत वर्ग को अल्पमतों के प्रति न्यायपूर्ण होना चाहिए और अल्पमत वर्ग में सहनशीलता होनी

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिए। अल्पमत वर्ग द्वारा सभी संवैधानिक तरीकों से अपने आपको बहुमत में परिणत करने का प्रयत्न किया जा सकता है, लेकिन उसे गैर-संवैधानिक तौर-तरीके अपनाने का अधिकार नहीं हो सकता।

(7) शक्ति विभाजन और न्यायपालिका की स्वतन्त्रता—मॉण्टेस्क्यू ने सरकार के तीन अंगों; व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच शक्तियों के विभाजन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। मॉण्टेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त की अपनी कुछ कमियां हो सकती हैं, लेकिन लोकतान्त्रिक व्यवस्था वाले देश में किसी-न-किसी रूप में शक्ति विभाजन को अवश्य ही अपनाना होगा। शक्ति विभाजन सिद्धान्त में यह भाव निहित है कि विभिन्न कार्यों का सम्पादन करने हेतु अलग-अलग राजनीतिक संस्थाएं होनी चाहिए और इन राजनीतिक संस्थाओं की मान-मर्यादा को बनाये रखा जाना चाहिए इसके साथ ही न्यायपालिका को व्यवस्थापिका और कार्यपालिका सहित अन्य सभी दबावों से भी स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका नागरिकों की स्वतन्त्रताओं की रक्षा के लिए आवश्यक है। यहां तक कि मॉन्टेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा करना है।

(8) संविधानवाद (Constitutionalism)—संविधानवाद का आशय है—'सीमित शक्तियों वाला शासन' और लोकतन्त्र की यह मूल मान्यता है कि शासन को सीमित शक्तियां ही प्राप्त होनी चाहिए, असीमित शक्तियां नहीं। इस प्रकार लोकतन्त्र संविधानवाद में विश्वास करता है और यह एक संविधानवादी शासन है। इसमें संविधान की विभिन्न व्यवस्थाओं द्वारा शासन की शक्तियों को सीमित व जनता के अधिकारों को सुरक्षित किया जाता है। हैरिंगटन के अनुसार, 'लोकतन्त्र की मान्यता है—विधियों का शासन, विधि की सर्वोच्चता—व्यक्तियों का शासन नहीं।' और इसके अन्तर्गत संविधानवाद के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए लिखित संविधान, संविधान में नागरिकों के लिए अधिकार-पत्र की व्यवस्था और शक्ति-विकेन्द्रीकरण, आदि साधनों को अपनाया जा सकता है।

इन सबके अतिरिक्त लोकतान्त्रिक व्यवस्था प्रशासकों के व्यवस्थित परिवर्तन में विश्वास करती है और लोकतन्त्र की मान्यता है कि राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में जो भी परिवर्तन किये जाने हों, उन सभी परिवर्तनों को शान्तिपूर्ण तरीके से सम्भव बनाया जाना चाहिए।

लोकतन्त्र का आधुनिक सिद्धान्त

मोटे तौर पर लोकतन्त्र के दो सिद्धान्त हैं : प्रथम उदारवादी या आदर्शवादी सिद्धान्त जिसमें लोकतन्त्र को जनता का ऐसा शासन मानते हैं, जो जनता की सहमति पर आधारित है तथा वहां व्यक्तियों के अधिकार व स्वतन्त्रताएं सुरक्षित हैं। इसमें प्रजातन्त्र को एक शासन व्यवस्था का रूप न मानकर एक जीवन शैली माना गया है। ऊपर प्रजातन्त्र की जिन मूल विशेषताओं का वर्णन किया गया है। वह आदर्शवादी या उदारवादी प्रजातन्त्र की विशेषताएं हैं।

आधुनिक युग में कतिपय राजनीतिक विचारकों ने व्यावहारिक या आनुभविक (Empirical) दृष्टि से प्रजातन्त्र की व्याख्या की है तथा उनका मानना है कि व्यवहार में प्रजातन्त्र जनता का शासन नहीं होता। इन विचारों का प्रतिपादन दो सिद्धान्तों द्वारा किया गया है। प्रथम प्रजातन्त्र का अभिजन सिद्धान्त (Elite theory) जो मास्का, परेटो, मिचेल, शुम्पीटर आदि के विचारों पर आधारित है। अभिजन सिद्धान्त के अनुसार व्यावहारिक दृष्टि से प्रजातन्त्र में शासन मुट्ठीभर लोगों के हाथ में होता है जिन्हें अभिजन कहते हैं। प्रजातान्त्रिक पद्धति केवल अभिजनों को समय-समय पर बदलने की पद्धति है अर्थात् प्रजातन्त्र एक जीवन शैली न होकर शासकों (अभिजनों) को चुनने की पद्धति है। दूसरा प्रजातन्त्र का बहुलवादी सिद्धान्त है जिसका समर्थन आर. एच. दहल, कार्ल मैनहीम, रेमण्ड एरों आदि विचारकों ने किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार लोकतन्त्र विभिन्न प्रतियोगी समूहों में चुनाव करने की एक विधि है। व्यक्ति के स्थान पर विभिन्न संगठित समूह की राजनीतिक प्रक्रिया की महत्वपूर्ण इकाई। व्यक्ति समूहों के माध्यम से ही राजनीति में भाग लेते हैं। अतः इन सिद्धान्तों के अनुसार लोकतन्त्र शासकों के चयन की एक विधि मात्र है।

लोकतन्त्र के गुण
(MERITS OF DEMOCRACY)

राजतन्त्रात्मक और कुलीनतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्थाओं में शासन शक्ति का प्रयोग एक वर्ग विशेष के कल्याण के लिए ही किया जाता था और प्रमुख रूप से इस प्रकार के दोष को दूर करने के लिए ही

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रजातन्त्रात्मक पद्धति की स्थापना की गयी। इस शासन-व्यवस्था के प्रमुख रूप से निम्नलिखित गुण कहे जा सकते हैं :

लोकतन्त्र के गुण
(1) सार्वजनिक शिक्षण
(2) जन-कल्याण की साधना
(3) सर्वाधिक कार्यकुशल शासन
(4) जनता का नैतिक उत्थान
(5) देशभक्ति का स्रोत
(6) क्रान्ति से सुरक्षा
(7) समानता का पोषक
(8) स्वतन्त्रता की रक्षा
(9) सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व
(10) सभी की प्रतिभा के विकास का अवसर
(11) सामाजिक गुणों का विकास
(12) विश्वशान्ति का समर्थन
(13) वैज्ञानिक विकास के लिए उपयुक्त

(1) सार्वजनिक शिक्षण—लोकतन्त्र शासन का ही एक प्रकार नहीं है अपितु वह राज्य, समाज और आर्थिक व्यवस्था का एक प्रकार भी है। अतः स्वभावतः इसके प्रयोग द्वारा जनता को प्रशासनिक, राजनीतिक तथा सामाजिक सभी प्रकार का शिक्षण प्राप्त होता है। राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र के अन्तर्गत जनता सार्वजनिक कर्तव्यों के प्रति उदासीन रह सकती है, लेकिन लोकतन्त्र में मताधिकार और जन-नियन्त्रण के कारण जनता स्वाभाविक रूप से सार्वजनिक क्षेत्र में रुचि लेने लगती है। लोकतन्त्र के इसी गुण को दृष्टि में रखते हुए बर्न्स ने लिखा है कि "सभी शासन शिक्षा के साधन होते हैं, किन्तु अच्छी शिक्षा स्वशिक्षा है, इसीलिए सबसे अच्छा शासन स्वशासन है जिसे लोकतन्त्र कहते हैं।"

(2) जन-कल्याण की साधना—लोकतन्त्र में जनता के उन प्रतिनिधियों द्वारा शासन किया जाता है जिनका चुनाव जनता एक निश्चित समय के लिए करती है। जनता के प्रतिनिधि जनता की इच्छाओं, भावनाओं और आवश्यकताओं से पूर्णतया परिचित होते हैं और उनको शासन में अधिकार इसी आधार पर प्राप्त होते हैं कि वे उनका प्रयोग जनता के हितों और इच्छाओं के अनुसार करेंगे। शासकों के जनता के प्रति उत्तरदायी होने के कारण उन्हें जनता के हितों के प्रति सजग रहना पड़ता है। इस प्रकार लोकतन्त्र का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें शासन स्वाभाविक रूप से और आवश्यक रूप से लोक-कल्याण के लिए होता है। लोकतन्त्र में वही शासक दुबारा सत्ता प्राप्त कर सकता है जो जनता के कल्याण के लिए चिन्तित हो।

(3) सर्वाधिक कार्यकुशल शासन—प्रजातन्त्र किसी भी दूसरी शासन-व्यवस्था की अपेक्षा अधिक कार्यकुशल होता है और इसके अन्तर्गत सबसे अधिक शीघ्रतापूर्वक तथा आवश्यक रूप से जनता के हित में कार्य किये जाते हैं। गार्नर के शब्दों में, "लोकप्रिय निर्वाचन, लोकप्रिय नियन्त्रण और लोकप्रिय उत्तरदायित्व की व्यवस्था के कारण दूसरी किसी भी शासन-व्यवस्था की अपेक्षा यह शासन अधिक कार्यकुशल होता है।"

(4) जनता का नैतिक उत्थान—प्रजातन्त्र का सबसे बड़ा गुण यह है कि यह व्यक्ति के व्यक्तित्व और उसके नैतिक चरित्र को उच्च करता है। जनता को राजनीतिक शक्ति प्रदान कर लोकतन्त्र उनमें आत्मसम्मान और आत्मनिर्भरता की भावना उत्पन्न करता है। जैसा कि ब्राइस ने कहा है कि "राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व की शान बढ़ जाती है और वह स्वभावतः कर्तव्य भावना के उच्चतर स्तर तक उठ जाता है।" जॉन स्टुअर्ट मिल ने कहा है कि "यह किसी भी अन्य-शासन की अपेक्षा उच्च और श्रेष्ठ राष्ट्रीय चरित्र का विकास करता है।"[1]

(5) देशभक्ति का स्रोत—लोकतन्त्र में जनता को राजनीतिक शक्ति प्राप्त होने के कारण जनता शासन और राज्य के प्रति एक प्रकार का लगाव अनुभव करती है और निजी लगाव के इस विचार से देशभक्ति की भावना का उदय होता है। मिल ऐसा ही भाव व्यक्त करते हुए कहता है कि "लोकतन्त्र लोगों की देशभक्ति को बढ़ाता है क्योंकि नागरिक यह अनुभव करते हैं कि सरकार उन्हीं की उत्पन्न की हुई वस्तु है और अधिकारी उनके स्वामी न होकर सेवक हैं।" इसी प्रकार लेबेलिये ने कहा है कि फ्रांसीसी जनता क्रान्ति के बाद से ही फ्रांस से प्रेम करने लगी थी, जबकि उन्हें देश की शासन-व्यवस्था में भाग मिला।

(6) क्रान्ति से सुरक्षा—जब शासक वर्ग द्वारा लम्बे समय तक शासितों पर अत्याचार किये जाते हैं और इस प्रकार के अत्याचारों से मुक्ति पाने का कोई संवैधानिक मार्ग शेष नहीं रह जाता तभी जनता द्वारा क्रान्ति की जाती है। लोकतन्त्र में क्रान्ति की सम्भावना बहुत कम हो जाती है, क्योंकि शासक वर्ग लोकमत के

1 "It promotes a better and higher form of national character than any other polity whatever."
—J. S. Mill

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुसार ही शासन का संचालन करता है और यदि शासक अनुचित कार्य करे तो जनता उन्हें एक निश्चित समय के बाद और विशेष परिस्थितियों में पहले भी अपदस्थ कर सकती है। अतः लोकतन्त्र में क्रान्ति की आवश्यकता ही नहीं होती। हां यह अवश्य है कि यदि देश में प्रजातन्त्र की जड़ें कमजोर हों तो सैनिक शासक या तानाशाह लोकतान्त्रिक रूप से चुनी हुई सरकार को अपदस्थ कर सत्ता प्राप्त कर लें तथा लोकतन्त्र को कमजोर कर दें। जैसा कि गिलक्राइस्ट ने कहा है, "लोकप्रिय शासन सार्वजनिक सहमति का शासन है, अतः स्वभाव से ही यह क्रान्तिकारी नहीं हो सकता।"[1]

(7) समानता का पोषक—प्रजातन्त्र मानव मात्र की समानता पर आधारित होता है और इसके अन्तर्गत सभी व्यक्तियों को समान राजनीतिक अवसर प्राप्त होते हैं। सभी को समान रूप से शासन में भाग दिया जाता है तथा सभी को उससे लाभ भी समान रूप से प्राप्त होते हैं। समानता पर आधारित होने के कारण यह निश्चित रूप से सबसे अधिक श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था है।

(8) स्वतन्त्रता की रक्षा—लोकतन्त्र में स्वतन्त्रता को प्रत्येक मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार माना जाता है और इस शासन में जनता को जितनी स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, उतनी स्वतन्त्रता सरकार के अन्य किसी भी रूप में नहीं मिलती। लोकतन्त्र इस बात में विश्वास करता है कि लोगों को विचार, भाषा, लेखन, सम्मेलन, संगठन और आवागमन की अधिकतम स्वतन्त्रताएं प्राप्त होनी चाहिए और ये स्वतन्त्रताएं उनके सर्वांगीण विकास में सहायक होती हैं।

(9) सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व—लोकतन्त्र में बहुसंख्यक तथा अल्पसंख्यक सभी वर्गों को प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है, क्योंकि शासन जनता के प्रतिनिधियों का शासन होता है। इस सम्बन्ध में लावेल लिखते हैं कि "पूर्ण लोकतन्त्र में कोई भी यह शिकायत नहीं कर सकता कि उसे अपनी बात कहने का अवसर नहीं मिला।"

(10) सभी की प्रतिभा के विकास का अवसर—प्रजातन्त्रात्मक सरकार का एक बहुत बड़ा गुण यह है कि इसमें सभी को अपनी प्रतिभा के विकास का पूरा अवसर प्राप्त होता है। प्रजातन्त्र में सभी व्यक्तियों को मतदान के आधार पर प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित होने और सार्वजनिक पद ग्रहण करने का अधिकार होता है। इससे सभी व्यक्ति अपनी योग्यताओं का परिचय दे सकते हैं और अपनी प्रतिभा का विकास कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में बिल्सन ने कहा है कि "मैं प्रजातन्त्र में इसलिए विश्वास करता हूं कि यह प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति को उन्मुक्त कर देता है।"[2]

(11) सामाजिक गुणों का विकास—एक देश की शासन-व्यवस्था नागरिकों के व्यवहार पर बहुत अधिक प्रभाव डालती है। शक्ति पर आधारित तानाशाही व्यवस्था लोगों में संघर्ष की भावना पैदा करती है तो जन-इच्छा पर आधारित प्रजातन्त्र नागरिकों में सहिष्णुता, उदारता, सहानुभूति, स्नेह, सहयोग, विचार-विनिमय और समझौते की भावना उत्पन्न करता है। नागरिक पारस्परिक व्यवहार में प्रजातन्त्र से उत्पन्न अपनी इन प्रवृत्तियों के आधार पर श्रेष्ठ सामाजिक जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

(12) विश्वशान्ति का समर्थन—विश्वशान्ति वर्तमान समय की सबसे बड़ी आवश्यकता है और इसे विश्व-बन्धुत्व पर आधारित प्रजातन्त्र के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। राजतन्त्र, सैनिकतन्त्र और फासिस्ट या साम्यवादी तानाशाही सरकारें अपनी व्यवस्था में निहित आधारभूत दोषों और कमजोरियों के कारण युद्ध के मार्ग को अपनाती हैं, किन्तु लोकतन्त्रीय सरकारें शान्ति और सह-अस्तित्व में विश्वास करती हैं। प्रजातन्त्र चूंकि जनसहमति पर आधारित शासन होता है अतः यह अधिनायकवादी प्रवृत्तियों का विरोधी है। अधिनायकवाद साम्राज्यवाद को जन्म देता है, जो विश्व शान्ति के लिए घातक है, प्रजातन्त्र इस खतरे की सम्भावना कम कर देता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के अनेक कारणों में एक प्रमुख कारण इटली व जर्मनी में तानाशाही व साम्राज्यवादी शासनों की स्थापना थी। बर्न्स के शब्दों में, "लोकतन्त्रीय आन्दोलन शान्ति का आन्दोलन रहा है।"

(13) वैज्ञानिक विकास के लिए उपयुक्त—राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र में स्वतन्त्रता के वातावरण का लगभग अभाव ही होता है और स्वतन्त्रता के अभाव में विज्ञान का विकास सम्भव नहीं हो पाता, लेकिन प्रजातन्त्र में विज्ञान का बहुत अधिक श्रेष्ठ रूप में विकास सम्भव है। इसका कारण यह है कि प्रजातन्त्र और विज्ञान

1 "Popular government is a government by common consent from its very nature; therefore, it is not likely to be revolutionary." —*Gilchrist*

2 "I believe in democracy because it releases the energy of every human being." —*Wilson*

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोनों के नैतिक मूल्य एक जैसे होते हैं और सत्य के सम्बन्ध में इनका दृष्टिकोण भी एक-सा ही है। दोनों का विचार है कि अभिव्यक्ति और प्रयोग सत्य तक पहुंचने के सर्वश्रेष्ठ साधन हैं। अतः जैसा कि मेयो (Mayo) ने कहा है, "एक स्वतन्त्र समाज में वैज्ञानिक विकास की बहुत अधिक सम्भावनाएं हैं।"

लोकतन्त्र के दोष
(DEMERITS OF DEMOCRACY)

यदि एक ओर लोकतन्त्र के गुणों की विशद् विवेचना की गयी है तो दूसरी ओर अत्यन्त कटु शब्दों में इसकी भर्त्सना भी की जाती है। टेलीरिण्ड (Tellyrand) इसे 'दुष्टों का कुलीनतन्त्र' (An Aristocracy of Blackguards) कहते हैं और लुडोविसी (Ludovici) कहते हैं कि "प्रजातन्त्र मृत्यु की ओर ले जाता है।" प्रजातन्त्र की आलोचना में प्रमुख रूप से निम्नलिखित तर्कों का प्रयोग किया जाता है :

(1) गुण की अपेक्षा संख्या को महत्व—लोकतन्त्रीय शासन इस सिद्धान्त पर आधारित होता है कि प्रत्येक व्यक्ति को केवल एक ही मत दिया जाना चाहिए और किसी भी व्यक्ति को एक से अधिक मत प्राप्त नहीं होना चाहिए, लेकिन योग्यता की दृष्टि से सभी व्यक्ति समान नहीं होते हैं। इस प्रकार लोकतन्त्र में गुण की अपेक्षा संख्या पर अधिक बल दिया जाता है। इसके अतिरिक्त जैसा कि कार्लायल ने कहा है, "विश्व में एक योग्य व्यक्ति के साथ लगभग 9 मूर्ख व्यक्ति होते हैं, अतः सभी को समान राजनीतिक शक्ति देने का परिणाम मूर्खों की सरकार की स्थापना होता है।"

(2) दल प्रणाली का अहितकर प्रभाव—वर्तमान समय के प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र के संचालन के लिए राजनीतिक दल एक अनिवार्य आवश्यकता होती है किन्तु ये राजनीतिक दल अपने व्यवहार से लोकतन्त्र को भ्रष्ट कर देते हैं। राजनीतिक दलों का निर्माण तो साधारणतया राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक कार्यक्रम के आधार पर किया जाता है, किन्तु व्यवहार में ये राजनीतिक दल 'येनकेन प्रकारेण' शासन शक्ति प्राप्त करना ही अपना लक्ष्य निश्चित कर लेते हैं। ये राजनीतिक दल धूर्त नेताओं की स्वार्थसिद्धि के अखाड़े बन जाते हैं। चुनाव के समय तो इन राजनीतिक दलों के विषैले प्रचार के कारण सम्पूर्ण वातावरण ही विषाक्त हो जाता है। ये राजनीतिक दल जनता के प्रतिनिधियों के विचार स्वातन्त्र्य का भी अन्त कर देते हैं।

(3) सार्वजनिक धन और समय का अपव्यय—लोकतन्त्र में धन और समय का अत्यधिक अपव्यय होता है। जिन कानूनों का निर्माण कुछ दिनों में किया जा सकता है, लोकतन्त्रीय विधानसभाओं की लम्बी और जटिल प्रक्रिया के कारण उन कानूनों के निर्माण में वर्षों लग जाते हैं और अनेक बार तो कानून पारित होने तक कालातीत (Out of Date) हो जाते हैं। ब्राइस ने लोकतन्त्र की तुलना एक ऐसी समिति से की है जिसके द्वारा 7 दिनों में उतना ही कार्य किया जाता है जितना एक व्यक्ति एक दिन में कर सकता है। इसके अतिरिक्त, चुनाव के समय बहुत बड़ी संख्या में सरकारी अधिकारियों को नियुक्त करने, मतदाता सूचियां तैयार करवाने और उन्हें प्रकाशित करवाने में बहुत अधिक धन तथा समय का व्यय होता है।

लोकतन्त्र के दोष

(1) गुण की अपेक्षा संख्या को महत्व
(2) दल प्रणाली का अहितकर प्रभाव
(3) सार्वजनिक धन और समय का अपव्यय
(4) अयोग्यता की पूजा
(5) भ्रष्ट शासन-व्यवस्था
(6) धनवानों का शासन
(7) अनुत्तरदायी शासन
(8) सर्वतोन्मुखी उन्नति की असम्भावना
(9) राजनीतिक शिक्षा का दम्भ
(10) उत्तेजना की प्रबलता
(11) मतदाताओं की उदासीनता
(12) पेशेवर राजनीतिज्ञों का विकास
(13) युद्ध और संकट के समय निर्बल
(14) सच्चा लोकतन्त्र सम्भव नहीं

(4) अयोग्यता की पूजा—आलोचकों के अनुसार, जिस प्रकार चिकित्सा, भवन निर्माण तथा शिक्षण का कार्य एक कला है, उसी प्रकार शासन का कार्य भी बहुत अधिक महत्वपूर्ण कला है और इस कार्य को विशेषज्ञों के द्वारा ही किया जाना चाहिए, लेकिन लोकतन्त्र में ऐसे व्यक्तियों के हाथों में शासन शक्ति आ जाती है जो शासन की कला से नितान्त अनभिज्ञ होते हैं। न्यायाधीश जेम्स स्टीफेन के अनुसार, "एक महान् देश का अच्छे प्रकार से शासन करने के लिए विशेष ज्ञान और उच्चतम योग्यताओं के निरन्तर एवं स्वतन्त्र प्रयोग की आवश्यकता होती है, लेकिन लोकतन्त्र अज्ञानी, अप्रशिक्षित और अयोग्य व्यक्तियों की सरकार होती है।" इसी प्रकार लैकी ने इसे निर्धनतम, अनभिज्ञतम और अयोग्यतम व्यक्तियों की सरकार कहा है।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(5) भ्रष्ट शासन-व्यवस्था—व्यवहार में लोकतन्त्रीय शासन बहुत अधिक भ्रष्ट भी होता है। व्यवहार में शासन एक राजनीतिक दल विशेष की इच्छानुसार ही किया जाता है और ऐसा देखा जाता है कि निर्वाचन में लोग सत्तारूढ़ दल के सहायक होते हैं, उन्हें शासन की ओर से अनेक प्रकार के लाभ पहुंचाये जाते हैं। जनता के प्रतिनिधि भी लोकप्रियता प्राप्त करने हेतु अनेक अनुचित कार्य करते हैं। कई देशों में चुनावों में हार-जीत का फैसला धनबल व बाहुबल के द्वारा होता है। धन की प्राप्ति के लिए राजनीतिक दल पूंजीवादियों व उद्योगपतियों से साठगांठ करते हैं तथा भ्रष्टाचार की राजनीति का आधार तैयार करते हैं। ब्राइस ने 'राजनीति में धन का बल' (The Money Power in Politics) शीर्षक वाले अध्याय में कहा है कि "ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि निर्वाचकों, विधायकों, प्रशासकीय अधिकारियों और न्यायाधिकारियों तक ने धन के लोभ के सामने सिर झुका दिया।"

(6) धनवानों का शासन—लोकतन्त्र को समानता पर आधारित शासन कहा जाता है, किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं है। लोकतन्त्र में चुनाव के द्वारा ही राजनीतिक शक्ति प्राप्त होती है और वर्तमान समय में चुनाव कार्य इतना अधिक व्ययसाध्य हो गया है कि एक योग्य, किन्तु निर्धन व्यक्ति चुनाव में विजय प्राप्त करने की कल्पना ही नहीं कर सकता है। इसके अतिरिक्त, जब अधिकतर धनी व्यक्ति ही विधानसभाओं के लिए निर्वाचित होते हैं तो वे अपने वर्ग विशेष के हित साधन के लिए कानून का निर्माण करते हैं। प्रेस जैसे लोकमत निर्माण के साधनों पर भी धनी व्यक्तियों का ही अधिकार होता है। इस प्रकार व्यवहार में लोकतन्त्र धनवानों का ही शासन होता है।

(7) अनुत्तरदायी शासन—उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की धारणा प्रजातन्त्र की विशेषता मानी जाती है, परन्तु वास्तव में यह धारणा कोरी कल्पना है। सबके प्रति उत्तरदायी होने का अर्थ है—किसी के प्रति उत्तरदायी न होना, और प्रजातन्त्र में शासक अपने उत्तरदायित्व को एक-दूसरे पर टाल देते हैं। हर्नशा के शब्दों में, "लोकतन्त्र की प्रवृत्ति सार्वजनिक मामलों में एक ऐसे अविचार, एक ऐसे असंयम और पागलपन के प्रदर्शन की ओर होती है, जिन्हें उसका कोई सदस्य व्यक्तिगत मामलों में प्रदर्शित करने का स्वप्न नहीं देख सकता है।"

(8) सर्वतोन्मुखी उन्नति की संभावना नगण्य—राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र में सामान्यतया शासक वर्ग साहित्य, कला और संगीत का प्रेमी होता है और शासक वर्ग का आश्रय पाकर साहित्यकार, कलाकार और विद्वान निश्चितता पूर्वक अपने कार्यों में लगे रह सकते हैं, लेकिन लोकतन्त्र में समस्त ध्यान राजनीति पर ही केन्द्रित हो जाने के कारण साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में उदासीनता व्याप्त हो जाती है। विद्वानों को अपने क्षेत्रों में समुचित आदर न मिलने से उन्हें अपने कार्य में प्रोत्साहन नहीं मिलता और मानव जीवन का सर्वतोन्मुखी विकास नहीं हो पाता है। सर हेनरी मेन के शब्दों में, "लोकतन्त्र साहित्य, कला और विज्ञान तथा जीवन के विभिन्न पक्षों की उन्नति के लिए सर्वाधिक अनुपयुक्त है।" ली बान और बर्क के द्वारा भी ऐसा ही विचार व्यक्त किया गया है।

(9) राजनीतिक शिक्षा का दम्भ—यह कहना बिल्कुल गलत है कि लोकतन्त्र शासन में जनता को राजनीतिक शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिलता है। निर्वाचन के समय मतदाताओं के सम्मुख समस्याओं को अत्यन्त विकृत रूप में पेश किया जाता है, जिनसे जनता को भ्रमात्मक शिक्षा ही प्राप्त होती है। नितान्त भ्रमपूर्ण राजनीतिक शिक्षा प्राप्त होने से तो यही अच्छा है कि राजनीतिक शिक्षा प्राप्त ही न हो।

(10) उत्तेजना की प्रबलता—लोकतन्त्रात्मक सरकार का एक बहुत बड़ा दोष यह है कि इसमें प्रायः लोग तर्क और विवेक को ताक में रख देते हैं जिसके परिणाम बहुत अधिक भयानक होते हैं। इसीलिए ली बान ने कहा है "लोकप्रिय सरकार उत्तेजना के हिंडोले में झूलती रहती है और प्रायः भीड़ की सरकार बन जाती है।"[1] राजनीतिक दल जनता को जातिगत, धार्मिक या क्षेत्रीय भावनाओं को भड़काकर वोट बैंक की राजनीति करते हैं तथा सामाजिक समरसता को आघात पहुंचाते हैं।

(11) मतदाताओं की उदासीनता—लोकतन्त्र मतदाताओं की सक्रिय रुचि पर आधारित व्यवस्था है, लेकिन व्यवहार में सामान्य मतदाताओं की उदासीनता ही सर्वत्र देखने में आती है। मतदाताओं को बार-बार प्रेरित

1 "Popular government is too much swayed by emotionalism and tends to become government by crowds." —*Le Bani*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
करने व दलों और उम्मीदवारों द्वारा उन्हें उनके घर और कार्यालयों से मत देने के लिए निकालने पर भी सामान्यतया लगभग 50 प्रतिशत मतदाता ही अपने मताधिकार का प्रयोग करते हैं। ऐसी स्थिति में लोकतन्त्र के अन्तर्गत जनता की इच्छाओं का सही प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता। व्यवहारवादी लेखक रॉबर्ट ए. डहल लिखते हैं कि "चुनावों से हमारी अपेक्षा यह होती है कि उससे कुछ निश्चित विषयों में 'बहुमत की इच्छा' अथवा 'वरीयता' का पता लग सकेगा। पर चुनावों में ऐसा बहुत कम होता है।"

(12) पेशेवर राजनीतिज्ञों का विकास—लोकतन्त्र में यह आशा की जाती है कि योग्य और ईमानदार व्यक्ति राजनीति में भाग लेंगे, लेकिन व्यवहार में स्थिति विपरीत ही होती है। परिश्रमी और कार्यकुशल व्यक्ति अपनी रोजी-रोटी कमाने में लगे रहते हैं और राजनीति में सक्रिय रूप से भाग नहीं ले पाते। दूसरी ओर जो व्यक्ति किसी भी व्यापार, शिल्प या पेशे को ईमानदारी और योग्यता के साथ नहीं कर पाते वे राजनीति को ही अपना धन्धा बना लेते हैं और भ्रष्ट साधनों के आधार पर अधिक-से-अधिक सम्पत्ति प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। भारत तथा अनेक देशों में इस प्रकार की प्रवृत्ति विशेषतया देखी गयी है।

(13) युद्ध और संकट के समय निर्बल—लोकतन्त्रीय सरकारें प्रायः युद्ध और संकट के समय निर्बल सिद्ध होती हैं, क्योंकि इन अवसरों पर बहुत अधिक शीघ्रतापूर्वक निर्णय लेने की आवश्यकता होती है और लोकतन्त्र ऐसी गति का परिचय नहीं दे पाता। वास्तव में, 'सत्ता के एकीकरण' के स्थान पर 'सत्ता का फैलाव' होने के कारण लोकतन्त्र संकट का दृढ़ता के साथ मुकाबला करने में असफल रहता है।

(14) सच्चा लोकतन्त्र सम्भव नहीं—इन सबके अतिरिक्त सिद्धान्त रूप में लोकतन्त्र चाहे कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो, व्यवहार में सच्चा लोकतन्त्र सम्भव ही नहीं है। व्यवहार में लोकतन्त्र के नाम पर या तो 'बहुमत का निरंकुश शासन' स्थापित हो जाता है या यह 'गिने-चुने नेताओं के शासन' में बदल जाता है।

लोकतन्त्र त्याज्य अथवा स्वीकार्य

लोकतन्त्र की जो विविध प्रकार से आलोचनाएं की गयी हैं उनमें अधिकांश बुराइयां लोकतन्त्र की न होकर उन व्यक्तियों की हैं जिनके द्वारा लोकतन्त्रीय व्यवस्था के अन्तर्गत कार्य किया जाता है। यदि व्यक्तियों को ठीक प्रकार की राजनीतिक शिक्षा प्रदान की जाय और उनकी नैतिक उन्नति के लिए प्रयत्न किये जायें, तो लोकतन्त्र के अधिकांश दोषों को सरलता से दूर किया जा सकता है। जहां तक लोकतन्त्र का सम्बन्ध है लोकतन्त्र ने मानवीय दोषों को कम ही किया है, उनमें वृद्धि नहीं की है। लावेल ने ठीक ही कहा है कि "कोई भी शासन-व्यवस्था सभी मानवीय दोषों के लिए रामबाण नहीं है।"

इसके अतिरिक्त, कोई भी ऐसी शासन-व्यवस्था नहीं है जिसे लोकतन्त्र से श्रेष्ठ कहा जा सके और लोकतन्त्र के स्थान पर अपनाया जा सके। लोकतन्त्र वर्तमान समय की परिस्थितियों और विचारों के नितान्त अनुकूल है। इन्हीं सब बातों पर विचार करने के बाद मिल ने अपने प्रभावपूर्ण शब्दों में कहा है कि "लोकतन्त्र के विरोध में दी जाने वाली युक्तियों में जो कुछ भी आधार प्रतीत हुआ, उसको पूरा महत्व देते हुए मैंने सहर्ष उसके पक्ष में निश्चय किया। वस्तुतः प्रजातन्त्र के अधिकांश दोष लोकतान्त्रिक व्यवस्था के नहीं वरन् उसके संचालन में संलग्न व्यक्तियों के दोष हैं। इन दोषों में सुधारकर लोकतन्त्र को सफल बनाया जा सकता है। लोकतन्त्र, वर्तमान युग में अन्य शासन व्यवस्थाओं से श्रेष्ठ व्यवस्था है।"

लोकतन्त्र की सफलता हेतु आवश्यकताएं

लोकतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था के जिन दोषों का उल्लेख किया गया है, ये दोष स्वयं लोकतन्त्र के न होकर उन व्यक्तियों के हैं जिनके माध्यम से लोकतन्त्रीय शासन में प्रभुसत्ता का प्रयोग किया जाता है। लोकतन्त्रीय शासन एक प्रकार से 'यथा प्रजा तथा राजा' के सिद्धान्त पर आधारित है और इसलिए इस शासन-व्यवस्था में सुधार करने का एकमात्र व्यावहारिक मार्ग मानवीय व्यवहार को सुधारना है। इसके अतिरिक्त एक ऐसे वातावरण की भी आवश्यकता है जिसमें व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकें। लोकतन्त्रात्मक शासन की सफलता हेतु प्रमुख रूप से निम्नलिखित आवश्यकताएं बतायी जा सकती हैं :

(1) शिक्षित एवं जागरूक जनता—लोकतन्त्रीय शासन जनमत पर आधारित शासन होता है। अतः शिक्षित एवं सजग जनता लोकतन्त्र की सफलता के लिए सबसे प्रमुख आवश्यकता है। यह ठीक ही कहा गया है

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि "सतत जागरूकता ही लोकतन्त्र का मूल्य है।"[1] लोकतन्त्र की सफलता के लिए साधारण जनता में इतनी सहज बुद्धि होनी चाहिए कि वे बुद्धिमत्ता से देश की आवश्यकताएं समझ सकें, प्रतिनिधियों का निर्वाचन कर सकें और अपने अधिकारों का उपभोग तथा कर्तव्यों का पालन कर सकें। सहज बुद्धि एवं स्वतन्त्र विवेक-शक्तिसम्पन्न नागरिक ही लोकतन्त्र के आधार बन सकते हैं। महात्मा गांधी के शब्दों में, "प्रजातन्त्र ऐसा राज्य नहीं होता, जिसमें जनता भेड़ों के समान कार्य करे, इसमें जनता को जागरूक रहना होता है।"[2]

लोकतन्त्र की सफलता हेतु आवश्यकताएं

(1) शिक्षित एवं जागरूक जनता
(2) नागरिकों का नैतिक उत्थान
(3) आर्थिक समानता
(4) नागरिक स्वतन्त्रताएं
(5) लिखित संविधान और प्रजातान्त्रिक परम्पराएं
(6) समानता पर आधारित सामाजिक व्यवस्था
(7) स्थानीय स्वशासन
(8) स्वस्थ और सुदृढ़ राजनीतिक दल
(9) बुद्धिमान और सतर्क नेतृत्व
(10) स्वतन्त्र प्रेस
(11) समाज में एकता की भावना
(12) योग्य और निष्पक्ष नागरिक सेवाएं
(13) विश्वशान्ति की स्थापना

(2) नागरिकों का नैतिक उत्थान—हर्नशॉ ने लिखा है कि "लोकतन्त्रात्मक सिद्धान्त का रूप अनिवार्यतः धार्मिक होता है।" इसका तात्पर्य यही है कि लोकतन्त्र नागरिकों की नैतिकता और चरित्रशीलता पर आधारित होता है। नागरिकों को नैतिक दृष्टि से उच्च और ईमानदार होना चाहिए, उनमें परमार्थ एवं कर्तव्यपरायणता की भावना होनी चाहिए। यदि किसी राज्य के नागरिक अपने मताधिकार का दबाव या लोभ के वशीभूत होकर प्रयोग करते हैं या जनता के प्रतिनिधि भ्रष्ट हो जाते हैं तो लोकतन्त्रीय शासन कभी भी सफल नहीं हो सकता।

(3) आर्थिक समानता—समानता की घोषणा मात्र कर देने से ही राजनीतिक समानता स्थापित नहीं हो जाती, व्यवहार में राजनीतिक समानता स्थापित करने के लिए आर्थिक समानता एक पूर्व आवश्यकता है और कोल के शब्दों में कहा जा सकता है कि "आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता एक भ्रम मात्र है।"[3]

एक निर्धन व्यक्ति का सम्पूर्ण ध्यान, शक्ति और नैतिकता रोटी तक ही सीमित हो जाता है, उसमें आत्मविश्वास नहीं होता और आत्मविश्वास के अभाव में निर्धन वर्ग धनिक वर्ग के अनुचित प्रभाव में आ जाता है। इस प्रकार लोकतन्त्र की सफलता के लिए आर्थिक समानता आवश्यक है। आर्थिक समानता का तात्पर्य समान वेतन या पुरस्कार नहीं है, वरन् इसका तात्पर्य केवल यही है कि धन सम्बन्धी असमानता को अधिक-से-अधिक सम्भव सीमा तक दूर कर दिया जाय, सभी व्यक्तियों को आर्थिक सुरक्षा और अर्थ सम्बन्धी न्यूनतम की प्राप्ति हो।

(4) नागरिक स्वतन्त्रताएं—लोकतन्त्र में शासन विचार द्वारा होता है और विभिन्न मतों की आलोचना इसकी आत्मा होती है। अतः लोकतन्त्र की सफलता के लिए व्यक्तियों को विचार व्यक्त करने और युक्तियुक्त आलोचना करने की पूरी-पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। समाचार-पत्रों और साहित्य के प्रकाशन पर साधारणतया किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए, व्यक्तियों को सभाओं और संगठनों द्वारा अपने विचारों के प्रचार की पूरी-पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। लोकतन्त्रीय शासन में लोकमत ही शासन को नियन्त्रण में रख सकता है, अतः लोकमत के विकास हेतु नागरिकों को नागरिक स्वतन्त्रताएं प्रदान की जानी चाहिए। नागरिक स्वतन्त्रताओं की रक्षा हेतु यह भी आवश्यक है कि स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका की व्यवस्था हो। ब्राइस के अनुसार यदि न्याय का दीपक बुझ जाए तो कितना अन्धेरा होगा इसकी कल्पना नहीं की जा सकती है।

(5) लिखित संविधान और प्रजातान्त्रिक परम्पराएं—सामान्य व्यक्ति लिखित संविधान के द्वारा सरकार के रूप, अपने अधिकार एवं कर्तव्यों का सरलता से ज्ञान प्राप्त कर सकता है। अतः लोकतन्त्र की रक्षा के लिए लिखित संविधान आवश्यक कहा जा सकता है। लोकतन्त्र की सफलता के लिए लोकतान्त्रिक परम्पराओं का पालन भी आवश्यक है। इंग्लैण्ड, अमरीका और स्विट्जरलैण्ड में लोकतन्त्र की सफलता का श्रेय वहां की

1 "Eternal vigilance is the price of democracy." —*D. Phillis*
2 "Democracy is not a state in which people act like sheep, the public is to be alert." —*Mahatma Gandhi*
3 "Political liberty in the absence of economic equality is a mere myth." —*G. D. H. Cole*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रेष्ठ राजनीतिक परम्पराओं को ही है। ब्रिटेन में विरोधी राजनीतिक दल की सम्मान, दल-बदल करने पर पदत्याग और छाया मन्त्रिमण्डल के रूप में इस प्रकार की अनेक परम्पराएं विद्यमान हैं।

(6) समानता पर आधारित सामाजिक व्यवस्था—सामाजिक व्यवस्था न्याय और समानता पर आधारित होनी चाहिए और समाज के अन्तर्गत जन्म, जाति, रंग, धर्म, सम्प्रदाय, आदि के भेदभाव के बिना प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व को समान महत्व दिया जाना चाहिए।

(7) स्थानीय स्वशासन—**एलेक्स स्मिथ** ने ठीक ही लिखा है कि "**प्रजातन्त्र के सभी रोगों का निदान अधिक प्रजातन्त्र द्वारा ही सम्भव है।**"[1] अतः लोकतन्त्र की सफलता के लिए स्थानीय क्षेत्रों में लोकतन्त्र की स्थापना की जानी चाहिए, जिनका दूसरा नाम ही स्थानीय स्वशासन है। स्थानीय स्वशासन जनता में सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति रुचि उत्पन्न करता है और सामान्य जनता तथा जनता के प्रतिनिधियों दोनों को ही सार्वजनिक शिक्षा प्रदान करने का महत्वपूर्ण कार्य करता है। **ब्राइस** के शब्दों में, "**लोकतन्त्र का सर्वश्रेष्ठ शिक्षणालय और लोकतन्त्र की सफलता की सबसे बड़ी गारण्टी स्थानीय स्वशासन का चलन है।**" लोकतन्त्र में स्थानीय स्वशासन का महत्व बताते हुए **लास्की** तो यहां तक कहते हैं कि राष्ट्रीय व्यवस्थापिका की सदस्यता के लिए स्थानीय संस्थाओं के कार्य का अनुभव एक अनिवार्य योग्यता निश्चित कर दी जानी चाहिए।

(8) स्वस्थ और सुदृढ़ राजनीतिक दल—वर्तमान समय का प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र राजनीतिक दलों के माध्यम से ही कार्य करता है। लोकतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक है कि राजनीतिक दल आर्थिक और राजनीतिक कार्यक्रम पर ही आधारित होने चाहिए और इनका गठन धर्म, जाति, भाषा या प्रान्तीय भेदों के आधार पर नहीं किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त, लोकतन्त्र के हित में यह भी ज़रूरी है कि इन राजनीतिक दलों की संख्या कम ही होनी चाहिए और ये राजनीतिक दल बहुत अधिक अच्छे प्रकार से संगठित होने चाहिए। इंग्लैण्ड और अमरीका में प्रजातन्त्र की सफलता का एक बड़ा कारण उन देशों के स्वस्थ एवं सुदृढ़ राजनीतिक दल ही हैं। सुदृढ़ राजनीतिक दलों के विकास हेतु यह परम आवश्यक है कि उनमें आन्तरिक लोकतन्त्र भी विद्यमान हो उससे व्यक्ति पूजा, परिवारवाद तथा संरक्षणवाद के महत्व को कम किया जा सकता है।

(9) बुद्धिमान और सतर्क नेतृत्व—लोकतन्त्र की सफलता के लिए बुद्धिमान और सतर्क नेतृत्व भी नितान्त आवश्यक है। लोकतन्त्र के नेताओं में उचित निर्णय-शक्ति, साहस, अच्छी योग्यता, विशिष्ट आरम्भक शक्ति व चारित्रिक गुणों का समावेश होना चाहिए। यदि इन शुद्ध गुणों वाले नेताओं के हाथ में राज्य की बागडोर हो तो लोकतन्त्र अवश्यमेव सफल होगा।

(10) स्वतन्त्र प्रेस—लोकतन्त्र की सफलता के लिए स्वस्थ लोकमत नितान्त आवश्यक है और लोकमत के निर्माण तथा उसकी अभिव्यक्ति में प्रेस अर्थात् समाचार-पत्र बहुत अधिक महत्वपूर्ण रूप से भाग लेते हैं। समाचार-पत्र यह कार्य उसी समय ठीक प्रकार से कर सकते हैं, जबकि प्रेस स्वतन्त्र हों। समाचार-पत्र योग्य, निष्पक्ष तथा स्वतन्त्र हाथों में होने चाहिए तथा उन पर शासन, किसी वर्ग विशेष या किसी दल विशेष का नियन्त्रण नहीं होना चाहिए।

(11) समाज में एकता की भावना—लोकतन्त्रीय शासन की सफलता के लिए जनता में आधारभूत एकता की भावना विद्यमान होनी चाहिए, जिससे वह पारस्परिक सहयोग के आधार पर सामुदायिक जीवन व्यतीत कर सके। जिस राज्य की जनता भाषागत, जातिगत और प्रान्तीय भेदों को बहुत अधिक महत्व देती हो, उसमें लोकतन्त्र सफल नहीं हो सकता। प्रत्येक राष्ट्र में इस प्रकार के भेद विद्यमान होते हैं, पर इस प्रकार के भेदों को राजनीतिक क्षेत्र में विशेष महत्व नहीं दिया जाना चाहिए।

(12) योग्य और निष्पक्ष नागरिक सेवाएं—लोकतन्त्र में भी जनता के प्रतिनिधि केवल नीति का निर्माण करते हैं और नीति को क्रियान्वित करने का कार्य नागरिक सेवाओं द्वारा किया जाता है। यदि इन नागरिक सेवाओं के सदस्य योग्य, निष्पक्ष और कार्यकुशल हों, तो प्रशासनिक कुशलता रहती है और श्रेष्ठ शासन सम्भव हो सकता है। वास्तव में, लोकतन्त्र की सफलता के लिए योग्य और निष्पक्ष नागरिक सेवाएं नितान्त आवश्यक हैं।

---

1 "All the ills of democracy can be cured by more democracy." —*Alfred Smith*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(13) विश्वशान्ति की स्थापना—प्रजातन्त्र की सफलता के लिए विश्वशान्ति की स्थापना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि युद्ध के समय प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया को छोड़कर स्वेच्छाचारिता की प्रवृत्ति अपना ली जाती है। विश्व शान्ति व सुरक्षा के खतरे ऐसे संकेत को जन्म देते हैं जिनसे तानाशाही प्रवृत्तियों का जन्म होता है। इटली तथा जर्मनी में तानाशाही व्यवस्था की जड़ें प्रथम विश्वयुद्ध के परिणामों में निहित थीं।

यदि उपर्युक्त बातें पूरी हो जाती हैं तो प्रचण्ड वायु के झोंके भी लोकतन्त्र को नहीं हिला पायेंगे; किन्तु यदि ये बातें पूरी नहीं होतीं तो लोकतन्त्र के भारी पांव गहरे दलदल में धंस जायेंगे।

भारत में प्रजातन्त्र

स्वतन्त्रता प्राप्त होने के कुछ समय पूर्व ही भारत में एक संविधान सभा की स्थापना की गयी थी, जिसने 26 नवम्बर, 1949 को संविधान निर्माण का कार्य पूर्ण किया और 26 जनवरी, 1950 से यह संविधान लागू किया गया। संविधान द्वारा भारत में एक प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य की स्थापना की गयी और प्रजातन्त्र के आधारभूत सिद्धान्त 'वयस्क मताधिकार' को स्वीकार किया गया। संविधान के द्वारा एक धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना की गयी और नागरिकों को शासन के हस्तक्षेप से स्वतन्त्र रूप में मौलिक अधिकार प्रदान किये गये। व्यवहार में भी भारतीय नागरिक इन स्वतन्त्रताओं का पूर्ण उपयोग कर रहे हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारतीय संविधान आदर्श रूप में एक लोकतन्त्रात्मक संविधान है।

संविधान निर्माण के समय संविधान सभा के अन्दर व बाहर, भारत व विदेशों में भारतीय जनता की राजनीतिक जागरूकता के प्रति बहुत अधिक शंका व्यक्त की गयी थी; लेकिन अब तक जिस शान्तिपूर्ण ढंग से पन्द्रह आम चुनाव सम्पन्न हुए हैं तथा भारत की अशिक्षित जनता ने अब तक जिस विवेक के आधार पर लोकतन्त्र के प्रति अपनी आस्था का परिचय दिया और अपनी राजनीतिक शक्ति का प्रयोग किया है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि भारतीय नागरिक एक प्रजातन्त्रात्मक देश के सुयोग्य नागरिकों के समान आचरण कर सकते हैं और उन्होंने इसी रूप में आचरण किया है।

भारतीय जनता 1950 से लेकर अब तक निरन्तर अपनी राजनीतिक जागरूकता और परिपक्वता तथा लोकतन्त्र के प्रति अपनी आस्था का परिचय दे चुकी है। मार्च 1977 के लोकसभा चुनाव में उसके द्वारा अधिनायकवाद की ओर बढ़ती हुई प्रवृत्तियों का विरोध करते हुए लोकतन्त्र का समर्थन किया गया।

जनता शासन से उनके जीवन को प्रभावित करने वाली ठोस उपलब्धियां चाहती है। इस प्रकार भारत पहला विकासशील देश है, जिसमें मतपेटी के आधार पर अब तक 9 बार (1977, 1980, 1989, 1991, 1996, 1998, 1999, 2004 तथा 2009) में सत्ता परिवर्तन हो चुका है। अब भारत विश्व के अन्तर्गत लोकतान्त्रिक प्रणाली का सर्वाधिक सफलतापूर्वक प्रयोग करने वाले देशों की श्रेणी में आ गया है। 1985 में लोकतन्त्र की दिशा में एक श्रेष्ठ कार्य 'दल-बदल पर कानूनी रोक' (52वें संवैधानिक संशोधन) के रूप में सम्पन्न हुआ था। इस कानून में कुछ कमियां अनुभव की गईं। इन कमियों को दूर करते हुए 91वें संवैधानिक संशोधन 2003 ई. के आधार पर दल-बदल पर पूर्णतया कानूनी रोक लगा दी गई है। यह लोकतन्त्र की दिशा में निश्चित रूप से एक श्रेष्ठ कार्य है। इसी प्रकार 1989 में मताधिकार की आयु 21 वर्ष से घटा कर 18 वर्ष करते हुए युवा वर्ग में अधिक विश्वास के भाव को अपनाया गया है।

भारत जैसे देश में लोकतान्त्रिक व्यवस्था का मूलाधार गांवों का विकास और गांवों में सदियों से चली आ रही पंचायत व्यवस्था को सुदृढ़ करना ही हो सकता है। अतः पहले 2 अक्टूबर, 1959 ई. से 'पंचायती राज' की व्यवस्था को अपनाया गया तथा इसके उपरान्त 'पंचायती राज' और शहरी क्षेत्र की स्थानीय स्वशासन व्यवस्था की कमियों को दूर करने के लिए 1993 ई. में 73वां और 74वां संविधान संशोधन अधिनियम पारित किया गया। स्थानीय स्वशासन लोकतान्त्रिक व्यवस्था का मूलाधार होता है, अतः आशा की जा सकती है कि सुदृढ़ स्थानीय स्वशासन की यह व्यवस्था भारत को लोकतान्त्रिक व्यवस्था की सफलता में बहुत सहायक सिद्ध होगी। लोकतन्त्र का लक्ष्य समाज के सभी वर्गों का विकास होता है, इस दृष्टि से महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि स्थानीय स्वशासन की इस व्यवस्था के अन्तर्गत अनुसूचित जाति और जनजातियों के साथ समाज के सभी वर्गों की महिलाओं को पंचायती राज संस्थाओं और शहरी क्षेत्र की स्थानीय स्वशासन संस्थाओं में एक तिहाई स्थानों पर आरक्षण प्रदान किया गया है। लोकतन्त्र और सामाजिक न्याय की दृष्टि से यह बहुत दूरगामी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रभाव वाला कदम है। इसके साथ ही 86वें संवैधानिक संशोधन (2002) के आधार पर अब शिक्षा को नागरिकों का मूल अधिकार घोषित कर दिया गया है। इस संवैधानिक संशोधन के अनुसार 'राज्य 6 से लेकर 14 वर्ष तक के सभी बच्चों को निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा देने को बाध्य होगा' तथा इसे कार्यरूप में परिणत करने के लिए कानून बनाकर व्यवस्था की जाएगी। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए बड़े पैमाने पर 'सर्व शिक्षा अभियान' चलाया जा रहा है। लोकतांत्रिक व्यवस्था के प्रसंग में 2005 ई. में दो महत्वपूर्ण कार्य हुए हैं। प्रथम, शासन के काम-काज में पारदर्शिता लाने, भ्रष्टाचार को नियंत्रित करने तथा शासन को जनता की ओर उन्मुख करने के उद्देश्य से 12 अक्टूबर, 2005 से सूचना का अधिकार कानून लागू किया गया है। द्वितीय, 'राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी अधिनियम 2005' के रूप में आर्थिक सामाजिक न्याय की दिशा में कदम उठाया गया है, जिसके अनुसार देश की ग्रामीण जनसंख्या (प्रत्येक परिवार में एक सदस्य) को वर्ष में न्यूनतम 100 दिन के रोजगार की गारण्टी दी गई है। प्रारंभ में देश के 200 जिलों में इसे लागू किया गया वर्तमान में इस योजना को पूरे देश में लागू कर दिया गया है। अक्टूबर 2009 में इस योजना का नाम महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी अधिनियम कर दिया गया।

लेकिन इन सबका तात्पर्य यह नहीं है कि हमने एक पूर्ण प्रजातन्त्र की स्थापना कर ली है। भारतीय प्रजातन्त्र के मार्ग में निश्चित रूप से कुछ बाधाएं हैं। लगभग 60 वर्षों के समय में विविध राजनीतिक दलों द्वारा बार-बार और ऊंचे स्वरों में 'समाजवादी ढांचे के समाज' (Socialistic Pattern of Society) या 'आर्थिक-सामाजिक न्याय' की स्थापना की घोषणा करने पर भी आर्थिक न्याय की दिशा में नहीं के बराबर ही प्रगति हुई। जैसा कि बी. के. नेहरू ने कहा है, "विश्व के कम विकसित देशों के स्तर से भी यदि आंका जाय, तो भारत सर्वाधिक निर्धन देशों की श्रेणी में आता है।" शिक्षित बेरोजगारों की संख्या भारतीय प्रजातन्त्र के लिए एक नवीन संकट के रूप में बढ़ती ही जा रही है। बेरोजगारों का यह समूह भारतीय प्रजातन्त्र के लिए निश्चित रूप से बहुत अधिक घातक है। शिक्षा के क्षेत्र में हमने शिक्षित व्यक्तियों का प्रतिशत भले ही कुछ बढ़ा लिया हो, परन्तु यह शिक्षा न तो रोजगार की ओर उन्मुख है और न ही इसके द्वारा स्वतन्त्र रूप से विचार करने की प्रवृत्ति को उत्पन्न किया जा सका है।

दलीय व्यवस्था की दृष्टि से 1996-2009 ई. के वर्षों में स्थिति जितनी असन्तोषजनक है, वैसी पहले कभी नहीं थी। भारत की जनता चुनावों में सदैव ही स्पष्ट जनादेश देना चाहती है, लेकिन इस राजनीतिक स्थिति के कारण वह ऐसा नहीं कर पाई। कहना चाहिए कि सभी राजनीतिक दलों ने अपनी संकीर्णताओं के आधार पर जनता जनार्दन और उसके विवेक को पराजित कर दिया। 1996 से लेकर अब तक अर्थात् 11वीं, 12वीं, 13वीं, 14वीं और 15वीं लोकसभा में कोई राजनीतिक दल स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं कर सका, गठबंधन सरकारों का गठन हुआ तथा इन गठबंधन संस्कारों ने दबाव-प्रति दबाव की स्थितियों में ही कार्य किया है।

भारत में लोकतान्त्रिक और संसदीय परम्पराओं का सामान्यतया अभाव है और इसी कारण राष्ट्रपति एवं राज्यपाल, आदि पदधारी व्यक्तियों के आचरण के सम्बन्ध में भी निरन्तर विवाद उत्पन्न होते रहते हैं जो स्वस्थ लोकतन्त्र का परिचय नहीं देते। हड़ताल, भूख हड़ताल, प्रदर्शन और आन्दोलनों की प्रवृत्तियां भी समय-समय पर बहुत अधिक प्रबल हो उठती हैं जिन्हें संयमित किया जाना नितान्त आवश्यक है। साम्प्रदायिक तनाव तथा उग्र क्षेत्रवादी प्रवृत्तियां भी समय-समय पर उत्पातों को जन्म देती रहती हैं। जम्मू-कश्मीर, उत्तर-पूर्वी भारत के कुछ राज्यों और देश के अन्य अनेक भागों में शान्ति और व्यवस्था की बिगड़ती हुई स्थिति एवं देश की एकता के लिए चुनौती तथा पड़ोसी राज्य द्वारा प्रायोजित आतंकवाद भारतीय लोकतन्त्र के लिए संकट का नया कारण बन गये हैं। चिंता की बात यह भी है कि नक्सलवाद गंभीर रूप लेता जा रहा है तथा नक्सलवाद का विस्तार भी हो रहा है। भारतीय नागरिकों को यह बात समझनी चाहिए कि भारत जैसे विकासशील देश का लक्ष्य अनुशासित लोकतन्त्र ही हो सकता है। इसी तरह पिछले दो दशकों में जातिवाद, हिंसा, साम्प्रदायिकता तथा धन का प्रयोग प्रजातन्त्र में बढ़ा है। संसद सदस्यों पर धन लेकर प्रश्न पूछने का आरोप भी है। उधर न्यायपालिका के उच्च न्यायाधीशों के बारे में वर्ष 2009 में भ्रष्टाचार के गम्भीर आरोप लगे हैं। यह स्थिति लोकतन्त्र के भविष्य के लिए उचित नहीं है।

फिर हम कह सकते हैं कि भारतीय जनता लोकतन्त्रीय व्यवस्था के प्रति प्रतिबद्ध है और भविष्य में किसी भी शासक वर्ग के द्वारा लोकतन्त्र की अवहेलना का दुस्साहस नहीं किया जा सकेगा, लेकिन लोकतन्त्रीय

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिर हम कह सकते हैं कि भारतीय जनता लोकतन्त्रीय व्यवस्था के प्रति प्रतिबद्ध है और भविष्य में किसी भी शासक वर्ग के द्वारा लोकतन्त्र की अवहेलना का दुस्साहस नहीं किया जा सकेगा, लेकिन लोकतन्त्रीय शासन के ढांचे को बनाये रखना ही पर्याप्त नहीं है। लोकतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक है कि लोकतन्त्र के लक्ष्य को प्राप्त किया जाय और वह लक्ष्य है—सामाजिक-आर्थिक न्याय। हम इस लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाये हैं और दुःखद तथ्य यह है कि इस दिशा में हमारी आगे बढ़ने की गति बहुत अधिक धीमी है। इस दिशा में तेजी से आगे बढ़ना अब हमारा लक्ष्य होना चाहिए। भारत और भारतीय मनोभूमि में लोकतन्त्र गहरा बैठ गया है और यही भविष्य में इसकी सफलता का सबसे बड़ा आधार है। भारत में प्रजातन्त्र की सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि जहां हमारे पड़ोसी देशों में तथा अफ्रीका के अन्य देशों में लोकतन्त्र का जीवन क्षणिक रहा है तथा वे तानाशाही के गर्त में जाते रहे हैं, वहीं पिछले 60 वर्षों से भारत में प्रजातन्त्र, कुछ कमजोरियों के साथ, प्रौढ़ता को प्राप्त करता रहा है।

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (प्रत्येक प्रश्न 6 अंक का, उत्तर लगभग 300 शब्दों में दीजिए)

1. अरस्तू के राज्यों के वर्गीकरण का परीक्षण कीजिए।
2. अधिनायकतन्त्र या तानाशाही से आप क्या समझते हैं? तानाशाही के गुण-दोषों का वर्णन कीजिए।
3. लोकतन्त्र से आप क्या समझते हैं? लोकतन्त्र के भेद बताइए।
4. लोकतन्त्र के गुण व दोषों की समीक्षा कीजिए। यह अधिनायकतन्त्र से क्यों श्रेष्ठ माना जाता है?
5. लोकतन्त्र की व्याख्या कीजिए। इसकी अन्तर्निहित समस्याओं की ओर संकेत कीजिए।
6. लोकतन्त्रीय शासन की सफलता के लिए आवश्यक दशाएं क्या हैं? भारत में ये कहां तक विद्यमान है?

लघु उत्तरीय प्रश्न

(अ) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 50 शब्दों में दीजिए (2 अंक)।

1. अरस्तू के वर्गीकरण की आलोचना किन-किन आधारों पर की गई है?
2. अधिनायकवाद के कोई चार लक्षण बताइए।
3. प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का अर्थ बताइए।
4. लोकतन्त्र के अभिजन सिद्धान्त का क्या तात्पर्य है?
5. भारत में किन्हीं चार लोकसभा चुनावों के वर्ष लिखिए।
6. 73वें तथा 74वें संविधान संशोधन से क्या किया गया?

(अ) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 50 शब्दों में दीजिए (4 अंक)।

7. अरस्तू का राज्यों का वर्गीकरण दीजिए।
8. प्रजातन्त्र के पांच प्रमुख गुण लिखिए।
9. प्रजातन्त्र के पांच प्रमुख अवगुण (दोष) लिखिए।
10. प्रजातन्त्र की सफलता के लिए पांच आवश्यक परिस्थितियां या शर्तें लिखिए।
11. प्रजातन्त्र की सफलता के लिए देश में आर्थिक समानता क्यों आवश्यक है?

अति लघु उत्तरीय प्रश्न [प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का, उत्तर दस शब्द (एक वाक्य) में]

प्रश्न 1. तानाशाही या अधिनायकतन्त्र का एक गुण लिखिए।
उत्तर—संकटकाल के लिए सर्वाधिक उपयुक्त।
प्रश्न 2. तानाशाही या अधिनायकतन्त्र का एक अवगुण लिखिए।
उत्तर—युद्ध को प्रोत्साहन।
प्रश्न 3. प्रजातन्त्र या लोकतन्त्र की कोई एक परिभाषा दीजिए।
उत्तर—अब्राहम लिंकन के अनुसार, "प्रजातन्त्र जनता का, जनता के द्वारा, जनता के लिए शासन है।"
प्रश्न 4. प्रजातन्त्र के दो भेद या रूप कौन-कौन से हैं?
उत्तर—प्रजातन्त्र के दो भेद या रूप (1) प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र, तथा (2) अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र हैं।
प्रश्न 5. "लोकतन्त्र शासन का वह स्वरूप है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का भाग हो।" यह परिभाषा किसने लिखी है?
उत्तर—उपर्युक्त परिभाषा सीले की है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न 6. प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र किसे कहते हैं?
उत्तर—जहां राज्य की समस्त जनता शासन के कार्य में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेती है, उस लोकतन्त्र को प्रत्यक्ष लोकतन्त्र या जनतन्त्र कहते हैं।

प्रश्न 7. अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र या प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र क्या है?
उत्तर—अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र उसे कहते हैं जहां राज्य की इच्छा जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के द्वारा प्रकट की जाती है।

प्रश्न 8. प्रजातन्त्र के किन्हीं दो गुणों का उल्लेख कीजिए।
उत्तर—(1) सभी को विकास के समान अवसर, (2) समानता एवं स्वतन्त्रता पर आधारित।

प्रश्न 9. प्रजातन्त्र या लोकतन्त्र के कोई दो दोष लिखिए।
उत्तर—(1) अयोग्य व्यक्तियों का शासन, (2) समय और धन का अपव्यय।

प्रश्न 10. प्रजातन्त्र की सफलता के लिए दो आवश्यक दशाएं लिखिए।
उत्तर—(1) सुशिक्षित नागरिक, (2) देश में शान्ति और सुव्यवस्था का होना।

प्रश्न 11. प्रजातन्त्र में राजनीतिक दलों का संगठित होना क्यों आवश्यक है?
उत्तर—प्रजातन्त्र में राजनीतिक दलों का संगठित होना आवश्यक है क्योंकि सरकार का निर्माण और कार्य संचालन राजनीतिक दलों के माध्यम से ही सम्भव है।

प्रश्न 12. भारत में सफल प्रजातन्त्र की विद्यमान परिस्थितियों में से केवल एक का उल्लेख कीजिए।
उत्तर—जनता की लोकतन्त्र के प्रति निष्ठा।

प्रश्न 13. उस देश का नाम लिखिए, जहां सरकार लोकतान्त्रिक है, किन्तु वह गणतन्त्रात्मक नहीं है।
उत्तर—इंग्लैण्ड, इंग्लैण्ड में राज्य का प्रधान सम्राट उत्तराधिकार के आधार पर अपना पद प्राप्त करता है, इसलिए इंग्लैण्ड लोकतन्त्रात्मक राज्य है, गणतन्त्रात्मक राज्य नहीं है।

प्रश्न 14. लोकतन्त्र अपने सबसे अधिक श्रेष्ठ रूप में किस देश में विद्यमान है?
उत्तर—स्विट्जरलैण्ड में।

प्रश्न 15. किन्हीं दो प्रकार की आधुनिक शासन प्रणालियों के नाम लिखिए।
उत्तर—राजतन्त्र और गणतन्त्र।

बहुविकल्पीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों में चार विकल्प दिए गए हैं। उनमें से एक सही विकल्प छांटकर लिखिए :

1. "शासन के रूपों के लिए मूर्खों को लड़ने दो, जो शासन ठीक प्रकार से चले, वही सर्वश्रेष्ठ है।" यह कथन किसका है :
   (अ) एलेक्जेण्डर पोप का (ब) जे. के. गेलब्रेथ का
   (स) क्रोशे का (द) गिलक्राइस्ट का
2. राज्यों का सर्वप्रथम वैज्ञानिक वर्गीकरण किसके द्वारा किया गया :
   (अ) सुकरात (ब) प्लेटो
   (स) अरस्तू (द) एक्वीनास
3. अरस्तू के राज्यों के वर्गीकरण में राजतन्त्र का भ्रष्ट रूप है :
   (अ) कुलीनतन्त्र (ब) वर्गतन्त्र
   (स) आततायीतन्त्र (द) भीड़तन्त्र
4. अरस्तू के राज्यों के वर्गीकरण में कुलीनतन्त्र का भ्रष्ट रूप है :
   (अ) वर्गतन्त्र या धनिकतन्त्र (ब) बहुतन्त्र या संवैधानिक तन्त्र
   (स) भीड़तन्त्र (द) आततायीतन्त्र
5. अरस्तू के वर्गीकरण की किस आधार पर आलोचना की गई है :
   (अ) यह सरकारों का वर्गीकरण है (ब) प्रजातन्त्र को उचित स्थान नहीं
   (स) अवैज्ञानिक तथा संख्यात्मक वर्गीकरण (द) इनमें से सभी आधारों पर
6. जिन लोकतन्त्रात्मक राज्यों में उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व होता है, वे कहलाते हैं :
   (अ) समाजवादी लोकतन्त्र (ब) पूंजीवादी लोकतन्त्र
   (स) मिश्रित अर्थव्यवस्था वाले लोकतन्त्र (द) इनमें से कोई नहीं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

7. "लोकतन्त्र शासन वह शासन है जिसमें शासन जनता का, जनता के द्वारा और जनता के लिए हो।" यह कथन किसका है : (उ.प्र., 2010)
(अ) डायसी का (ब) अब्राहम लिंकन का
(स) हेरोडोटस का (द) ब्राइस का

8. "लोकतन्त्र वह शासन है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का एक भाग होता है।" यह कथन किसका है :
(अ) सीले का (ब) ब्राइस का
(स) हेरोडोटस का (द) डायसी का

9. लोकतान्त्रिक शासन का प्रमुख लक्षण है :
(अ) लोक प्रभुता में विश्वास (ब) राजनीतिक और नागरिक समानता
(स) व्यक्ति के व्यक्तित्व का सम्मान और गौरव (द) इनमें से सभी

10. निम्नलिखित में से कौन-सा लोकतन्त्र का गुण नहीं है :
(अ) जनकल्याण की साधना (ब) सार्वजनिक शिक्षण
(स) अनुत्तरदायी शासन (द) क्रान्ति से सुरक्षा

11. लोकतन्त्र को 'दुष्टों का कुलीनतन्त्र' किसने कहा है :
(अ) टेलीरेण्ड (ब) लुडोविसी
(स) ब्राइस (द) हर्नशॉ

12. "प्रजातन्त्र मृत्यु की ओर ले जाता है।" यह कथन किसका है :
(अ) ब्राइस का (ब) लुडोविसी का
(स) टेलीरेण्ड का (ब) सर हेनरीमेन का

13. लोकतन्त्र का प्रमुख दोष है :
(अ) गुण की अपेक्षा संख्या को महत्व (द) सार्वजनिक धन और समय का अपव्यय
(स) अयोग्यता की पूजा (द) इनमें से सभी

14. लोकतन्त्रात्मक शासन की सफलता हेतु आवश्यक है :
(अ) शिक्षित एवं जागरूक जनता (ब) आर्थिक समानता
(स) नागरिक स्वतन्त्रताएं (द) इनमें से सभी

15. "लोकतन्त्र का सर्वश्रेष्ठ शिक्षणालय और लोकतन्त्र की सफलता की सबसे बड़ी गारण्टी स्थानीय स्वशासन का चलन है।" यह कथन किसका है :
(अ) ब्राइस का (ब) एल्फ्रेड स्मिथ का
(स) विलोवी का (द) गिलक्राइस्ट का

16. लोकतान्त्रिक व्यवस्था को सबसे अधिक श्रेष्ठ रूप में किस देश में अपनाया गया है :
(अ) भारत में (ब) चीन में
(स) स्विट्जरलैण्ड में (द) इनमें से कोई नहीं

17. लोकतन्त्र में शासन की अन्ततः शक्ति किसमें निहित होती है?
(अ) संसद में (ब) जनता में
(स) मन्त्रिपरिषद् में (द) संविधान में

[उत्तर—1. (अ), 2. (स), 3. (स), 4. (अ), 5. (द), 6. (ब), 7. (ब), 8. (अ), 9. (द), 10. (स), 11. (अ), 12. (ब), 13. (द), 14. (द), 15. (अ), 16. (स), 17. (ब)]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

12

संसदात्मक व अध्यक्षात्मक शासन

[PARLIAMENTARY AND PRESIDENTIAL GOVERNMENT]

"संसदात्मक व्यवस्था शासन के सामयिक मूल्यांकन के साथ-साथ दिन-प्रतिदिन के मूल्यांकन का भी अवसर प्रदान करती है।"[1]
—डॉ. अम्बेडकर

शासन के तीन अंग होते हैं—व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के सम्बन्ध के आधार पर शासन-व्यवस्थाओं का संसदात्मक व अध्यक्षात्मक रूप में वर्गीकरण किया जाता है।

संसदात्मक शासन

यह शासन की वह व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत व्यवस्थापिका और कार्यपालिका परस्पर सम्बन्धित होती हैं और कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। गार्नर के अनुसार, "संसदात्मक शासन वह शासन प्रणाली है जिसमें वास्तविक कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिमण्डल अपनी राजनीतिक नीतियों तथा कार्यों के लिए वैधानिक और तात्कालिक रूप में व्यवस्थापिका के प्रति और अन्तिम रूप में निर्वाचक-मण्डल के प्रति उत्तरदायी होती है।" इस शासन को मन्त्रिमण्डलात्मक शासन या उत्तरदायी शासन के नाम से भी पुकारा जाता है। इसके अन्तर्गत कार्यपालिका शक्ति किसी एक व्यक्ति में निहित न होकर मन्त्रिमण्डल नामक एक समिति में निहित होती है। इसलिए इसे मन्त्रिमण्डलात्मक शासन या केबीनेट शासन कहते हैं और कार्यपालिका के व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होने के कारण इसे उत्तरदायी शासन कहा जाता है। उत्तरदायित्व का तात्पर्य यह है कि व्यवस्थापिका कभी भी कार्यपालिका के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित करं उसे अपदस्थ कर सकती है। अतः इस व्यवस्था में उत्तरदायित्व की निरन्तरता विद्यमान रहती है। इस दृष्टि से यह व्यवस्था अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली से अधिक लोकतान्त्रिक है। चूंकि संसदात्मक शासन प्रणाली का सर्वप्रथम विकास इंग्लैण्ड में हुआ है। अतः इसे 'बेस्ट मिनिस्टर' मॉडल भी कहते हैं।

संसदात्मक शासन की विशेषताएं
(CHARACTERISTICS OF PARLIAMENTARY GOVERNMENT)

संसदात्मक शासन की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित कही जा सकती हैं :

(1) नाममात्र की व वास्तविक कार्यपालिका का भेद—इस शासन-व्यवस्था में नाममात्र की व वास्तविक कार्यपालिका में भेद होता है। राज्य का प्रधान नाममात्र की कार्यपालिका होती है, जबकि वास्तविक कार्यपालिका मन्त्रिपरिषद् होती है। नाममात्र की यह कार्यपालिका इंगलैण्ड के सम्राट की तरह वंशक्रमानुगत या भारत के राष्ट्रपति की तरह निर्वाचित हो सकती है। प्रत्येक स्थिति में सैद्धान्तिक तौर पर वह पूर्ण शक्तिसम्पन्न होती है। लेकिन व्यवहार में उसकी इन शक्तियों का प्रयोग वास्तविक कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिपरिषद् द्वारा ही किया जाता है।

(2) व्यवस्थापिका व कार्यपालिका में घनिष्ठ सम्बन्ध—इसके अन्तर्गत व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका एक-दूसरे से पृथक् न होकर परस्पर घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित होती हैं। कार्यपालिका की नियुक्ति व्यवस्थापिका में से की जाती है और कार्यपालिका अपने कार्यों और नीतियों के लिए व्यवस्थापिका के ही प्रति उत्तरदायी

1 "Parliamentary system provides a daily as well as a periodic assessment of the government."
—Dr. Ambedkar, *Constituent Assembly Debates*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती है। दूसरी ओर कार्यपालिका केवल प्रशासन सम्बन्धी कार्य ही नहीं करती, वरन् कानून निर्माण से सम्बन्धित सभी कार्यों में भाग लेती है।

संसदात्मक शासन की विशेषताएं
(1) नाममात्र की व वास्तविक कार्यपालिका का भेद
(2) व्यवस्थापिका व कार्यपालिका में घनिष्ठ सम्बन्ध
(3) कार्यपालिका के कार्यकाल की अनिश्चितता
(4) मन्त्रिमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व
(5) व्यक्तिगत उत्तरदायित्व
(6) प्रधानमन्त्री का नेतृत्व

(3) कार्यपालिका के कार्यकाल की अनिश्चितता—इस शासन में कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिपरिषद् का कार्यकाल निश्चित नहीं होता है। कार्यपालिका उसी समय तक अपने पद पर बनी रह सकती है जब तक कि उसे व्यवस्थापिका का विश्वास प्राप्त होता है।

(4) मन्त्रिमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व—संसदात्मक व्यवस्था का एक अन्य सिद्धान्त संसद के प्रति मन्त्रिमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व है। प्रशासनिक नीति निश्चित करने का कार्य मन्त्रिमण्डल द्वारा सामूहिक रूप से किया जाता है, मन्त्रिमण्डल एक इकाई के रूप में कार्य करता है और सभी मन्त्री एक-दूसरे के निर्णय और कार्यों के लिए उत्तरदायी होते हैं। यदि संसद का निम्न सदन किसी एक मन्त्री के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर दे अथवा उस विभाग से सम्बन्धित विधेयक को रद्द कर दे, तो समस्त मन्त्रिमण्डल को त्यागपत्र देना होता है।

(5) व्यक्तिगत उत्तरदायित्व—प्रत्येक मन्त्री अपने अधीन विभाग का प्रबन्धक होता है। इस प्रकार उसे व्यक्तिगत रूप से उस विभाग को सुयोग्य ढंग से चलाने के लिए विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी रहना होता है।

(6) प्रधानमन्त्री का नेतृत्व—प्रधानमन्त्री का नेतृत्व इस पद्धति की अन्य विशेषता है और सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का पालन प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में ही किया जा सकता है। प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल का नेता होता है। वह मन्त्रियों की नियुक्ति करता, उनमें विभागों का वितरण करता, उनके कार्यों में सामंजस्य स्थापित करता, उनके विभागों का निरीक्षण करता और पदच्युत कर सकता है। प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल रूपी उन राजनीतिक खिलाड़ियों की टीम का नेता होता है, जिसके नेतृत्व में मन्त्रिमण्डल राजनीतिक खेल खेलता है।

संसदात्मक शासन के गुण
(MERITS OF PARLIAMENTARY GOVERNMENT)

संसदात्मक शासन पद्धति के प्रमुख गुण निम्नलिखित कहे जा सकते हैं :

(1) व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में सहयोग—मानव शरीर के समान ही शासन-व्यवस्था में भी एक प्रकार की आंगिक एकता होती है और श्रेष्ठ प्रशासन के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रशासन के इन अलग-अलग अंगों में सहयोग हो। संसदात्मक शासन में ही इस प्रकार का सहयोग पाया जाता है और इस प्रकार के सहयोग के परिणामस्वरूप शासन कुशलतापूर्वक किया जा सकता है। दोनों के मध्य इस प्रकार के सहयोग का आधार यह है कि सत्ताधारी दल (कार्यपालिका) का व्यवस्थापिका में बहुमत होता है तथा कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका में से ही लिए जाते हैं। इस शासन-व्यवस्था में परस्पर सहयोग के द्वारा ठीक प्रकार के कानूनों का निर्माण किया जा सकता है और उन्हें ठीक प्रकार से कार्यरूप में परिणत करते हुए प्रशासन को जनकल्याणकारी बनाया जा सकता है।

संसदात्मक शासन के गुण
(1) व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में सहयोग
(2) शासन-व्यवस्था जनता के प्रति उत्तरदायी
(3) आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन सम्भव
(4) योग्यतम, अनुभवी एवं लोकप्रिय व्यक्तियों का शासन
(5) राजनीतिक शिक्षा
(6) गत्यावरोध की आशंका कम
(7) निरंकुशता का अभाव
(8) लोकतन्त्रीय सिद्धान्त की रक्षा

(2) शासन-व्यवस्था जनता के प्रति उत्तरदायी—संसदात्मक शासन में मन्त्रिगण व्यवस्थापिका के सदस्य होते हैं और इस रूप में जनता के प्रतिनिधि होते हैं। ये मन्त्रिगण व्यवस्थापिका के माध्यम से जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। मन्त्री लोगों को अपने पद पर बने रहने के लिए जनता के दृष्टिकोण का ध्यान रखकर उसके अनुसार कार्य करना होता है और इस प्रकार शासन-व्यवस्था का संचालन आवश्यक रूप से जनता के हित में होता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(3) आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन सम्भव—संसदात्मक शासन में इस बात की गुन्जाइश रहती है कि आवश्यकतानुसार राजशक्ति का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों में परिवर्तन किया जा सके। उदाहरण के लिए, प्रथम महायुद्ध के समय इंगलैण्ड ने ऐस्क्विथ के स्थान पर लॉयड जार्ज और द्वितीय महायुद्ध में चैम्बरलेन के स्थान पर चर्चिल को प्रधानमन्त्री बनाया था, लेकिन अध्यक्षात्मक शासन में आवश्यकता के अनुसार इस प्रकार के परिवर्तन सम्भव नहीं हैं।

(4) योग्यतम, अनुभवी एवं लोकप्रिय व्यक्तियों का शासन—संसदात्मक शासन-व्यवस्था में जिन सदस्यों को अपने अनुभव एवं योग्यता के आधार पर व्यवस्थापिका, अपने राजनीतिक दल और देश की राजनीति में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो जाता है, वे ही व्यक्ति मन्त्रिपरिषद् के सदस्य नियुक्त किये जाते हैं। व्यवस्थापिका के योग्य और अनुभवी सदस्य होने के कारण इन्हें शासन कार्य के आधारभूत सिद्धान्तों का पूर्ण ज्ञान होता है और लोकप्रिय होने के कारण इनके द्वारा शासन का संचालन जन-हित के लिए ही किया जाता है। मन्त्रियों के सम्बन्ध में ये दो बातें—योग्यता एवं लोकप्रियता—अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में सम्भव नहीं होतीं।

(5) राजनीतिक शिक्षा—संसदात्मक शासन में अध्यक्षात्मक शासन की अपेक्षा जनता को राजनीतिक शिक्षा प्राप्त करने का अच्छा अवसर प्राप्त होता है। व्यवस्थापिका में विभिन्न विभागों के कार्यों की आलोचना होती है और मन्त्रिगण भी पूर्ण योग्यता के साथ अपनी नीति और पक्ष का प्रतिपादन करते हैं। जनता व्यवस्थापिका के इस कार्य-विवरण को रुचिपूर्वक पढ़ती है और सार्वजनिक समस्याओं के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करती है। संसदात्मक व्यवस्था का एक लाभ यह है कि इसमें राजनीतिक दल (अध्यक्षात्मक शासन के विपरीत) सदैव सक्रिय रहते हैं तथा जनता से अपना सक्रिय सम्बन्ध बनाए रखते हैं, क्योंकि कार्यपालिका के कार्यकाल की अनिश्चितता होती है तथा चुनाव कभी भी हो सकते हैं।

(6) गत्यावरोध की आशंका कम—अध्यक्षात्मक शासन शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित होने के कारण इसमें अनेक बार व्यवस्थापिका और कार्यपालिका एक-दूसरे के कार्यों में रुकावट डालने का प्रयत्न करती हैं और शासन में गत्यावरोध उपस्थित हो जाता है, किन्तु संसदीय शासन में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका बहुत अधिक श्रेष्ठ रूप में परस्पर सहयोग करती रहती हैं और गत्यावरोध उत्पन्न होने की कोई आशंका नहीं रहती।

(7) निरंकुशता का अभाव—संसदात्मक शासन में कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका का पूर्ण नियन्त्रण रहता है और यदि मन्त्री लोग मनमानी करें तो व्यवस्थापिका के द्वारा उन्हें अविश्वास प्रस्ताव पास कर पदच्युत कर दिया जाता है। इस स्थिति के कारण शासन कभी भी निरंकुश नहीं हो पाता है। कार्यपालिका सदैव व्यवस्थापिका में अपना बहुमत बनाए रखने के लिए प्रयासरत रहती है।

(8) लोकतन्त्रीय सिद्धान्त की रक्षा—लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों की रक्षा बहुत अधिक सीमा तक संसदात्मक शासन में ही सम्भव है। इसके अन्तर्गत प्रशासकों को सदैव जनता के सामने अपने कार्यों का उत्तर देने के लिए तैयार रहना पड़ता है। इस प्रकार वास्तविक प्रभुसत्ता जनता के पास ही रहती है।

संसदात्मक शासन के दोष
(DEMERITS OF PARLIAMENTARY GOVERNMENT)

इस प्रकार के गुणों के साथ-साथ संसदात्मक शासन के कुछ दोष भी हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :

(1) दलीय तानाशाही का भय—संसदात्मक शासन में राजशक्ति सम्पूर्ण जनता के हाथ में न रहकर एक दल विशेष के हाथ में रहती है। व्यवस्थापिका के लोकप्रिय सदन में जिस राजनीतिक दल को बहुमत प्राप्त होता है, उसी राजनीतिक दल के हाथ में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका की शक्ति निहित होती है। शासन के इन दोनों अंगों की शक्ति एक ही राजनीतिक दल के हाथ में निहित होने के कारण वह राजनीतिक दल मनमाने तरीके से इस शक्ति का प्रयोग कर सकता है। दलीय तानाशाही का भय हम अपने देश में 1975 में देख चुके हैं। जब तत्कालीन सरकार ने लोकसभा में अपने बहुमत के बल पर देश में राष्ट्रीय आपात लागू किया तथा विरोधियों का दमन किया। इसके अतिरिक्त एक बार सत्ता अपने हाथ में आ जाने पर राजनीतिक दल भ्रष्ट उपायों को अपनाकर सत्ता अपने हाथ में रखने का प्रयत्न भी कर सकता है।

(2) निर्बल शासन—संसदात्मक शासन में कोई एक ऐसा व्यक्ति नहीं होता जिसके हाथों में शासन की सम्पूर्ण शक्ति हो और जो राज्य के सुशासन के लिए उत्तरदायी हो। शासन की इस निर्बलता के कारण

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यक निर्णय लेने में काफी समय लग जाता है और निर्णय को गुप्त रखने में भी कठिनाई होती है। शासन की यह निर्बलता युद्ध या अन्य संकटकालीन परिस्थितियों में तो असहनीय हो जाती है। अध्यक्षात्मक शासन में कार्यपालिका शक्ति एक ही व्यक्ति के हाथ में निहित होने के कारण शासन में यह निर्बलता नहीं रहती है।

संसदात्मक शासन के दोष

(1) दलीय तानाशाही का भय
(2) निर्बल शासन
(3) शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त का विरोध
(4) कार्यपालिका की अस्थिरता
(5) अयोग्य व्यक्तियों का शासन
(6) मन्त्रिमण्डलीय तानाशाही की प्रवृत्ति
(7) प्रशासन कार्य में अक्षमता
(8) उग्र राजनीतिक दलबन्दी
(9) संकटकाल के समय कार्यपालिका की निर्बलता
(10) मन्त्रिमण्डलों का बढ़ता हुआ आकार और दल-बदल

(3) शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त का विरोध—शक्ति-पृथक्करण लोकतन्त्र का एक मुख्य सिद्धान्त है और इस सिद्धान्त के अनुसार व्यवस्थापन, शासन और न्याय सम्बन्धी शक्तियां अलग-अलग हाथों में रहनी चाहिए, लेकिन संसदात्मक पद्धति शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त के विरुद्ध है, क्योंकि इसमें शासन मन्त्रिपरिषद् के अधीन होता है जो व्यवस्थापिका की एक समिति मात्र होती है। यदि किसी दल को व्यवस्थापिका में स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो जाता है तो कार्यपालिका का प्रभाव बढ़ जाता है तथा व्यवस्थापिका का प्रभाव कम होने की सम्भावना होती है, क्योंकि कार्यपालिका में मन्त्रीगण पार्टी के वरिष्ठ नेता होते हैं।

(4) कार्यपालिका की अस्थिरता—इस शासन-व्यवस्था में कार्यपालिका का कार्यकाल व्यवस्थापिका के विश्वास पर निर्भर होने के कारण निश्चित नहीं होता है। कार्यकाल की इस अस्थिरता के कारण मन्त्रिमण्डल ठीक प्रकार से प्रशासनिक कार्य नहीं कर पाता है। जिस देश में छोटे-छोटे अनेक राजनीतिक दल हों, वहां पर तो मन्त्रिपरिषद् में जल्दी-जल्दी परिवर्तन के कारण शासन कार्य असम्भव ही हो जाता है। 1946 से 1958 तक फ्रांस में और चतुर्थ आम चुनाव के बाद भारतीय संघ के बिहार, हरियाणा, पंजाब, उत्तर प्रदेश, आदि राज्यों में यह बात प्रत्यक्षतः देखी गयी है। 1979 में और उसके बाद 1990-91 में तथा 1996-99 में भारत में केन्द्रीय स्तर पर भी राजनीतिक अस्थायित्व की स्थिति रही है।

(5) अयोग्य व्यक्तियों का शासन—संसदात्मक शासन में मन्त्रिपरिषद् का निर्माण योग्यता एवं विभागीय ज्ञान के आधार पर नहीं किया जाता है। जनता में लोकप्रिय होना या दल का नेता होना एक बात है और उत्तम शासक होना दूसरी बात। संसदात्मक शासन के वे मन्त्री अनेक बार स्वयं से सम्बन्धित विभाग के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं रखते हैं और उसके परिणामस्वरूप शासन का संचालन अयोग्यतापूर्ण ढंग से किया जाता है।

(6) मन्त्रिमण्डलीय तानाशाही की प्रवृत्ति—वर्तमान समय में संसदात्मक शासन की यह प्रवृत्ति देखने में आयी है कि सम्पूर्ण राजशक्ति मन्त्रिमण्डल के हाथों में केन्द्रित हो जाय और व्यवस्थापिका उसके हाथों की कठपुतली बन जाय। मन्त्रिपरिषद् की इस तानाशाही के परिणाम प्रजातन्त्र के हित में अच्छे नहीं होते हैं। जब शासक दल को व्यवस्थापिका के लोकप्रिय सदन में भारी बहुमत प्राप्त होता है, तब यह स्थिति विशेष रूप से देखी जाती है।

(7) प्रशासन कार्य में अक्षमता—कार्यपालिका के व्यवस्थापिका से सम्बन्धित होने के कारण मन्त्रियों का बहुत अधिक समय व्यवस्थापिका में उपस्थित होने, वहां वाद-विवाद सुनने और स्वयं वाद-विवाद में भाग लेने में चला जाता है और ये मन्त्रिगण शासन सम्बन्धी कार्यों पर ठीक प्रकार से ध्यान नहीं दे पाते।

(8) उग्र राजनीतिक दलबन्दी—अध्यक्षात्मक शासन में तो राजनीतिक दल केवल निर्वाचन के समय ही सक्रिय होते हैं, किन्तु संसदात्मक शासन में शक्ति प्राप्त करने की आशा में राजनीतिक दल सदैव ही बहुत अधिक सक्रिय रहते हैं। सत्तारूढ़ दल और विरोधी दलों में सत्ता हथियाने के लिए सदैव आरोप-प्रत्यारोप चलते रहते हैं, जिससे सारा वातावरण खराब हो जाता है।

(9) संकटकाल के समय कार्यपालिका की निर्बलता—संसदात्मक शासन युद्ध या अन्य संकटकाल की स्थिति में बहुत अधिक निर्बल होता है। ऐसी स्थिति में मन्त्रिपरिषद् को न केवल युद्ध का संचालन या संकटकाल का सामना करना पड़ता है, वरन् इसके साथ ही व्यवस्थापिका में दिन-प्रतिदिन की आलोचना भी सहन करनी होती है और ये आलोचनाएं मन्त्रिपरिषद् के कार्य में बाधक होती हैं।

CC-0. Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(10) मन्त्रिमण्डलों का बढ़ता हुआ आकार और दल-बदल—वर्तमान समय में संसदात्मक शासन का एक और दोष मन्त्रिमण्डल के बड़े आकार व दल-बदल के रूप में देखा गया है। इन बड़े मन्त्रिमण्डलों से एक ओर प्रशासनिक व्यय में बहुत अधिक वृद्धि हो जाती है तो दूसरी ओर शासन का उचित रूप में संचालन भी सम्भव नहीं हो पाता। भारत जैसे देशों में दल-बदल का जो रोग देखा गया है, वह भी संसदीय शासन से ही सम्बद्ध है।

अध्यक्षात्मक शासन

जिस शासन-व्यवस्था में कार्यपालिका प्रधान व्यवस्थापिका से बिल्कुल अलग होता है और शासन विभाग का प्रधान एक ऐसा व्यक्ति होता है जो व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होता, उसे अध्यक्षात्मक शासन कहते हैं। डॉ. गार्नर के अनुसार, **"अध्यक्षात्मक सरकार वह होती है जिसमें कार्यपालिका अर्थात् राज्य का अध्यक्ष तथा उसके मन्त्री संविधान की दृष्टि से अपनी अवधि के बारे में विधानमण्डल से स्वतन्त्र होते हैं और अपनी राजनीतिक नीतियों के बारे में भी उसके प्रति अनुत्तरदायी होते हैं।"** अमरीका, ब्राजील और लैटिन अमरीका के राज्यों में इसी प्रकार की शासन-व्यवस्था है।

अध्यक्षात्मक शासन की विशेषताएं
(CHARACTERISTICS OF PRESIDENTIAL GOVERNMENT)

इस शासन-व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं :

(1) कार्यपालिका का कार्यकाल निश्चित—कार्यपालिका के प्रधान का निर्वाचन एक निश्चित समय के लिए किया जाता है और महाभियोग के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से उसे उसके कार्यकाल के पूर्व उसके पद से नहीं हटाया जा सकता है।

अध्यक्षात्मक शासन की विशेषताएं
1. कार्यपालिका का कार्यकाल निश्चित
2. कार्यपालिका और व्यवस्थापिका एक-दूसरे से पृथक्
3. नाममात्र की और वास्तविक कार्यपालिका अलग-अलग नहीं
4. मन्त्रियों का राष्ट्रपति के प्रति व्यक्तिगत उत्तरदायित्व

(2) कार्यपालिका और व्यवस्थापिका एक-दूसरे से पृथक्—यह शासन-व्यवस्था मॉण्टेस्क्यू के शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त पर आधारित है और इसमें कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका एक-दूसरे से स्वतन्त्र रहती हैं। व्यवस्थापिका और कार्यपालिका एक-दूसरे के कार्यों में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करतीं।

(3) नाममात्र की और वास्तविक कार्यपालिका अलग-अलग नहीं—इस शासन-व्यवस्था में संसदात्मक शासन के समान नाममात्र की और वास्तविक कार्यपालिका अलग-अलग नहीं होती हैं। राष्ट्रपति, जो देश का वैधानिक प्रधान होता है, व्यवहार में भी कार्यपालिका शक्तियों का उपभोग करता है।

(4) मन्त्रियों का राष्ट्रपति के प्रति व्यक्तिगत उत्तरदायित्व—अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में यद्यपि कार्यपालिका सामूहिक या व्यक्तिगत रूप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होती, लेकिन मन्त्रीगण व्यक्तिगत रूप से राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होते हैं। उनका अपना कोई स्वतन्त्र राजनीतिक अस्तित्व नहीं होता।

संसदात्मक व अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्थाओं में अन्तर

इन दोनों शासन-व्यवस्थाओं में प्रमुख अन्तर निम्नलिखित हैं :

(1) कार्यकाल सम्बन्धी अन्तर—संसदात्मक शासन में कार्यपालिका का कार्यकाल निश्चित नहीं होता और व्यवस्थापिका अविश्वास का प्रस्ताव पास कर कार्यपालिका को किसी भी समय उसके पद से हटा सकती है, लेकिन अध्यक्षात्मक शासन में कार्यपालिका का कार्यकाल निश्चित होता है और महाभियोग के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से कार्यपालिका को निश्चित समय से पूर्व पदच्युत नहीं किया जा सकता है।

(2) कार्यपालिका प्रधान की स्थिति में अन्तर—संसदात्मक शासन-व्यवस्था में कार्यपालिका का प्रधान, कार्यपालिका का नाममात्र का प्रधान होता है। वैधानिक रूप से उसे समस्त शक्तियां प्राप्त होती हैं, किन्तु व्यवहार में उसके द्वारा अपनी किन्हीं शक्तियों का प्रयोग नहीं किया जा सकता है, लेकिन अध्यक्षात्मक

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शासन-व्यवस्था में कार्यपालिका प्रधान नाममात्र का प्रधान ही न होकर वास्तविक प्रधान होता है। वही मन्त्रिपरिषद् को नियुक्त करता है और मन्त्रिपरिषद् पूर्ण रूप से उसके अधीन होती है।

(3) कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के सम्बन्ध के विषय में अन्तर—संसदात्मक शासन में कार्यपालिका का निर्माण व्यवस्थापिका में से ही किया जाता है और यह व्यवस्थापिका के प्रति ही उत्तरदायी होती है। व्यवस्थापिका और कार्यपालिका एक-दूसरे को उसके कार्य में परामर्श, सहायता और सक्रिय सहयोग देती रहती है, लेकिन अध्यक्षात्मक शासन में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका एक-दूसरे से स्वतन्त्र होती हैं। कार्यपालिका के सदस्य साधारणतया व्यवस्थापिका में उपस्थित नहीं हो सकते, कानून निर्माण सम्बन्धी कार्यों में भाग नहीं ले सकते हैं और व्यवस्थापिका द्वारा भी कार्यपालिका पर नियन्त्रण नहीं रखा जाता है। संसदात्मक और अध्यक्षात्मक शासन में सबसे प्रमुख अन्तर सरकार के इन दो अंगों (व्यवस्थापिका और कार्यपालिका) के आपसी सम्बन्ध के विषय में ही है।

संसदात्मक व अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्थाओं में अन्तर
1. कार्यकाल सम्बन्धी अन्तर
2. कार्यपालिका प्रधान की स्थिति में अन्तर
3. कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के सम्बन्ध के विषय में अन्तर
4. मन्त्रियों की स्थिति से सम्बन्धित अन्तर
5. राजनीतिक दलों की सक्रियता में अन्तर
6. जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तों के आधार पर अन्तर

(4) मन्त्रियों की स्थिति से सम्बन्धित अन्तर—संसदात्मक शासन में मन्त्रियों की स्थिति बहुत उच्च होती है। वे अपने विभाग के सर्वेसर्वा होते हैं और कानून-निर्माण कार्य पर भी पर्याप्त प्रभाव रखते हैं, किन्तु राष्ट्रपति के अधिकार के अन्तर्गत जो मन्त्रिपरिषद् होती है, उसके सदस्यों की स्थिति इतनी उच्च नहीं होती। वे पूर्णतया राष्ट्रपति के अधीन होते हैं और कानून निर्माण पर उनके द्वारा कोई प्रभाव नहीं डाला जा सकता है।

(5) राजनीतिक दलों की सक्रियता में अन्तर—अध्यक्षात्मक शासन में राष्ट्रपति का चुनाव हो जाने के पश्चात् प्रायः विरोधी दल शान्त हो जाते हैं, लेकिन संसदात्मक शासन में विरोधी दल शासक दल की प्रत्येक बात का विरोध करते हैं और सत्ता प्राप्त करने की कोशिश करते रहते हैं।

(6) जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तों के आधार पर अन्तर—संसदात्मक और अध्यक्षात्मक दोनों ही व्यवस्थाएं लोकतन्त्र के भेद हैं, लेकिन इस सम्बन्ध में यह कहना उचित है कि संसदीय शासन अध्यक्षात्मक शासन की तुलना में अधिक जनतन्त्रात्मक है। जनतन्त्र का तात्पर्य जनता की इच्छा के अनुसार शासन है और ऐसा केवल संसदीय शासन में ही सम्भव है क्योंकि यही एकमात्र ऐसी व्यवस्था है, जिसमें वास्तविक शासक (मन्त्रिमण्डल/व्यवस्थापिका) जनप्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी होता है।

अध्यक्षात्मक शासन के गुण
(MERITS OF PRESIDENTIAL GOVERNMENT)

अध्यक्षात्मक शासन के गुण
1. शासन में स्थायित्व
2. असाधारण परिस्थितियों के लिए उपयुक्त
3. दलबन्दी की बुराइयां कम
4. प्रशासन में एकता
5. शासन में कुशलता
6. शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त का पालन
7. बहुदलीय प्रणाली के लिए अत्यन्त उपयुक्त
8. योग्यतम व्यक्तियों के मन्त्रिमण्डल का निर्माण

अध्यक्षात्मक शासन के प्रमुख गुण निम्नलिखित कहे जा सकते हैं :

(1) शासन में स्थायित्व—इस शासन-व्यवस्था में कार्यपालिका प्रधान एक निश्चित समय के लिए चुना जाता है। व्यवस्थापिका का निर्माण भी एक निश्चित समय के लिए होता है और इस अवधि के पूर्व दोनों में से किसी को नहीं हटाया जा सकता है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत शासन में स्थायित्व होने के कारण दीर्घकालीन योजना बनाकर ठीक प्रकार से प्रशासनिक कार्य किये जा सकते हैं।

(2) असाधारण परिस्थितियों के लिए उपयुक्त—अध्यक्षात्मक शासन में एक ही व्यक्ति के हाथों में समस्त शक्तियों का जो केन्द्रीकरण होता है, उसके परिणामस्वरूप संकटकाल में यह पद्धति

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुत उपयोगी सिद्ध होती है। ऐसे असाधारण अवसरों पर राष्ट्रपति शीघ्र ही प्रभावशाली कार्यवाही कर संकट का सफलतापूर्वक सामना कर सकता है।

(3) दलबन्दी की बुराइयां कम—यद्यपि अध्यक्षात्मक शासन में भी संगठित राजनीतिक दल होते हैं, किन्तु ये दल कार्यपालिका प्रधान के निर्वाचन के समय ही अधिक सक्रिय रहते हैं। कार्यपालिका प्रधान का निश्चित कार्यकाल होने के कारण कार्यपालिका प्रधान के चुनाव हो जाने के बाद दलबन्दी की भावना प्रकट होने के विशेष अवसर नहीं रहते। निर्वाचन हो जाने पर राष्ट्रपति दलबन्दी की भावना से पृथक् होकर शासन कर सकता है। ऐसा इसलिए सम्भव है कि अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में कार्यपालिका का कार्यकाल निश्चित होता है। अतः मध्यावधि चुनाव की सम्भावना नहीं होती। इसीलिए राजनीतिक हल चुनाव के बाद निष्क्रिय हो जाते हैं तथा दलगत राजनीति की विसंगतियों की सम्भावना कम हो जाती है। इस प्रकार अध्यक्षात्मक शासन में संसदात्मक शासन की अपेक्षा दलबन्दी की बुराइयां कम हो जाती हैं।

(4) प्रशासन में एकता—इस शासन-व्यवस्था में सम्पूर्ण शासन शक्ति एक ही व्यक्ति के हाथ में होती है और इस व्यक्ति के कार्यों को व्यवस्थापिका की स्वीकृति की भी आवश्यकता नहीं होती है। प्रशासनिक एकता के परिणामस्वरूप शासन बहुत अधिक शक्तिशाली रूप में कार्य कर सकता है।

(5) शासन में कुशलता—अध्यक्षात्मक शासन में कार्यपालिका व्यवस्थापिका से स्वतन्त्र होने के कारण अधिक साहस और स्वतन्त्रता के साथ प्रशासनिक कार्य कर सकती है। मन्त्री लोगों को व्यवस्थापिका के कार्यों में भाग लेने और लोकप्रिय होने के लिए समय खर्च नहीं करना पड़ता। इसलिए वे अपनी समस्त शक्ति और समय का उपयोग अपने शासन कार्य में कर सकते हैं। राष्ट्रपति के द्वारा विभिन्न विषयों के विशेषज्ञों को मन्त्री पद पर नियुक्त कर प्रशासनिक कार्य में अधिक कुशलता लायी जा सकती है।

(6) शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त का पालन—यह शासन पद्धति लोकतन्त्र के उस सिद्धान्त के अधिक अनुकूल है, जिसे शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त कहते हैं, क्योंकि इसमें व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका एक-दूसरे से स्वतन्त्र रहती हैं।

(7) बहुदलीय प्रणाली के लिए अत्यन्त उपयुक्त—जिस देश में बहुदलीय प्रणाली हो, वहां संसदीय पद्धति में सरकार बहुत जल्दी-जल्दी बदलती रहती है और लोकतन्त्र सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर पाता। बहुदलीय प्रणाली में तो लोकतन्त्रीय शासन का अध्यक्षात्मक रूप ही सफलतापूर्वक कार्य कर सकता है।

(8) योग्यतम व्यक्तियों के मन्त्रिमण्डल का निर्माण सम्भव—संसदात्मक शासन के अन्तर्गत मन्त्रिपरिषद् का निर्माण करने में प्रधानमन्त्री को अनेक बातें ध्यान में रखनी होती हैं, लेकिन अध्यक्षात्मक शासन के अन्तर्गत राष्ट्रपति जिन किन्हीं व्यक्तियों को मन्त्रिपरिषद् में शामिल करना चाहे, वह उन व्यक्तियों को मन्त्रिपरिषद् में शामिल कर सकता है और इस प्रकार ब्रजमोहन नेहरू के शब्दों में, "राष्ट्रपति योग्यतम व्यक्तियों के मन्त्रिमण्डल का निर्माण कर सकता है।"[1]

अध्यक्षात्मक शासन के दोष
(DEMERITS OF PRESIDENTIAL GOVERNMENT)

अध्यक्षात्मक शासन के प्रमुख दोष निम्नलिखित कहे जा सकते हैं :

अध्यक्षात्मक शासन के दोष
1. परिवर्तनशीलता का अभाव
2. उत्तरदायित्व की अवहेलना
3. व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में सहयोग का अभाव
4. निरंकुशता की आशंका
5. प्रशासनिक एकता के सिद्धान्त का विरोध
6. कम राजनीतिक शिक्षा

(1) परिवर्तनशीलता का अभाव—इस शासन-व्यवस्था में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका प्रधान का चुनाव एक निश्चित समय के लिए किया जाता है और इस निश्चित अवधि के पूर्व दोनों में से किसी को भी उसके पद से नहीं हटाया जा सकता है। यदि इस अवधि के बीच कुछ ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो जायें जिनके कारण शासन में परिवर्तन करना आवश्यक हो तो ऐसा करना सम्भव नहीं हो पाता है। इसके विपरीत, संसदात्मक शासन में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किये जा सकते हैं।

(2) उत्तरदायित्व की अवहेलना—इस शासन-व्यवस्था में प्रशासनिक बुराइयों के लिए व्यवस्थापिका अथवा प्रशासन में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

1 B. M. Nehru, *The States*, Independence Day, November, 1970.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी एक को ही निश्चित रूप से उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता है। व्यवस्थापिका और कार्यपालिका दोनों ही स्वतन्त्र रूप से कार्य करते हैं और यदि प्रशासन में कोई बुराई उत्पन्न हो जाती है तो इसके लिए व्यवस्थापिका कार्यपालिका को और कार्यपालिका व्यवस्थापिका को उत्तरदायी ठहराती है। इस प्रकार सरकार के इन दो अंगों में एक-दूसरे पर उत्तरदायित्व डालने की प्रवृत्ति रहती है और उत्तरदायित्व की इस अवहेलना से राज्य के हितों को हानि पहुंचती है।

(3) **व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में सहयोग का अभाव**—अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था का प्रमुख दोष व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में सहयोग और सामंजस्य का अभाव है। प्राणी शरीर के समान ही प्रशासन में भी एक प्रकार की आंगिक एकता पायी जाती है और प्रशासन कार्य ठीक प्रकार से करने के लिए विभिन्न विभागों में सहयोग होना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार के सहयोग के अभाव में कानून निर्माण और प्रशासन दोनों ही कार्य ठीक प्रकार से नहीं हो पाते।

अध्यक्षात्मक शासन में तो अनेक बार सरकार के उन दो विभागों में सहयोग के स्थान पर परस्पर उग्र विरोध दिखायी देता है जो शासन के लिए अत्यन्त हानिकारक होता है।

(4) **निरंकुशता की आशंका**—इस शासन के अन्तर्गत कार्यपालिका प्रधान का कार्यकाल निश्चित होता है। एक बार निर्वाचित हो जाने के पश्चात् राष्ट्रपति न तो जनता के और न ही जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के नियन्त्रण में रहता है। इस प्रकार राष्ट्रपति मनमाने तरीके से कार्य करते हुए निरंकुशता की प्रवृत्ति को अपना सकता है।

(5) **प्रशासनिक एकता के सिद्धान्त का विरोध**—वर्तमान समय में प्रशासन के सम्बन्ध में 'आंगिक सिद्धान्त' (Organic Theory) का प्रतिपादन किया जाता है, जिसके अनुसार प्रशासन में भी मानवीय शरीर के समान ही एकता और अंगों की परस्पर निर्भरता होती है, लेकिन अध्यक्षात्मक शासन इस सिद्धान्त के विरुद्ध है, क्योंकि इसके अन्तर्गत व्यवस्थापिका और कार्यपालिका एक-दूसरे से सम्बन्ध नहीं रखती हैं।

(6) **कम राजनीतिक शिक्षा**—संसदात्मक शासन में मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों से व्यवस्थापिका में प्रश्न पूछे जाते हैं, विभिन्न विभागों के कार्यों की आलोचना की जाती है और मन्त्रिपरिषद् के सदस्य इन आलोचनाओं का उत्तर देते हैं। इन सब बातों में जनता की भी रुचि रहती है और जनता को राजनीतिक शिक्षा प्राप्त होती है, लेकिन अध्यक्षात्मक शासन में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के बीच सम्बन्ध न होने के कारण जनता को राजनीतिक शिक्षा प्राप्त होने के अवसर बहुत कम हो जाते हैं।

अध्यक्षात्मक शासन अपेक्षाकृत कम प्रजातान्त्रिक

संसदात्मक और अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था के गुण-दोषों के अतिरिक्त एक अन्य तथ्य यह है कि यद्यपि संसदात्मक शासन और अध्यक्षात्मक शासन दोनों ही प्रजातन्त्र के भेद हैं, लेकिन संसदात्मक शासन-व्यवस्था की तुलना में अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था अपेक्षाकृत कम प्रजातान्त्रिक है। दूसरे शब्दों में, **संसदात्मक शासन अपेक्षाकृत अधिक प्रजातान्त्रिक है।** प्रजातन्त्र का आशय न केवल यह है कि शासन कार्य जनता के प्रतिनिधियों द्वारा किया जाना चाहिए, वरन् इसमें यह भी निहित है कि शासक वर्ग सामान्य जनता के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए अर्थात् यदि जनता शासक वर्ग के कार्यों से असन्तुष्ट हो, तो जनता को सरकार में परिवर्तन या शासक वर्ग को पदच्युत करने का अधिकार होना चाहिए। इस सम्बन्ध में संसदात्मक और अध्यक्षात्मक शासन में अन्तर यह है कि अध्यक्षात्मक शासन में जनता द्वारा शासन के कार्यों का मूल्यांकन और शासन की पदच्युति का कार्य एक निश्चित समय के बाद ही किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, अमरीका में यह अवधि 4 वर्ष है, लेकिन संसदात्मक शासन में यह कार्य कभी भी किया जा सकता है। जब कभी जनता शासन के कार्यों से असन्तुष्ट हो, जनता के प्रतिनिधि सरकार में परिवर्तन कर सकते हैं। संसदात्मक शासन के इस गुण की ओर संकेत करते हुए डॉ. अम्बेडकर ने भारतीय संविधान सभा में कहा था, "**संसदात्मक व्यवस्था शासन के सामयिक मूल्यांकन के साथ-साथ दिन-प्रतिदिन के मूल्यांकन का भी अवसर प्रदान करती है।**"

इसके अतिरिक्त एक अन्य तथ्य यह है कि प्रजातन्त्र की सफलता के लिए यह अत्यन्त आवश्यक होता है कि सामान्य जनता अधिकाधिक राजनीतिक शिक्षा से सम्पन्न हो और जनता को राजनीतिक शिक्षा प्राप्त करने के अवसर अध्यक्षात्मक व्यवस्था की अपेक्षा संसदात्मक व्यवस्था में अधिक प्राप्त होते हैं।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार संसदात्मक व्यवस्था अध्यक्षात्मक व्यवस्था की तुलना में निश्चित रूप से अधिक प्रजातान्त्रिक है।

निष्कर्ष : अध्यक्षात्मक व्यवस्था पर संसदात्मक व्यवस्था की श्रेष्ठता—दोनों ही शासन-व्यवस्थाओं के गुण-दोषों की विवेचना के उपरान्त यह प्रश्न उपस्थित होता है कि दोनों व्यवस्थाओं में से कौन-सी व्यवस्था श्रेष्ठ है। अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था को संयुक्त राज्य अमरीका और अमरीकी महाद्वीप के कुछ राज्यों में अपनाया गया है, अन्य लोकतन्त्रात्मक राज्यों में संसदात्मक पद्धति को अपनाया गया है। फ्रांस के पंचम गणतन्त्र और श्रीलंका में संसदीय और अध्यक्षात्मक व्यवस्था के समन्वय को अपनाया गया है। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद स्थापित लोकतन्त्रों में भी सामान्यतया संसदीय शासन को ही अपनाया गया। कारण यह है कि संसदात्मक शासन में शासक जनता के प्रति उत्तरदायी रहते हैं। वे तभी तक अपने पदों पर बने रहते हैं, जब तक कि जनता और उनके प्रतिनिधियों का विश्वास उन्हें प्राप्त रहे। उत्तरदायित्व की इस व्यवस्था के कारण वे सुगमता से स्वेच्छाचारी और निरंकुश नहीं हो सकते हैं। साथ ही इस व्यवस्था में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के बीच ऐसा सहयोग और समन्वय पाया जाता है, जो अध्यक्षात्मक शासन में कभी भी सम्भव नहीं है। इस शासन-व्यवस्था में बहुत अधिक अच्छे प्रकार से जनता को राजनीतिक शिक्षा प्राप्त होती है और यही शासन-व्यवस्था लोकतन्त्रवाद के अनुकूल भी है। संसदात्मक शासन के इन्हीं गुणों ने इसे बहुत अधिक लोकप्रिय बना दिया है।

संसदात्मक शासन के प्रमुख दोष राजनीतिक दलबन्दी की बुराइयां और असाधारण परिस्थितियों के लिए अनुपयोगिता बतायें जाते हैं। स्वतन्त्र विचार के आधार पर राजनीतिक दलों के महत्व को कम करते हुए पहली बुराई को दूर किया जा सकता है और दूसरे दोष को दूर करने के लिए, संविधान के अन्तर्गत विशेष व्यवस्था की जा सकती है जैसी कि भारतीय संविधान में की गयी है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि **तर्क और अनुभव के आधार पर सामान्य परिस्थितियों में संसदात्मक शासन अध्यक्षात्मक शासन की तुलना में अधिक उपयुक्त लोकतान्त्रिक और व्यावहारिक है।**

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (प्रत्येक प्रश्न 6 अंक का, उत्तर लगभग 300 शब्दों में दीजिए)

1. संसदात्मक शासन के गुणों तथा दोषों की विवेचना कीजिए। इसकी सफलता के लिए क्या आवश्यक दशाएं हैं?
2. संसदात्मक तथा अध्यक्षात्मक शासन प्रणालियों की तुलना कीजिए। आप इनमें से किसे अच्छा समझते हैं और क्यों?
3. सरकार की अध्यक्षात्मक प्रणाली के गुण एवं दोषों का वर्णन कीजिए।
4. अध्यक्षात्मक शासन की प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
5. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए : (अ) संसदीय शासन प्रणाली, (ब) अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली।
6. अध्यक्षात्मक सरकार की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करते हुए उसके गुणों पर प्रकाश डालिए। (उ.प्र., 2010)

लघु उत्तरीय प्रश्न

(अ) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 50 शब्दों में दीजिए (2 अंक)।

1. संसदात्मक शासन से आप क्या समझते हैं?
2. संसदात्मक सरकार में संसद की सदस्यता मन्त्रियों के लिए क्यों आवश्यक है?
3. संसदात्मक सरकार के प्रमुख दोष या अवगुण लिखिए।
4. अध्यक्षात्मक या राष्ट्रपति शासन क्या है?
5. संसदात्मक और अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में दो प्रमुख अन्तर स्पष्ट कीजिए। (उ.प्र., 2010)
6. संसदात्मक शासन में कार्यपालिका की अस्थिरता क्यों होती है?

(ब) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिए (4 अंक)।

7. संसदात्मक शासन की प्रमुख विशेषताएं लिखिए।
8. संसदात्मक सरकार के प्रमुख गुण लिखिए। (उ.प्र., 2010)
9. अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएं लिखिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

10. संसदात्मक शासन में विधायिका द्वारा कार्यपालिका के नियन्त्रण के चार तरीके बताइए। (उ.प्र., 2010)
11. अध्यक्षात्मक शासन के कोई चार गुण लिखिए।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न [प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का, उत्तर दस शब्द (एक वाक्य) में]

प्रश्न 1. संसदात्मक सरकार क्या है?
उत्तर—संसदात्मक शासन में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है।

प्रश्न 2. संसदात्मक शासन के दो गुण लिखिए।
उत्तर—(1) सरकार संसद के प्रति उत्तरदायी रहती है इसलिए उसके निरंकुश होने की सम्भावना नहीं रहता है।
(2) व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के बीच सहयोग।

प्रश्न 3. संसदात्मक सरकार का एक दोष लिखिए।
उत्तर—इसमें सरकार का कोई निश्चित कार्यकाल नहीं होता।

प्रश्न 4. अध्यक्षात्मक सरकार क्या है?
उत्तर—अध्यक्षात्मक शासन में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका परस्पर सम्बन्धित नहीं होती हैं।

प्रश्न 5. अध्यक्षात्मक सरकार के दो प्रमुख गुण लिखिए।
उत्तर—(1) शासन में स्थायित्व, (2) संकटकाल के लिए अधिक उपयुक्त शासन-व्यवस्था।

प्रश्न 6. अध्यक्षात्मक शासन के दो प्रमुख दोष लिखिए।
उत्तर—(1) राष्ट्रपति की निरंकुशता का भय, (2) उत्तरदायित्व का अभाव पाया जाना।

प्रश्न 7. कौन-सी शासन-व्यवस्था शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त पर आधारित होती है?
उत्तर—अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था।

प्रश्न 8. भारत में संसदात्मक सरकार है या अध्यक्षात्मक?
उत्तर—भारत में संसदात्मक सरकार है।

प्रश्न 9. किस शासन-व्यवस्था में प्रधानमन्त्री की प्रधानता होती है?
उत्तर—संसदात्मक शासन-व्यवस्था में प्रधानमन्त्री की प्रधानता होती है।

प्रश्न 10. संसदात्मक शासन प्रणाली और अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में एक अन्तर स्पष्ट कीजिए।
उत्तर—संसदात्मक शासन में कार्यपालिका का कार्यकाल अनिश्चित होता है, जबकि अध्यक्षात्मक शासन में कार्यपालिका का कार्यकाल निश्चित होता है।

प्रश्न 11. किसी ऐसे देश का नाम बताइए, जिसके शासन की विशेषता 'संसदीय सर्वोच्चता' (Supremacy of the Parliament) हों?
उत्तर—ग्रेट ब्रिटेन (इंग्लैण्ड)।

बहुविकल्पीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों में चार विकल्प दिए गए हैं। उनमें से एक सही विकल्प छांटकर लिखिए :

1. वह शासन व्यवस्था जिसमें व्यवस्थापिका और कार्यपालिका परस्पर सम्बन्धित होती हैं तथा कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है, कहलाती है :
(अ) संसदात्मक शासन-व्यवस्था (ब) अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था
(स) संघात्मक शासन-व्यवस्था (द) इनमें से कोई नहीं
2. संसदात्मक शासन की प्रमुख विशेषता है :
(अ) इसमें नाममात्र की एवं वास्तविक कार्यपालिका में भेद होता है।
(ब) व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।
(स) कार्यपालिका के कार्यकाल की अनिश्चितता रहती है।
(द) उपर्युक्त सभी।
3. निम्नलिखित में से कौन-सा संसदात्मक शासन पद्धति का गुण नहीं है :
(अ) व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में सहयोग (ब) शासन-व्यवस्था जनता के प्रति उत्तरदायी
(स) आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन सम्भव (द) शासन में स्थायित्व
4. संसदात्मक शासन का प्रमुख दोष है :
(अ) कार्यपालिका की अस्थिरता (ब) शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का विरोध
(स) मन्त्रिमण्डलीय तानाशाही की प्रवृत्ति (द) इनमें से सभी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

5. जिस शासन व्यवस्था में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक् होती हैं और शासन विभाग का प्रधान एक ऐसा व्यक्ति होता है जो व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होता है, उसे कहते हैं :
(अ) संसदात्मक शासन (ब) अध्यक्षात्मक शासन
(स) एकात्मक शासन (द) इनमें से कोई नहीं

6. अध्यक्षात्मक शासन का उदाहरण है :
(अ) इंग्लैण्ड (ब) भारत (स) अमरीका (द) इनमें से कोई नहीं

7. संसदात्मक शासन का उदाहरण है :
(अ) इंग्लैण्ड (ब) अमरीका (स) ब्राजील (द) इनमें से कोई नहीं

8. अध्यक्षात्मक शासन की प्रमुख विशेषता है : (उ.प्र., 2010)
(अ) कार्यपालिका का कार्यकाल निश्चित (ब) कार्यपालिका और व्यवस्थापिका एक-दूसरे से पृथक्
(स) नाममात्र की और वास्तविक कार्यपालिका अलग-अलग नहीं
(द) उपर्युक्त सभी

9. निम्नलिखित में से कौन-सा अध्यक्षात्मक शासन का गुण नहीं है :
(अ) शासन में स्थायित्व (ब) असाधारण परिस्थितियों के लिए उपयुक्त
(स) व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका में सहयोग (द) प्रशासन में एकता

10. अध्यक्षात्मक शासन का प्रमुख दोष है :
(अ) परिवर्तनशीलता का अभाव (ब) उत्तरदायित्व की अवहेलना
(स) व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में सहयोग का अभाव
(द) उपर्युक्त सभी

11. "संसदात्मक व्यवस्था शासन के सामयिक मूल्यांकन के साथ-साथ दिन-प्रतिदिन के मूल्यांकन का भी अवसर प्रदान करती है।" यह कथन किसका है :
(अ) जवाहरलाल नेहरू का (ब) डॉ. अम्बेडकर का
(स) सरदार पटेल का (द) महात्मा गांधी का

12. फ्रांस के पंचम गणतन्त्र में किस व्यवस्था को अपनाया गया है :
(अ) संसदात्मक व्यवस्था (ब) अध्यक्षात्मक व्यवस्था
(स) संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक व्यवस्था के समन्वय को
(द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

13. संसदात्मक व्यवस्था में शासन की समस्त शक्तियों का वास्तविक प्रयोग कौन करता है :
(अ) राष्ट्रपति (ब) उपराष्ट्रपति (स) मन्त्रिपरिषद् (द) इनमें से कोई नहीं

14. निम्नलिखित में से किस शासन को मन्त्रिमण्डलात्मक शासन या उत्तरदायी शासन के नाम से भी पुकारा जाता है :
(अ) संसदात्मक शासन (ब) अध्यक्षात्मक शासन
(स) संघात्मक शासन (द) एकात्मक शासन

15. संसदात्मक व्यवस्था में मन्त्रिपरिषद् की बैठकों की अध्यक्षता कौन करता है :
(अ) राष्ट्रपति (ब) उपराष्ट्रपति (स) प्रधानमन्त्री (द) इनमें से कोई नहीं

16. संसदात्मक शासन को सबसे पहले अपनाने वाला और संसदात्मक व्यवस्था का 'मॉडल' देश है?
(अ) संयुक्त राज्य अमरीका (ब) ब्रिटेन
(स) फ्रांस (द) जर्मनी

17. अध्यक्षात्मक व्यवस्था को सर्वप्रथम अपनाने वाला और अध्यक्षात्मक व्यवस्था का 'मॉडल' देश है?
(अ) संयुक्त राज्य अमरीका (ब) फ्रांस
(स) जर्मनी (द) जापान

18. नाममात्र की कार्यपालिका और वास्तविक कार्यपालिका में अन्तर किसकी विशेषता है?
(अ) एकात्मक सरकार की (ब) संघात्मक सरकार की
(स) अध्यक्षात्मक सरकार की (द) संसदात्मक सरकार की

[उत्तर—1. (अ), 2. (द), 3. (द), 4. (द), 5. (ब), 6. (स), 7. (अ), 8. (द), 9. (स), 10. (द), 11. (ब), 12. (स), 13. (स), 14. (अ), 15. (स), 16. (ब), 17. (अ), 18. (द)]

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

M.L.A. राज्य
M.P. प्रशासन
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
हीयर के अनुसार = भारत का प्रशासनिक व्यवस्था अर्द्धसंघीय है ॥

13

एकात्मक व संघात्मक शासन

[UNITARY AND FEDERAL GOVERNMENT]

"एकात्मकता का तात्पर्य राज्य की शक्ति एक ही केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में केन्द्रित होना है जबकि संघात्मक का तात्पर्य राज्य की शक्ति का ऐसी सहयोगी सत्ताओं में विभाजित होना है, जिनमें से प्रत्येक अपने क्षेत्र में वैधानिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो।" —वेंकटरंगया

एक देश के संविधान द्वारा क्षेत्र के आधार पर शक्तियों का जो केन्द्रीकरण या विभाजन किया जाता है और देश के शासन में केन्द्रीय और स्थानीय इकाइयों के बीच जो सम्बन्ध होता है उसके आधार पर शासन-व्यवस्थाओं को एकात्मक और संघात्मक इस प्रकार के दो रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है।

एकात्मक शासन

एकात्मक शासन वह होता है जिसके अन्तर्गत संविधान के द्वारा शासन की समस्त शक्ति केन्द्रीय सरकार में निहित करा दी जाती है और स्थानीय सरकारों का अस्तित्व एवं शक्तियां केन्द्रीय सरकार की इच्छा पर निर्भर करती हैं। डॉ. फाइनर के अनुसार, "एकात्मक राज्य वह राज्य है जिसमें समस्त सत्ता एवं शक्ति एक केन्द्र में निहित रहती है और जिनकी इच्छा एवं जिसके अधिकारी समस्त क्षेत्र पर कानूनन सर्वशक्तिमान होते हैं।"

एकात्मक शासन की विशेषताएं

(CHARACTERISTICS OF UNITARY GOVERNMENT)

एकात्मक शासन की प्रमुख रूप से निम्नलिखित विशेषताएं कही जा सकती हैं :

(1) संविधान के अनुसार सम्पूर्ण राजशक्ति केवल एक केन्द्रीय सरकार में निहित होती है और केन्द्र तथा इकाइयों की सरकारों में उनका विभाजन एवं वितरण नहीं किया जाता है। केन्द्रीय सरकार सम्पूर्ण देश के सभी विषयों के सम्बन्ध में सर्वोच्च होती है और इस प्रकार इस शासन-व्यवस्था में सम्पूर्ण प्रभुत्व-शक्ति केन्द्रीय सरकार में केन्द्रित होती है।

(2) इस शासन-व्यवस्था में प्रशासनिक सुविधा के लिए राज्य को अनेक प्रान्तों व प्रदेशों में विभक्त किया जा सकता है, किन्तु इन प्रान्तीय सरकारों का सम्पूर्ण अस्तित्व केन्द्रीय सरकार की इच्छा पर निर्भर करता है। संविधान के अनुसार प्रान्तीय और स्थानीय सरकारों की अपनी कोई अलग एवं स्वतन्त्र शक्ति नहीं होती है। प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से यद्यपि प्रान्तीय या स्थानीय सरकारों की स्थापना की जा सकती है, परन्तु प्रान्तीय और स्थानीय सरकारें केवल उन्हीं कार्यों को करती हैं जो केन्द्रीय सरकार द्वारा उन्हें प्रदान किये जाते हैं।

(3) सम्पूर्ण राज्य में एक ही नागरिकता होती है, लेकिन एक ही नागरिकता होने का तात्पर्य आवश्यक रूप से एकात्मक शासन नहीं होता है।

एकात्मक शासन के गुण

(MERITS OF UNITARY GOVERNMENT)

एकात्मक शासन में प्रमुख रूप से निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं :

(1) प्रशासन में एकता—एकात्मक शासन के अन्तर्गत सम्पूर्ण राज्य में एक प्रकार के कानून होते हैं और इन सभी कानूनों को केन्द्रीय शासन के निर्देशन के अन्तर्गत कार्यरूप में परिणत किया जाता है।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिणामतः सम्पूर्ण राज्य में प्रशासन की एकरूपता बनी रहती है। इस शासन में प्रशासनिक एकरूपता के साथ-साथ नीति सम्बन्धी एकरूपता भी बनी रहती है। प्रशासन से सम्बन्धित सभी विषयों के सम्बन्ध में नीति निर्धारण केन्द्रीय शासन द्वारा ही किया जाता है। अतः स्वाभाविक रूप से नीति निर्धारण सम्बन्धी वह एकरूपता आ जाती है जो कि राज्य की उन्नति और कुशल प्रशासन के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

एकात्मक शासन के गुण
(1) प्रशासन में एकता
(2) प्रशासनिक शक्तिसम्पन्नता
(3) संकटकाल के लिए उपयुक्त
(4) संगठन की सरलता
(5) राष्ट्रीय एकता
(6) मितव्ययता
(7) छोटे देशों के लिए बहुत उपयुक्त

(2) प्रशासनिक शक्तिसम्पन्नता—केन्द्रीय शासन के हाथ में सम्पूर्ण शक्ति निहित होने के कारण केन्द्रीय सरकार जनता के हित को दृष्टि में रखकर सभी विषयों के सम्बन्ध में ठीक प्रकार से और दृढ़ता के साथ कार्य कर सकती है। इस शासन-व्यवस्था में शक्ति का केन्द्रीकरण होने के कारण प्रशासन का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकार का ही होता है। केन्द्रीय सरकार के सबल होने और उत्तरदायित्व के निश्चित होने के कारण प्रशासन में कुशलता आ जाती है।

(3) संकटकाल के लिए उपयुक्त—युद्ध, आर्थिक संकट और अन्य प्रकार की असाधारण परिस्थितियों में शीघ्रतापूर्वक निर्णय करने, उन्हें गुप्त रखने और शीघ्र ही उन्हें कार्यरूप में परिणत करने की आवश्यकता होती है और इस प्रकार से शीघ्रतापूर्वक कार्य केवल एकात्मक शासन के द्वारा ही किया जा सकता है, जिसके अन्तर्गत शक्ति का केन्द्रीकरण होता है। इसी बात को दृष्टि में रखकर भारतीय संविधान के अन्तर्गत संकटकाल के समय संघात्मक शासन को एकात्मक शासन में परिवर्तित करने की व्यवस्था की गयी है।

(4) संगठन की सरलता—संगठन की दृष्टि से एकात्मक शासन बहुत सरल होता है। इसके अतिरिक्त, इस संगठन में पर्याप्त परिवर्तनशीलता भी रहती है। केन्द्रीय सरकार आवश्यकतानुसार शासन में किसी भी प्रकार का परिवर्तन कर सकती है।

(5) राष्ट्रीय एकता—शासन की एकात्मकता के कारण सम्पूर्ण देश के लिए एक-से कानून होते हैं, एक ही प्रकार से उन्हें लागू करने की व्यवस्था होती है और एक ही प्रकार की न्याय व्यवस्था होती है। सभी देशवासियों के एक ही प्रकार की परिस्थितियों में रहने के कारण स्वाभाविक रूप से उनमें राष्ट्रीयता के बन्धन बहुत अधिक दृढ़ हो जाते हैं।

(6) मितव्ययता—इसमें विविध स्थानों पर केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के दोहरे कर्मचारी नियुक्त करने की आवश्यकता नहीं होती और शासन में मितव्ययता रहती है।

(7) छोटे देशों के लिए बहुत उपयुक्त—एकात्मक शासन छोटे देशों के लिए बहुत उपयुक्त सिद्ध होता है क्योंकि यह उनमें सब भेद समाप्त करके संगठन और एकता स्थापित कर देता है।

एकात्मक शासन के दोष
(DEMERITS OF UNITARY GOVERNMENT)

एकात्मक शासन में प्रमुख रूप से निम्नलिखित दोष पाये जाते हैं :

(1) केन्द्रीय सरकार के निरंकुश होने का भय—एकात्मक शासन में सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रीय शासन में निहित होती है, अतः स्वाभाविक रूप से यह भय रहता है कि केन्द्रीय सरकार शासन के सभी क्षेत्रों में मनमानी न करने लगे। व्यावहारिक अनुभव के आधार पर भी कहा जा सकता है कि शक्तियों के केन्द्रीकरण के परिणामस्वरूप कम या अधिक रूप में निरंकुशता की प्रवृत्ति पनपती है।

(2) राजनीतिक चेतना जाग्रत करने में असमर्थ—प्रजातन्त्रीय शासन की सफलता नागरिकों की राजनीतिक चेतना पर निर्भर करती है, किन्तु यह राजनीतिक चेतना एकात्मक शासन में ठीक प्रकार से उत्पन्न नहीं होती। एकात्मक शासन में एक ही मन्त्रिमण्डल और विधानमण्डल होने तथा स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था भी अपेक्षाकृत कमजोर होने के कारण जनता को सार्वजनिक कार्यों के प्रति रुचि लेने तथा शासन में हाथ बंटाने का पूर्ण अवसर नहीं मिलता है। इसलिए जनता की सार्वजनिक कार्यों में रुचि कम हो जाती है और वह उदासीन होने लगती है। प्रशासन में भाग लेने का अवसर न मिलने के कारण जनता का राजनीतिक प्रशिक्षण नहीं हो पाता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(3) अक्षम और अकुशल शासन—एकात्मक शासन में सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रीय सरकार के हाथों में निहित रहती है, किन्तु राज्य के किसी एक विशेष स्थान पर स्थित केन्द्रीय सरकार से इस बात की आशा नहीं की जा सकती कि वह देश के विभिन्न भागों की आवश्यकताओं को ठीक प्रकार से समझकर उचित रूप से शासन कर सकेगी। यद्यपि एकात्मक शासन में भी प्रान्तीय सरकारों की स्थापना की जा सकती है, किन्तु ये प्रान्तीय और स्थानीय सरकारें पूर्ण रूप से केन्द्रीय सरकार पर निर्भर होने के कारण ठीक प्रकार से प्रशासन कार्य नहीं कर सकती हैं। इससे स्थानीय समस्याओं का त्वरित व प्रभावी समाधान नहीं हो पाता।

एकात्मक शासन के दोष
(1) केन्द्रीय सरकार के निरंकुश होने का भय
(2) राजनीतिक चेतना जाग्रत करने में असमर्थ
(3) अक्षम और अकुशल शासन
(4) स्थानीय संस्थाओं के कार्य में बाधा
(5) नौकरशाही का शासन
(6) विविधताओं वाले विशाल राज्यों के लिए अनुपयुक्त
(7) लोकतान्त्रिक मापना के विपरीत

(4) स्थानीय संस्थाओं के कार्य में बाधा—स्थानीयसंस्थाओं की सफलता के लिए इन संस्थाओं के पास पर्याप्त शक्ति और आय के स्वतन्त्र स्रोत होने चाहिए। यद्यपि एकात्मक शासन-व्यवस्था वाले देशों में भी स्थानीय संस्थाएं होती हैं, लेकिन केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण बहुत अधिक होने के कारण ये संस्थाएं ठीक प्रकार से कार्य नहीं कर पातीं।

(5) नौकरशाही का शासन—एकात्मक शासन में जनता को शासन में सभी स्तरों पर सक्रिय रूप से भाग लेने का अवसर नहीं मिलता है, इसलिए शासन शक्ति सरकारी कर्मचारियों के हाथों में केन्द्रित हो जाती है और नौकरशाही का स्वेच्छाचारी शासन स्थापित हो जाता है।

(6) विविधताओं वाले विशाल राज्यों के लिए अनुपयुक्त—छोटे राज्यों में एकात्मक शासन भले ही सफल हो जाय, लेकिन बड़े क्षेत्र और अधिक जनसंख्या वाले राज्यों में, जहां पर भाषा, नस्ल, धर्म और संस्कृति की विविधताएं हों एकात्मक शासन के आधार पर कार्य किया ही नहीं जा सकता है। इस प्रकार की विविधताओं वाले विशाल राज्यों के लिए तो संघात्मक शासन पद्धति ही उपयुक्त होती है।

(7) लोकतान्त्रिक भावना के विपरीत—लोकतन्त्र जनता की भागीदारी में विश्वास करता है भागीदारी के लिए सत्ता के विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता है। सत्ता का अत्यधिक केन्द्रीकरण जन भागीदारी को हतोत्साहित करता है। इसीलिए यह लोकतन्त्र की भावना के विपरीत है।

संघात्मक शासन

जिन राज्यों में संविधान के द्वारा ही केन्द्रीय सरकार और प्रान्तीय सरकारों के बीच शक्ति-विभाजन कर दिया जाता है और ऐसा प्रबन्ध कर दिया जाता है कि इन दोनों पक्षों में से एक अकेला इस शक्ति-विभाजन में परिवर्तन न कर सके, उसे संघात्मक शासन कहते हैं। विभिन्न विद्वानों द्वारा संघात्मक शासन की परिभाषा इस प्रकार की गयी हैं :

डॉ. गार्नर कहते हैं कि "संघ एक ऐसी प्रणाली है कि जिसमें केन्द्रीय तथा स्थानीय सरकारें एक ही प्रभुत्व शक्ति के अधीन होती हैं। ये सरकारें अपने-अपने क्षेत्र में, जिसे संविधान तथा संसद का कोई कानून निश्चित करता है, सर्वोच्च होती हैं।"

डायसी का कथन है, "संघात्मक राज्य, एक ऐसे राजनीतिक उपाय के अतिरिक्त कुछ नहीं है जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय एकता तथा राज्य के अधिकारों में मेल स्थापित करना है।"[1]

के. सी. व्हीयर के अनुसार, "संघात्मक शासन से मेरा तात्पर्य शासन शक्तियों के वितरण की ऐसी व्यवस्था से है जिसके अनुसार केन्द्रीय और प्रान्तीय शासन अपने अपने क्षेत्रों में स्वतंत्र होते हैं तथा उनके बीच सामंजस्य होता है।"

संघात्मक शासन की विशेषताएं
(CHARACTERISTICS OF FEDERAL GOVERNMENT)

संघात्मक शासन की विशेषताओं को अग्र प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है :

1 "A federal state is nothing but a political contrivance intended to reconcile national unity with the maintenance of state rights." —Dicey

CC-0. Vasanthi Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संघात्मक शासन की विशेषताएं
(1) प्रभुत्व शक्ति का दोहरा प्रयोग
(2) शक्तियों का विभाजन एवं लिखित संविधान
(3) संविधान की सर्वोच्चता एवं लिखित संविधान
(4) न्यायपालिका की सर्वोच्चता
(5) दोहरी नागरिकता

(1) प्रभुत्व शक्ति का दोहरा प्रयोग—यद्यपि सम्प्रभुता का विभाजन नहीं हो सकता और संघात्मक राज्य में भी सम्प्रभुता अविभाजित होती है, किन्तु एक संघ राज्य में सम्प्रभुता की अभिव्यक्ति केन्द्रीय सरकार और स्थानीय सरकार इस प्रकार की दो सरकारों द्वारा होती है। संघात्मक राज्य के अन्तर्गत जो इकाइयां होती हैं उन्हें अपनी सत्ता केन्द्रीय सरकार से प्राप्त न होकर संविधान से प्राप्त होती है। ये इकाइयां किसी प्रकार से केन्द्रीय सरकार के अधीन न होकर केन्द्रीय सरकार के समान ही वैधानिक महत्व की होती हैं।

(2) शक्तियों का विभाजन—संघीय सरकार के अन्तर्गत संविधान द्वारा ही केन्द्रीय सरकार और स्थानीय सरकारों के बीच शक्ति का विभाजन कर दिया जाता है। साधारणतया यह विभाजन इस आधार पर किया जाता है कि राष्ट्रीय महत्व के विषय अर्थात् संघ की सभी इकाइयों से समान रूप से सम्बन्धित विषय केन्द्रीय सरकार के सुपुर्द कर दिये जाते हैं और स्थानीय महत्व के विषय इकाइयों की सरकारों के सुपुर्द किये जाते हैं।

(3) संविधान की सर्वोच्चता एवं लिखित संविधान—संघ शासन समझौते द्वारा स्थापित शासन होता है। यह समझौता संविधान में निहित होता है और संविधान में ही इस समझौते की संशोधन विधि का भी उल्लेख होता है। संघात्मक राज्य के अन्तर्गत संविधान सर्वोच्च होता है और केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकारों तथा सरकारों के विभिन्न अंग संविधान के प्रतिकूल किसी प्रकार का कार्य नहीं कर सकते हैं। संघात्मक व्यवस्था में लिखित संविधान इसलिए आवश्यक होता है कि इसमें केन्द्र व प्रान्तों के मध्य संविधान द्वारा शक्तियों का बंटवारा किया जाता है तथा लिखित संविधान से शक्ति विभाजन सम्बन्धी विवादों की सम्भावना कम हो जाती है।

(4) न्यायपालिका की सर्वोच्चता—सभी संघ राज्यों के अन्तर्गत एक सर्वोच्च न्यायालय की व्यवस्था की जाती है जिसका कार्य संविधान की व्याख्या एवं रक्षा करना होता है। यह सर्वोच्च न्यायालय केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकार या सरकार के किसी अंग द्वारा संविधान के प्रतिकूल किये गये कार्यों को अवैधानिक घोषित कर सकता है। केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों या प्रान्तीय सरकारों में परस्पर किसी प्रकार का विवाद उत्पन्न होने पर सर्वोच्च न्यायालय ही इस विवाद को हल करता है। जब न्यायपालिका संघीय विवादों का निबटारा करती है तो उसे संघात्मक न्यायालय की संज्ञा दी जाती है। भारत में सर्वोच्च न्यायालय ही संघात्मक न्यायालय है।

(5) दोहरी नागरिकता—संघ राज्य के अन्तर्गत साधारणतया दोहरी नागरिकता की भी व्यवस्था होती है। एक व्यक्ति केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकार जिसमें वह रहता है—इन दोनों का नागरिक होता है तथा इन दोनों के प्रति भक्ति रखता है, किन्तु दोहरी नागरिकता संघ राज्यों का आवश्यक तत्व नहीं है। भारतीय संविधान ने एक संघ राज्य की स्थापना की है, किन्तु दोहरी नागरिकता की व्यवस्था नहीं।

एकात्मक तथा संघात्मक शासन में अन्तर

एकात्मक राज्य शक्तियों के केन्द्रीकरण के सिद्धान्त पर आधारित होता है और संघ राज्य शक्तियों के विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त पर। राज्य और शासन-व्यवस्था के इन दो रूपों में निम्नलिखित प्रकार से अन्तर बताया जाता है :

एकात्मक तथा संघात्मक शासन में अन्तर
(1) शक्तियों के विभाजन का अन्तर
(2) स्थानीय सरकारों की स्थिति में अन्तर
(3) नागरिकों की स्थिति में अन्तर
(4) संविधान के रूप में अन्तर
(5) प्रशासकीय अंगों की शक्ति में अन्तर

(1) शक्तियों के विभाजन का अन्तर—एकात्मक शासन में संविधान द्वारा शक्तियों का विभाजन नहीं किया जाता और संविधान द्वारा सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रीय सरकार को प्रदान कर दी जाती है, किन्तु संघ राज्य में संविधान द्वारा ही केन्द्रीय सरकार और इकाइयों की सरकारों के बीच शक्ति का विभाजन कर दिया जाता है।

(2) स्थानीय सरकारों की स्थिति में अन्तर—एकात्मक शासन में प्रान्तीय और स्थानीय सरकारें पूर्णतया केन्द्रीय शासन के अधीन होती हैं, लेकिन संघ राज्य में प्रान्तीय सरकारों को संविधान से ही शक्ति प्राप्त होती है और वे सरकारें केन्द्रीय सरकार के अधीन नहीं, वरन् उनके समान होती हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(3) नागरिकों की स्थिति में अन्तर—एकात्मक शासन में इकहरी नागरिकता की व्यवस्था होती है और नागरिक केन्द्रीय सरकार के ही प्रति भक्ति रखते हैं, लेकिन संघ राज्य में नागरिक केन्द्रीय सरकार और प्रान्तीय सरकार दोनों के प्रति भक्ति रखते हैं और साधारणतया दोहरी नागरिकता की व्यवस्था होती है।

(4) संविधान के रूप में अन्तर—एकात्मक राज्य का संविधान लिखित, अलिखित, कठोर या लचीला किसी भी प्रकार का हो सकता है, लेकिन संघ राज्य एक ऐसे लिखित समझौते का परिणाम होता है जिसे कोई एक पक्ष अकेला न बदल सके। इसलिए संघ राज्य का विधान आवश्यक रूप से लिखित और कठोर होता है।

(5) प्रशासकीय अंगों की शक्ति में अन्तर—सभी एकात्मक राज्यों में व्यवस्थापिका सम्प्रभु होती है और न्यायपालिका का कार्य तो व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों के आधार पर न्याय प्रदान करना होता है, किन्तु संघ राज्य में संविधान सर्वोच्च होता है, इसलिए संविधान की व्याख्या और रक्षा करने वाली न्यायपालिका व्यवस्थापिका से अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानून संविधान के प्रतिकूल होने पर न्यायपालिका उन्हें अवैध घोषित कर सकती है।

संघात्मक शासन के गुण
(MERITS OF FEDERAL GOVERNMENT)

संघात्मक शासन में निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं :

(1) राष्ट्रीय एकता और स्थानीय स्वशासन में सामंजस्य—संघीय शासन में केन्द्रीय सरकार और प्रान्तीय सरकारों के बीच शक्ति का विभाजन किया जाता है। राष्ट्रीय महत्व के विषय केन्द्रीय सरकार को और स्थानीय महत्व के विषय इकाइयों की सरकारों को दे दिये जाते हैं। इस प्रकार केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण के बीच एक प्रकार का समझौता किया जाता है। इस समझौते के परिणामस्वरूप संघीय शासन में राष्ट्रीय एकता और स्थानीय स्वतन्त्रता दोनों के ही लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं और ऐसा केवल संघीय शासन में ही सम्भव है।

संघात्मक शासन के गुण
1. राष्ट्रीय एकता और स्थानीय स्वशासन में सामंजस्य
2. निर्बल राज्यों को शक्तिशाली बनाने की पद्धति
3. स्थानीय स्वशासन का लाभ
4. मितव्ययता और औद्योगिक विकास
5. निरंकुशता की आशंका नहीं
6. राजनीतिक चेतना
7. केन्द्रीय सरकार की कार्य-कुशलता में वृद्धि
8. विशाल राज्यों के लिए नितान्त उपयुक्त
9. विश्व संघ की ओर कदम

(2) निर्बल राज्यों को शक्तिशाली बनाने की पद्धति—संघीय शासन के द्वारा छोटे-छोटे राज्यों को यह अवसर प्राप्त होता है कि वे परस्पर मिलकर एक शक्तिशाली संगठन का निर्माण कर सकें। यह बात नितान्त सत्य है कि "संगठन से ही शक्ति प्राप्त होती है।" अमेरिका में संघात्मक व्यवस्था का उदय इसीलिए हुआ कि उसके 13 पृथक् राज्य अकेले ब्रिटिश साम्राज्यवाद का सामना नहीं कर सकते थे। इसीलिए वे एकत्र हुए। आज अमेरिका में 50 राज्य हैं। अमरीकी संघ में जो विभिन्न 50 राज्य हैं, वे यदि पृथक् रहते तो उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कदापि भी वह शक्ति और अधिकार प्राप्त नहीं होता, जो आज के अमरीकी संघ के कारण उन्हें प्राप्त है। भारतीय संघ राज्य के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। संघ की स्थापना से न केवल अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र, वरन् आन्तरिक क्षेत्र में भी शक्ति बहुत बढ़ जाती है।

(3) स्थानीय स्वशासन का लाभ—संघीय शासन में स्थानीय स्वशासन संस्थाओं को अधिक शक्ति प्राप्त होती है और ये स्थानीय संस्थाएं ठीक प्रकार से कार्य करती हुई नागरिकों में राजनीतिक समस्याओं के प्रति रुचि जाग्रत करती हैं और उन्हें राजनीतिक शिक्षा प्रदान करती हैं। इससे स्थानीय समस्याओं का समाधान स्थानीय स्तर पर सम्यक् ढंग से किया जा सकता है।

(4) मितव्ययता और औद्योगिक विकास—संघीय शासन की स्थापना से प्रशासनिक व्यय में बचत होती है क्योंकि संघ की स्थापना के कारण वे अनेक व्यय बच जाते हैं, जो संघ की प्रत्येक इकाई को अलग-अलग उन कार्यों पर करने पड़ते, जो संघीय सरकार सभी इकाइयों की ओर से करने लगती है। आर्थिक विकास की दृष्टि से भी संघीय शासन ही श्रेष्ठ है क्योंकि विशाल संघीय राज्यों में ही वर्तमान समय के उद्योग-धन्धे सरलता से स्थापित किये जा सकते हैं।

(5) निरंकुशता की आशंका नहीं—एकात्मक शासन में सम्पूर्ण राजशक्ति केन्द्रीय सरकार में निहित होने के कारण एक व्यक्ति के निरंकुश शासन की स्थापना की आशंका बनी रहती है, परन्तु संघात्मक शासन में

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शासन शक्ति अनेक इकाइयों में वंटी हुई होने के कारण इस वात की कोई आशंका नहीं रहती है। ब्राइस के शब्दों में, "संघ में एक निरंकुश शासक द्वारा जनता के अधिकार हड़प लिये जाने का खतरा नहीं रहता है।"

(6) राजनीतिक चेतना—संघीय शासन अपने नागरिकों को श्रेष्ठ राजनीतिक प्रशिक्षण प्रदान करता है क्योंकि प्रत्येक नागरिक को अपने ही क्षेत्र में सर्वांगपूर्ण संघीय सरकार की छाया सरकार को प्राप्त हो जाती है। इस छाया सरकार से निकट का सम्वन्ध होने के कारण उनमें उनकी रुचि भी अधिक होती है। इसके अलावा प्रत्येक नागरिक के लिए प्रान्तीय सरकार के कार्यों में भाग लेना भी सरल होता है।

(7) केन्द्रीय सरकार की कार्यकुशलता में वृद्धि—जनकल्याणकारी राज्य की धारणा के कारण वर्तमान समय में सरकार के कार्यों में वहुत अधिक वृद्धि हो गयी है और केन्द्रीय सरकार के पास अपनी कार्यक्षमता से अधिक कार्य केन्द्रित हो गये हैं। वार्ड के शब्दों में, "केन्द्र को पक्षाघात हो गया है और दूरस्थ क्षेत्र रक्त-हीनता से पीड़ित हैं।"[1] संघीय शासन में शक्तियों का विभाजन हो जाने के कारण केन्द्रीय सरकार का कार्यभार हल्का हो जाता है और वह अधिक कार्यकुशलता के साथ कार्य कर सकती है।

(8) विशाल राज्यों के लिए नितान्त उपयुक्त—विशाल राज्यों के लिए तो संघीय शासन सवसे उपयुक्त व्यवस्था है। प्रायः वड़े राज्यों में भाषा, धर्म और हितों की विभिन्नता पायी जाती है और इस प्रकार की विभिन्नता के कारण अलग-अलग क्षेत्रों के लिए अलग-अलग प्रकार का प्रवन्ध करना होता है। इस प्रकार का प्रवन्ध केवल एक संघराज्य में ही सम्भव है। केवल विशाल राज्यों के लिए ही नहीं वरन् स्विट्जरलैण्ड जैसे छोटे राज्यों के लिए भी; जहां भाषा, धर्म और जाति की विभिन्नताएं हों, संघ शासन उपयोगी होता है।

(9) विश्व संघ की ओर कदम—छोटे-छोटे राष्ट्रीय राज्यों को विशाल राज्य के रूप में संगठित करके संघ राज्य मानव दृष्टिकोण को उदार वनाता है और इस प्रकार संघ राज्य विश्व संघ निर्माण की दिशा में एक सही प्रयत्न है।

इस प्रकार के सभी लाभों के अतिरिक्त संघीय व्यवस्था प्रजातन्त्र के अनुकूल है और इसने प्रजातन्त्र को लोकप्रिय बनाने की दिशा में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है। गैटिल के शब्दों में, "विशाल राज्यों में प्रजातन्त्र की स्थापना करने में सम्भवतया प्रतिनिधित्व की व्यवस्था के अतिरिक्त संघीय व्यवस्था ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य किया है।"

संघात्मक शासन के दोष
(DEMERITS OF FEDERAL GOVERNMENT)

संघात्मक शासन के प्रमुख रूप से निम्नलिखित दोष कहे जा सकते हैं :

(1) आन्तरिक प्रशासन सम्बन्धी निर्वलता—राजशक्ति की एकता के अभाव में संघ राज्यों में वह एकता और शक्ति नहीं होती, जो एकात्मक शासनों में होती है। जिन विषयों का प्रवन्ध संघ की इकाइयों के द्वारा किया जाता है, उसके सम्वन्ध में विभिन्न क्षेत्रों में भिन्नता होने के कारण शासन में निर्वलता आ जाती है और दुहरे प्रशासन के कारण प्रवन्ध में अनावश्यक देर लगती है। विशेष रूप से संकटकालीन परिस्थितियों में यह प्रशासन सम्वन्धी निर्वलता वहुत अधिक दुखदायी हो जाती है।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में निर्वलता—संघ राज्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी निर्वल होता है। अनेक वार संघीय राज्य के आन्तरिक विभेद विदेश नीति को प्रभावित करने लगते हैं और इसके परिणामस्वरूप विदेशों में राज्य की प्रतिष्ठा कम हो जाती है। अमरीकी संघ और दक्षिण अफ्रीकी संघ में यह निर्वलता अनेक वार देखी गयी है।

(3) इकाइयों द्वारा पृथक् होने की आशंका—अनेक वार संघ राज्य में संघ की इकाइयों पर केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण दृढ़ एवं मजवूत नहीं होता है। ऐसा समय आ सकता है जवकि कोई इकाई संघ राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर दे या अनेक राज्य मिलकर संघ से सम्वन्ध-विच्छेद करने का प्रयत्न करें। संघ राज्य में वस्तुतः इस वात का खतरा रहता है, यह वात 1991 में सोवियत संघ के विघटन से पूर्णतया स्पष्ट हो गई है। एकात्मक राज्य में समस्त शक्ति एक ही स्थान में निहित होने के कारण इस वात की आशंका नहीं रहती है।

(4) संघ राज्य का संगठन जटिल—एकात्मक शासन की तुलना में संघीय शासन का संगठन वहुत अधिक जटिल होता है। संविधान के द्वारा केन्द्रीय और संघ की इकाइयों की सरकारों में शक्ति-विभाजन किये जाने के कारण इन दोनों के वीच अधिकार क्षेत्र के सम्वन्ध में सदैव ही विवाद उत्पन्न होने का खतरा वना रहता

1 "There is apoplexy at the centre and anaemia at the extremities." —Ward

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। ऐसे मतभेद और विवाद संघ के सामूहिक हित के लिए भी अधिकाधिक हानिकारक ही होते हैं। इसके अतिरिक्त दोहरे प्रशासन के कारण सरकार के कार्यों में दोहराव होता है तथा केन्द्रीय व प्रान्तीय नीतियों में समन्वय की समस्या खड़ी हो जाती है। भारत में यदि प्रान्त व केन्द्र दोनों जगह अलग-अलग दलों की सरकारें हों तो नीतियों व प्रशासन में समन्वय की समस्या जटिल हो जाती है।

संघात्मक शासन के दोष
(1) आन्तरिक प्रशासन सम्बन्धी निर्बलता
(2) अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में निर्बलता
(3) इकाइयों द्वारा पृथक् होने की आशंका
(4) संघ राज्य का संगठन जटिल
(5) सीमा-विवाद उत्पन्न होने की आशंका
(6) राष्ट्रीय एकता पर आघात
(7) अपव्यय
(8) उत्तरदायित्व की अनिश्चि-तता

(5) सीमा-विवाद उत्पन्न होने की आशंका—संघात्मक शासन में संघ की इकाइयों के बीच विभिन्न प्रकार के सीमा-विवाद उत्पन्न होते रहते हैं। ये विवाद संघ की इकाइयों में कटुता को जन्म देते हैं और संघ की प्रगति को रोकते हैं। वर्तमान समय में भारतीय संघ के महाराष्ट्र-कर्नाटक सीमा-विवाद, पंजाब-हरियाणा सीमा-विवाद, आदि इसी प्रकार के विवादों के उदाहरण हैं।

(6) राष्ट्रीय एकता पर आघात—संघीय शासन में राष्ट्रीय एकता को आघात पहुंचने की भी आशंका रहती है। प्रत्येक इकाई की सरकार अपनी उन्नति का ही प्रयत्न करती है और अन्य इकाइयों की उसे कोई चिन्ता नहीं रहती। इससे राष्ट्रीय हित तथा एकता को आघात पहुंचता है।

(7) अपव्यय—संघीय सरकार व्ययसाध्य है क्योंकि इसमें दोहरी राजनीतिक संस्थाएं, दोहरी प्रशासनिक व्यवस्था और दोहरे कानून होते हैं। संघीय सरकार में समय और शक्ति का भी अपार अपव्यय होता है। पृथक्-पृथक् राज्यों की तुलना में जहां संघीय शासन मितव्ययी होता है वहां एकात्मक शासन की तुलना में अपव्ययी होता है।

(8) उत्तरदायित्व की अनिश्चितता—एकात्मक शासन में शासन का उत्तरदायित्व सुगमता से स्थापित किया जा सकता है क्योंकि अन्तिम रूप से सभी प्रशासन सम्बन्धी कार्यों के लिए केन्द्रीय सरकार ही उत्तरदायी होती है। संघीय शासन में विभिन्न प्रशासनिक त्रुटियों के लिए केन्द्रीय सरकार और प्रान्तीय सरकारें दोनों ही एक-दूसरे को उत्तरदायी ठहराती हैं। ऐसी स्थिति में उत्तरदायित्व निश्चित करना बहुत कठिन हो जाता है।

संघवाद का भविष्य

वर्तमान समय में सभी संघीय राज्यों में केन्द्रीय सरकार की शक्तियों के बढ़ने की प्रवृत्ति पायी जाती है और इस प्रकार की प्रवृत्ति के कारण अनेक विद्वानों का विचार है कि संघ राज्य कुछ समय बाद एकात्मक राज्यों में परिणत हो जायेंगे, किन्तु वास्तव में, इस बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि पिछले वर्षों में संघ राज्यों में केन्द्रीय सरकार की शक्तियों के बढ़ने के साथ-साथ राज्य सरकारों का भी महत्व बढ़ा है और उनके द्वारा कई ऐसे कार्य किये जाने लगे हैं जो संघ की स्थापना के समय किसी के भी द्वारा नहीं किये जाते थे। इसके अतिरिक्त अनेक नवीन राज्य भी संघ की स्थापना के प्रति आकर्षित होने लगे हैं। उदाहरण के लिए, पश्चिमी यूरोप के राज्य मिलकर संघ बना लें, यह विचार निरन्तर जोर पकड़ता जा रहा है। एशिया और अफ्रीका के कुछ क्षेत्रों में भी इसी प्रकार की भावना पायी जाती है। वस्तुतः संघवाद ने संसार की अनेक समस्याओं का समाधान किया है। अतः यह कहा जा सकता है कि संघात्मक शासन प्रणाली का भविष्य अति उज्ज्वल है और विश्व संघ जैसे स्वप्नों की पूर्ति इसी शासन प्रणाली द्वारा सम्भव हो सकती है। संघात्मक व्यवस्था के भविष्य से सम्बन्धित एक प्रश्न यह है कि आज के अधिकांश संघात्मक राज्यों में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ रही है। इसके लिए अनेक राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय कारक जैसे संकट काल, युद्ध, समस्याओं का राष्ट्रीय स्वरूप, वैश्वीकरण आदि उत्तरदायी है।

भारत के लिए संघात्मक शासन का औचित्य

भारत क्षेत्र और जनसंख्या की दृष्टि से बहुत अधिक विशाल और धर्म, जाति, भाषा एवं सांस्कृतिक विविधताओं से युक्त देश है। ऐसी स्थिति में एक ऐसी शासन-व्यवस्था को अपनाने की आवश्यकता होती है, जिसमें कुछ मूलभूत बातों के सम्बन्ध में समस्त देश में एक ही प्रकार की व्यवस्था; लेकिन अन्य कुछ विषयों में प्रादेशिक स्तर पर अलग-अलग प्रकार की व्यवस्था को अपनाया जा सकता हो। यह स्थिति संघात्मक व्यवस्था

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अन्तर्गत ही सम्भव है। भारत जैसे देश में एकता बनाये रखने का कार्य 'विविधता में एकता' के आधार पर ही किया जा सकता है। अतः एक अरब 16 करोड़ से अधिक जनसंख्या वाले और विविधताओं से युक्त इस देश में संघात्मक शासन-व्यवस्था को अपनाना ही स्वाभाविक और उचित है। एकात्मक शासन के आधार पर न तो इस देश में व्यवस्था बनाये रख पाना सम्भव है और न ही देश की एकता को बनाये रख पाना सम्भव है। फिर भी देश की एकता व अखण्डता को ध्यान में रखते हुए संविधान में कुछ ऐसे प्रावधान किए गए हैं कि विशेष परिस्थितियों में केन्द्र सरकार देश की एकता व अखण्डता की रक्षा कर सके। वास्तव में भारतीय संघात्मक व्यवस्था, विविधता में एकता की स्थिति का राजनीतिक प्रतिविम्ब है।

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (प्रत्येक प्रश्न 6 अंक का, उत्तर लगभग 300 शब्दों में दीजिए)

1. एकात्मक शासन प्रणाली के पक्ष तथा विपक्ष में तर्क प्रस्तुत कीजिए।
2. संघात्मक तथा एकात्मक शासन का अन्तर स्पष्ट कीजिए और इन दोनों के गुण-दोषों का वर्णन कीजिए।
3. संघात्मक शासन की क्या विशेषताएं हैं? इसकी एकात्मक शासन से तुलना कीजिए।
4. संघात्मक शासन के गुण-दोषों की विवेचना कीजिए। भारत में संघात्मक शासन क्यों उचित है?
5. एकात्मक तथा संघात्मक शासन प्रणाली में अन्तर बताइए तथा एकात्मक शासन के गुण-दोषों की विवेचना कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

(अ) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 50 शब्दों में दीजिए (2 अंक)।

1. एकात्मक शासन किसे कहते हैं?
2. एकात्मक शासन की प्रमुख विशेषताएं लिखिए।
3. एकात्मक शासन के दो गुण लिखिए।
4. एकात्मक शासन के प्रमुख दोष लिखिए।
5. संघात्मक शासन किसे कहते हैं?
6. एकात्मक और संघात्मक शासन के तीन अन्तर स्पष्ट कीजिए।

(ब) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिए (4 अंक)।

7. संघात्मक शासन की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
8. संघात्मक शासन-व्यवस्था में स्वतन्त्र न्यायपालिका की आवश्यकता क्यों है? एक कारण दीजिए।
9. किन अवस्थाओं में एकात्मक सरकार और किन अवस्थाओं में संघात्मक सरकार सफल हो सकती है?
10. संघात्मक राज्यों के लिए लिखित संविधान क्यों आवश्यक है? (उ.प्र., 2010)
11. भारत में संघात्मक शासन का क्या औचित्य है?

अति लघु उत्तरीय प्रश्न [प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का, उत्तर दस शब्द (एक वाक्य) में]

प्रश्न 1. एकात्मक सरकार की प्रमुख विशेषता बताइए।
उत्तर—संविधान द्वारा समस्त शक्तियां केन्द्रीय सरकार को सौंपना।

प्रश्न 2. एकात्मक सरकार के कोई दो दोष लिखिए।
उत्तर—(1) बड़े राज्यों के लिए अनुपयुक्त, (2) केन्द्रीय सरकार के निरंकुश होने का भय।

प्रश्न 3. संघात्मक सरकार का एक प्रमुख गुण लिखिए। (उ.प्र., 2010)
उत्तर—बड़े और विविधताओं वाले राज्यों के लिए उपयुक्त शासन-व्यवस्था।

प्रश्न 4. संघात्मक सरकार का एक प्रमुख दोष लिखिए।
उत्तर—संघात्मक शासन-व्यवस्था में केन्द्रीय सरकार तथा स्थानीय सरकारों के मध्य शक्ति-विभाजन होता है, अतः शासन कमजोर हो जाता है।

प्रश्न 5. एकात्मक और संघात्मक सरकार के मध्य कोई एक प्रमुख अन्तर स्पष्ट कीजिए।
उत्तर—एकात्मक शासन में संविधान समस्त शक्तियां केन्द्रीय सरकार को सौंपता है, संघात्मक शासन में संविधान द्वारा केन्द्रीय सरकार और इकाइयों की सरकारों में शक्तियों का विभाजन किया जाता है।

प्रश्न 6. एकात्मक शासन का अर्थ संक्षेप में लिखिए।
उत्तर—एकात्मक शासन में शासन की समस्त शक्तियां मौलिक रूप से एक केन्द्रीय सरकार के हाथों में रहती हैं और वह उन शक्तियों का विभाजन इकाइयों के अनुसार क्षेत्रीय इकाइयों में करती है।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुविकल्पीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों में चार विकल्प दिए गए हैं। उनमें से एक सही विकल्प छांटकर लिखिए :

1. जिस शासन के अन्तर्गत संविधान के द्वारा शासन की समस्त शक्ति केन्द्रीय सरकार में निहित करा दी जाती है और स्थानीय सरकारों का अस्तित्व एवं शक्तियां केन्द्रीय सरकार की इच्छा पर निर्भर करती हैं, उसे कहते हैं :
   (अ) एकात्मक शासन (ब) संघात्मक शासन
   (स) संसदात्मक शासन (द) अध्यक्षात्मक शासन
2. "एकात्मक राज्य वह राज्य है जिसमें समस्त सत्ता एवं शक्ति एक केन्द्र में निहित रहती है और जिनकी इच्छा एवं जिसके अधिकारी समस्त क्षेत्र पर कानूनन सर्वशक्तिमान होते हैं।" यह कथन किसका है :
   (अ) वेंकटरंगया का (ब) डॉ. फाइनर का
   (स) ब्राइस का (द) विलोबी का
3. एकात्मक शासन की प्रमुख विशेषता है :
   (अ) इसमें केन्द्रीय सरकार सम्पूर्ण देश के सभी विषयों के सम्बन्ध में सर्वोच्च होती है।
   (ब) इसमें प्रान्तीय सरकारों का सम्पूर्ण अस्तित्व केन्द्रीय सरकार की इच्छा पर निर्भर करता है।
   (स) इसमें सम्पूर्ण राज्य में एक ही नागरिकता होती है।
   (द) उपर्युक्त सभी।
4. निम्नलिखित में से कौन-सा एकात्मक शासन का गुण नहीं है :
   (अ) प्रशासन में एकता (ब) विशाल राज्यों के लिए नितान्त उपयुक्त
   (स) प्रशासनिक शक्ति सम्पन्नता (द) राष्ट्रीय एकता
5. एकात्मक शासन का प्रमुख दोष है :
   (अ) केन्द्रीय सरकार के निरंकुश होने का भय (ब) स्थानीय संस्थाओं के कार्य में बाधा
   (स) नौकरशाही का शासन (द) इनमें से सभी
6. जिन राज्यों में संविधान के द्वारा ही केन्द्रीय सरकार और प्रान्तीय सरकारों के बीच शक्ति-विभाजन कर दिया जाता है और ऐसा प्रबन्ध कर दिया जाता है कि इन दोनों पक्षों में से एक अकेला इस शक्ति-विभाजन में परिवर्तन न कर सके, उसे कहते हैं :
   (अ) एकात्मक शासन (ब) संघात्मक शासन
   (स) संसदात्मक शासन (द) अध्यक्षात्मक शासन
7. "संघात्मक राज्य, एक ऐसे राजनीतिक उपाय के अतिरिक्त कुछ नहीं है जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय एकता तथा राज्य के अधिकारों में मेल स्थापित करना है।" यह कथन किसका है :
   (अ) डॉ. गार्नर का (ब) के. सी. व्हीयर का
   (स) डायसी का (द) गैटिल का
8. संघात्मक शासन की प्रमुख विशेषता है :
   (अ) प्रभुत्व शक्ति का दोहरा प्रयोग (ब) शक्तियों का विभाजन
   (स) संविधान की सर्वोच्चता (द) इनमें से सभी
9. निम्नलिखित में से कौन-सा संघात्मक शासन का गुण नहीं है :
   (अ) राष्ट्रीय एकता और स्थानीय स्वशासन में सामंजस्य
   (ब) निर्बल राज्यों को शक्तिशाली बनाने की पद्धति
   (स) छोटे राज्यों के लिए बहुत उपयुक्त (द) स्थानीय स्वशासन का लाभ
10. संघीय शासन का प्रमुख दोष है :
    (अ) इकाइयों द्वारा पृथक् होने की आशंका (ब) राष्ट्रीय एकता पर आघात
    (स) उत्तरदायित्व की अनिश्चितता (द) इनमें से सभी
11. एकात्मक शासन का उदाहरण है :
    (अ) भारत (ब) इंग्लैण्ड (स) कनाडा (द) आस्ट्रेलिया
12. संघात्मक व्यवस्था को सर्वप्रथम अपनाने वाला और संघात्मक व्यवस्था का मॉडल देश है?
    (अ) ब्रिटेन (ब) जापान
    (स) संयुक्त राज्य अमरीका (द) भारत

[उत्तर—1. (अ), 2. (ब), 3. (द), 4. (ब), 5. (द), 6. (ब), 7. (स), 8. (द), 9. (स), 10. (द), 11. (ब), 12. (स)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

14

शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त

[THEORY OF THE SEPARATION OF POWERS]

"व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका सम्बन्धी सारी शक्तियों का एक ही हाथों में केन्द्रित होना ही आततायी शासन की उपयुक्त परिभाषा कही जा सकती है।"[1] —जेम्स मैडिसन

सरकार के अंगों का पारस्परिक सम्बन्ध (Inter-relation between the Organs of Government)—सरकार के तीन अंग होते हैं—व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। सरकार के इन तीनों अंगों का पारस्परिक सम्बन्ध कैसा होना चाहिए, यह समस्या अत्यन्त विवादग्रस्त रही है और इस सम्बन्ध में समय-समय पर जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है उनमें मॉण्टेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त सबसे अधिक प्रमुख है।

शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त

यह सिद्धान्त इस विचार पर आधारित है कि किसी व्यक्ति या संस्था को निरंकुश शक्तियां मिल जाने पर वे भ्रष्ट हो जाते हैं और अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करने लगते हैं। शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त का आशय यह है कि व्यवस्थापन, शासन तथा न्याय से सम्बन्धित शक्तियां पृथक्-पृथक् हाथों में रहें, इनसे सम्बन्धित विभाग अपने क्षेत्रों में पूर्ण स्वतन्त्र हों तथा कोई भी विभाग एक-दूसरे विभाग की शक्ति और अधिकारों में हस्तक्षेप न करे।

सिद्धान्त की पृष्ठभूमि (Background of the Principle)

इस सिद्धान्त से सम्बन्धित आधारभूत विचार नवीन नहीं हैं। राजनीतिशास्त्र के जनक अरस्तू ने सरकार को असेम्बली, मजिस्ट्रेसी तथा जुडीशियरी नामक तीन विभागों में बांटा था, जिनसे आधुनिक व्यवस्थापिका, शासन तथा न्याय विभाग का ही बोध होता है। इसी प्रकार के विचार की चर्चा पोलिबियस, सिसरो, मर्सीग्लियो, आदि की रचनाओं में भी मिलती है। 16वीं सदी के विचारक जीन बोदां ने स्पष्ट कहा है कि राजा को कानून निर्माता तथा न्यायाधीश दोनों रूपों में एक साथ कार्य नहीं करना चाहिए। लॉक के द्वारा भी इस प्रकार का विचार व्यक्त किया गया है।

मॉण्टेस्क्यू—इस प्रकार मॉण्टेस्क्यू के पूर्व अनेक विद्वानों ने इस प्रकार के विचार प्रकट किये थे, किन्तु विधिवत् और वैज्ञानिक रूप में इस सिद्धान्त के प्रतिपादन का कार्य फ्रेंच विचारक मॉण्टेस्क्यू के द्वारा ही किया गया। मॉण्टेस्क्यू फ्रांस में लुई चौदहवें का समकालीन था, जो कहा करता था कि "मैं ही राज्य हूं" (I am the State) और जिसके समय में राजा की इच्छा ही कानून के रूप में मान्य थी। मॉण्टेस्क्यू किसी कार्यवश इंग्लैण्ड गया। इंग्लैण्ड की तत्कालीन सीमित राजतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था को देखकर मॉण्टेस्क्यू इस निर्णय पर पहुंचा कि इंग्लैण्ड में राजशक्ति सम्राट के हाथों में केन्द्रित नहीं है वरन् उसका विभाजन हो गया है और इंगलैण्ड की शासन-व्यवस्था की उत्तमता का यही रहस्य है। इसी आधार पर उसने स्वदेश लौटकर 1762 ई. प्रकाशित अपनी पुस्तक *'Esprit des Luis'* (Spirit of Laws) में शासन शक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में मॉण्टेस्क्यू का मुख्य उद्देश्य शक्ति पृथक्करण के माध्यम से शासन की निरंकुशता पर रोक लगाना था ताकि नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा हो सके।

1 "The accumulation of all powers—legislative, executive and judicial in the same hands, may justly be pronounced the very definition of tyranny." —Madison

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मॉण्टेस्क्यू के अनुसार, "प्रत्येक सरकार में तीन प्रकार की शक्तियां होती हैं—व्यवस्थापनसम्बन्धी, शासन सम्बन्धी तथा न्याय सम्बन्धी। यदि व्यवस्थापिका और कार्यपालिका की शक्तियां एक ही हाथों में केन्द्रित हो जायें तो कोई स्वतन्त्रता नहीं रह सकती है, क्योंकि इस बात का भय उत्पन्न हो जाता है कि कहीं राजा और सीनेट अत्याचारी कानून न बनायें और उन्हें अत्याचारी ढंग से लागू न करें। इसी तरह से यदि न्याय सम्बन्धी शक्ति को व्यवस्थापिका या कार्यपालिका शक्ति से पृथक् नहीं किया, तो भी स्वतन्त्रता सम्भव नहीं हो सकती। यदि न्याय-शक्ति व्यवस्थापिका शक्ति के साथ जोड़ दी जायेगी, तो प्रजा के जीवन और उसकी स्वतन्त्रता को स्वेच्छाचारी नियन्त्रण का शिकार होना पड़ेगा, क्योंकि उस दशा में न्यायकर्ता ही कानून-निर्माता भी हो जायेगा। यदि न्याय-शक्ति को कार्यपालिका के साथ जोड़ दिया जायेगा, तो न्यायकर्ता का व्यवहार हिंसक एवं अत्याचारी हो जायेगा; यदि एक ही व्यक्ति या समुदाय तीनों काम करने लगे अर्थात् कानून बनाये, उन्हें लागू करे और विवादों का निर्णय करने लगे तो स्वतन्त्रता बिल्कुल नष्ट हो जायेगी और राज्य अपनी मनमानी करने लगेगा।"

ब्रिटिश विचारक ब्लैकस्टोन के द्वारा भी अपनी पुस्तक '*Commentaries on the Laws of England*' में इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये गये हैं। अमरीकी संविधान सभा के सदस्य भी मॉण्टेस्क्यू की विचारधारा से प्रभावित थे और मैडिसन (Madison) ने लिखा है कि "व्यवस्थापन, प्रशासन और न्याय.....इन सभी शक्तियों का एकीकरण ही अत्याचारी शासन कहा जा सकता है।"

इस प्रकार शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त का आशय यह है कि शक्तियों के एकीकरण से सार्वजनिक स्वतन्त्रता का हनन होता है। अतः राजशक्ति का पूर्ण पृथक्करण नितान्त आवश्यक है।

सिद्धान्त का प्रभाव (Influence of the Theory)

शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त का तत्कालीन राजनीति पर बहुत प्रभाव पड़ा। अमरीकी संविधान-निर्माता इस सिद्धान्त से बहुत प्रभावित थे और इसी कारण उन्होंने अध्यक्षात्मक शासन पद्धति को अपनाया था। इसी प्रकार मैक्सिको, अर्जेण्टाइना, ब्राजील, आस्ट्रिया, चिली, आदि अनेक देशों के संविधान में भी इसको मान्यता प्रदान की गयी है। इस सिद्धान्त का प्रभाव 'फ्रांस के मनुष्यों के अधिकारों की घोषणा' (Declaration of the Rights of Man) पर भी पड़ा जिसकी सोलहवीं धारा में यह कहा गया है कि शक्ति-विभाजन के बिना कोई सरकार वैधानिक अथवा प्रजातन्त्रात्मक नहीं हो सकती। फ्रांस में कार्यपालिका को न्यायपालिका से अलग करने की दृष्टि से ही 'प्रशासकीय न्यायालयों' (Administrative Courts) की स्थापना की गयी है।

सिद्धान्त का मूल्यांकन
(EVALUATION OF THE THEORY)

शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त की आलोचना व इसका समर्थन दोनों ही किये गये हैं। इस सिद्धान्त के पक्ष और विपक्ष की विवेचना निम्न प्रकार की जा सकती है :

सिद्धान्त के पक्ष में तर्क (Arguments in Favour of the Theory)

शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त के पक्ष में प्रमुख रूप से निम्न तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं :

(1) निरंकुशता और अत्याचार से रक्षा का तर्क—विधानमण्डल तथा कार्यपालिका की शक्तियों का विभाजन इसलिए आवश्यक है कि उनके एक ही व्यक्ति के हाथों में आ जाने का परिणाम होगा—मनमाने कानूनों का निर्माण और उनकी मनमाने तरीके से क्रियान्विति। न्यायपालिका तथा विधानमण्डल की शक्तियों का पृथक्करण इसलिए भी आवश्यक है कि मनमाने कानून न बनाये जायें और उनकी मनमानी व्याख्याएं न की जायें। न्यायपालिका तथा कार्यपालिका की शक्तियों को मिला देने से न्याय व्यवस्था पूरी तरह समाप्त हो सकती है।

सिद्धान्त के पक्ष में तर्क
(1) निरंकुशता और अत्याचार से रक्षा का तर्क
(2) विभिन्न योग्यताओं का तर्क
(3) कार्य-विभाजन से उत्पन्न लाभ का तर्क
(4) न्याय की निष्पक्षता का तर्क

मॉण्टेस्क्यू का कथन है कि यदि तीनों शक्तियों को एक ही व्यक्ति या संस्था में केन्द्रित कर दिया जाय तो न्याय, स्वतन्त्रता और व्यवस्था तीनों समाप्त हो जायेंगे और शक्तियों के केन्द्रीकरण के परिणामस्वरूप एक पूर्ण निरंकुश और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत्याचारी शासन स्थापित हो जायेगा। इस प्रकार निरंकुशता और अत्याचार से रक्षा करने के लिए शक्ति-विभाजन सिद्धान्त को अपनाना नितान्त आवश्यक है।

(2) विभिन्न योग्यताओं का तर्क—शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त को अपनाना इसलिए भी आवश्यक और उपयोगी है कि सरकार से सम्बन्धित विभिन्न कार्यों को करने के लिए अलग-अलग प्रकार की योग्यताओं की आवश्यकता होती है। इस बात की बहुत अधिक आशंका है कि एक श्रेष्ठ और सफल कानून-निर्माता असफल न्यायाधीश और सफल न्यायाधीश असफल कानून-निर्माता या प्रशासक सिद्ध होगा। जब अलग-अलग कार्यों को उचित रूप में सम्पन्न करने के लिए अलग-अलग प्रकार की योग्यताओं की आवश्यकता होती है तो स्वाभाविक रूप से इन कार्यों को उचित रूप में सम्पन्न करने के लिए एक-दूसरे से पृथक् रूप में अलग-अलग विभागों की व्यवस्था होनी चाहिए।

(3) कार्य-विभाजन से उत्पन्न लाभ का तर्क—वर्तमान समय में सरकार के कार्य बहुत अधिक बढ़ गये हैं और किसी एक ही सत्ता से इस बात की आशा नहीं की जानी चाहिए कि वह इन सभी को सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकेगी। ऐसी स्थिति में सरकार के तीन अलग-अलग विभाग हों और सरकार के तीनों अंगों में कार्यों और शक्तियों का विभाजन कर दिया जाय, तो सरकार का समस्त कार्य बहुत अधिक श्रेष्ठ रूप में सम्पन्न हो सकेगा।

(4) न्याय की निष्पक्षता का तर्क—शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त को अपनाने पर न्यायपालिका पर व्यवस्थापिका या कार्यपालिका का दबाव नहीं होगा और ऐसी स्थिति में निष्पक्ष तथा स्वतन्त्र न्याय की आशा की जा सकती है। इस सिद्धान्त के अभाव में न्यायपालिका निष्पक्षता और स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य नहीं कर सकेगी।

सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of the Theory)

यद्यपि तत्कालीन राजनीति पर शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त का पर्याप्त प्रभाव पड़ा, लेकिन तर्क और अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त अनेक दृष्टियों से त्रुटिपूर्ण है। शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त की आलोचना प्रमुख रूप से निम्नलिखित आधारों पर की जाती है :

(1) ऐतिहासिक दृष्टि से गलत—मॉण्टेस्क्यू के कथनानुसार उसने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन इंगलैण्ड की तत्कालीन शासन पद्धति के आधार पर किया है, लेकिन इंगलैण्ड की शासन व्यवस्था कभी भी शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त पर आधारित नहीं रही है। मॉण्टेस्क्यू के समय से लेकर आज तक इंगलैण्ड में संसदात्मक शासन-व्यवस्था प्रचलित रही है और यह शासन-व्यवस्था व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध और सहयोग पर ही आधारित है। अतः यह कहा जा सकता है कि इस सिद्धान्त का ऐतिहासिक आधार त्रुटिपूर्ण है।

सिद्धान्त की आलोचना
1. ऐतिहासिक दृष्टि से गलत
2. शक्तियों का पूर्ण पृथक्करण सम्भव नहीं
3. शक्ति-पृथक्करण अवांछनीय भी है
4. सरकार के तीनों अंगों की असमान स्थिति
5. स्वतन्त्रता के लिए शक्ति-पृथक्करण आवश्यक नहीं

(2) शक्तियों का पूर्ण पृथक्करण सम्भव नहीं—आलोचकों का कथन है कि सरकार एक 'अंगीय एकता' (Organic Unity) है। जिस प्रकार मानव शरीर के विभिन्न अंग एक-दूसरे पर आश्रित और परस्पर सम्बन्धित हैं, वही स्थिति शासन के अंगों की है। इसलिए शासन के अंगों का पूर्ण एवं कठोर पृथक्करण व्यवहार में सम्भव नहीं है।

शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त की अव्यावहारिकता इस बात से भी स्पष्ट है कि यद्यपि अमरीकी संविधान-निर्माता शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त से बहुत अधिक प्रभावित थे, लेकिन वहां पर भी यह सम्भव नहीं हो सका है कि सरकार का प्रत्येक अंग दूसरे अंगों से पूर्णतया पृथक् रहकर अपना कार्य कर सके। अमरीकी संघ की व्यवस्थापिका (कांग्रेस) कानूनों का निर्माण करने के साथ-साथ राष्ट्रपति द्वारा की गयी नियुक्तियों और सन्धियों पर नियन्त्रण रखती है और महाभियोग लगाने का न्यायिक कार्य भी करती है। कार्यपालिका के प्रधान राष्ट्रपति को कानूनों के सम्बन्ध में विशेषाधिकार और न्यायिक क्षेत्र में न्यायाधीशों की नियुक्ति करने एवं क्षमादान का अधिकार प्राप्त है। इसी प्रकार अमरीका का सर्वोच्च न्यायालय व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका द्वारा किये गये कार्यों की वैधानिकता की जांच कर सकता है। अमरीकी उदाहरण के आधार पर कहा जा सकता है कि व्यवहार में शक्तियों का पूर्ण पृथक्करण सम्भव नहीं है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(3) शक्ति-पृथक्करण अवांछनीय भी है—शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त को अपनाना न केवल असम्भव वरन् अवांछनीय भी है। व्यवस्थापिका कानून-निर्माण का कार्य तथा कार्यपालिका प्रशासन का कार्य ठीक प्रकार से कर सके, इसके लिए दोनों अंगों के बीच पारस्परिक सहयोग नितान्त आवश्यक है। कानून-निर्माण का कार्य इतना जटिल हो गया है कि इस सम्बन्ध में आवश्यक ज्ञान उन्हीं लोगों को होता है, जो शासन विभाग से सम्बद्ध होते हैं। अतः उचित कानून के निर्माण हेतु व्यवस्थापिका को कार्यपालिका का सहयोग नितान्त आवश्यक है। इसी प्रकार शासन का कार्य कार्यपालिका द्वारा किया जाता है, लेकिन जनता के निकट सम्पर्क के कारण जनता के विचारों और आवश्यकताओं से व्यवस्थापिका के सदस्य ही अधिक अच्छे प्रकार से परिचित होते हैं। ऐसी स्थिति में यदि व्यवस्थापिका कार्यपालिका से सहयोग न करे तो प्रशासन को जनहितकारी रूप प्रदान नहीं किया जा सकेगा। शक्तियों के इस पृथक्करण से सरकारी विभागों में परस्पर विरोध की प्रवृत्ति भी उत्पन्न हो जायेगी। डॉ. फाइनर ने इस बात को सुन्दर भाषा में चित्रित करते हुए कहा है, **"शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त शासन को निद्रित करने व ऐंठने वाली स्थिति में डाल देता है।"**[1]

यह सिद्धान्त न्यायपालिका की कार्यकुशलता और निष्पक्षता का अन्त कर देगा। इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर न्यायाधीशों की नियुक्ति न तो कार्यपालिका द्वारा होगी और न ही वे व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचित होंगे, वरन् वे जनता द्वारा चुने जायेंगे। जनता द्वारा निर्वाचित न्यायाधीश प्रायः अयोग्य तथा पक्षपातपूर्ण प्रमाणित हुए हैं। वे तर्क और न्याय भावना के स्थान पर पक्षपात तथा दलीय भावना के आधार पर कार्य करेंगे।

(4) सरकार के तीनों अंगों की असमान स्थिति—शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि सरकार के तीनों विभाग समान रूप से शक्तिशाली और महत्वपूर्ण हैं, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। सरकार के तीनों अंगों में कार्यपालिका और न्यायपालिका की अपेक्षा व्यवस्थापिका अधिक महत्वपूर्ण स्थिति रखती है। व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों के आधार पर ही प्रशासन किया जाता है और इन्हीं कानूनों के आधार पर न्यायपालिका न्याय प्रदान करने के कार्य करती है। **प्रो. लास्की का कथन है कि "कार्यपालिका और न्यायपालिका के अधिकारों की सीमा व्यवस्थापिका द्वारा घोषित की गयी इच्छा में निहित होती है।"**

(5) स्वतन्त्रता के लिए शक्ति-पृथक्करण आवश्यक नहीं—यह विचार भी सर्वथा भ्रमात्मक है कि जनता की स्वतन्त्रता के लिए शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त का पालन आवश्यक है। वर्तमान समय में तो ऐसा समझा जाता है कि मानवीय स्वतन्त्रता के लिए शक्ति-पृथक्करण के स्थान पर **'विधि का शासन'** और **'अधिकारों की संवैधानिक घोषणा'** अधिक महत्व रखती है। इसके अतिरिक्त मानवीय स्वतन्त्रता तो जनता की जागरूकता और स्वतन्त्रता के प्रति मानवीय प्रेम पर निर्भर करती है। वाशिंगटन के शब्दों में, **"निरन्तर जागरूकता ही स्वतन्त्रता का सच्चा मूल्य है।"**[2]

शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त के प्रति की गयी इन आलोचनाओं के कारण ही यह कहा जाता है कि **"शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त को अपनाना न तो सम्भव है और न ही वांछनीय।"** इसीलिए अधिकांश देशों ने इस सिद्धान्त को शुद्ध रूप में नहीं अपनाया वरन् आवश्यक संशोधनों के साथ अपनाया है।

निष्कर्ष—शक्ति-विभाजन सिद्धान्त की इन आलोचनाओं के कारण इसे महत्वहीन नहीं कहा जा सकता। शक्ति-विभाजन सिद्धान्त का आशय यदि यह लिया जाय कि तीनों विभागों द्वारा एक-दूसरे से कोई भी सम्बन्ध नहीं रखा जाना चाहिए, तो इस रूप में शक्ति-विभाजन सिद्धान्त को अपनाना सम्भव नहीं है, लेकिन यदि शक्ति-विभाजन का आशय यह लिया जाय कि सरकार के तीनों अंगों को एक-दूसरे के क्षेत्र में अनुचित हस्तक्षेप से बचते हुए अपनी सीमाओं में रहना चाहिए, तो इस रूप में शक्ति-विभाजन सिद्धान्त को अपनाना न केवल उपयोगी, वरन् आवश्यक है। सम्भवतया मॉण्टेस्क्यू इस सिद्धान्त के आधार पर यही चाहता था। शक्ति-विभाजन सिद्धान्त इसी रूप में अपनाया जा सकता है और उसे इसी रूप में अपनाया जाना चाहिए।

शक्ति-विभाजन सिद्धान्त का आधुनिक रूप : नियन्त्रण एवं सन्तुलन सिद्धान्त

शक्तियों का पूर्ण पृथक्करण न तो सम्भव है और न ही उचित। शासन के विविध अंगों का पारस्परिक सम्बन्ध उपयोगी और आवश्यक है। इस बात को दृष्टि में रखते हुए वर्तमान समय में शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त

1 **"The theory of separation of powers throws the government into alternating conditions of coma and convulsion."** —*Finer*

2 **"Eternal vigilance is the price of liberty."** —*Washington*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने एक नवीन रूप ग्रहण कर लिया है जिसे 'नियन्त्रण एवं सन्तुलन सिद्धान्त' के नाम से जाना जाता है। नियन्त्रण एवं सन्तुलन सिद्धान्त का आशय है कि सरकार के विभिन्न अंग एक-दूसरे की शक्ति पर इस प्रकार से नियन्त्रण स्थापित रखें कि शक्तियों का सन्तुलन बना रहे और कोई भी एक विभाग निरंकुशता का प्रयोग न कर सके। अमरीकी शासन-व्यवस्था नियन्त्रण एवं सन्तुलन सिद्धान्त पर ही आधारित है। अमेरिका में शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त विशुद्ध रूप में नहीं वरन् नियन्त्रण व सन्तुलन के सिद्धान्त के साथ अपनाया गया है। अमरीकी व्यवस्थापिका जिन कानूनों का निर्माण करती है, कार्यपालिका प्रधान उन पर विशेषाधिकार का प्रयोग कर सकता है और न्यायपालिका उन्हें अवैधानिक घोषित कर सकती है। इसी प्रकार कार्यपालिका प्रधान द्वारा की गयी नियुक्तियों और सन्धियों पर व्यवस्थापिका के उच्च सदन 'सीनेट' द्वारा नियन्त्रण रखा जाता है और संविधान के विरुद्ध होने पर सर्वोच्च न्यायालय इन कार्यों को अवैधानिक घोषित कर सकता है। व्यवस्थापिका न्यायाधीशों पर महाभियोग लगा सकती है और कार्यपालिका प्रधान द्वारा क्षमादान की न्यायिक शक्तियों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अमरीका में सरकार के तीनों अंग एक-दूसरे की शक्तियों को नियन्त्रित करते हैं और इस प्रकार विभिन्न विभागों के बीच एक ऐसा सन्तुलन स्थापित हो जाता है कि सरकार का कोई भी अंग निरंकुश आचरण नहीं कर सकता। यही व्यवस्था नियन्त्रण एवं सन्तुलन सिद्धान्त का उदाहरण कही जा सकती है।

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (प्रत्येक प्रश्न 6 अंक का, उत्तर लगभग 300 शब्दों में दीजिए)

1. शक्ति-पृथक्करण का क्या अर्थ है? क्या पूर्णरूपेण शक्ति-पृथक्करण सम्भव और वांछनीय है? (संकेत—द्वितीय भाग के उत्तर में इस सिद्धान्त की आलोचना दीजिए और इसका महत्व भी बताइए।)
2. शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त क्या है? शक्ति-पृथक्करण की क्या आवश्यकता है और किस सीमा तक वांछनीय है? संक्षेप में लिखिए।
3. शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए। इसके पक्ष तथा विपक्ष में क्या तर्क दिये जा सकते हैं?
4. शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

(अ) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 50 शब्दों में दीजिए (2 अंक)।

1. शक्ति-पृथक्करण (शक्ति-विभाजन) का सिद्धान्त क्या है?
2. शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त का प्रभाव स्पष्ट कीजिए।
3. शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त के पक्ष में तर्क प्रस्तुत कीजिए।
   अथवा, शक्ति-पृथक्करण के दो लाभ बताइए।
4. शक्ति पृथक्करण निरंकुशता से कैसे रक्षा करता है?
5. शक्ति पृथक्करण अमेरिका में किस प्रकार लागू किया गया है?

(ब) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिए (4 अंक)।

6. शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त के विपक्ष में तर्क प्रस्तुत कीजिए।
   अथवा, शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त के दोष लिखिए।
7. नियन्त्रण व सन्तुलन का सिद्धान्त समझाइए।
8. शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त पर एक टिप्पणी लिखिए।
9. शक्ति पृथक्करण के बारे में माण्टेस्क्यू के क्या विचार हैं?
10. शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त किस प्रकार अव्यवहारिक है।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न [प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का, उत्तर दस शब्द (एक वाक्य) में]

प्रश्न 1. शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त का प्रतिपादक कौन था? (उ.प्र., 2010)

उत्तर—शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त का प्रतिपादक 19वीं शताब्दी में फ्रांस का प्रसिद्ध लेखक मॉण्टेस्क्यू था।

प्रश्न 2. शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त के पक्ष में एक तर्क दीजिए।

उत्तर—शक्तियों के विभाजन से शासन में कुशलता आ जाती है।

CC-0. Vasishtha Tripathi Collection. Haridwar Gurukul Kangri Vishwavidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न 3. शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त के विपक्ष में एक तर्क दीजिए।
उत्तर—शासन के कुशल संचालन में बाधा उत्पन्न होती है।

प्रश्न 4. शक्ति-विभाजन सिद्धान्त को आधुनिक युग में किस रूप में अपनाया जा सकता है?
उत्तर—इसे 'नियन्त्रण और सन्तुलन सिद्धान्त' के रूप में अपनाया जा सकता है।

प्रश्न 5. शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त किस सरकार की विशेषता है? (उ.प्र., 2010)
उत्तर—अध्यक्षात्मक सरकार की।

बहुविकल्पीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों में चार विकल्प दिए गए हैं। उनमें से एक सही विकल्प छांटकर लिखिए :

1. "व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका सम्बन्धी सारी शक्तियों का एक ही हाथों में केन्द्रित होना ही आततायी शासन की उपयुक्त परिभाषा कही जा सकती है।" यह कथन किसका है :
(अ) जेम्स मैडिसन का (ब) सिसरो का
(स) जीन बोदां का (द) लॉक का

2. निम्नलिखित में से किस विचारक ने सरकार को असेम्बली, मजिस्ट्रेसी तथा जुडीशियरी नामक तीन विभागों में बांटा था :
(अ) प्लेटो ने (ब) अरस्तू ने
(स) सिसरो ने (द) पोलिबियस ने

3. 16वीं सदी के किस विचारक ने कहा है कि राजा को कानून निर्माता तथा न्यायाधीश दोनों रूपों में एक साथ कार्य नहीं करना चाहिए :
(अ) जीन बोदां ने (ब) पोलिबियस ने
(स) सिसरो ने (द) मार्सीग्लियो ने

4. शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त का विधिवत् और वैज्ञानिक रूप में प्रतिपादन किसके द्वारा किया गया :
(अ) प्लेटो (ब) मॉण्टेस्क्यू
(स) ऑस्टिन (द) हरबर्ट स्पेन्सर

5. '*Esprit des Luis*' (*Spirit of Laws*) पुस्तक की रचना किसने की थी :
(अ) प्लेटो (ब) जीन बोदां (स) मॉण्टेस्क्यू (द) पोलिबियस

6. मॉण्टेस्क्यू ने किस देश की शासन-व्यवस्था से प्रभावित होकर अपने शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया :
(अ) अमरीका (ब) इंग्लैण्ड (स) फ्रांस (द) भारत

7. "*Commentaries on the Laws of England*" पुस्तक के लेखक कौन हैं :
(अ) मॉण्टेस्क्यू (ब) ब्लैकस्टोन
(स) मैडिसन (द) जीन बोदां

8. अमरीकी संविधान सभा के सदस्य किसकी विचारधारा से प्रभावित थे :
(अ) प्लेटो (ब) अरस्तू
(स) मॉण्टेस्क्यू (द) लुई चौदहवें

9. 'प्रशासकीय न्यायालयों' की स्थापना किस देश में की गई है :
(अ) अमरीका (ब) इंग्लैण्ड
(स) फ्रांस (द) इनमें में से कोई नहीं

10. "निरन्तर जागरूकता ही स्वतन्त्रता का सच्चा मूल्य है।" यह कथन किसका है :
(अ) प्रो. लास्की का (ब) वाशिंगटन का
(स) डॉ. फाइनर का (द) मैडिसन का

11. शक्ति-विभाजन सिद्धान्त को आधुनिक समय में किस रूप में अपनाया जा सकता है :
(अ) नियन्त्रण और सन्तुलन सिद्धान्त के रूप में (ब) शक्तियों के केन्द्रीकरण के सिद्धान्त के रूप में
(स) लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

[उत्तर—1. (अ), 2. (ब), 3. (अ), 4. (ब), 5. (स), 6. (ब), 7. (ब), 8. (स), 9. (स), 10. (ब), 11. (अ)।]

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

15

सरकार के अंग
(व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका)

[ORGANS OF GOVERNMENT]
(Legislature, Executive and Judiciary)

"सरकार वह संगठन है जिसके माध्यम से राज्य अपनी इच्छाओं को अभिव्यक्त करता है, आदेश जारी करता है और अपने कार्यों का सम्पादन करता है।"[1] —डॉ. गार्नर

सरकार

राज्य एक ऐसी निराकार संस्था है जिसके द्वारा स्वयं कार्य नहीं किया जा सकता है। राज्य अपनी सम्प्रभु शक्ति का प्रयोग सरकार के माध्यम से ही करता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सरकार से हमारा तात्पर्य उन सब व्यक्तियों, संस्थाओं और साधनों से होता है, जिनके द्वारा राज्य की इच्छा की 'अभिव्यक्ति' होती है तथा उसे कार्यरूप प्रदान किया जाता है। सरकार का अर्थ स्पष्ट करते हुए गार्नर लिखते हैं, **"राज्य की इच्छाओं की पूर्ति जिस संगठन या एजेन्सी के द्वारा होती है, उसे सरकार कहते हैं।"**

सॉल्टाऊ के अनुसार "सरकार से हमारा तात्पर्य उन सब व्यक्तियों तथा साधनों से होता है जिनके द्वारा राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति होती है तथा उसे क्रियान्वित किया जाता है।"

सरकार के अंग (Organs of Government)

सभी व्यक्तियों द्वारा सरकार को एक से अधिक अंगों में विभाजित करने की आवश्यकता अनुभव की गयी है। कुछ व्यक्तियों द्वारा सरकार को व्यवस्थापन तथा शासन विभाग—इन दो अंगों में विभाजित किया गया है। कुछ व्यक्तियों द्वारा सरकार को 5 या 6 अंगों में विभाजित करने का प्रयत्न किया गया है, परन्तु सामान्य धारणा यही है कि प्रमुख रूप से सरकार के निम्नलिखित तीन अंग होते हैं : व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। व्यवस्थापिका कानून बनाने और राज्य की नीति को निश्चित करने का कार्य करती है, कार्यपालिका इन कानूनों को कार्यरूप में परिणत कर शासन का संचालन करती है और न्यायपालिका व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों के आधार पर न्याय प्रदान करने और संविधान की व्याख्या व रक्षा करने का कार्य करती है।

सरकार के अंग
(1) व्यवस्थापिका
(2) कार्यपालिका
(3) न्यायपालिका

व्यवस्थापिका
(LEGISLATURE)

व्यवस्थापिका का महत्व
(IMPORTANCE OF LEGISLATURE)

सरकार के तीनों ही अंगों द्वारा महत्वपूर्ण कार्य किये जाते हैं, लेकिन इन तीनों में व्यवस्थापन विभाग सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। व्यवस्थापन विभाग ही उन कानूनों का निर्माण करता है जिनके आधार पर कार्यपालिका शासन करती है और न्यायपालिका न्याय प्रदान करने का कार्य करती है। इस प्रकार व्यवस्थापिका, कार्यपालिका

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

1 "A Government is the organization, through which the state manifests its will; issues its commands and conducts its affairs." —Garner, *Political Science and Government*, p. 278.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और न्यायपालिका के कार्य के लिए आवश्यक आधार प्रदान करती है। व्यवस्थापन विभाग केवल कानूनों का ही निर्माण नहीं करता, वरन् प्रशासन की नीति भी निश्चित करता है और संसदात्मक शासन-व्यवस्था में तो कार्यपालिका पर प्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रण भी रखता है। संविधान में संशोधन का कार्य भी व्यवस्थापिका के द्वारा ही किया जाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि व्यवस्थापन विभाग सरकार के दूसरे अंगों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण स्थिति रखता है। व्यवस्थापिका का लोकतन्त्र में एक महत्व इस कारण भी है कि व्यवस्थापिका में जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि होते हैं। अतः लोकतन्त्र में व्यवस्थापिका लोकतान्त्रिक हितों व आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करती है।

व्यवस्थापिका के कार्य
(FUNCTIONS OF LEGISLATURE)

व्यवस्थापिका के कार्य बहुत कुछ सीमा तक शासन पद्धति के रूप पर निर्भर करते हैं। एकतन्त्र, राजतन्त्र या अधिनायकतन्त्र में व्यवस्थापिका के कोई विशेष कार्य नहीं होते, किन्तु लोकतन्त्रात्मक राज्यों में व्यवस्थापिका की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण होती है। लोकतन्त्रात्मक राज्यों में भी संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्थाओं में व्यवस्थापिका की स्थिति भिन्न-भिन्न होती है। संसदात्मक शासन में व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखती है, जैसा कि अध्यक्षात्मक शासन में सम्भव नहीं है। सामान्य रूप से लोकतन्त्रीय राज्यों में व्यवस्थापिका द्वारा निम्नलिखित कार्य किये जाते हैं :

(1) कानून निर्माण सम्बन्धी कार्य—व्यवस्थापिका का सबसे मुख्य एवं महत्वपूर्ण कार्य कानूनों का निर्माण करना होता है। यह विभाग विधेयकों का प्रारूप तैयार करता, उन पर वाद-विवाद करता और फिर उन्हें स्वीकार कर कानून का रूप प्रदान करता है। व्यवस्थापिका पुराने कानूनों में संशोधन, परिवर्तन व उन्हें समाप्त करने का कार्य भी करती है। इस सम्बन्ध में सूच्य है कि इंग्लैण्ड में संसदीय सर्वोच्चता का सिद्धान्त लागू किया गया है तथा वहां संसद (व्यवस्थापिका) की कानून निर्माण शक्ति असीमित है। भारत में व्यवस्थापिका की कानून निर्माण शक्ति की कतिपय सीमाएं हैं।

व्यवस्थापिका के कार्य
(1) कानून निर्माण सम्बन्धी कार्य
(2) संविधान में संशोधन का कार्य
(3) विमर्शात्मक कार्य
(4) आर्थिक कार्य
(5) प्रशासन सम्बन्धी कार्य
(6) न्याय सम्बन्धी कार्य
(7) निर्वाचन सम्बन्धी कार्य
(8) समितियों और आयोगों की नियुक्ति
(9) जनभावनाओं की अभिव्यक्ति

(2) संविधान में संशोधन का कार्य—प्रायः सभी देशों में व्यवस्थापिका संविधान में संशोधन का कार्य करती है, यद्यपि विभिन्न देशों में व्यवस्थापिका के द्वारा यह कार्य भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं के आधार पर किया जाता है। उदाहरणार्थ, इंगलैण्ड में 'पार्लियामेण्ट' अपने सामान्य बहुमत से ही संविधान में किसी भी प्रकार का संशोधन कर सकती है, लेकिन अमरीका, भारत, आदि देशों में संविधान में संशोधन की पद्धति सामान्य कानून निर्माण की पद्धति से भिन्न है।

(3) विमर्शात्मक कार्य (Deliberative Functions)—व्यवस्थापिका का एक प्रमुख कार्य विचार-विमर्श करना होता है। व्यवस्थापिका के लिए जो पार्लियामेण्ट (Parliament) शब्द का प्रयोग किया जाता है यह फ्रांसीसी शब्द 'पार्लमेण्ट' से लिया गया है जिसका अर्थ 'विचार करने के निमित्त सभा' है। व्यवस्थापिका में विभिन्न स्वार्थों, दृष्टिकोण तथा समुदाय के प्रतिनिधियों के बीच विस्तृत एवं स्वतन्त्र विचार-विनिमय होता है। विचारों के आदान-प्रदान का संचालन शान्तिपूर्ण और व्यवस्थित तरीके से करने के लिए व्यवस्थापिका कुछ निश्चित नियमों के आधार पर अपना कार्य करती है।

(4) आर्थिक कार्य—वर्तमान समय में व्यवस्थापिका कानून-निर्माण के साथ-साथ राष्ट्रीय वित्त पर नियन्त्रण करने का कार्य भी करती है। आर्थिक कार्यों के अन्तर्गत व्यवस्थापिका यह निश्चित करती है कि किन साधनों से धन प्राप्त किया जाय। व्यवस्थापिका की स्वीकृति के बिना आय-व्यय से सम्बन्धित कोई कार्य नहीं किया जा सकता है। इस कार्य के अन्तर्गत व्यवस्थापिका प्रतिवर्ष सरकार का बजट पारित करती है।

(5) प्रशासन सम्बन्धी कार्य—यद्यपि व्यवस्थापिका सीधे तौर पर प्रशासनिक कार्य में भाग नहीं लेती, लेकिन प्रशासन पर नियन्त्रण अवश्य ही रखती है। व्यवस्थापिका द्वारा प्रशासन सम्बन्धी यह कार्य संसदात्मक तथा अध्यक्षात्मक शासन पद्धतियों में भिन्न-भिन्न रूपों में किया जाता है। संसदात्मक शासन में व्यवस्थापिका

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्नों, स्थगन प्रस्तावों, निन्दा प्रस्तावों और अविश्वास प्रस्तावों के माध्यम से कार्यपालिका पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण रखती है और कार्यपालिका का अस्तित्व व्यवस्थापिका की इच्छा पर निर्भर करता है। अध्यक्षात्मक शासन में व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर अप्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रण रखती है; जैसे अमरीका में कार्यपालिका जो महत्वपूर्ण नियुक्तियां और सन्धियां करती है, उनके सम्बन्ध में सीनेट की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक है।

(6) न्याय सम्बन्धी कार्य—अनेक देशों में व्यवस्थापिका न्याय सम्बन्धी कार्य भी करती है। फ्रांस की **'काउंसिल ऑफ रिपब्लिक'**, अमरीका की **'कांग्रेस'** और भारत की **'संसद'** को उच्च कार्यपालिका पदाधिकारियों पर अभियोग लगाने और उनके निर्णय का अधिकार प्राप्त है। इंगलैण्ड में तो व्यवस्थापिका का उच्च सदन **'हाउस ऑफ लॉर्ड्स'** (House of Lords) अपील के उच्चतम न्यायालय के रूप में भी कार्य करता है।

(7) निर्वाचन सम्बन्धी कार्य—अधिकांश देशों में व्यवस्थापिकाएं निर्वाचन सम्बन्धी कार्य भी करती हैं। उदाहरण के लिए, फ्रांस के दोनों सदन मिलकर वहां के राष्ट्रपति का निर्वाचन करते हैं, स्विट्जरलैण्ड की व्यवस्थापिका न्यायाधीशों और मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों का चुनाव करती है। भारत में संघीय संसद तथा विधानसभा के निर्वाचित सदस्यों द्वारा राष्ट्रपति का निर्वाचन किया जाता है।

(8) समितियों और आयोगों की नियुक्ति—विधानमण्डल समय-समय पर किन्हीं विशेष कार्यों की जांच करने के लिए समितियों और आयोगों की नियुक्ति का कार्य करता है और इनके माध्यम से शासन के कार्यों की छानबीन की जाती है। इसके अलावा अमरीका, इंग्लैण्ड, भारत, आदि सभी देशों में सरकारी निगमों की रचना की गयी है। इन निगमों की गतिविधियों और कार्यों पर संसद का पूरा नियन्त्रण रहता है।

(9) जनभावनाओं की अभिव्यक्ति—लोकतन्त्र में व्यवस्थापिका एक ऐसा स्थान है जहां पर जनता के प्रतिनिधि सरकार का ध्यान जनता के कष्टों के प्रति आकर्षित करते हैं और शासन को जनहित कार्य करने के लिए प्रेरित करते हैं। इस प्रकार व्यवस्थापिका को **'जनता का रंगमंच'** कहा जाता है।

(10) कार्यपालिका पर नियन्त्रण—संसदीय शासन व्यवस्था में व्यवस्थापिका कार्यपालिका के प्रति उत्तरदायी होती है। व्यवस्थापिका का लोकप्रिय सदन (भारत में लोकसभा) कार्यपालिका (मन्त्रिमण्डल) के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित कर उसे अपदस्थ कर सकते हैं।

व्यवस्थापिका का संगठन
(ORGANIZATION OF LEGISLATURE)

व्यवस्थापिका का संगठन दो रूपों में किया जा सकता है। व्यवस्थापिका का या तो एक सदन हो सकता है या दो सदन। लोकतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था के प्रारम्भ में अधिकांश देशों में एकसदनात्मक व्यवस्थापिका ही थी, किन्तु बाद में यह अनुभव किया गया कि प्रथम सदन की शक्ति पर अंकुश रखने और प्रथम सदन द्वारा किये गये कार्यों पर पुनर्विचार करने के लिए व्यवस्थापिका के दो सदन होने चाहिए। वर्तमान समय में कुछ छोटे देशों को छोड़कर प्रायः सभी महत्वपूर्ण देशों में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिकाएं विद्यमान हैं। व्यवस्थापिका एकसदनात्मक होनी चाहिए या द्विसदनात्मक—यह प्रश्न पर्याप्त विवादग्रस्त रहा है और आज भी इस प्रश्न पर भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किये जाते हैं। भारत में केन्द्र में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका है, लेकिन प्रान्तों में सात राज्यों को छोड़कर एक सदनात्मक व्यवस्थापिका को अपनाया गया है।

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष में तर्क या एकसदनात्मक व्यवस्थापिका के विपक्ष में तर्क
(ARGUMENTS IN FAVOUR OF BICAMERALISM)

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष में प्रमुख रूप से निम्नलिखित युक्तियां दी जाती हैं :

(1) प्रथम सदन की मनमानी पर रोक—यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि शक्ति भ्रष्ट करती है और बिना किसी प्रतिबन्ध के दी हुई शक्ति मनुष्य को नितान्त भ्रष्ट कर देती है। व्यवस्थापिका अत्याचारी, भ्रष्ट व स्वेच्छाचारी न होने पाये, इसके लिए दो सदन होना आवश्यक है। डॉ. गार्नर के शब्दों में, "इस प्रकार द्वितीय सदन की वियमानता स्वतन्त्रता की गारण्टी व कुछ सीमा तक अत्याचार से सुरक्षा भी है।"[1]

1 "The existence of a second chamber is thus a guarantee of liberty as well as to some extent, safeguard against tyranny." —Garner

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(2) अविचारपूर्ण कानून निर्माण पर रोक—दूसरा सदन पहले सदन की जल्दबाजी और कुविचारपूर्ण कानूनों पर रोक लगाने का सर्वाधिक प्रभावशाली साधन है। जनता के प्रतिनिधि भावुक, क्रान्तिकारी और अव्यावहारिक होते हैं और अनेक बार वे ऐसे क्रान्तिकारी कानून बनाने के लिए तैयार हो जाते हैं जिनसे लाभ के स्थान पर हानि ही अधिक होती है। द्वितीय सदन इस प्रकार के अविचारपूर्ण कानूनों पर रोक लगाकर अत्यन्त उपयोगी कार्य करता है। दूसरे सदन की उपयोगिता बताते हुए ब्लण्टशली ने कहा है कि "दो आंखों की अपेक्षा चार आंखें सदा अच्छा देखती हैं विशेषतः जब किसी प्रश्न पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करना आवश्यक हो।"[1]

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष में तर्क

(1) प्रथम सदन की मनमानी पर रोक
(2) अविचारपूर्ण कानून निर्माण पर रोक
(3) सभी वर्गों को प्रतिनिधित्व
(4) कार्य-विभाजन से लाभ
(5) जनमत निर्माण में सहायक
(6) स्वतन्त्रता की रक्षा का साधन
(7) कार्यपालिका की स्वतन्त्रता में वृद्धि
(8) अनुभवी लोगों का सदन
(9) संघ राज्य के लिए उपयुक्त
(10) ऐतिहासिक अनुभव

(3) सभी वर्गों को प्रतिनिधित्व—प्रथम सदन में शक्तिशाली राजनीतिक दलों से सम्बन्धित निम्न एवं मध्यम वर्ग के सदस्यों को ही प्रतिनिधित्व प्राप्त हो पाता है, लेकिन लोकतन्त्र का आदर्श सभी वर्गों को प्रतिनिधित्व प्रदान करना है। अतः दूसरे सदन में विशेष वर्गों, अल्पसंख्यकों एवं विद्या, ज्ञान और अनुभव की दृष्टि से योग्य व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व सुरक्षित रखा जा सकता है। इस प्रकार प्रतिनिधित्व की उत्तमता की दृष्टि से दो सदनों की व्यवस्था श्रेष्ठ समझी जाती है।

(4) कार्य-विभाजन से लाभ—जनकल्याणकारी राज्य के विचार को अपना लेने के कारण वर्तमान समय में व्यवस्थापिका के अन्तर्गत कार्य बहुत अधिक बढ़ गये हैं। व्यवस्थापिका के दो सदन होने पर इस बढ़े हुए कार्य का विभाजन किया जा सकता है और इससे व्यवस्थापिका की कार्यक्षमता बढ़ जाती है। वे विधेयक, जिन पर विशेष मतभेद नहीं होता, पहले द्वितीय सदन में पेश किये जा सकते हैं और प्रथम सदन अपना ध्यान अधिक महत्वपूर्ण समस्याओं की ओर केन्द्रित कर सकता है।

(5) जनमत निर्माण में सहायक—विधेयक के निम्न सदन से पास हो जाने के बाद उच्च सदन में पास होने में समय लगता है। इस प्रकार उच्च सदन विधेयक पास करने के पूर्व जनता को विधेयक के बारे में सोचने-विचारने के लिए समय देता है और सामान्य जनता, राजनीतिक दल एवं प्रेस इस प्रस्तावित विधेयक पर अपने विचार व्यक्त कर सकते हैं।

(6) स्वतन्त्रता की रक्षा का साधन—द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका जनता की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए भी अत्यन्त आवश्यक है। यह नीतियों में सन्तुलन स्थापित करती व अल्पसंख्यकों की रक्षा करती है। लॉर्ड एक्टन ने दूसरे सदन को स्वतन्त्रता की रक्षा का सबसे प्रमुख साधन माना है।

(7) कार्यपालिका की स्वतन्त्रता में वृद्धि—गैटिल का कथन है कि "दो सदन एक-दूसरे पर रुकावट का कार्य करके कार्यपालिका को अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं और अन्त में इससे लोकहित की बढ़ोतरी होती है।" कई बार मन्त्रियों को अपनी सही नीति के लिए भी प्रथम सदन में पर्याप्त समर्थन नहीं मिल पाता। ऐसी स्थिति में यदि उन्हें द्वितीय सदन में पर्याप्त समर्थन मिल जाय, तो उनकी स्थिति काफी मजबूत हो जाती है।

(8) अनुभवी लोगों का सदन—यदि इंग्लैण्ड, अमरीका, भारत, कनाडा, आदि देशों के उच्च सदनों पर दृष्टि डाली जाय तो यह स्पष्ट होता है कि इन देशों के उच्च सदनों के सदस्य राजनीतिक दृष्टि से बहुत अधिक अनुभवी होते हैं। ये अनुभवी व्यक्ति राजनीति में परिपक्वता, गम्भीरता और आवश्यक अनुदारता का प्रवेश कराते हैं तथा देश को अपने अनुभव से लाभान्वित करते हैं। इन अनुभवी व्यक्तियों की सेवाएं प्राप्त करने का अवसर द्वितीय सदन के पक्ष में एक प्रभावशाली तर्क है। भारत में व्यवस्थापिका के द्वितीय सदन राज्यसभा में राष्ट्रपति द्वारा 12 सदस्यों को मनोनीत किया जाता है जो विभिन्न क्षेत्रों—समाज सेवा, विज्ञान, कला व साहित्य के अनुभवी व विद्वान व्यक्ति होते हैं। ऐसे व्यक्ति कानून निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं।

[1] "It is clear that four eyes see better than two, especially when a subject may be considered from different standpoint." —*Bluntschli*

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(9) संघ राज्य के लिए उपयुक्त—एक संघ राज्य में जो विभिन्न इकाइयां होती हैं, उनमें क्षेत्र और जनसंख्या की दृष्टि से बहुत अधिक अन्तर होता है। ऐसी परिस्थिति में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के द्वारा प्रथम सदन में जनसंख्या के आधार पर और दूसरे सदन में इकाइयों की समानता के आधार पर प्रतिनिधित्व प्रदान किया जा सकता है। इस प्रकार संघ की सभी इकाइयों को सन्तुष्ट रखा जा सकता है और छोटी इकाइयों के हितों की रक्षा सम्भव होती है।

(10) ऐतिहासिक अनुभव—उपर्युक्त सभी तर्कों के अतिरिक्त ऐतिहासिक अनुभव भी अधिकतर दूसरे सदन के पक्ष में है। इंगलैण्ड में गृहयुद्ध के पश्चात् क्रामवैल के समय (1549-60) और अमरीका में 1777 से 1787 तक व्यवस्थापिका का एक ही सदन था। फ्रांस में भी कुछ समय के लिए एकसदनीय विधानमण्डल को अपनाया गया, किन्तु इन सभी देशों में एकसदनीय विधानमण्डल का प्रयोग असफल रहा और इस कारण अब एकसदनीय विधानमण्डल की कोई बात नहीं करता।

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के विपक्ष में तर्क या एकसदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष में तर्क

(ARGUMENTS AGAINST BICAMERALISM)

दो सदनों वाली व्यवस्थापिका के पक्ष में व्यक्त किये गये इन विचारों से अनेक विद्वान सहमत नहीं हैं और वे एक सदन वाली व्यवस्थापिका को ही श्रेष्ठ समझते हैं। उनके द्वारा निम्नलिखित तर्कों के आधार पर दो सदनों वाली व्यवस्थापिका का विरोध किया जाता है :

(1) द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका अलोकतान्त्रिक—ऐसा माना जाता है कि प्रभुसत्ता अविभाज्य होती है और लोकतन्त्र का यह आधारभूत सिद्धान्त है कि प्रभुसत्ता जनसाधारण में निवास करती है। इसलिए यह कहा जाता है कि सर्वसाधारण जनता द्वारा निर्वाचित एक सदन ही सर्वसाधारण की इच्छा का प्रतिनिधित्व कर सकता है और दूसरा सदन अलोकतन्त्रीय होता है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक एबे सीज ने लिखा है कि "किसी भी विषय पर लोकमत एक ही हो सकता है, दो नहीं; इसलिए जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करने के लिए एक ही सदन होना चाहिए, दूसरे सदन की आवश्यकता नहीं है।" वे आगे लिखते हैं कि "यदि दूसरा सदन पहले का विरोध करता है तो दुष्ट है और यदि सहमत हो जाता है तो व्यर्थ है।"

(2) रूढ़िवादिता का गढ़—क्योंकि द्वितीय सदन के सदस्य आयु में अपेक्षाकृत बड़े होते हैं और उनके द्वारा अप्रत्यक्ष निर्वाचन, मनोनयन या उत्तराधिकार के आधार पर अपना पद प्राप्त किया जाता है, इसलिए वह रूढ़िवादिता का गढ़ बन जाता है और देश में प्रगतिशील सुधार करने के इच्छुक प्रथम सदन के मार्ग में रुकावट डालता है। द्वितीय सदन के आलोचकों का विचार है कि ऐसे रूढ़िवादी और निहित स्वार्थों वाले तत्वों को प्रतिनिधित्व देने का परिणाम देश का अहित ही होता है। इंग्लैण्ड की व्यवस्थापिका का दूसरा सदन लार्ड सभा एक गैर-निर्वाचित सदन है तथा रूढ़िवादी व सामन्तवादी तत्वों का गढ़ है।

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के विपक्ष में तर्क

(1) द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका अलोकतान्त्रिक
(2) रूढ़िवादिता का गढ़
(3) अपव्यय
(4) संगठन की समस्या
(5) दूसरा सदन अनावश्यक
(6) दोनों सदनों में संघर्ष की आशंका
(7) अल्पमतों को प्रतिनिधित्व देने हेतु अन्य सन्तोषजनक प्रबन्ध सम्भव
(8) संघ राज्य के लिए भी आवश्यक नहीं

(3) अपव्यय—द्विसदनीय प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक विधेयक पर दो-दो बार विचार होता है, जिसका अर्थ है कि समय की क्षति और राजकोष पर अनावश्यक बोझ। जब एक सदन द्वारा ही व्यवस्थापन कार्य सम्पन्न हो सकता है तो दूसरे सदन का अस्तित्व स्पष्टतः ही धन का अपव्यय है।

(4) संगठन की समस्या—दूसरे सदन का इस कारण भी विरोध किया जाता है कि द्वितीय सदन के गठन की पद्धति के विषय में कोई भी एकमत नहीं है और गठन की पद्धति के सम्बन्ध में असहमति स्वतः इसके विरुद्ध एक तर्क है। व्यवहार में, दो सदनों की व्यवस्था वाले सभी देशों में यह समस्या उत्पन्न हुई है। उदाहरण के लिए, इंग्लैण्ड के हाउस ऑफ लॉर्ड्स को सदैव असंगत कहा जाता है, क्योंकि वह कुलीन वर्ग को छोड़कर अन्य किसी का प्रतिनिधित्व नहीं करता है। कनाडा में उच्च सदन के सदस्यों को मनोनीत करने की पद्धति अपनायी गयी है,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन इसके विरुद्ध भी गम्भीर आपत्ति प्रकट की जाती है। अप्रत्यक्ष निर्वाचन अनेक बार भ्रष्टाचार का कारण बन जाता है। यदि प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर दूसरे सदन का गठन किया जाय, तो वह पहले सदन का ही दूसरा रूप हो जायेगा। दोनों सदनों की शक्तियों की दृष्टि से भी दो सदनों की व्यवस्था तीव्र आलोचना का विषय है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सन्तोषप्रद द्वितीय सदन का गठन एक विकट समस्या है।

(5) दूसरा सदन अनावश्यक—आलोचक इस बात को भी स्वीकार नहीं करते कि आवेश तथा जल्दबाजी में निर्मित कानूनों पर रोक लगाने के लिए द्वितीय सदन आवश्यक है। वर्तमान समय में एक सदन द्वारा स्वीकृत कानून न तो कुविचारित होता है और न ही जल्दबाजी का परिणाम। प्रायः प्रत्येक प्रस्ताव विवाद और विश्लेषण की लम्बी प्रक्रिया को पार करने के बाद ही कानून बन पाता है इसलिए दूसरा सदन पहले सदन की शक्ति पर अनावश्यक रोक लगाने का ही कार्य करता है। इसीलिए यह कहा जाता है कि द्वितीय सदन यदि प्रथम सदन की शक्तियों पर अंकुश लगाता है। तो वह बाधा उत्पन्न करता है। यदि अंकुश नहीं लगाती निरर्थक है।

(6) दोनों सदनों में संघर्ष की आशंका—ऐसा देखा गया है कि व्यवस्थापिका के दो सदन होने पर इन दोनों सदनों में लगभग सदैव ही गतिरोध बना रहता है, जिसका शासन-व्यवस्था पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। अमरीकी संविधान सभा के एक सदस्य बैंजामिन फ्रेंकलिन का विचार है कि "दो सदन रखना ठीक ऐसा ही है जैसे एक गाड़ी के दोनों तरफ घोड़े जोत दिये जायें और वे विरोधी दिशा में जाने का प्रयत्न करें।"[1]

(7) अल्पमतों को प्रतिनिधित्व देने हेतु अन्य सन्तोषजनक प्रबन्ध सम्भव—द्वितीय सदन के आलोचक कहते हैं कि यह जरूरी नहीं है कि अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने के लिए दूसरे सदन की व्यवस्था की जाय। अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने के लिए संविधान में दूसरे उपाय किये जा सकते हैं, जिस तरह भारतीय संविधान में अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए 26 जनवरी, 2010 ई. तक स्थान आरक्षित किये गये। वर्ष 2009 में संविधान संशोधन कर पुनः आरक्षण की अवधि 26 जनवरी, 2020 तक बढ़ा दी गयी है।

(8) संघ राज्य के लिए भी आवश्यक नहीं—आलोचकों का कथन है कि संघ राज्य के लिए भी दूसरे सदन का अस्तित्व न तो उपयोगी है और न ही आवश्यक। व्यवहार में देखा गया है कि दूसरे सदन में सदस्य इकाइयों का प्रतिनिधित्व करने के बजाय उन राजनीतिक दलों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनकी सहायता से वे निर्वाचित होते हैं। दलीय अनुशासन के कारण ही ऐसा करना आवश्यक होता है। इसलिए लास्की ने कहा है कि "यह गलत है कि संघ की रक्षा के लिए दूसरा सदन कोई प्रभावशाली गारण्टी है।" संघ की इकाइयों के हितों की रक्षा वस्तुतः वैधानिक संरक्षणों तथा स्वतन्त्र न्यायपालिका द्वारा ही हो सकती है दूसरे सदन के अस्तित्व द्वारा नहीं।

निष्कर्ष—द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की लोकप्रियता—दो सदनों की व्यवस्थापिका की इस प्रकार की आलोचनाओं के होते हुए भी वर्तमान समय में प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र के लिए द्विसदनात्मक विधानमण्डल नितान्त आवश्यक माना जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि द्वितीय सदन पूर्ण जागरूकता के साथ प्रथम सदन द्वारा पारित किये गये विधेयकों पर पुनर्विचार करे, तो लोकप्रिय सदन की जल्दबाजी और मनमानी पर उपयोगी एवं आवश्यक प्रतिबन्ध लग सकता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न वर्गों को प्रतिनिधित्व दिये जाने पर कानून निर्माण का कार्य अधिक पूर्णता के साथ किये जाने की आशा की जा सकती है। यही कारण है कि केवल कुछ छोटे राज्यों को छोड़कर शेष सभी राज्यों में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका पायी जाती है, लेकिन इसके साथ ही द्वितीय सदन का अस्तित्व उसी समय उपयोगी हो सकता है, जबकि वह विधेयकों पर स्वतन्त्र रूप से विचार करे। वर्तमान समय में इस बात को लगभग सभी व्यक्ति स्वीकार करते हैं कि द्वितीय सदन की शक्तियां लोकप्रिय सदन से कम होनी चाहिए। कानून निर्माण के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय की शक्ति लोकप्रिय सदन के ही हाथों में रहनी चाहिए।

[1] "It is a cart with a horse hiched to each side and both pulling in opposite direction."
—*Benjamin Franklin*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्यपालिका
(EXECUTIVE)

कार्यपालिका का महत्व
(IMPORTANCE OF EXECUTIVE)

सरकार का दूसरा महत्वपूर्ण अंग कार्यपालिका होता है। सरकार के इस अंग का महत्व प्राचीनकाल से ही बहुत अधिक रहा है। प्राचीनकाल के अलोकतन्त्रीय राज्यों में तो कार्यपालिका ही सब कुछ होती थी। यद्यपि वर्तमान समय में कार्यपालिका का महत्व पहले से कम हो गया है, किन्तु फिर भी अन्तिम रूप में सरकार के समस्त अंगों का उत्तरदायित्व कार्यपालिका पर ही होता है। व्यवस्थापिका द्वारा पास किये गये कानूनों और वार्षिक बजट को प्रस्तावित करने का कार्य कार्यपालिका ही करती है और न्याय विभाग की व्यवस्था का अन्तिम उत्तरदायित्व भी कार्यपालिका का ही होता है। डॉ. फाइनर ठीक ही कहते हैं कि "व्यवस्थापिका और न्यायपालिका में शक्तियों का बंटवारा हो चुकने के बाद शेष शक्तियां कार्यपालिका के पास ही रहती हैं।" कार्यपालिका का महत्व इस बात से ही स्पष्ट है कि प्रायः सरकार शब्द का प्रयोग कार्यपालिका के लिए ही किया जाता है, यद्यपि कार्यपालिका सरकार का एक अंग मात्र ही है।

कार्यपालिका का अर्थ
(MEANING OF EXECUTIVE)

कार्यपालिका सरकार का वह अंग है जिसका कार्य व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों को कार्यरूप में परिणत करना और उनके आधार पर प्रशासन का संचालन करना होता है। राष्ट्रपति से लेकर साधारण पुलिसमैन तक प्रशासन से सम्बन्धित प्रत्येक कर्मचारी कार्यपालिका का ही अंग होता है।

कार्यपालिका के मुख्यतः दो भाग होते हैं—(1) राजनीतिक कार्यपालिका, और (2) स्थायी कार्यपालिका या प्रशासन। राजनीतिक कार्यपालिका विधियों के आधार पर प्रशासन से सम्बन्धित विभिन्न विभागों के सम्बन्ध में नीति-निर्माण करती है और स्थायी सेवा वर्ग नीति-निर्माण में सहायता देता है तथा प्रमुख रूप से नीति को क्रियान्वित करता है। इसे स्थायी कार्यपालिका इसलिए कहा जाता है कि इसके सदस्यों (लोक सेवा के अधिकारी) का कार्यकाल स्थायी तथा लम्बा होता है। इसके विपरीत राजनीतिक कार्यपालिका (मन्त्रिपरिषद्) का कार्यकाल अस्थाई होता है। संकुचित अर्थ में कार्यपालिका शब्द का प्रयोग राजनीतिक कार्यपालिका के लिए ही किया जाता है।

कार्यपालिका के प्रकार
(KINDS OF EXECUTIVE)

(1) नाममात्र की व वास्तविक कार्यपालिका (Nominal and Real Executive)—नाममात्र की कार्यपालिका का तात्पर्य उस पदाधिकारी से होता है, जिसे संविधान के द्वारा समस्त प्रशासनिक शक्ति प्रदान की गयी हो, लेकिन जिसके द्वारा व्यवहार में उस प्रशासनिक शक्ति का प्रयोग अपने विवेक के अनुसार न किया जा सके। यद्यपि प्रशासन का सम्पूर्ण कार्य उसी के नाम पर होता है, किन्तु व्यवहार में इन कार्यों को वास्तविक कार्यपालिका द्वारा किया जाता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि नाममात्र का कार्यपालिका प्रधान राज करता है, शासन नहीं। इंग्लैण्ड का सम्राट और भारत का राष्ट्रपति नाममात्र की कार्यपालिका के ही उदाहरण हैं।

संसदात्मक शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत संविधान द्वारा नाममात्र की कार्यपालिका को जो प्रशासनिक शक्ति प्रदान की जाती है, व्यवहार में इस शक्ति का प्रयोग जिन पदाधिकारियों के द्वारा किया जाता है, उसे वास्तविक कार्यपालिका कहा जाता है। व्यवहार में, सम्पूर्ण प्रशासनिक शक्ति इस वास्तविक कार्यपालिका के हाथ में ही केन्द्रित होती है। ब्रिटेन और भारत की मन्त्रिपरिषद् इस प्रकार की वास्तविक कार्यपालिका के ही उदाहरण हैं। नाममात्र की और वास्तविक कार्यपालिका का यह भेद केवल संसदात्मक शासन-व्यवस्था में ही पाया जाता है। अमरीका जैसे अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था वाले देश में तो राष्ट्रपति ही कार्यपालिका का नामधारी और वास्तविक प्रधान होता है।

कार्यपालिका के प्रकार
(1) नाममात्र की व वास्तविक कार्यपालिका
(2) एकल और बहुल कार्यपालिका

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(2) एकल और बहुल कार्यपालिका (Single and Plural Executive)—संगठन की दृष्टि से कार्यपालिका दो प्रकार की होती है—एकल कार्यपालिका और बहुल कार्यपालिका।

एकल कार्यपालिका का तात्पर्य कार्यपालिका के ऐसे संगठन से है जिसके अन्तर्गत निर्णयात्मक और अन्तिम रूप में कार्यपालिका की समस्त शक्ति किसी एक व्यक्ति के हाथों में केन्द्रित होती है। शासन प्रबन्ध की सुविधा के लिए कार्यपालिका शक्ति का विभाजन अवश्य ही किया जाता है, किन्तु अन्तिम रूप से सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था के लिए कोई एक व्यक्ति ही उत्तरदायी होता है। भारत, अमरीका, इंग्लैण्ड, कनाडा, आदि देशों की व्यवस्था एकल कार्यपालिका का ही उदाहरण है।

बहुल कार्यपालिका का तात्पर्य कार्यपालिका के ऐसे प्रकार से है जिसके अन्तर्गत अन्तिम रूप में कार्यपालिका शक्ति किसी एक व्यक्ति में निहित न होकर व्यक्तियों के एक समुदाय में निहित होती है। प्राचीन ऐथेन्स और स्पार्टा में इस प्रकार की बहुल कार्यपालिका थी और वर्तमान काल में स्विट्जरलैण्ड में इस प्रकार की बहुल कार्यपालिका है। स्विट्जरलैण्ड में कार्यपालिका सत्ता 7 सदस्यों की एक **'संघीय परिषद्'** (Federal Council) में निवास करती है और यह परिषद् सामूहिक रूप से राज्य की कार्यपालिका प्रधान के रूप में कार्य करती है। संघीय परिषद् के सातों सदस्यों की स्थिति बिल्कुल समान होती है। पूर्व सोवियत संघ में सर्वोच्च कार्यपालिका परिषद् के रूप में **'प्रेजीडियम'** के द्वारा कार्य किया जाता था जिसके 39 सदस्य होते थे। यद्यपि प्रेजीडियम का एक सभापति होता था, किन्तु प्रेज़ीडियम के सभापति को सैद्धान्तिक दृष्टि से दूसरे सदस्यों की अपेक्षा कोई विशेष अधिकार प्राप्त नहीं होते थे और इसलिए इसे **'सामूहिक कार्यपालिका'** कहा जाता था।

कार्यपालिका का कार्य प्रशासन करना होता है और इस कार्य को कुशलतापूर्वक करने के लिए अविलम्ब निर्णय, उद्देश्य की सच्चाई, कार्य करने की शक्ति और अनेक बार कार्यविधि की गुप्तता भी आवश्यक होती है। ये गुण उसी समय प्राप्त हो सकते हैं जबकि कार्यपालिका के संगठन में एकता हो। **नेपोलियन** ने एक बार कहा था कि **"दो अच्छे सेनापतियों की अपेक्षा एक बुरा सेनापति श्रेष्ठ होता है।"**[2] प्रशासनिक कार्य युद्ध जैसा ही होने के कारण प्रशासन पर यह बात पूर्णतया चरितार्थ होती है। व्यवहार में बहुल कार्यपालिका सही अर्थों में केवल एक देश, स्विट्जरलैण्ड—में ही है। स्विट्जरलैण्ड में बहुल कार्यपालिका की सफलता का कारण उस देश की विशेष स्थिति और श्रेष्ठ परम्पराएं हैं, जो स्विट्जरलैण्ड की भूमि की विशेष उपज हैं। वस्तुतः एक देश की सफलता के आधार पर बहुल कार्यपालिका को व्यावहारिक नहीं माना जा सकता है और इसी कारण विश्व के लगभग सभी देशों में एकल कार्यपालिका ही विद्यमान है।

कार्यपालिका की नियुक्ति की विधि
(MODE OF APPOINTMENT OF EXECUTIVE)

आधुनिक समय में कार्यपालिका की नियुक्ति विभिन्न देशों में अलग-अलग पद्धतियों से की जाती है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित चार पद्धतियां प्रमुख हैं :

कार्यपालिका की नियुक्ति की विधि
(1) वंशानुगत पद्धति
(2) जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन
(3) जनता द्वारा अप्रत्यक्ष निर्वाचन
(4) व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन

(1) वंशानुगत पद्धति—इस पद्धति का सम्बन्ध राजतन्त्रीय शासन से है। इसमें पद की अवधि आजीवन होती और उत्तराधिकार ज्येष्ठाधिकार कानून द्वारा शासित होता है। प्राचीन व मध्य युग में कार्यपालिका के गठन की यह सर्वाधिक प्रचलित पद्धति रही है। यद्यपि वर्तमान समय में यह पद्धति लोकप्रिय नहीं है, किन्तु ब्रिटेन, ईरान, नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क, जापान राज्यों में नाममात्र की कार्यपालिका की नियुक्ति इसी पद्धति के आधार पर की जाती है।

(2) जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन—कुछ देशों में कार्यपालिका का चुनाव जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से किया जाता है। बोलिविया, मैक्सिको, ब्राजील, पेरू, आदि लैटिन अमरीकी राज्यों में राष्ट्रपति को सर्वसाधारण जनता ही निर्वाचित करती है। यह पद्धति वंशानुगत विधि के नितान्त विपरीत है। यह पद्धति लोकतन्त्र के अनुकूल

1 अक्टूबर 1977 में अपनाये गये नवीन संविधान के अनुसार।

2 "One bad General is better than two good ones." —*Napolean*

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और ऊपर से देखने में आकर्षक है, किन्तु जनता द्वारा सीधे चुने जाने पर अच्छे एवं योग्य व्यक्ति नहीं चुने जा सकते।

(3) जनता द्वारा अप्रत्यक्ष निर्वाचन—इस पद्धति के अन्तर्गत सर्वसाधारण जनता द्वारा एक निर्वाचक-मण्डल का निर्वाचन किया जाता है और इस निर्वाचक-मण्डल द्वारा कार्यकारिणी का चुनाव किया जाता है। अमरीका के राष्ट्रपति के निर्वाचन की यही पद्धति है, किन्तु व्यवहार में राष्ट्रपति के चुनाव ने प्रत्यक्ष चुनाव का रूप ग्रहण कर लिया है। भारत में भी राष्ट्रपति का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता है।

(4) व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन—इस पद्धति में कार्यपालिका को व्यवस्थापिका द्वारा चुना जाता है। स्विट्जरलैण्ड में कार्यपालिका प्रधान के चुनाव की यही पद्धति है, किन्तु इस पद्धति में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयां होने के कारण दूसरे देशों द्वारा इस पद्धति को नहीं अपनाया जा सका है।

संसदात्मक शासन-व्यवस्था वाले राज्यों में राजा या राष्ट्रपति तो नाममात्र की कार्यपालिका होता है, अतः इन शासन-व्यवस्थाओं में नाममात्र की कार्यपालिका की अपेक्षा वास्तविक कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिपरिषद् की नियुक्ति का प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण होता है। ब्रिटेन में जिस राजनीतिक दल को 'लोक-सदन' (House of Commons) में बहुमत प्राप्त होता है, सम्राट के द्वारा उस दल के नेता को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया जाता है। इसी व्यक्ति द्वारा साधारणतया अपने ही राजनीतिक दल से सहयोगियों की टीम को चुनकर मन्त्रिपरिषद् का निर्माण किया जाता है। भारत में इसी पद्धति का अनुसरण किया गया है। वास्तविक कार्यपालिका के निर्माण के सम्बन्ध में यही पद्धति सर्वाधिक सन्तोषजनक पायी गयी है।

कार्यपालिका के कार्य
(FUNCTIONS OF EXECUTIVE)

राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में वर्तमान समय में व्यक्तिवादी विचारधारा को त्यागकर जनकल्याणकारी राज्य के विचार को अपना लिया गया है। जनकल्याणकारी राज्य की विचारधारा का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि राज्य के कार्यों में वृद्धि हुई और जैसा कि **लिप्सन** लिखते हैं, **"राज्य के कार्यों में प्रत्येक वृद्धि ने कार्यपालिका के कार्यों और शक्ति में वृद्धि की है।"**[1] वर्तमान समय में कार्यपालिका के प्रमुख कार्य निम्नलिखित कहे जा सकते हैं :

कार्यपालिका के कार्य
(1) आन्तरिक शासन सम्बन्धी कार्य
(2) वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन
(3) सैनिक कार्य
(4) विधि-निर्माण सम्बन्धी कार्य
(5) वित्तीय कार्य
(6) न्याय सम्बन्धी कार्य
(7) विविध कार्य

(1) आन्तरिक शासन सम्बन्धी कार्य—प्रत्येक राज्य, राजनीतिक रूप में संगठित समाज है और इस संगठित समाज की सर्वप्रथम आवश्यकता शान्ति और व्यवस्था बनाये रखना होता है तथा यह कार्य कार्यपालिका के द्वारा ही किया जाता है। इसके अतिरिक्त, व्यापार और यातायात, शिक्षा और स्वास्थ्य से सम्बन्धित सुविधाओं की व्यवस्था और कृषि पर नियन्त्रण, आदि कार्य भी कार्यपालिका द्वारा ही किये जाते हैं। इन कार्यों के सम्पादन हेतु कार्यपालिका द्वारा बहुत बड़ी संख्या में राजनीतिक तथा प्रशासनिक नियुक्तियां की जाती हैं तथा इन अधिकारियों की पदोन्नति, अवनति तथा पदच्युति का कार्य भी कार्यपालिका ही करती है। पदाधिकारियों की नियुक्ति और उन्हें निर्देश देने के कार्य के माध्यम से कार्यपालिका वास्तविक प्रशासन पर बहुत अधिक नियन्त्रण रखती है।

(2) वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन—वर्तमान समय में वैज्ञानिक प्रगति तथा राजनीतिक चेतना ने वैदेशिक सम्बन्धों के संचालन को अत्यधिक महत्वपूर्ण बना दिया है और राज्य की ओर से वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन कार्यपालिका के द्वारा ही किया जाता है। अपने इस कार्य के अन्तर्गत कार्यपालिका विदेशों में अपने देश के प्रतिनिधि नियुक्त करती है, दूसरे राज्यों के साथ राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक सन्धियां सम्पन्न करती है और विविध अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लेती है। यद्यपि वर्तमान समय की प्रवृत्ति के अनुसार सामान्यतया व्यवस्थापिका विदेश नीति पर नियन्त्रण रखती है, किन्तु वैदेशिक सम्बन्धों के संचालन में विशेषज्ञता,

1 "Every new service that the voters thrust upon the state, every additional power that the government sought, redounded to the advantage of the executive" —*Lipson*

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुप्तता और वैयक्तिक चातुर्य की आवश्यकता होने के कारण व्यवस्थापिका वैदेशिक सम्बन्धों के वास्तविक संचालन में बहुत ही कम भाग ले सकती है।

(3) सैनिक कार्य—सामान्यतया राज्य की कार्यपालिका का प्रधान सेनाओं के सभी अंगों (स्थल, जल और वायु) के प्रधान के रूप में कार्य करता है और विदेशी आक्रमण से देश की रक्षा करना कार्यपालिका का महत्वपूर्ण कार्य होता है। अपने इस कार्य के अन्तर्गत कार्यपालिका आवश्यकतानुसार युद्ध अथवा शान्ति की घोषणा कर सकती है।

(4) विधि-निर्माण सम्बन्धी कार्य—कार्यपालिका के विधि-निर्माण सम्बन्धी कार्य बहुत कुछ सीमा तक शासन-व्यवस्था के स्वरूप पर निर्भर करते हैं। सभी प्रकार की शासन-व्यवस्थाओं में कार्यपालिका को विधानमण्डल का अधिवेशन बुलाने और स्थगित करने का अधिकार होता है। संसदात्मक शासन में तो कार्यपालिका विधि-निर्माण के क्षेत्र में व्यवस्थापिका का नेतृत्व करती है और विशेष परिस्थितियों में लोकप्रिय सदन को भंग करते हुए नव-निर्वाचन का आदेश दे सकती है। वर्तमान समय में तो यहां तक कहा जा सकता है कि कार्यपालिका ही व्यवस्थापिका की स्वीकृति से कानूनों का निर्माण करती है। अध्यक्षात्मक व्यवस्था में भी कार्यपालिका परोक्ष रूप से विधि-निर्माण कार्य को प्रभावित करती है।

प्रत्यायोजित व्यवस्थापन—यह उल्लेखनीय है कि व्यवस्थापिका किसी भी कानून का ढांचा तैयार करती है तथा इस कानून को लागू करने हेतु सहायक विधियों, उपविधियों या नियमों के बनाने की आवश्यकता होती है। समयाभाव के कारण व्यवस्थापिका सहायक विधियों के निर्माण का अधिकार कार्यपालिका को दे देती है। व्यवस्थापिका द्वारा सौंपे गए विधि निर्माण के इस प्रकार के कार्य को जब कार्यपालिका द्वारा किया जाता है तो उसे प्रत्यायोजित व्यवस्थापन कहते हैं, परन्तु यह आवश्यक है कि कार्यपालिका द्वारा प्रत्यायोजित विधायन के अन्तर्गत जो उपविधियां बनाएगी उनका मूल कानून के अनुसार होना आवश्यक है। इन उपविधियों को कार्यपालिका द्वारा व्यवस्थापिका के समक्ष प्रस्तुत करना आवश्यक है। हमारे देश में संसद की अधीनस्थ विधायन समिति ऐसी उपविधियों की जांच करती है। यदि जांच के उपरान्त संसद की समिति यह पाती है कि कार्यपालिका के द्वारा निर्मित ऐसी उपविधियां, मूल कानून के विपरीत हैं तो संसद ऐसी उपविधियों को निरस्त कर सकती है।

प्रत्यायोजित व्यवस्थापन (Delegated Legislation) को प्रदत्त व्यवस्थापन अथवा अधीनस्थ विधायन (subordinate Legislation) भी कहते हैं। प्रत्यायोजित व्यवस्थापन का मुख्य गुण यह है कि इससे कानूनों को लागू करने में आने वाली व्यावहारिक कठिनाइयां दूर हो जाती हैं, क्योंकि कार्यपालिका इन कठिनाइयों से परिचित होती है जिनका ज्ञान व्यवस्थापिका को नहीं होता। दूसरा, इससे कानूनों को लागू करने में अनावश्यक देरी से बचा जा सकता है। तीसरा, इससे व्यवस्थापिका के समय में बचत होती है ताकि वह अन्य महत्वपूर्ण मुद्दों में अपना ध्यान केन्द्रित कर सकती है।

प्रस्त व्यवस्थापन का सबसे बड़ा दोष यह है कि इससे कार्यपालिका की शक्तियों में अनावश्यक वृद्धि होती है तथा उसमें मनमानेपन की प्रवृत्ति का जन्म होता है। दूसरे, व्यवस्थापिका का मुख्य कार्य कानून निर्माण करना है, लेकिन अधीनस्थ व्यवस्थापन के कारण व्यवस्थापिका का कानून निर्माण प्रक्रिया पर नियन्त्रण कमजोर हो जाता है।

इसके अतिरिक्त, जिस समय व्यवस्थापिका अधिवेशन में नहीं होती, उस समय आवश्यकता पड़ने पर कार्यपालिका अध्यादेश जारी कर सकती है, जो विधि के समान ही प्रभावी होते हैं। वर्तमान समय में कार्यपालिका को 'प्रदत्त व्यवस्थापन' (Delegated Legislation) के माध्यम से भी बहुत अधिक शक्ति प्राप्त हो गयी है।

(5) वित्तीय कार्य—यद्यपि वार्षिक बजट स्वीकृत करने का कार्य व्यवस्थापिका द्वारा किया जाता है, किन्तु इस बजट का प्रारूप तैयार करने का कार्य कार्यपालिका ही कर सकती है। कार्यपालिका का वित्त विभाग आय के विभिन्न साधनों द्वारा प्राप्त आय के उपभोग पर विचार करता है। पारित बजट को लागू करने का दायित्व भी कार्यपालिका का है।

(6) न्याय सम्बन्धी कार्य—प्रायः प्रत्येक राज्य में कार्यपालिका को कुछ न्यायिक शक्तियां भी प्राप्त होती हैं। सभी देशों में कार्यपालिका प्रधान को क्षमादान का अधिकार प्राप्त होता है, जिसके अनुसार कार्यपालिका

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्यायपालिका द्वारा दण्डित व्यक्तियों पर दया करके उनके दण्ड को कम कर सकती या उन्हें क्षमा प्रदान कर सकती है। सर्वक्षमा (Amnesty) की शक्ति के अन्तर्गत कार्यपालिका एक ही अपराध से सम्बन्धित अनेक अपराधियों को एक साथ क्षमा प्रदान कर सकती है। कार्यपालिका को क्षमादान की यह शक्ति मानवीय आधार तथा राजनीतिक और व्यावहारिक कारणों से प्रदान की जाती है। कार्यपालिका द्वारा न्यायाधीशों की नियुक्ति भी की जाती है। उदाहरण के लिए, भारत में उच्च न्यायालय व सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है।

इसके अतिरिक्त, वर्तमान समय में कार्यपालिका के सामान्य निरीक्षण के अन्तर्गत कार्य करने वाले सरकारी विभागों को अर्द्ध-न्यायिक कोटि के व्यापक अधिकार प्रदान किये जाते हैं। उदाहरणार्थ, ब्रिटेन में स्वास्थ्य मन्त्रालय अपने प्रशासनिक कार्यों के सिलसिले में लोगों पर जुर्माने कर सकता है और हर्जाना वसूल कर सकता है।

(7) विविध कार्य—उपर्युक्त के अतिरिक्त अनेक देशों में कार्यपालिका को उपाधियां वितरित करने का अधिकार भी होता है। कुछ देशों में विशिष्ट सेवा के बदले पेंशन या अन्य प्रकार से सहायता देने का अधिकार भी कार्यपालिका का होता है। वस्तुतः जनकल्याणकारी राज्य की विचारधारा के कारण कार्यपालिका के कार्यों में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है।

कार्यपालिका के आवश्यक गुण
(NECESSARY QUALITIES OF EXECUTIVE)

कार्यपालिका अपने उपर्युक्त कार्यों को सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सके इसके लिए उसमें कुछ आवश्यक गुण विद्यमान होने चाहिए। ये गुण निम्नलिखित हैं :

कार्यपालिका के आवश्यक गुण
(1) कर्तव्यपरायणता
(2) कार्यकुशलता
(3) निर्णय में शीघ्रता
(4) सच्चाई तथा ईमानदारी
(5) निष्पक्षता
(6) गोपनीयता

(1) कर्तव्यपरायणता—व्यवहार के अन्तर्गत कार्यपालिका के कार्य बहुत अधिक व्यापक हैं और कार्यपालिका अपने कार्य उसी समय सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकती है जबकि उसमें कर्तव्यनिष्ठ की भावना हो। उसे अपने उत्तरदायित्व के प्रति सदैव जागरूक रहना चाहिए और सार्वजनिक कल्याण को दृष्टि में रखते हुए इन्हें पूरा किया जाना चाहिए।

(2) कार्यकुशलता—कार्यपालिका का कार्य ढीला-ढाला या देर करने की प्रवृत्ति वाला नहीं होना चाहिए, वरन् कार्यपालिका के कार्य में कुशलता, शीघ्रता और स्फूर्ति होनी चाहिए।

(3) निर्णय में शीघ्रता—कार्यपालिका के द्वारा दृढ़ता के साथ निर्णय लेकर उन्हें शीघ्रता से क्रियान्वित किया जाना चाहिए। निर्णय को क्रियान्वित करने में विलम्ब होने पर अनेक बार कार्य बिगड़ जाता है।

(4) सच्चाई तथा ईमानदारी—कार्यपालिका के सदस्यों को बहुत सच्चा और ईमानदार होना चाहिए। उन्हें किसी भी प्रकार के प्रलोभन में नहीं पड़ना चाहिए, अन्यथा भ्रष्टाचार फैलेगा।

(5) निष्पक्षता—कार्यपालिका को नितान्त निष्पक्ष होना चाहिए। उसके द्वारा किसी वर्ग, सम्प्रदाय या व्यक्ति के साथ पक्षपात न करते हुए सबको समान दृष्टि से देखा जाना चाहिए, अन्यथा असन्तोष का विस्फोट हो जायेगा।

(6) गोपनीयता—कार्यपालिका आन्तरिक और बाहरी प्रशासन के क्षेत्र में सफलतापूर्वक कार्य कर सके इसके लिए निर्णयों को गोपनीय रखना बहुत आवश्यक होता है। ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि कार्यपालिका के निर्णय उचित समय के पूर्व प्रकट न हो जायें। प्रत्येक देश में मन्त्रिपरिषद् गोपनीयता के सिद्धान्त के आधार पर अपने कार्यों का संचालन करती है।

कार्यपालिका का व्यवस्थापिका से सम्बन्ध
(RELATION BETWEEN EXECUTIVE AND LEGISLATURE)

सरकार के यद्यपि तीन अलग-अलग अंग होते हैं, किन्तु इस प्रकार के तीन अलग-अलग अंगों के होते हुए भी सरकार उसी प्रकार की एक आंगिक इकाई है, जिस प्रकार की आंगिक इकाई मानव शरीर होता है। जिस प्रकार मानव शरीर भली-भांति कार्य कर सके, इसके लिए शरीर के विभिन्न अंगों में सहयोग नितान्त

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यक है, उसी प्रकार सरकार के अंगों में, विशेषतः व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में सहयोग नितान्त आवश्यक है। व्यवहार में चाहे संसदात्मक शासन हो या अध्यक्षात्मक शासन; सरकार के इन दोनों अंगों में परस्पर सम्बन्ध पाया जाता है।

संसदात्मक शासन (संसदीय लोकतन्त्र)

संसदात्मक शासन में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। मन्त्रिमण्डल के सभी सदस्य अनिवार्य रूप से व्यवस्थापिका के सदस्य होते हैं। वे व्यवस्थापिका में बैठते, विचार-विनिमय में भाग लेते, विधेयक प्रस्तावित करते, विधेयक के पक्ष या विपक्ष में भाषण देते और व्यवस्थापिका के जिस सदन के सदस्य हों, उसमें मतदान में भी भाग लेते हैं। इस प्रकार कार्यपालिका व्यवस्थापिका को कानून-निर्माण में पूरा सहयोग देती है। इसी प्रकार कार्यपालिका 'प्रत्यायोजित व्यवस्थापन (Delegated Legislation) के अन्तर्गत उपविधियों व नियमों का निर्माण करती है तथा व्यवस्थापिका का अधिवेशन न चलने की स्थिति में कानून की आवश्यकता होने पर अध्यादेश भी जारी कर सकती है। इस शासन में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। व्यवस्थापिका के सदस्य मन्त्रियों से प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं, निन्दा या आलोचना प्रस्ताव रखते हैं और व्यवस्थापिका का निम्न या लोकप्रिय सदन अविश्वास प्रस्ताव पास कर मन्त्रिमण्डल अर्थात् कार्यपालिका को पदच्युत कर सकता है। 1979 में अविश्वास प्रस्ताव के कारण ही देसाई मन्त्रिमण्डल को त्यागपत्र देना पड़ा था और 1990 में वी. पी. सिंह, 1991 में चन्द्रशेखर मन्त्रिमण्डल, 1996 में वाजपेयी मन्त्रिमण्डल, 1997 में देवेगौड़ा मन्त्रिमण्डल, 1998 में गुजराल मन्त्रिमण्डल और 1999 में वाजपेयी मन्त्रिमण्डल को भी इन्हीं परिस्थितियों में त्यागपत्र देना पड़ा था। 22 जुलाई, 2008 को मनमोहन सिंह सरकार के विरुद्ध भारत-अमेरिका आणविक समझौते के कारण अविश्वास प्रस्ताव लाया गया था लेकिन सरकार विश्वास मत प्राप्त करने में सफल रही। इसी प्रकार मन्त्रिमण्डल द्वारा लोकप्रिय सदन को समय से पूर्व ही भंग करवाया जा सकता है।

इस शासन में कार्यपालिका को कानून-निर्माण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण शक्तियां प्राप्त होती हैं। व्यवस्थापिका द्वारा पास किये गये विधेयकों पर कार्यपालिका प्रधान निषेधाधिकार की शक्ति का प्रयोग कर सकता है तथा अपनी ओर से अध्यादेश जारी कर सकता है। कार्यपालिका प्रदत्त व्यवस्थापन के अन्तर्गत नियमों और उपनियमों का निर्माण करते हुए कानून-निर्माण में प्रभावपूर्ण ढंग से भाग लेती है।

अध्यक्षात्मक शासन (अध्यक्षात्मक लोकतन्त्र)

अध्यक्षात्मक शासन यद्यपि शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त पर आधारित होता और इसके अन्तर्गत सैद्धान्तिक दृष्टि से व्यवस्थापिका और कार्यपालिका परस्पर पृथक्-पृथक् होती हैं, किन्तु व्यवहार में सरकार के इन दोनों अंगों में परस्पर सम्बन्ध होता ही है। उदाहरण के लिए, अमरीका में जहां अध्यक्षात्मक शासन है, राष्ट्रपति के द्वारा की गयी नियुक्तियों और सन्धियों पर अमरीकी कांग्रेस अर्थात् व्यवस्थापिका के द्वितीय सदन (सीनेट) की स्वीकृति प्राप्त होनी आवश्यक है। कांग्रेस को राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाकर उसे पदच्युत करने का अधिकार प्राप्त है, इसी प्रकार व्यवस्थापिका के द्वारा जिन विधेयकों को पास कर दिया गया है, उन पर राष्ट्रपति को निषेधाधिकार प्राप्त है। राष्ट्रपति व्यवस्थापिका को सन्देश भेज सकता है और उसके द्वारा आदेश भी जारी किया जा सकता है, जिसका प्रभाव कानून के समान ही होता है। इसके अतिरिक्त दलीय व्यवस्था के आधार पर व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में अनौपचारिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

इस प्रकार संसदात्मक शासन में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होती हैं, किन्तु अध्यक्षात्मक शासन में इनमें अपेक्षाकृत कम सम्बन्ध होता है।

व्यवस्थापिका की सत्ता का ह्रास और कार्यपालिका की सत्ता में वृद्धि

सरकार के तीनों अंगों में व्यवस्थापिका का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण समझा जाता है क्योंकि व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों के आधार पर ही कार्यपालिका शासन करती तथा न्यायपालिका न्याय प्रदान करती है। इस प्रकार व्यवस्थापिका शासन का मूल आधार है। इसके अतिरिक्त व्यवस्थापिका जनता द्वारा निर्वाचित संस्था है, यह जनआकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करती है; इस कारण भी लोकतन्त्र में इसका बहुत अधिक महत्व होना नितान्त स्वाभाविक है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु इसके बावजूद, वर्तमान समय में यह देखा जा रहा है कि व्यवस्थापिका की सत्ता तथा उसका सम्मान कम होता जा रहा है और कार्यपालिका की सत्ता बढ़ती जा रही है। व्यवस्थापिका की सत्ता के ह्रास और कार्यपालिका की सत्ता में वृद्धि के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं :

(1) साधारण योग्यता के व्यक्तियों का चुनाव—व्यवस्थापिका के सदस्य प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर चुने जाते हैं और अधिक योग्यता वाले व्यक्ति चुनाव के पचड़े में पड़ना नहीं चाहते। अतः बहुत कम योग्यता वाले व्यक्ति और पेशेवर राजनीतिज्ञ व्यवस्थापिका में चुनकर आ जाते हैं। ये कम योग्य व्यक्ति अपने कार्यों व आचरण से व्यवस्थापिका की गरिमा को कम करते हैं। व्यवस्थापिका के सदस्यों में उत्तरदायित्व की भावना का भी ह्रास हुआ है। 30 नवम्बर, 2009 को भारत की लोकसभा में प्रश्न काल के दौरान 20 प्रश्नकर्ता सूचीवद्ध थे उनमें से 17 सदस्य अनुपस्थित थे। इसके अतिरिक्त व्यवस्थापिका की गरिमा का ह्रास इसलिए भी हुआ है, क्योंकि कुछ सदस्यों के विरुद्ध धन लेकर प्रश्न पूछने की शिकायतें प्राप्त हुई हैं।

(2) जनकल्याणकारी राज्य की धारणा—वर्तमान समय में जनकल्याणकारी राज्य की धारणा के कारण राज्य के कार्य बहुत अधिक बढ़ गये हैं और इन बढ़े हुए कार्यों को कार्यपालिका द्वारा ही किया जा सकता है। अतः व्यवस्थापिका की शक्तियों में निरन्तर कमी और कार्यपालिका की शक्तियों में वृद्धि होती जा रही है।

(3) दलीय पद्धति—दलीय पद्धति के विकास ने भी व्यवस्थापिका की शक्ति में कमी और कार्यपालिका की शक्ति में वृद्धि कर दी है। संसदात्मक लोकतन्त्र में बहुमत दल के समर्थन पर टिकी हुई कार्यपालिका बहुत अधिक शक्तियां प्राप्त कर लेती है।

(4) प्रदत्त व्यवस्थापन—वर्तमान समय में कानून निर्माण का कार्य बहुत अधिक बढ़ जाने और इस कार्य के जटिल हो जाने के कारण व्यवस्थापिका के द्वारा अपनी ही इच्छा से कानून निर्माण की शक्ति कार्यपालिका के विभिन्न विभागों को सौंप दी जाती है। इसे ही प्रदत्त व्यवस्थापन कहते हैं और इसके कारण व्यवस्थापिका की शक्तियों में कमी तथा कार्यपालिका की शक्ति में वृद्धि हो गयी है।

(5) आधुनिक समस्याओं की जटिलता—वर्तमान समय में राज्य को बहुत अधिक जटिल समस्याओं का सामना करना होता है और इन समस्याओं को हल करने के लिए जिस विशेष ज्ञान, अनुभव और योग्यता की आवश्यकता होती है वे कार्यपालिका के सदस्यों के पास ही होते हैं, व्यवस्थापिका के सामान्य योग्यता वाले सदस्यों के पास नहीं।

(6) नियोजन—वर्तमान समय के अधिकांश प्रगतिशील राज्यों द्वारा आर्थिक विकास के लिए 'नियोजन' (Planning) की पद्धति को अपनाया गया है और इस पद्धति के अन्तर्गत योजनाएं तैयार करने व इन्हें कार्य रूप में परिणत करने का कार्य कार्यपालिका के द्वारा ही किया जाता है। अतः व्यवस्थापिका की शक्तियों में कमी और कार्यपालिका की शक्तियों में वृद्धि हो गयी है।

(7) व्यवस्थापिका पर मन्त्रिमण्डल का हावी होना—संसदीय व्यवस्था में मन्त्रिमण्डल का निर्माण व्यवस्थापिका में से होता है और कहने के लिए वह व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होता है, किन्तु व्यवहार में अपने बहुमत के बल पर तथा दलीय अनुशासन के नाम पर सत्तारूढ़ मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापिका पर हावी रहता है। वर्तमान समय में व्यवस्थापिका द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव पास करने की शक्ति तो केवल कहने भर के लिए है, अधिक वास्तविक तो मन्त्रिपरिषद् द्वारा व्यवस्थापिका को विघटित करने की शक्ति है। इस स्थिति के कारण व्यवस्थापिका मन्त्रिमण्डल की एक कठपुतली बनकर रह गयी है।

न्यायपालिका
(JUDICIARY)

न्यायपालिका का महत्व
(IMPORTANCE OF JUDICIARY)

व्यक्ति एक विचारशील प्राणी है और इसके साथ-ही-साथ प्रत्येक व्यक्ति के अपने कुछ विशेष स्वार्थ भी होते हैं। व्यक्ति के विचारों और उसके स्वार्थों में इस प्रकार के भेद होने के कारण उनमें परस्पर संघर्ष नितान्त स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त शासन कार्य करते हुए शासक वर्ग अपनी शक्तियों का दुरुपयोग कर सकता है। ऐसी स्थिति में सदैव ही एक ऐसी सत्ता की आवश्यकता रहती है जो व्यक्तियों के पारस्परिक विवादों को

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हल कर सके और शासक वर्ग को अपनी सीमाओं में रहने के लिए बाध्य कर सके। इन कार्यों को करने वाली सत्ता का नाम ही न्यायपालिका है।

राज्य के आदिकाल से लेकर आज तक किसी-न-किसी रूप में न्याय विभाग का अस्तित्व सदैव ही रहा है और सामान्य जनता के दृष्टिकोण से न्यायिक कार्य का सम्पादन सर्वाधिक महत्व रखता है। राज्य में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका की व्यवस्था चाहे कितनी ही पूर्ण और श्रेष्ठ क्यों न हो, परन्तु यदि न्याय करने में पक्षपात किया जाता है, अनावश्यक व्यय और विलम्ब होता है या न्याय विभाग में अन्य किसी प्रकार का दोष है तो जनजीवन नितान्त दुःखपूर्ण हो जायेगा। न्याय विभाग के सम्बन्ध में ब्राइस ने अपनी श्रेष्ठ शब्दावली में कहा है कि "न्याय विभाग की कुशलता से बढ़कर सरकार की उत्तमता की दूसरी कोई भी कसौटी नहीं है क्योंकि किसी और चीज से नागरिक की सुरक्षा और हितों पर इतना प्रभाव नहीं पड़ता है, जितना कि उसके इस ज्ञान से कि वह एक निश्चित, शीघ्र व अपक्षपाती न्याय शासन पर निर्भर रह सकता है।"[1] सेण्ट ऑगस्टाइन ने तो यहां तक कहा है कि न्याय के अभाव में राज्य डाकुओं के गिरोह के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। वर्तमान समय में तो न्यायपालिका का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया है, क्योंकि अभियोगों के निर्णय के साथ-साथ न्यायपालिका संविधान की व्याख्या और रक्षा का कार्य भी करती है।

न्यायपालिका के कार्य
(FUNCTIONS OF THE JUDICIARY)

वर्तमान समय में न्याय विभाग द्वारा प्रमुख रूप से निम्नलिखित कार्य किये जाते हैं :

न्यायपालिका के कार्य
(1) विवादों का निर्णय
(2) कानूनों की व्याख्या
(3) औचित्य के आधार पर कानून-निर्माण
(4) व्यक्ति स्वातन्त्र्य एवं अधिकारों की रक्षा
(5) संविधान के रक्षण का कार्य
(6) परामर्श सम्बन्धी कार्य
(7) घोषणात्मक निर्णय प्रदान करना
(8) लेख जारी करना
(9) विविध कार्य

(1) विवादों का निर्णय—विभिन्न व्यक्तियों में विचारों और स्वार्थों का भेद होने के कारण व्यक्तियों के बीच दीवानी, फौजदारी और माल सम्बन्धी विवाद उत्पन्न होते रहते हैं। न्याय विभाग का सर्वप्रथम कार्य विद्यमान कानूनों के आधार पर इन विवादों का निर्णय करना होता है। प्राचीनकाल से ही सभी देशों में न्याय विभाग के द्वारा इस प्रकार का कार्य किया जाता है।

(2) कानूनों की व्याख्या—कानूनों की भाषा सदैव स्पष्ट नहीं होती और अनेक बार कानूनों की भाषा के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विवाद उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार की प्रत्येक परिस्थिति में कानूनों की अधिकारपूर्ण व्याख्या करने का कार्य न्यायपालिका के द्वारा ही किया जाता है। न्यायालयों द्वारा की गयी इस प्रकार की व्याख्याओं की स्थिति कानून के समान ही होती है।

(3) औचित्य (Equity) के आधार पर कानून-निर्माण—कानूनों का स्वरूप चाहे कितना ही विस्तृत क्यों न हो, न्यायालय में अनेक ऐसे विवाद उपस्थित होते हैं जिनका निर्णय वर्तमान कानून द्वारा नहीं किया जा सकता है। न्यायालयों के द्वारा इस प्रकार के विवादों का निपटारा विवेक, औचित्य व स्वाभाविक न्याय के सिद्धान्त का आश्रय लेकर किया जाता है। न्यायाधीश औचित्य, धर्म व सत्य के आधार पर जो निर्णय करते हैं, वह एक परम्परा को जन्म देता है और यदि अन्य न्यायाधीश भी समान परिस्थितियों में इसी प्रकार का निर्णय करें, तो परम्परा के आधार पर एक नवीन कानून का निर्माण हो जाता है जिसे 'केस लॉ' (Case Law) या न्यायालयों द्वारा निर्मित कानून कहते हैं।

(4) व्यक्ति स्वातन्त्र्य एवं अधिकारों की रक्षा—व्यक्तियों की स्वतन्त्रता में दो तरह की बाधा उपस्थित हो सकती है—अन्य व्यक्तियों द्वारा या राज्य द्वारा। न्याय विभाग इन दोनों ही बाधाओं को दूर करते हुए व्यक्तियों की स्वतन्त्रता और अधिकारों की रक्षा करता है। यदि एक शक्तिशाली व्यक्ति किसी दूसरे की स्वतन्त्रता को नष्ट करने का प्रयत्न करता है तो पीड़ित पक्ष न्यायालय की शरण लेकर शक्तिशाली व्यक्ति को ऐसा कार्य करने से रोक सकता है और उसके द्वारा किये गये अनुचित कार्यों के लिए दण्ड दिलवा सकता है। वर्तमान

[1] "There is no better test of the excellence of a government than the efficiency of its judicial system." —*Bryce*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समय की प्रवृत्ति यह है कि व्यक्ति और राज्य के सम्बन्धों को संविधान द्वारा ही मर्यादित कर दिया जाता है। ऐसी स्थिति में व्यवस्थापिका, कार्यपालिका या किन्हीं पदाधिकारियों द्वारा संवैधानिक या कानूनी मर्यादा भंग करने पर व्यक्ति न्यायालय की शरण लेकर उनको ऐसा कार्य करने से रोक सकता है। इस प्रकार न्याय विभाग व्यक्तियों की स्वतन्त्रता और अधिकारों की रक्षा का कार्य करता है।

(5) संविधान के रक्षण का कार्य—न्याय विभाग संविधान की पवित्रता तथा उसमें प्रतिपादित व्यवस्था की रक्षा का कार्य भी करता है। वर्तमान समय में अधिकांश राज्यों के संविधान कठोर हैं, उनमें साधारण कानून और संवैधानिक कानून में अन्तर किया जाता है और संविधान द्वारा व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका की शक्तियों को सीमित कर दिया जाता है। ऐसी स्थिति में यदि व्यवस्थापिका या कार्यपालिका संविधान के प्रतिकूल कार्य करती है तो न्यायपालिका इस प्रकार के कानूनों या कार्यों को अवैधानिक घोषित करते हुए संविधान की रक्षा का कार्य करती है। न्यायपालिका की इस शक्ति को 'न्यायिक पुनर्विलोकन' या 'न्यायिक समीक्षा' कहते हैं। भारत के सर्वोच्च न्यायालय को यह शक्ति प्राप्त है। संघात्मक राज्य में तो संविधान द्वारा ही केन्द्रीय सरकार और इकाइयों की सरकारों के बीच शक्ति का विभाजन भी किया जाता है और न्यायपालिका इस बात का ध्यान रखती है कि केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकारें संविधान द्वारा किये गये इस शक्ति-विभाजन के विरुद्ध कोई कार्य न करें। संघात्मक व्यवस्था में न्यायपालिका संघीय न्यायालय के रूप में भी कार्य करती है।

(6) परामर्श सम्बन्धी कार्य—अनेक देशों में इस प्रकार की व्यवस्था होती है कि न्यायपालिका निर्णय देने के साथ-साथ कानूनी प्रश्नों पर परामर्श देने का कार्य भी करती है, यदि व्यवस्थापिका या कार्यपालिका द्वारा इस प्रकार का परामर्श मांगा जाय। उदाहरणार्थ, इंग्लैण्ड में प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति से सरकार प्रायः वैधानिक और कानूनी प्रश्नों पर परामर्श लेती है। कनाडा में सर्वोच्च न्यायालय का एक कार्य यह है कि वह गवर्नर-जनरल को कानूनी परामर्श दे। **आस्ट्रेलिया, पनामा, बल्गारिया, स्वीडन, भारत**, आदि देशों में भी इस प्रकार की व्यवस्था है।

(7) घोषणात्मक निर्णय (Declaratory Judgement) प्रदान करना—कभी-कभी जाने या अनजाने में व्यवस्थापिका ऐसे कानूनों का निर्माण कर देती है जो अस्पष्ट या पूर्व-निर्धारित कानूनों के विरुद्ध होते हैं। न्यायालयों को ऐसे कानूनों के सम्बन्ध में घोषणात्मक निर्णय देने का अधिकार होता है। अनेक राज्यों में इस प्रकार की भी व्यवस्था है कि बिना किसी प्रकार के विशेष मुकदमे के ही व्यक्ति कानूनों का स्पष्टीकरण या उनके औचित्य एवं अनौचित्य के सम्बन्ध में निर्णय मांग सकते हैं। न्यायालयों द्वारा दिये गये इस प्रकार के निर्णय भी घोषणात्मक निर्णयों के अन्तर्गत आते हैं।

(8) लेख (Writs) जारी करना—सामान्य नागरिकों या सरकारी अधिकारियों के द्वारा जब अनुचित या अपने अधिकार-क्षेत्र के बाहर कोई कार्य किया जाता है तो न्यायालय उन्हें ऐसा करने से रोकने के लिए विविध प्रकार के लेख जारी करता है। इस प्रकार के लेखों में बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश और प्रतिषेध, आदि लेख प्रमुख हैं।

(9) विविध कार्य—उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त न्यायालय अन्य विविध कार्यों का भी सम्पादन करते हैं, जैसे न्यायालय अपने अधीन विविध कर्मचारियों की नियुक्ति करते हैं, सार्वजनिक धन के ट्रस्टी की नियुक्ति करते हैं, वसीयतनामों को रजिस्टर करते हैं, अल्पवयस्कों के संरक्षकों की नियुक्ति करते हैं। ये ऐसे मृत व्यक्तियों की सम्पत्ति का प्रबन्ध करते हैं जिनका कोई उत्तराधिकारी प्रबन्धक न हो तथा अव्यवस्थित व्यापारिक संस्थाओं के प्रबन्ध की व्यवस्था करते हैं। इस प्रकार न्यायपालिका का कार्यक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत तथा महत्वपूर्ण है।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता
(INDEPENDENCE OF THE JUDICIARY)

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का आशय (Meaning of the Independence of Judiciary)—न्यायपालिका का कार्यक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है और उसके द्वारा विविध प्रकार के कार्य किये जाते हैं, लेकिन न्यायपालिका इस प्रकार के कार्यों को उसी समय कुशलतापूर्वक सम्पन्न कर सकती है, जबकि न्यायपालिका स्वतन्त्र हो। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता से हमारा आशय यह है कि न्यायपालिका को कानूनों की व्याख्या करने और न्याय प्रदान करने के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से अपने विवेक का प्रयोग करना चाहिए और उन्हें कर्तव्यपालन में किसी से अनुचित तौर पर प्रभावित नहीं होना चाहिए। सीधे-सादे शब्दों में इसका आशय

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
यह है कि न्यायपालिका, व्यवस्थापिका और कार्यपालिका किसी राजनीतिक दल, किसी वर्ग विशेष और अन्य सभी दबावों से मुक्त रहते हुए अपने कर्तव्यों का पालन करे।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का महत्व या आवश्यकता

न्यायपालिका अपने विविध कार्यों को उसी समय कुशलतापूर्वक सम्पन्न कर सकती है, जबकि वह स्वतन्त्र हो। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के महत्व पर प्रकाश डालते हुए अमरीकन राष्ट्रपति टाफ्ट ने कहा है कि "सभी मामलों में चाहे वे व्यक्ति तथा राज्य के बीच में हों, चाहे अल्पमत और बहुमत के बीच में हों; चाहे आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से शक्तिशाली और निर्बल के बीच में हों, न्यायपालिका को निष्पक्ष रहना चाहिए और बिना किसी भय या पक्षपात के निर्णय देना चाहिए।"

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के महत्व का उल्लेख निम्न रूपों में किया जा सकता है :

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का महत्व या आवश्यकता
(1) लोकतन्त्र की रक्षा हेतु
(2) न्याय की रक्षा हेतु
(3) संविधान की रक्षा हेतु
(4) नागरिक अधिकारों की रक्षा हेतु

(1) **लोकतन्त्र की रक्षा हेतु**—अपने अन्य अभिप्रायों सहित लोकतन्त्र एक सीमित और मर्यादित शासन-व्यवस्था का नाम है और शासन को मर्यादा में रखने का कार्य एक स्वतन्त्र न्यायपालिका द्वारा ही किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, स्वतन्त्रता और समानता लोकतन्त्रीय शासन के प्रतीक होते हैं तथा नागरिकों की स्वतन्त्रता और कानून की दृष्टि से व्यक्तियों की समानता—इन दो लक्ष्यों की प्राप्ति स्वतन्त्र न्यायपालिका के आधार पर ही की जा सकती है। इस दृष्टि से स्वतन्त्र न्यायपालिका को 'लोकतन्त्र का प्राण' कहा जा सकता है।

(2) **न्याय की रक्षा हेतु**—न्यायपालिका का सबसे प्रमुख कार्य कानूनों की व्याख्या करते हुए न्याय प्रदान करना होता है और न्यायपालिका यह कार्य तभी भली-भांति कर सकती है, जबकि वह स्वतन्त्र और निष्पक्ष हो एवं व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के नियन्त्रण तथा प्रभाव से पूर्णतया मुक्त हो। यदि न्यायाधीशों पर किसी भी प्रकार का दवाव और बांहरी नियन्त्रण हुआ, तो वे निष्पक्षतापूर्वक न्याय प्रदान नहीं कर सकेंगे। ऐसी स्थिति में न्यायपालिका उस उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकेगी, जिसके लिए उसका निर्माण किया गया है।

(3) **संविधान की रक्षा हेतु**—वर्तमान समय के राज्यों द्वारा सामान्यतया संविधान की सर्वोच्चता की धारणा को अपनाया जाता है और संविधान की रक्षा का भार न्यायपालिका पर ही होता है, लेकिन न्यायपालिका संविधान की रक्षा का यह दायित्व उसी समय भली-भांति निभा सकती है, जबकि वह स्वतन्त्र और निष्पक्ष हो। स्वतन्त्र न्यायपालिका संविधान की रक्षा का कार्य दो प्रकार से करती है। प्रथम, वह संविधान की धाराओं की स्पष्ट व्याख्या करती है। द्वितीय, व्यवस्थापिका द्वारा पारित उन कानूनों को, जो संविधान के विरुद्ध होते हैं तथा कार्यपालिका के वे कार्य जो संविधान का उल्लंघन करते हों, अवैध घोषित करके न्यायपालिका संविधान की रक्षा करती है।

(4) **नागरिक अधिकारों की रक्षा हेतु**—यद्यपि न्याय, लोकतन्त्र और संविधान की रक्षा के लिए भी न्यायिक स्वतन्त्रता आवश्यक है, लेकिन न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का महत्व सर्वोपरि रूप में नागरिक अधिकारों की रक्षा की दृष्टि से है। पुराने समय में कार्यपालिका अर्थात् निरंकुश राजाओं की निरंकुशता की प्रवृत्ति थी। आज भी इस बात की आशंका बनी रहती है कि व्यवस्थापिका या कार्यपालिका नागरिक अधिकारों को आघात न पहुंचा दें। ऐसी स्थिति में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के हस्तक्षेप से नागरिक अधिकारों की रक्षा न्यायपालिका के द्वारा ही की जा सकती है।

लेकिन न्यायपालिका नागरिक अधिकारों की रक्षा का यह कार्य तभी कर सकती है, जबकि वह व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के नियन्त्रण तथा किसी भी अन्य सम्भावित दबाव से पूर्णतया स्वतन्त्र हो। न्यायपालिका के स्वतन्त्र होने पर ही नागरिकों के द्वारा अपने अधिकारों की रक्षा के लिए उस पर पूरा-पूरा भरोसा किया जा सकता है।

नागरिक अधिकारों की दृष्टि से स्वतन्त्र न्यायपालिका नितान्त आवश्यक है। इस बात को स्वीकार करते हुए अमरीका, फ्रांस, भारत, आयरलैण्ड, आदि देशों द्वारा अपने संविधान में न केवल मौलिक अधिकारों की, वरन् इसके साथ ही स्वतन्त्र न्यायपालिका की व्यवस्था की गयी है, जिससे ये अधिकार केवल कागज पर न बने रहें, वरन् इन्हें प्रभावपूर्ण ढंग से अमल में लाया जा सके। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के इसी महत्व

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
के कारण अधिकांश देशों में न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् कर दिया गया है। भारतीय संविधान में नीति निदेशक तत्वों के अन्तर्गत न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् करने की बात कही गई है।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को बनाये रखने के उपाय.
(MEANS FOR THE INDEPENDENCE OF JUDICIARY)

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को बनाये रखने के लिए निम्न उपाय अपनाये जाने चाहिए :

(1) न्यायाधीशों की नियुक्ति का ढंग—न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित तीन विधियां प्रचलित हैं :

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को बनाये रखने के उपाय
- (1) न्यायाधीशों की नियुक्ति का ढंग
  - (अ) जनता द्वारा निर्वाचन
  - (ब) व्यवस्थापिका सभा द्वारा निर्वाचन
  - (स) कार्यपालिका द्वारा मनोनयन
- (2) लम्बी पदावधि
- (3) पद की सुरक्षा
- (4) न्यायाधीशों का वेतन
- (5) न्यायाधीशों की योग्यता
- (6) अवकाश प्राप्ति के बाद वकालत तथा सरकारी पद प्राप्ति पर निषेध
- (7) कार्यपालिका और न्याय-पालिका का पृथक्करण
- (8) न्यायालय के प्रशासन तथा न्यायिक प्रक्रिया पर नियन्त्रण

(अ) जनता द्वारा निर्वाचन—मॉण्टेस्क्यू के शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त से प्रभावित होने के कारण सर्वप्रथम फ्रांस में न्यायाधीशों के जनता द्वारा निर्वाचित होने की पद्धति को अपनाया गया था और वर्तमान समय में यह पद्धति स्विट्जरलैण्ड के कुछ कैण्टनों और अमरीकी संघ के कुछ राज्यों में ही प्रचलित है। इस पद्धति को शक्ति-विभाजन सिद्धान्त और लोकतन्त्रीय शासन-व्यवस्था के अनुकूल बताया जाता है, किन्तु वास्तव में यह पद्धति बहुत अधिक दोषपूर्ण है। यह एक तथ्य है कि यदि जनता द्वारा न्यायाधीशों के निर्वाचन की पद्धति को अपना लिया गया, तो योग्य व्यक्ति न्यायाधीश के पद पर आसीन नहीं हो सकेंगे। योग्यता और लोकप्रियता दो पृथक् चीजें हैं और चुनावों में विजय लोकप्रियता के आधार पर प्राप्त की जाती है, योग्यता के आधार पर नहीं।

इसके अतिरिक्त वर्तमान समय में प्रत्येक प्रकार का निर्वाचन दलबन्दी के साथ जुड़ा होता है। न्यायाधीश जब राजनीतिक दल की सहायता से चुनाव लड़कर अपना पद प्राप्त करेंगे, तो उनमें दलीय आधार पर पक्षपात करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जायेगी। वस्तुतः निर्वाचित न्यायाधीश, न्यायाधीश कम और राजनीतिज्ञ अधिक होंगे। लास्की ने ठीक ही कहा है, **"न्यायाधीश की नियुक्ति की समस्त पद्धतियों में जनता द्वारा निर्वाचन की पद्धति निर्विवाद रूप में सबसे बुरी है।"**[1]

(ब) व्यवस्थापिका सभा द्वारा निर्वाचन—अमरीकी संघ के कुछ अन्य राज्यों, पूर्व सोवियत संघ और स्विट्जरलैण्ड में न्यायाधीशों का निर्वाचन व्यवस्थापिका द्वारा किया जाता है, किन्तु यह पद्धति न्यायपालिका को व्यवस्थापिका के अधीन बना देती है। इस पद्धति में न्यायाधीशों की नियुक्ति का आधार उनका कानूनी ज्ञान एवं अनुभव, निष्पक्षता और योग्यता नहीं, वरन् राजनीतिक दल के नेताओं की कृपा होती है और इस प्रकार के न्यायाधीश कभी भी निष्पक्षतापूर्वक न्याय प्रदान करने का कार्य नहीं कर सकते। व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचित ये न्यायाधीश राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेंगे, जिसके परिणामस्वरूप उनकी योग्यता निम्न स्तर की हो जायेगी और वे न्यायाधीश पद के कर्तव्यों का उचित रूप में निर्वाह नहीं कर सकेंगे।

(स) कार्यपालिका द्वारा मनोनयन—इस पद्धति में न्यायाधीशों को कार्यपालिका द्वारा नियुक्त किया जाता है और विश्व के लगभग सभी राज्यों में यही पद्धति प्रचलित है। सिद्धान्त रूप में शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त के विरुद्ध होने पर भी व्यवहार में यही पद्धति श्रेष्ठ है। कार्यपालिका द्वारा अपनी इस शक्ति का दुरुपयोग न किया जा सके, इसके लिए यह प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है कि कार्यपालिका सर्वमान्य न्यायिक योग्यता वाले व्यक्तियों या स्थायी न्यायिक समिति के परामर्श के आधार पर ही न्यायाधीशों की नियुक्ति करे। लास्की ने लिखा है कि "इस विषय में सभी बातों को देखते हुए न्यायाधीशों की कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति के परिणाम

1 "Of all the methods of appointment, the election by the people at large is without exception, the worst." Laski, *Grammar of Politics*, p. 545.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सबसे अच्छे रहे हैं, परन्तु यह अति आवश्यक है कि न्यायाधीशों के पदों को राजनीतिक सेवा का फल नहीं बनाया जाना चाहिए।"

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के लिए उनकी नियुक्ति, न्यायिक योग्यता वाले व्यक्तियों के परामर्श के आधार पर कार्यपालिका द्वारा ही की जानी चाहिए। भारत में यही पद्धति प्रचलित है। अधिकांश देशों में न्यायाधीशों की नियुक्ति निश्चित योग्यताओं के आधार पर कार्यपालिका द्वारा ही की जाती है।

(2) लम्बी पदावधि—यदि न्यायाधीशों को थोड़े समय के लिए ही नियुक्त किया जाय तो इससे उनकी स्वतन्त्रता का अन्त हो जाता है। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की रक्षा लम्बी अवधि की नियुक्ति द्वारा ही हो सकती है। इसलिए न्यायाधीशों का कार्यकाल अवकाश प्राप्त करने की अवधि तक रहना चाहिए।

(3) पद की सुरक्षा—न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता की रक्षा में पद की सुरक्षा का भी विशेष महत्व है। न्यायाधीशों की पदच्युति की पद्धति काफी जटिल होनी चाहिए ताकि न्यायाधीश किसी व्यक्ति या दल विशेष की दया पर निर्भर न रहें। इसी कारण अधिकांश राज्यों में न्यायाधीशों को उनके पद से हटाने के सम्बन्ध में महाभियोग की व्यवस्था है। महाभियोग की पद्धति पर्याप्त जटिल होती है और अपनी इस जटिलता के कारण श्रेष्ठ भी है। यदि न्यायाधीशों को उनके पद से हटाने की पद्धति सरल हो, तो उस पद्धति का दुरुपयोग किये जाने की आशंका उत्पन्न होती है। भारत में अभी तक किसी भी न्यायाधीश के विरुद्ध इसी जटिलता के कारण सफलतापूर्वक महाभियोग नहीं लगाया जा सका है।

(4) न्यायाधीशों का वेतन—हैमिल्टन ने अपनी पुस्तक 'राजनीति के तत्व' (*Elements of Politics*) में लिखा है कि "यह मानव स्वभाव है कि जो व्यक्ति अपनी आजीविका की दृष्टि से शक्तिसम्पन्न हैं, उनके पास संकल्प-शक्ति का भी बड़ा बल होता है।" यह कथन पूर्ण सत्य है और उसके आधार पर कहा जा सकता है कि न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता के लिए उन्हें निश्चित और पर्याप्त वेतन दिया जाना चाहिए। अल्प वेतनभोगी न्यायाधीशों के भ्रष्टाचार का शिकार होने की आशंका सदैव बनी रहती है। यह वेतन उनकी कार्यविधि में घटाया नहीं जा सकता।

(5) न्यायाधीशों की योग्यता—न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के लिए यह आवश्यक है कि न्यायाधीशों का पद केवल ऐसे ही व्यक्तियों को प्रदान किया जाय जिनकी व्यावसायिक कुशलता और निष्पक्षता सर्वमान्य हो। इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि राज-व्यवस्था के संचालन में न्यायाधिकारी वर्ग का बहुत अधिक महत्व होता है और अयोग्य न्यायाधीश इस महत्व को नष्ट कर देंगे।

(6) अवकाश प्राप्ति के बाद वकालत तथा सरकारी पद प्राप्ति पर निषेध—शक्ति के दूषित प्रयोग को रोकने के लिए यह भी आवश्यक है कि न्यायाधीश को अवकाश प्राप्ति के बाद वकालत करने के लिए निषेध किया जाय। इस सम्बन्ध में इतनी व्यवस्था तो अवश्य ही की जानी चाहिए कि एक व्यक्ति जिन न्यायालयों में न्यायाधीश के रूप में कार्य कर चुका हो, कम-से-कम उन न्यायालयों या उनके क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत अन्य न्यायालयों में वकालत कार्य न कर सके। भारत सहित कई देशों में यह व्यवस्था है कि न्यायाधीश सेवा निवृत्ति के बाद सरकारी सेवा का पद नहीं प्राप्त कर सकते।

(7) कार्यपालिका और न्यायपालिका का पृथक्करण—न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक है कि कार्यपालिका और न्यायपालिका को एक-दूसरे से पृथक् रखा जाना चाहिए। एक ही व्यक्ति के सत्ता अभियोक्ता (Prosecutor) और साथ-ही-साथ न्यायाधीश होने पर स्वतन्त्र न्याय की आशा नहीं की जा सकती है। इसी बात को दृष्टि में रखते हुए भारतीय संविधान के नीति निदेशक तत्वों में कार्यपालिका और न्यायपालिका को एक-दूसरे से पृथक् रखने की बात कही गयी है और भारतीय संघ की अधिकांश इकाइयों में न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् कर दिया गया है।

(8) न्यायालय के प्रशासन तथा न्यायिक प्रक्रिया पर नियन्त्रण—भारत सहित कई देशों में न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को सुनिश्चित करने के लिए न्यायपालिका को अपने कर्मचारियों व अधिकारियों तथा न्यायिक प्रक्रिया पर नियन्त्रण का अधिकार दिया गया है।

उपर्युक्त व्यवस्थाएं की जाने पर ही इस बात की आशा की जा सकती है कि न्यायाधीश स्वतन्त्रतापूर्वक अपने कर्तव्यों का पालन कर सकेंगे।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (प्रत्येक प्रश्न 6 अंक का, उत्तर लगभग 300 शब्दों में दीजिए)

1. व्यवस्थापिका के मुख्य कार्य क्या हैं? द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के गुणों का वर्णन कीजिए।
2. द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के गुण एवं दोषों का वर्णन कीजिए।
   अथवा, द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष एवं विपक्ष में तर्क दीजिए। (उ.प्र., 2010)
3. व्यवस्थापिका के कार्यों की व्याख्या कीजिए। वर्तमान युग में व्यवस्थापिका के ह्रास के क्या कारण हैं?
4. टिप्पणी लिखिए :
   (i) एकल एवं बहुल कार्यपालिका।
   (ii) द्वितीय सदन।
   (iii) विधानमण्डल के कार्य।
5. द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के गुण-दोषों की विवेचना कीजिए।
6. कार्यपालिका के प्रमुख कार्यों का वर्णन कीजिए।
7. व्यवस्थापिका के प्रमुख कार्यों का वर्णन कीजिए। इनका कार्यपालिका से सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए।
8. आधुनिक राज्य में न्यायपालिका के कार्य क्या हैं? उन उपायों का उल्लेख कीजिए, जिनके आधार पर लोकतन्त्र में न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की रक्षा की जाती है।
9. सरकार के प्रमुख अंग कौन से हैं? व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर किस प्रकार नियन्त्रण रखती है?
10. व्यवस्थापिका में दूसरे सदन का होना अनावश्यक है। इस कथन की विवेचना कीजिए। (उ.प्र., 2010)
11. आधुनिक लोकतन्त्र में स्वतन्त्र न्यायपालिका का महत्व समझाइए। क्या संघात्मक सरकार के लिए इसका होना आवश्यक है? (उ.प्र., 2010)

लघु उत्तरीय प्रश्न

(अ) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 50 शब्दों में दीजिए (2 अंक)।

1. व्यवस्थापिका (विधानमण्डल) किसे कहते हैं?
2. कार्यपालिका के विभिन्न रूप या भेद बताइए।
   अथवा, कार्यपालिका के किन्हीं दो रूपों का उल्लेख कीजिए। (उ.प्र., 2010)
3. कार्यपालिका के निर्माण की प्रमुख विधियों को लिखिए।
4. न्यायपालिका से क्या तात्पर्य है?
5. स्वतन्त्र न्यायपालिका क्या है?
6. न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की रक्षा किन बातों से हो सकती है?
   अथवा, न्यायपालिका की स्वतन्त्रता सुनिश्चित करने हेतु किन्हीं दो उपायों को बताइए। (उ.प्र., 2010)

(ब) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिए (4 अंक)।

7. सरकार के तीन प्रमुख अंग कौन-से हैं? प्रत्येक अंग का प्रमुख कार्य क्या है? (उ.प्र., 2010)
8. व्यवस्थापिका के चार मुख्य कार्य बताइए। (उ.प्र., 2010)
9. द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका या उच्च सदन के चार लाभ बताइए। (उ.प्र., 2010)
   अथवा, द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के चार गुण बताइए।
10. द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के चार दोष बताइए।
11. टिप्पणी लिखिए :
    व्यवस्थापिका का आदर्श संगठन।
12. 'प्रत्यायोजित व्यवस्थापन' क्या है? इसके गुण व दोषों की विवेचना कीजिए। (उ.प्र., 2010)
13. कार्यपालिका के प्रमुख कार्य क्या हैं?
    अथवा, कार्यपालिका के किन्हीं चार आवश्यक कार्यों को बताइए।
14. न्यायपालिका के क्या प्रमुख कार्य हैं?
15. व्यवस्थापिका किस प्रकार कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखती है? कोई दो तरीके बताइए।
16. न्यायिक समीक्षा क्या है? (उ.प्र., 2010)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अति लघु उत्तरीय प्रश्न [प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का, उत्तर दस शब्द (एक वाक्य) में]

प्रश्न 1. सरकार के कितने अंग होते हैं?

अथवा, सरकार के अंगों के केवल नाम बताइए। (उ.प्र., 2010)

उत्तर—सरकार के तीन अंग होते हैं : (1) व्यवस्थापिका, (2) कार्यपालिका, तथा (3) न्यायपालिका।

प्रश्न 2. व्यवस्थापिका का मुख्य कार्य क्या है?

उत्तर—व्यवस्थापिका का मुख्य कार्य कानून निर्माण करना है।

प्रश्न 3. व्यवस्थापिका के कोई दो कार्य बताइए।

उत्तर—(1) कानून निर्माण करना, (2) वित्त पर नियन्त्रण रखना।

प्रश्न 4. कार्यपालिका का प्रमुख कार्य क्या है?

उत्तर—कार्यपालिका का प्रमुख कार्य कानूनों को कार्यान्वित करना है।

प्रश्न 5. न्यायपालिका का प्रमुख कार्य क्या है?

उत्तर—न्यायपालिका का प्रमुख कार्य कानूनों का उल्लंघन करने वालों को दण्ड देना है।

प्रश्न 6. न्यायाधीशों की नियुक्ति की विधियां बताइए।

उत्तर—(1) जनता द्वारा निर्वाचन, (2) व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन, तथा (3) कार्यपालिका द्वारा मनोनयन।

प्रश्न 7. एक आदर्श न्यायाधीश के दो प्रमुख गुण लिखिए।

उत्तर—(1) निष्पक्षता, (2) कानूनों का पूर्ण ज्ञान।

प्रश्न 8. भारत में कितने सदनों वाली व्यवस्थापिका है?

उत्तर—भारत में दो सदनों वाली व्यवस्थापिका है।

प्रश्न 9. नाममात्र की कार्यपालिका का एक उदाहरण दीजिए।

उत्तर—भारतीय गणतन्त्र का राष्ट्रपति और ब्रिटेन का सम्राट।

प्रश्न 10. एक देश का नाम लिखिए, जहां न्यायाधीशों का निर्वाचन जनता करती है।

उत्तर—स्विट्जरलैण्ड के कुछ कैण्टन।

प्रश्न 11. न्यायपालिका के दो कार्य लिखिए।

उत्तर—(1) अभियोगों का निर्णय, (2) कानूनों की व्याख्या।

प्रश्न 12. एक सदनात्मक व्यवस्थापिका के दो गुण।

अथवा, एकसदनात्मक व्यवस्थापिका का एक गुण लिखिए। (उ.प्र., 2010)

उत्तर—(1) द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका अलोकतान्त्रिक, (2) रूढ़िवादिता का गढ़ तथा (3) अपव्यय।

प्रश्न 13. एक ऐसे देश का नाम बताइए, जहां न्यायपालिका का चुनाव किया जाता है।

उत्तर—स्विट्जरलैण्ड के कुछ कैण्टनों और अमरीकी संघ के कुछ राज्यों में न्यायाधीशों का चुनाव किया जाता है, लेकिन स्विट्जरलैण्ड या अमरीका में भी संघीय स्तर पर न्यायाधीशों का चुनाव नहीं होता है। अन्य किसी राज्य में न्यायाधीशों के निर्वाचन की पद्धति को नहीं अपनाया गया है।

बहुविकल्पीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों में चार विकल्प दिए गए हैं। उनमें से एक सही विकल्प छांटकर लिखिए :

1. "राज्य की इच्छाओं की पूर्ति जिस संगठन या एजेन्सी के द्वारा होती है, उसे सरकार कहते हैं।" यह कथन किसका है :
   (अ) गार्नर का (ब) विलोबी का (स) गिलक्राइस्ट का (द) ब्राइस का
2. लोकतन्त्रीय राज्यों में व्यवस्थापिका का प्रमुख कार्य है :
   (अ) कानूनों का निर्माण करना (ब) संविधान में संशोधन का कार्य
   (स) विचार-विमर्श करना (द) इनमें से सभी
3. 'पार्लमेण्ट' शब्द किस भाषा का है :
   (अ) लैटिन (ब) अंग्रेजी
   (स) फ्रांसीसी (द) इनमें से कोई नहीं
4. किस लोकतन्त्रीय देश में व्यवस्थापिका के दूसरे सदन के अधिकांश सदस्य आज भी ऐसे हैं, जिन्होंने उत्तराधिकार के आधार पर अपना पद प्राप्त किया है :
   (अ) अमरीका (ब) इंग्लैण्ड
   (स) फ्रांस (द) जापान

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

5. निम्नलिखित में से कौन-सा तर्क द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष में नहीं है :
(अ) प्रथम सदन की मनमानी पर रोक (ब) सभी वर्गों को प्रतिनिधित्व
(स) रूढ़िवादिता का गढ़ (द) अविचारपूर्ण कानून निर्माण पर रोक

6. "दो सदन रखना ठीक ऐसा ही है जैसे एक गाड़ी के दोनों तरफ घोड़े जोत दिए जाएं और वे विरोधी दिशा में जाने का प्रयत्न करें।" यह कथन किसका है :
(अ) बैंजामिन फ्रेंकलिन का (ब) ब्राइस का
(स) डॉ. गार्नर का (द) हैमिल्टन का

7. नाममात्र की कार्यपालिका का उदाहरण है :
(अ) अमरीका का राष्ट्रपति (ब) इंग्लैण्ड का सम्राट
(स) उपर्युक्त दोनों (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

8. नाममात्र की और वास्तविक कार्यपालिका का भेद किस प्रकार की शासन-व्यवस्था में पाया जाता है :
(अ) संसदात्मक शासन (ब) अध्यक्षात्मक शासन
(स) संघात्मक शासन (द) एकात्मक शासन

9. एकल कार्यपालिका का उदाहरण है :
(अ) भारत (ब) अमरीका (स) इंग्लैण्ड (द) इनमें से सभी

10. बहुल कार्यपालिका का उदाहरण है :
(अ) अमरीका (ब) स्विट्जरलैण्ड (स) इंग्लैण्ड (द) पाकिस्तान

11. "दो अच्छे सेनापतियों की अपेक्षा एक बुरा सेनापति श्रेष्ठ होता है।" यह कथन किसका है :
(अ) नेपोलियन का (ब) हिटलर का (स) मुसोलिनी का (द) माओ का

12. निम्नलिखित में से किस देश में कार्यपालिका के प्रधान की नियुक्ति वंशानुगत पद्धति के आधार पर की जाती है :
(अ) अमरीका (ब) इंग्लैण्ड (स) भारत (द) चीन

13. अमरीका के राष्ट्रपति के निर्वाचन की पद्धति है :
(अ) जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन (ब) जनता द्वारा अप्रत्यक्ष निर्वाचन
(स) व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन (द) वंशानुगत पद्धति

14. कार्यपालिका का प्रमुख कार्य है :
(अ) आन्तरिक शासन सम्बन्धी कार्य (ब) वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन
(स) सैनिक कार्य (द) इनमें से सभी

15. कार्यपालिका का आवश्यक गुण है :
(अ) कर्तव्यपराणता (ब) कार्यकुशलता
(स) निर्णय में शीघ्रता (द) इनमें से सभी

16. व्यवस्थापिका की सत्ता के ह्रास और कार्यपालिका की सत्ता में वृद्धि का प्रमुख कारण है :
(अ) व्यवस्थापिका में साधारण योग्यता के व्यक्तियों का चुनाव
(ब) जनकल्याणकारी राज्य की धारणा
(स) प्रदत्त व्यवस्थापन (द) उपर्युक्त सभी

17. निम्नलिखित में से कौन-सा न्यायपालिका का कार्य नहीं है :
(अ) अभियोगों का निर्णय (ब) कानूनों की व्याख्या
(स) वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन (द) औचित्य के आधार पर कानून निर्माण

18. न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को बनाए रखने का उपाय है :
(अ) लम्बी पदावधि (ब) पद की सुरक्षा
(स) अवकाश प्राप्ति के बाद वकालात का निषेध (द) इनमें से सभी

19. निम्नलिखित में से कौन सरकार का भाग नहीं है?
(अ) व्यवस्थापिका (ब) कार्यपालिका (स) निर्वाचन आयोग (द) न्यायपालिका

20. निम्नलिखित में से कौन एक सरकार का भाग नहीं है?
(अ) कार्यपालिका (ब) विधायिका (स) न्यायपालिका (द) निर्वाचन आयोग

[उत्तर—1. (अ), 2. (द), 3. (स), 4. (ब), 5. (स), 6. (अ), 7. (ब), 8. (अ), 9. (द), 10. (ब), 11. (अ), 12. (ब), 13. (ब), 14. (द), 15. (द), 16. (द), 17. (स), 18. (द), 19. (स), 20. (द)]

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

16

लोकमत

[PUBLIC OPINION]

"लोकमत के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को शासन का आधार बनाकर पृथ्वी पर कभी कोई शासन नहीं कर सका है।"[1]
—जोस आर्टीगैग गैसेल

लोकमत का महत्व

साधारण शब्दों में लोकमत का तात्पर्य सामान्य सार्वजनिक समस्याओं के सम्बन्ध में जनता के मत से है। किन्हीं भी व्यक्तियों द्वारा एक देश की शासन-व्यवस्था का संचालन जनता द्वारा प्रकट या मौन स्वीकृति के आधार पर ही किया जा सकता है। यह बात न केवल प्रजातन्त्र वरन् राजतन्त्र, तानाशाही शासन, कुलीनतन्त्र और विदेशी शासन के सम्बन्ध में भी पूर्ण रूप से सत्य है। इन विभिन्न शासन-व्यवस्थाओं में लोकमत का महत्व निम्न प्रकार देखा जा सकता है :

राजतन्त्रात्मक व्यवस्था में राजा की स्वेच्छाचारिता तथा निरंकुशता को रोकना—राजतन्त्रात्मक व्यवस्था में राजा के निरंकुश तथा स्वार्थी होने की सदैव आशंका रहती है। लोकमत राजा को कर्तव्यच्युत होते देख उसे चेतावनी देता है। कभी भी कोई बुद्धिमान राजा जनता के असन्तोष की अवहेलना नहीं कर सकता, क्योंकि वह जानता है कि इस असन्तोष का परिणाम क्रान्ति तथा विप्लव होगा और अन्त में राजा को अपने सभी अधिकारों से हाथ धोना पड़ेगा।

विदेशी शासन के कुप्रभावों को रोकना—लोकमत का महत्व न केवल राष्ट्रीय शासन की स्थिति में वरन् विदेशी शासन में भी होता है। विदेशी शासक सामान्यतः अपने हित की ही चिन्ता करते हैं और ऐसी व्यवस्थाएं कर लेते हैं जिससे विदेशी शासन स्थायी हो जाय। ऐसी स्थिति में विदेशी शासन के कुप्रभावों को रोकने के लिए प्रबल लोकमत बड़ा ही आवश्यक होता है। विदेशी शासन भी लोकमत के भय से कुछ लोकहितकारी कार्य करने के लिए बाध्य हो जाता है।

प्रजातन्त्र सरकार में सर्वाधिक महत्व—लोकमत का राजतन्त्रात्मक शासन और विदेशी शासन में भी महत्व होता है, किन्तु प्रजातन्त्र का तो लोकमत प्राण ही है। यदि प्रजातन्त्रीय सरकार जनता की इच्छा के विरुद्ध कार्य करने लगती है, तो वह जनता की सरकार नहीं रह जाती। प्रत्येक प्रजातन्त्रीय सरकार के लिए जरूरी हो जाता है कि वह अपने आपको जनता के दृष्टिकोण के सम्पर्क में रखे। उसे ऐसी ही नीति का अनुसरण करना होता है जिसका समर्थन जनमत द्वारा किया जाता है। प्रजातन्त्र में लोकमत का महत्व निम्न अनेक रूपों में बताया जा सकता है :

(1) **शासन की निरंकुशता पर नियन्त्रण**—प्रजातन्त्र में जब कभी यह देखा जाता है कि कोई सरकार मनमानी करने का प्रयत्न कर रही है तो जनमत के द्वारा शासन की निरंकुशता पर नियन्त्रण रखने का कार्य किया जाता है। प्रजातन्त्र में सरकार को स्थायी बनाने के लिए जनमत के समर्थन तथा सहमति की आवश्यकता होती है। जनमत के बल पर ही सरकारें बनती तथा बिगड़ती हैं।

(2) **सरकारी अधिकारियों पर नियन्त्रण**—प्रजातन्त्रीय सरकार साधारण जनता की सरकार होती है। अतः शासन को सुचारु रीति से तथा कुशलतापूर्वक चलाने के लिए सरकारी अधिकारियों और कर्मचारियों के अनुचित कार्यों की आलोचना आवश्यक हो जाती है। इस आवश्यकता की पूर्ति जनमत ही करता है।

1 "Never has any one ruled on earth by basing his rule essentially other than public opinion."
—Jose Ortegag Gassell, *The Ravolt of the Masses.*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(3) सरकार का पथ-प्रदर्शन—प्रजातन्त्र सरकार में जनमत सरकार का पथ-प्रदर्शन करता रहता है। जनमत से सरकार को इस बात की जानकारी होती रहती है कि जनता क्या चाहती है और क्या नहीं चाहती है। जनमत से ही सरकार यह जान सकती है कि उसके द्वारा किन कानूनों का निर्माण किया जाय और किन का नहीं। लोकतन्त्र में जनमत ही सरकार की आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम है। सरकार जनमत के अनुसार शासन का संचालन कर लोकप्रियता अर्जित कर सकती है तथा लोकतन्त्र की जड़ें अर्जित कर सकती है तथा लोकतन्त्र की जड़ें मजबूत कर सकती है।

लोकमत का महत्व
(1) शासन की निरंकुशता पर नियन्त्रण
(2) सरकारी अधिकारियों पर नियन्त्रण
(3) सरकार का पथ-प्रदर्शन
(4) स्वार्थी राजनीतिज्ञों पर नियन्त्रण
(5) विभिन्न संस्थाओं को कर्तव्यों की चेतावनी
(6) नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा

(4) स्वार्थी राजनीतिज्ञों पर नियन्त्रण—जनमत स्वार्थी तथा वेईमान राजनीतिज्ञों और नेताओं पर नियन्त्रण रखता है जिससे वे सरकार को अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों की स्वार्थसिद्धि का साधन न बना लें।

(5) विभिन्न संस्थाओं को कर्तव्यों की चेतावनी—जनमत भिन्न-भिन्न सामाजिक संस्थाओं को उनके वास्तविक कर्तव्य की चेतावनी देता रहता है। इससे उनमें स्वार्थपरता तथा संकीर्णता नहीं आने पाती। जनमत इन समुदायों को सम्पूर्ण जनता के प्रति उनके कर्तव्य बताता है। जो समुदाय सार्वजनिक हित के विरुद्ध काम करता है, उसकी जनमत द्वारा तीव्र आलोचना एवं निन्दा की जाती है। कोई भी संस्था इस आलोचना और निन्दा की अवहेलना नहीं कर सकती। इस प्रकार जनमत सामुदायिक जीवन को सार्वजनिक हित में ढालने का कार्य करता है।

(6) नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा—जब कभी सरकार जनता की स्वतन्त्रता के विरुद्ध कार्य करने का प्रयत्न करती है, तो जनमत उन्हें इस प्रकार अनुचित कार्य करने से रोककर जनस्वातन्त्र्य की रक्षा करता है।

इस प्रकार यह बात नितान्त स्पष्ट है कि लोकमत का बहुत अधिक महत्व होता है। लोकमत के महत्व के सम्बन्ध में ह्यूम (Hume) ने लिखा है कि "सभी सरकारें चाहे वे कितनी ही दूषित हों, अपनी शक्ति के लिए लोकमत पर निर्भर करती हैं।" लोकमत प्रजातन्त्र की आत्मा ही है। डॉ. आशीर्वादम् के शब्दों में, "जागरूक और सचेत लोकमत स्वस्थ प्रजातन्त्र की प्रथम आवश्यकता है।"[1]

लोकमत का अर्थ और परिभाषा

साधारण शब्दों में और शाब्दिक अर्थ के आधार पर लोकमत को जनता का मत कहा जा सकता है, लेकिन इतना कह देने मात्र से ही लोकमत का अर्थ स्पष्ट नहीं हो जाता है क्योंकि जनता का मत स्वयं नितान्त अस्पष्ट धारणा है। विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गयी लोकमत की परिभाषाएं इस प्रकार हैं :

ब्राइस के अनुसार, "लोकमत मनुष्यों के उन विभिन्न दृष्टिकोणों का योग मात्र है जो वे सार्वजनिक हित से सम्बद्ध विषयों के बारे में रखते हैं।"[2]

बिलोबी तथा रोजर्स, "लोकमत उन व्यक्तियों के विचारों का परिणाम होता है जो सामान्य हित के विषयों पर निर्णय की ओर अग्रसर होते हैं।"

लावेल लिखते हैं, "लोकमत के लिए केवल बहुमत ही पर्याप्त नहीं होता और न ही एकमत की आवश्यकता होती है। कोई भी मत लोकमत का रूप धारण करने के लिए ऐसा होना चाहिए जिसमें चाहे अल्पमत भागीदार न हो, परन्तु भय के कारण नहीं, वरन् दृढ़ विश्वास के कारण उसे स्वीकार करता हो।"[3]

गिन्सबर्ग के अनुसार, "लोकमत का अभिप्राय समाज में प्रचलित उन विचारों व निर्णय के समूह से होता है, जो लगभग निश्चित रूप में प्रतिपादित होते हैं, जिनमें कुछ स्थायित्व होता है और उन्हें मानने वाले लोग उन्हें इस अर्थ में सामाजिक समझते हैं कि वे अनेक मस्तिष्कों द्वारा एक साथ विचार करने के परिणाम हैं।"

---

1 "An alert and vigilant public opinion is the first essentiality of democracy." —*Dr. Ashirvadam*
2 "Public opinion is the aggregate of the views men hold regarding matters that affect interest of the community." —*Bryce*
3 "A majority is not enough and unanimity is not required, but the opinion must be such that while majority may not share it, they feel bound by conviction and not by fear to accept it." —*Lowell*

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोकमत की लगभग इसी प्रकार की परिभाषा सोल्टाऊ और डूब के द्वारा की गयी है और इन परिभाषाओं के आधार पर लोकमत की निम्नलिखित तीन विशेषताएं कही जा सकती हैं :

(1) **जन-साधारण का मत**—किसी विशेष वर्ग या व्यक्तियों के मत को लोकमत नहीं कहा जा सकता। लोकमत के लिए यह आवश्यक है कि वह जन-साधारण का मत हो।

(2) **विवेक पर आधारित स्थायी विचार**—लोकमत भावनाओं के अस्थिर आवेग या एक समय विशेष में प्रचलित विचार पर आधारित न होकर जनता के विवेक और स्थायी विचारों पर आधारित होता है।

लोकमत की विशेषताएं
(1) जन-साधारण का मत
(2) विवेक पर आधारित स्थायी विचार
(3) लोककल्याण की भावना से प्रेरित

(3) **लोककल्याण की भावना से प्रेरित**—लोकमत की तीसरी विशेषता सर्वाधिक महत्वपूर्ण है और यह कहा जा सकता है कि चाहे दूसरी परिस्थितियां विद्यमान हों या न हों, लोकमत आवश्यक रूप से लोककल्याण की भावना से प्रेरित होता है। डॉ. बेनी प्रसाद ने कहा है कि "**वही मत वास्तविक लोकमत होता है, जो जनकल्याण की भावना से प्रेरित हो।**"

इन विशेषताओं के आधार पर लोकमत की परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि "**लोकमत सामान्य जनता के स्थायी विचारों पर आधारित वह विवेकपूर्ण विचार होता है, जो आवश्यक रूप से जन-कल्याण की भावना से प्रेरित हो।**"

लोकमत का निर्माण और उसकी अभिव्यक्ति

जब देश के सामने कोई विशेष प्रकार की समस्या या प्रश्न उपस्थित होता है तो उस प्रश्न पर सभी पक्षों की ओर से विचार प्रारम्भ किया जाता है तथा इस विचार-विमर्श के परिणामस्वरूप उस प्रश्न पर कुछ निश्चित दृष्टिकोण या धारणाएं बन जाती हैं। थोड़े समय बाद विषय से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों में से किसी एक पक्ष को समाज के बहुत बड़े भाग और विशेष रूप से विवेकशील व्यक्तियों द्वारा अपना लिया जाता है और यही पक्ष लोकमत के रूप में अभिव्यक्ति प्राप्त कर लेता है। लोकमत के निर्माण और उसकी अभिव्यक्ति में अनेक तत्व सहायक रूप में कार्य करते हैं, जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं :

(1) **मानव तत्व**—लोकमत के निर्माण में सबसे अधिक प्रमुख रूप से एक राज्य के व्यक्तियों द्वारा ही भाग लिया जाता है, लेकिन इस कार्य में सभी व्यक्तियों द्वारा समान रूप से भाग नहीं लिया जाता, क्योंकि विभिन्न व्यक्तियों की विवेकशीलता में अन्तर होता है। साधारणतया इस दृष्टि से सभी व्यक्तियों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। **प्रथम श्रेणी** में विधायक, समाचार-पत्रों के सम्पादक और सम्वाददाता तथा राजनीतिक दलों के महत्वपूर्ण सदस्य आते हैं, जो अपना लगभग सम्पूर्ण समय और शक्ति सार्वजनिक क्षेत्र में ही व्यतीत करते हैं। **द्वितीय श्रेणी** में बौद्धिक वर्ग के वे व्यक्ति आते हैं जो अपना साधारण कार्य-व्यवहार करते हुए सार्वजनिक मामलों को समझने और सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के विचारों को प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं। **तृतीय श्रेणी** में वे व्यक्ति आते हैं जो उपर्युक्त दोनों वर्गों के विचारों से प्रभावित होकर अपने विचारों का निर्माण करते हैं। इस प्रकार लोकमत के निर्माण में मानवीय तत्व सबसे अधिक क्रियाशील होता है।

लोकमत का निर्माण और उसकी अभिव्यक्ति
(1) मानव तत्व
(2) समाचार-पत्र और प्रेस
(3) रेडियो, सिनेमा और टेलीविजन
(4) मंच या सार्वजनिक सभाएं
(5) शिक्षण संस्थाएं
(6) धार्मिक, सामाजिक व आर्थिक संघ
(7) निर्वाचन
(8) व्यवस्थापिका सभाएं
(9) राजनीतिक दल

(2) **समाचार-पत्र और प्रेस**—समाचार-पत्र विविध घटनाओं, समस्याओं और विचारों के सम्बन्ध में जनता को सूचना प्रदान करने का कार्य करते हैं और साधारणतया समाचार-पत्रों में प्रकाशित इन सूचनाओं और विचारों के आधार पर ही जनसाधारण अपने विचारों का निर्माण करते हैं। समाचार-पत्र जनता की बात को शासन और शासन सम्बन्धी तथ्यों को सरकार तक पहुंचाने का कार्य करते हैं। शिक्षा के अधिकाधिक प्रसार से समाचार-पत्र लोकमत के निर्माण और उसकी अभिव्यक्ति के सबसे अधिक महत्वपूर्ण साधन बन गये हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(3) रेडियो, सिनेमा और टेलीविजन—रेडियो सूचनाओं और विचारों के प्रसार का एक ऐसा साधन है, जिसका लाभ निरक्षर व्यक्ति भी उठा सकते हैं। इस प्रकार रेडियो लोकमत के निर्माण का महत्वपूर्ण साधन है। रेडियो की भांति ही सिनेमा और टेलीविजन सामान्य ज्ञान व साधारण शिक्षा का महत्वपूर्ण साधन बन सकता है। राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित चित्र जनता के विचारों पर प्रभाव डालते और उनमें सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति रुचि उत्पन्न करते हैं।

(4) मंच या सार्वजनिक सभाएं (Platform)—लोकमत निर्माण के साधनों में मंच अपना एक विशेष महत्व रखता है। मंच के माध्यम से सार्वजनिक क्षेत्र के विभिन्न व्यक्तियों द्वारा जनता के समक्ष अपने विचार रखे जाते हैं और इस बात की आलोचना-प्रत्यालोचना एवं गुण-दोषों की विवेचना से साधारण जनता को सार्वजनिक समस्याओं के प्रति रुचि और तत्सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त होता है।

(5) शिक्षण संस्थाएं—शिक्षण संस्थाएं ज्ञान प्राप्ति की केन्द्र होती हैं और ये संस्थाएं साधारण जनता को इस योग्य बनाती हैं कि वे राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं पर स्वतन्त्रतापूर्वक विचार कर सकें। शिक्षकों के विचार भी अप्रत्यक्ष रूप से विद्यार्थियों के विचारों पर प्रभाव डालते ही हैं और इस सम्बन्ध में शिक्षण संस्थाओं से सम्बन्धित महत्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाएं व पुस्तकें भी उपयोगी कार्य करती हैं।

(6) धार्मिक, सामाजिक व आर्थिक संघ—सार्वजनिक क्षेत्र के अधिकांश प्रश्न धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं से ही सम्बन्धित होते हैं और इन विषयों से सम्बन्धित विचारों के निर्माण में इन संघों द्वारा महत्वपूर्ण कार्य किया जाता है। इसके अतिरिक्त, इन संघों की राजनीतिक प्रश्नों में भी रुचि होती है। सभी रोमन कैथोलिक देशों में गिरजाघर की और अनेक मुस्लिम देशों में मस्जिदों की लोकमत के निर्माण में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। वर्तमान समय में आर्थिक समुदाय सभी देशों में बहुत अधिक प्रभावशाली हो गये हैं।

(7) निर्वाचन—निर्वाचन या चुनाव विचारों के प्रचार का महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। कई देशों में तो चुनाव के समय इस प्रकार का वातावरण निर्मित हो जाता है कि सभी पक्षों का ध्यान राजनीतिक और सार्वजनिक जीवन की ओर केन्द्रित हो जाता है। निर्वाचन के शिक्षात्मक मूल्य के कारण निर्वाचन भी लोकमत निर्माण के साधन के रूप में कार्य करते हैं। चुनावों के समय भारत सहित अन्य लोकतान्त्रिक देशों में जनता व राजनीतिक दलों द्वारा विभिन्न मुद्दों पर विचारों की खुलकर अभिव्यक्ति होती है तथा कई बार इन विचारों से निर्वाचन के परिणाम भी प्रभावित होते हैं।

(8) व्यवस्थापिका सभाएं—व्यवस्थापिका सभाओं में विविध राजनीतिक दलों और वर्गों के प्रतिनिधि होते हैं। प्रत्येक विषय और विधेयक पर वाद-विवाद होता है और व्यवस्थापिकाओं में होने वाला यह वाद-विवाद लोकमत के निर्माण में बड़ा सहायक सिद्ध होता है। व्यवस्थापिका सभाओं में की जाने वाली प्रशासकीय नीति की आलोचना-प्रत्यालोचना से भी जनमत के निर्माण में बहुत सहायता मिलती है।

(9) राजनीतिक दल—राजनीतिक दल सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दृष्टिकोणों पर आधारित व्यक्तियों के ऐसे व्यवस्थित संगठन होते हैं जो संवैधानिक साधनों के आधार पर शासन शक्ति प्राप्त करके अपने सिद्धान्तों को कार्यरूप में बदलने का प्रयत्न करते हैं। वर्तमान समय के प्रतिनिधित्वात्मक लोकतन्त्र के अन्तर्गत बहुसंख्यक व्यक्तियों को अपने पक्ष में करके शासन शक्ति पर अधिकार किया जा सकता है। अतः राजनीतिक दल जनता के समक्ष अपने विचारों का प्रतिपादन करते हैं और उनके प्रचार तथा प्रसार के लिए प्रत्येक प्रकार का प्रयत्न करते हैं। राजनीतिक दलों द्वारा किये जाने वाले इन विविध कार्यों के सम्बन्ध में लास्की ने कहा है कि "वह (राजनीतिक दल) जलसे एवं अधिवेशन आयोजित करता है तथा एजेण्ट, व्याख्यानदाताओं और प्रचारकों के माध्यम से जनता को शिक्षित करने का प्रयत्न करता है। राजनीतिक दल स्थानीय एवं राष्ट्रीय समाचार-पत्रों एवं प्रचार के आधार पर अपनी नीति जनता के सम्मुख रखता है।"

देश की विविध समस्याओं पर राजनीतिक दलों के अलग-अलग विचार होते हैं और जब देश के विभिन्न राजनीतिक दल राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याओं को अपने दृष्टिकोण से जनता के सम्मुख रखते हैं तो साधारणतया जनता में उन समस्याओं के प्रति रुचि उत्पन्न होती है और जनता उन समस्याओं के सम्बन्ध में एक निश्चित धारणा बना लेती है। निर्वाचन के समय तो ये राजनीतिक दल अत्यधिक सक्रिय हो जाते हैं और एक ऐसे वातावरण का निर्माण कर देते हैं जो लोकमत के निर्माण में निश्चित रूप से बहुत

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिक सहायक होता है। अतः ब्राइस के शब्दों में कहा जा सकता है कि "लोकमत को प्रशिक्षित करने, उसके निर्माण और अभिव्यक्ति में राजनीतिक दल के द्वारा अत्यधिक महत्वपूर्ण कार्य किया जाता है।"

इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि लोकमत के निर्माण और उसकी अभिव्यक्ति से सम्बन्धित कार्य राजनीतिक दल तभी अच्छी तरह कर सकते हैं जबकि उनका निर्माण राजनीतिक और आर्थिक आधार पर किया गया हो, वे उग्र दलबन्दी के दलदल से बचे रहें और अपने दृष्टिकोण को संकुचित होने से बचाये रखें।

स्वस्थ लोकमत के निर्माण में बाधाएं

उपर्युक्त साधनों के द्वारा लोकमत के निर्माण का कार्य किया जाता है, किन्तु व्यवहार के अन्तर्गत हमारे सामने जो लोकमत प्रकट होता है, वह सदैव सही नहीं होता। तानाशाही शासन-व्यवस्था में लोकमत निर्माण के साधनों पर प्रतिबन्ध होते ही हैं, अन्य प्रकार की शासन-व्यवस्थाओं में भी स्वस्थ लोकमत के निर्माण में अनेक बाधाएं होती हैं, जिनमें प्रमुख बाधाएं इस प्रकार हैं :

स्वस्थ लोकमत के निर्माण में बाधाएं

(1) निर्धनता और भीषण आर्थिक असमानताएं
(2) निरक्षरता और दूषित शिक्षा प्रणाली
(3) पक्षपातपूर्ण समाचार-पत्र
(4) दोषपूर्ण राजनीतिक दल
(5) सार्वजनिक जीवन के प्रति उदासीनता और राजनीतिक चेतना का अभाव
(6) वर्गीयता तथा साम्प्रदायिकता

(1) निर्धनता और भीषण आर्थिक असमानताएं—जब समाज के कुछ व्यक्ति बहुत अधिक निर्धन होते हैं, तो इनका सारा समय और शक्ति दैनिक जीवन की आवश्यकताओं के साधन जुटाने में ही चली जाती है और ये सार्वजनिक हित की बातों के सम्बन्ध में विचार नहीं कर पाते। इसी प्रकार जब समाज के अन्तर्गत भीषण आर्थिक असमानताएं विद्यमान होती हैं, तो इन असमानताओं के परिणामस्वरूप वर्ग विद्वेष और वर्ग-संघर्ष की भावना उत्पन्न हो जाती है। जब धनी और निर्धन वर्ग एक-दूसरे को अपना निश्चित शत्रु मान लेते हैं तो वे प्रत्येक बात के सम्बन्ध में सार्वजनिक हित की दृष्टि से नहीं, वरन् वर्गीय हित की दृष्टि से विचार करते हैं।

(2) निरक्षरता और दूषित शिक्षा प्रणाली—स्वस्थ लोकमत के निर्माण के लिए यह जरूरी है कि व्यक्ति समाचार-पत्र पढ़ें, विभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त करें और उनके द्वारा परस्पर विचारों का आदान-प्रदान किया जाय, लेकिन ये सभी कार्य पढ़े-लिखे व्यक्तियों द्वारा ही ठीक प्रकार से किये जा सकते हैं, इसलिए निरक्षरता लोकमत के निर्माण के मार्ग की एक बहुत बड़ी बाधा है। स्वस्थ लोकमत के निर्माण हेतु न केवल शिक्षित, वरन् ऐसे नागरिक होने चाहिए जो स्वतन्त्र रूप से विचार कर सकें और जिनमें सामान्य सूझबूझ हो। इस दृष्टि से दूषित शिक्षा प्रणाली भी लोकमत के मार्ग की उतनी ही बड़ी बाधा है जितनी कि निरक्षरता।

(3) पक्षपातपूर्ण समाचार-पत्र—समाचार-पत्र स्वस्थ लोकमत के निर्माण का कार्य उसी समय कर सकते हैं, जबकि वे निष्पक्ष हों, लेकिन यदि समाचार-पत्रों पर सरकार का अधिकार हो अथवा वे किन्हीं धनी व्यक्तियों या राजनीतिक दलों के प्रभाव में हों, तो इन पक्षपातपूर्ण समाचार-पत्रों के द्वारा स्वस्थ लोकमत के निर्माण का कार्य ठीक प्रकार से नहीं किया जा सकता है। पक्षपातपूर्ण समाचार-पत्र लोकमत को पूर्णतया विकृत कर देते हैं।

(4) दोषपूर्ण राजनीतिक दल—यदि राजनीतिक दल आर्थिक और राजनीतिक कार्यक्रम पर आधारित हों, तो ये राजनीतिक दल लोकमत के निर्माण में बहुत अधिक सहायक सिद्ध होते हैं, लेकिन जब इन राजनीतिक दलों का निर्माण जाति और भाषा के प्रश्नों के आधार पर किया जाता है, तो इन दलों के द्वारा धर्म, जाति और भाषा पर आधारित विभिन्न वर्गों के बीच संघर्षों को जन्म देने का कार्य किया जाता है। ये दोषपूर्ण राजनीतिक दल लोकमत के मार्ग को पूर्णतया भ्रष्ट कर देते हैं।

(5) सार्वजनिक जीवन के प्रति उदासीनता और राजनीतिक चेतना का अभाव—स्वस्थ लोकमत के निर्माण हेतु आवश्यक है कि जनता सार्वजनिक जीवन में रुचि ले और जनता द्वारा सार्वजनिक जीवन को अपने पारिवारिक जीवन के समान ही समझा जाय, लेकिन जब जनता सार्वजनिक जीवन में कोई रुचि नहीं लेती, 'कोऊ नृप होउ, हमें का हानि' का दृष्टिकोण अपना लेती है और अपने अधिकार तथा कर्तव्यों को नहीं समझती, तो ऐसी स्थिति में स्वस्थ लोकमत के निर्माण की आशा नहीं की जा सकती है।

(6) वर्गीयता तथा साम्प्रदायिकता—वर्गीयता, जातिवाद, साम्प्रदायिकता, आदि भावनाएं स्वार्थपरता, असहिष्णुता और संकुचित दृष्टिकोण को जन्म देती हैं, जिनसे स्वस्थ जनमत के निर्माण में बाधा पहुंचती है।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वस्थ लोकमत के निर्माण हेतु आवश्यक परिस्थितियां

सभी शासन-व्यवस्थाएं किसी-न-किसी रूप में लोकमत पर ही आधारित होती हैं और प्रजातन्त्रात्मक शासन का तो लोकमत प्राण ही है। भारत में प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था की स्थापना हो गयी है, लेकिन स्वस्थ लोकमत के निर्माण की आवश्यक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए लोकमत के निर्माण और उसकी अभिव्यक्ति के लिए निम्नांकित परिस्थितियां आवश्यक कही जा सकती हैं :

स्वस्थ लोकमत के निर्माण हेतु आवश्यक परिस्थितियां

(1) सुशिक्षित और जागरूक जनता
(2) आर्थिक समानता
(3) स्वतन्त्र प्रेस
(4) स्वस्थ और सुदृढ़ राजनीतिक दल
(5) साम्प्रदायिकता का अन्त
(6) राष्ट्रीय आदर्शों के सम्बन्ध में एकता
(7) विचार अभिव्यक्ति और संगठन आदि की स्वतन्त्रता
(8) शान्तिमय वातावरण
(9) न्यायप्रिय बहुमत और सहनशील अल्पमत

(1) सुशिक्षित और जागरूक जनता—जनसाधारण के उस विवेकपूर्ण और स्थायी विचार का नाम लोकमत है जो जन-कल्याण की भावना से प्रेरित हो और इस विवेकपूर्ण विचार का निर्माण उसी समय सम्भव हैं, जबकि जनता सुशिक्षित और समझदार हो। यहां पर शिक्षा का तात्पर्य किताबी शिक्षा से ही नहीं, वरन् समस्याओं को समझने, विचार करने और दूसरों को प्रभावित करने की शक्ति से है। मूर्ख और अशिक्षित व्यक्ति उन मूक पशुओं की भांति होते हैं, जिन्हें स्वार्थी पक्ष किसी भी ओर हांककर ले जा सकता है। राजनीतिक दृष्टि से जागरूक नागरिक ही अपने कर्तव्यों व अधिकारों को समझ सकता है तथा अपने नागरिक दायित्वों का निर्वहन कर सकता है।

(2) आर्थिक समानता—अशिक्षा के बाद निर्धनता लोकमत के निर्माण में दूसरी बड़ी बाधा है। इस बाधा को दूर करने के लिए राज्य के द्वारा सभी व्यक्तियों के लिए आर्थिक न्यूनतम अर्थात् उनको भोजन, वस्त्र, निवास, शिक्षा और स्वास्थ्य की सुविधाओं का प्रबन्ध किया जाना चाहिए। जब बहुसंख्यक जनता बहुत अधिक निर्धन होती है तो इसका धर्म, ईमान और राजनीति सब कुछ रोटी तक ही सीमित हो जाता है और उसके पास सार्वजनिक समस्याओं के सम्बन्ध में सोचने के लिए समय और शक्ति नहीं रहती। वस्तुतः धनिकों का अत्यधिक धन और निर्धनों की निर्धनता लोकमत के निर्माण में बाधक हो जाती है। अतः स्वस्थ लोकमत के निर्माण के लिए गम्भीर आर्थिक भेदों का अन्त किया जाना चाहिए और सभी व्यक्तियों के लिए आर्थिक-न्यूनतम की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(3) स्वतन्त्र प्रेस—प्रेस और समाचार-पत्र जनमत निर्माण के महत्वपूर्ण साधन होते हैं, किन्तु इनके द्वारा जनमत निर्माण का यह कार्य उसी समय ठीक प्रकार से किया जा सकता है, जबकि प्रेस पूर्णतया स्वतन्त्र हो। समाचार-पत्रों पर सरकारी एवं गैर-सरकारी किसी प्रकार का दबाव नहीं होना चाहिए और उन्हें सार्वजनिक समस्याओं, सरकार के कार्यों, राजनीतिक दलों की नीतियों और कार्यक्रमों पर निष्पक्षतापूर्वक विचार करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। वैण्डल विल्की (Wendell Wilkie) ने ठीक ही लिखा है कि "समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता सच्चे लोकमत का जीवन ही है।"

(4) स्वस्थ और सुदृढ़ राजनीतिक दल—आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नों पर आधारित केवल ऐसे राजनीतिक दलों को स्वस्थ कहा जा सकता है जो किसी एक वर्ग या सम्प्रदाय से सम्बन्धित न हों और जिनका उद्देश्य सम्पूर्ण राज्य का कल्याण हो। जाति, भाषा, धर्म और क्षेत्रीयता के भेदों पर आधारित राजनीतिक दल तो लोकमत के निर्माण में बाधा का ही कार्य करते हैं। केवल स्वस्थ राजनीतिक दल ही जनता को स्वस्थ राजनीतिक शिक्षण प्रदान कर लोकमत के आधार रूप में कार्य कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त राजनीतिक दल अच्छे प्रकार से संगठित होने चाहिए क्योंकि असंगठित विचारधाराएं और कार्यक्रम लोकमत निर्माण में सहायक नहीं हो सकते। स्वस्थ लोकमत के निर्माण की दृष्टि से इन दलों की संख्या भी बहुत अधिक नहीं होनी चाहिए।

(5) साम्प्रदायिकता का अन्त—लोकमत के निर्माण के लिए यह भी आवश्यक है कि जनता अपने जीवन से संकुचित और साम्प्रदायिक भावों को निकालकर बाहर कर दे। जनता का दृष्टिकोण उदार होना चाहिए और उसमें राष्ट्रीय प्रश्नों को व्यापक दृष्टिकोण से समझने की क्षमता होनी चाहिए। साम्प्रदायिकता की स्थिति में जनमत का निर्माण भावनात्मक व पक्षपात पूर्ण हो जाता है, इसमें सन्तुलन व सामान्य हित का अभाव होता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(6) राष्ट्रीय आदर्शों के सम्बन्ध में एकता—मानव एक विवेकशील प्राणी है और इसलिए प्रशासन से सम्बन्धित दैनिक समस्याओं के सम्बन्ध में मतभेद होना नितान्त स्वाभाविक है, लेकिन जनता में आधारभूत राष्ट्रीय आदर्शों के सम्बन्ध में आवश्यक रूप से एकता होनी चाहिए। राज्य के शासन का रूप, उद्देश्य, आदि स्थायी प्रकृति की बातों के सम्बन्ध में मतभेद होने पर स्वस्थ लोकमत का विकास सम्भव नहीं होगा।

(7) विचार अभिव्यक्ति और संगठन आदि की स्वतन्त्रता—विचारों का आदान-प्रदान ही लोकमत के निर्माण की एकमात्र प्रक्रिया है, अतः नागरिकों को स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने और अपने विचारों को व्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। विचार और अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में तो वाल्टेयर की यह पंक्ति हमारी मार्गदर्शक होनी चाहिए कि "मैं चाहे आपके विचारों से सहमत न होऊं, लेकिन आपके विचार-स्वातन्त्र्य के अधिकार की रक्षा के लिए मैं अपने प्राण दे दूंगा।" नागरिकों को अपने विचारों के प्रचार और प्रसार के लिए संगठन आदि के निर्माण और सम्मेलन की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इसके साथ नागरिकों का यह पवित्र कर्तव्य हो जाता है कि वे किसी भी प्रकार से इनका दुरुपयोग न करें। समाज या राज्य के हितों या व्यक्ति के सम्मान की रक्षा के लिए अधिकारों को सीमित किया जा सकता है।

(8) शान्तिमय वातावरण—स्वस्थ जनमत के निर्माण हेतु गम्भीर विचार की आवश्यकता होती है और इस प्रकार का गम्भीर विचार तभी सम्भव है, जबकि आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से शान्ति का वातावरण हो। युद्ध अथवा उत्तेजना के वातावरण में स्वस्थ जनमत का निर्माण सम्भव नहीं है।

(9) न्यायप्रिय बहुमत और सहनशील अल्पमत—बहुमत वर्ग में न्यायप्रियता की प्रवृत्ति होनी चाहिए जिससे कि अल्पसंख्यक सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति उदासीनता या असंवैधानिक मार्ग को न अपना लें। इसी प्रकार अल्पसंख्यक वर्ग में बहुमत के निर्णय को स्वीकार करने की प्रवृत्ति होनी चाहिए क्योंकि यही एकमात्र व्यावहारिक मार्ग है। स्वार्थी बहुमत और विद्रोही अल्पमत लोकमत के स्वरूप को भ्रष्ट कर देते हैं। अतः लोकमत के निर्माण हेतु बहुमत को न्यायप्रिय और अल्पमत को सहनशील होना चाहिए

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (प्रत्येक प्रश्न 6 अंक का, उत्तर लगभग 300 शब्दों में दीजिए)

1. जनमत से आप क्या समझते हैं? आधुनिक लोकतन्त्र में इसकी भूमिका की विवेचना कीजिए।
2. लोकमत का क्या महत्व है? लोकमत निर्माण के मुख्य साधनों का वर्णन कीजिए।
3. आधुनिक राज्य में लोकमत का क्या महत्व है? स्वस्थ लोकमत के उदय में राजनीतिक दलों का क्या योगदान है?
4. लोकमत से आप क्या समझते हैं? लोकमत प्रकट करने के क्या-क्या साधन हैं?
5. लोकमत से आप क्या समझते हैं? स्वस्थ लोकमत के निर्माण के लिए आवश्यक परिस्थितियों की विवेचना कीजिए।
6. स्वस्थ लोकमत के निर्माण में इलेक्ट्रॉनिक मीडिया की भूमिका का परीक्षण कीजिए। (उ.प्र., 2010)

लघु उत्तरीय प्रश्न

(अ) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 50 शब्दों में दीजिए (2 अंक)।

1. लोकमत क्या है?
2. जनमत निर्माण के दो प्रमुख साधन बताइए।
3. जनमत की कोई एक परिभाषा दीजिए।
4. जनमत नागरिक अधिकारों की रक्षा कैसे करता है?
5. स्वस्थ जनमत की तीन विशेषताएं बताइए।
6. समाचार पत्र जनमत निर्माण में कैसे सहायक है?

(ब) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिए (4 अंक)।

7. जनमत या लोकमत के तत्वों या विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।
8. जनमत का महत्व स्पष्ट कीजिए। (उ.प्र., 2010)
   अथवा, जनमत के महत्व की कोई पांच बातें बताइए।
9. जनमत के निर्माण के पांच प्रमुख साधन बताइए।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

10. श्रेष्ठ जनमत के निर्माण के लिए पांच आवश्यक दशाएं बताइए।
11. स्वस्थ या श्रेष्ठ जनमत के निर्माण के मार्ग में आने वाली पांच प्रमुख बाधाओं को लिखिए।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न [प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का, उत्तर दस शब्द (एक वाक्य) में]

प्रश्न 1. जनमत निर्माण हेतु किन्हीं दो साधनों का उल्लेख कीजिए। (उ.प्र., 2010)

उत्तर—(1) रेडियो, सिनेमा और टेलीविजन, (2) प्रेस या समाचार-पत्र।

प्रश्न 2. श्रेष्ठ या स्वस्थ लोकमत निर्माण की दो आवश्यक शर्तें बताइए।

उत्तर—(1) जनता का शिक्षित होना, (2) स्वस्थ राजनीतिक दल।

प्रश्न 3. प्रजातन्त्र में जनमत के महत्व को एक वाक्य में लिखिए।

उत्तर—जनमत प्रजातन्त्र की आधारशिला है, क्योंकि जनमत के द्वारा सरकार को जनता की भावनाओं तथा आवश्यकताओं का ज्ञान होता है।

बहुविकल्पीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों में चार विकल्प दिए गए हैं। उनमें से एक सही विकल्प छांटकर लिखिए :

1. "सभी सरकारें चाहे वे कितनी ही दूषित हों, अपनी शक्ति के लिए लोकमत पर निर्भर करती हैं।" यह कथन किसका है :
   (अ) हूम का (ब) डॉ. आशीर्वादम् का
   (स) लावेल का (द) गिन्सवर्ग का
2. "लोकमत मनुष्यों के उन विभिन्न दृष्टिकोणों का योग-मात्र है जो वे सार्वजनिक हित से सम्बद्ध विषयों के बारे में रखते हैं।" यह परिभाषा किसकी है :
   (अ) विलोबी की (ब) ब्राइस की
   (स) लावेल की (द) गिन्सवर्ग की
3. लोकमत की प्रमुख विशेषता है :
   (अ) जन-साधारण का मत (ब) विवेक पर आधारित स्थायी विचार
   (स) लोककल्याण की भावना से प्रेरित (द) इनमें से सभी
4. लोकमत के निर्माण का साधन है :
   (अ) मानव तत्व (ब) समाचार-पत्र और प्रेस
   (स) रेडियो, सिनेमा और टेलीविजन (द) इनमें से सभी
5. स्वस्थ लोकमत के निर्माण में प्रमुख बाधा है :
   (अ) निर्धनता और भीषण आर्थिक असमानताएं (ब) निरक्षरता और दूषित शिक्षा प्रणाली
   (स) पक्षपातपूर्ण समाचार-पत्र (द) इनमें से सभी
6. स्वस्थ लोकमत के लिए आवश्यक है :
   (अ) सुशिक्षित और समझदार जनता (ब) आर्थिक समानता
   (स) स्वतन्त्र प्रेस (द) इनमें से सभी
7. "जागरूक और सचेत लोकमत स्वस्थ प्राजतन्त्र की प्रथम आवश्यकता है।" यह कथन किसका है :
   (अ) हूम का (ब) डॉ. आशीर्वादम् का
   (स) विलोबी का (द) गिन्सवर्ग का
8. "मैं चाहे आपके विचारों से सहमत न होऊं, लेकिन आपके विचार-स्वातन्त्र्य के अधिकार की रक्षा के लिए मैं अपने प्राण दे दूंगा।" यह कथन किसका है :
   (अ) वाल्टेयर का (ब) हूम का
   (स) विलोबी का (द) विल्की का
9. लोकमत :
   (अ) सबका मत है (ब) बहुमत है
   (स) लोककल्याण की भावना से प्रेरित मत है (द) सर्वसम्मति है

[उत्तर—1. (अ), 2. (ब), 3. (द), 4. (द), 5. (द), 6. (द), 7. (ब), 8. (अ), 9. (स)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

17

राजनीतिक दल

[POLITICAL PARTIES]

"दल प्रणाली चाहे पूर्ण रूप से भले के लिए हो या बुरे के लिए, प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था के लिए अपरिहार्य है।"
—वर्क

राजनीतिक दल : अर्थ और परिभाषा

मानव एक विवेकशील प्राणी है और इस विवेकशीलता के कारण भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न प्रकार से विचार किया जाता है। विचारों की इस भिन्नता के साथ ही साथ अनेक व्यक्तियों में विचारों की समानता भी पायी जाती है। राजनीतिक और आर्थिक प्रश्नों पर समान विचारधारा रखने वाले ये व्यक्ति शासन शक्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से जिन संगठनों का निर्माण करते हैं, उन्हें राजनीतिक दल कहा जाता है। विभिन्न विद्वानों द्वारा राजनीतिक दल की अलग-अलग प्रकार से परिभाषाएं की गयी हैं :

एडमण्ड वर्क के अनुसार, "राजनीतिक दल ऐसे लोगों का एक समूह होता है जो किसी ऐसे सिद्धान्त के आधार पर जिस पर वे एकमत हों, अपने सामूहिक प्रयत्न द्वारा जनता के हित में काम करने के लिए एकता में बंधे होते हैं।"

गैटिल के मतानुसार, "एक राजनीतिक दल न्यूनाधिक संगठित उन नागरिकों का समूह होता है जो राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं और जिनका उद्देश्य मतदान की शक्ति के आधार पर सरकार पर नियन्त्रण करना तथा अपनी सामान्य नीतियों को कार्यान्वित करना होता है।"

राजनीतिक दल की इसी प्रकार की परिभाषा मैकाइवर और गिलक्राइस्ट के द्वारा दी गयी है।

राजनीतिक दल के आवश्यक तत्व

एडमण्ड वर्क, गैटिल और अन्य विद्वानों द्वारा राजनीतिक दल की जो परिभाषाएं दी गयीं हैं उनके आधार पर इन दलों के निम्नलिखित आवश्यक तत्व बताये जा सकते हैं :

(1) संगठन—आधारभूत समस्याओं के सम्बन्ध में एक ही प्रकार का विचार रखने वाले व्यक्ति जब तक भली प्रकार से संगठित नहीं होते, उस समय तक उन्हें राजनीतिक दल नहीं कहा जा सकता। राजनीतिक दलों की शक्ति संगठन पर ही निर्भर होती है, अतः राजनीतिक दलों का यह प्रथम आवश्यक तत्व है कि वे भली प्रकार संगठित होने चाहिए।

(2) सामान्य सिद्धान्तों की एकता—राजनीतिक दल उसी समय संगठित रूप में कार्य कर सकते हैं, जबकि राजनीतिक दल के सभी सदस्य सामान्य सिद्धान्तों के विषय में एक ही प्रकार की धारणा रखते हों। विस्तार की बातों के सम्बन्ध में उनमें किसी प्रकार के मतभेद हो सकते हैं, किन्तु आधारभूत बातों के सम्बन्ध में विचारों की एकता होना आवश्यक है। इन आधारभूत बातों पर एकता के अभाव में राजनीतिक दलों में आन्तरिक गुटबन्दी बढ़ जाती है तथा राजनीतिक दल का एक संगठित इकाई के रूप में कार्य करना कठिन हो जाता है।

राजनीतिक दल के आवश्यक तत्व
(1) संगठन
(2) सामान्य सिद्धान्तों की एकता
(3) संवैधानिक साधनों में विश्वास
(4) शासन पर प्रभुत्व की इच्छा
(5) राष्ट्रीय हित

(3) संवैधानिक साधनों में विश्वास—राजनीतिक दल शासन शक्ति प्राप्त करने के लिए संगठित होते हैं, किन्तु शासन शक्ति

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्त करने के लिए उनके द्वारा संवैधानिक उपायों का ही आश्रय लिया जाना चाहिए। मतदान और मतदान के निर्णय में उनका विश्वास होना चाहिए। गुप्त उपाय या सशस्त्र क्रान्ति में विश्वास करने वाले संगठन विशुद्ध राजनीतिक दल नहीं कहे जा सकते।

(4) शासन पर प्रभुत्व की इच्छा—राजनीतिक दल का एक तत्व यह होता है कि उसका उद्देश्य शासन पर प्रभुत्व स्थापित कर अपने विचारों और नीतियों को कार्यरूप में परिणत करना होता है। यदि कोई संगठन शासन के बाहर रहकर कार्य करना चाहता है तो उसे राजनीतिक दल नहीं कहा जा सकता।

(5) राष्ट्रीय हित—राजनीतिक दल के लिए यह आवश्यक है कि उसके द्वारा किसी विशेष जाति, धर्म या वर्ग के हित को दृष्टि में रखकर नहीं, वरन् सम्पूर्ण राज्य के हित को दृष्टि में रखकर कार्य किया जाना चाहिए। बर्क ने राजनीतिक दल की परिभाषा करते हुए उन्हें **'राष्ट्रीय हित की वृद्धि के लिए संगठित राजनीतिक समुदाय'** ही कहा है। यह उल्लेखनीय है कि क्षेत्रीय दल भले ही क्षेत्रीय हितों की बात करें लेकिन राष्ट्रीय दलों के लिए यह आवश्यक है कि सम्पूर्ण राष्ट्र से जनसमर्थन प्राप्त करने के लिए राष्ट्र के सभी वर्गों के सामान्य हितों को अपनी नीतियों व कार्यक्रमों में स्थान दें।

उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर राजनीतिक दल की परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि **"राजनीतिक दल आधारभूत समस्याओं के सम्बन्ध में विचारों की एकता पर आधारित ऐसे संगठित समुदाय होते हैं जिनके द्वारा अपने विचारों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए केवल संवैधानिक उपायों को अपनाकर शासन शक्ति पर प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है और जिनका उद्देश्य राष्ट्रीय हित में वृद्धि होता है।"**

प्रजातन्त्र में राजनीतिक दलों का महत्व

प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था के प्रमुख रूप से दो प्रकार होते हैं : (1) प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र, (2) अप्रत्यक्ष या प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र। वर्तमान समय में राज्यों की विशाल जनसंख्या और क्षेत्र के कारण विश्व के लगभग सभी राज्यों में प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्रीय शासन ही प्रचलित है। इस शासन-व्यवस्था में जनता अपने प्रतिनिधियों को चुनती है और प्रतिनिधियों द्वारा शासन किया जाता है। इस शासन-व्यवस्था की समस्त प्रक्रिया राजनीतिक दलों के आधार पर ही सम्पन्न होती है। प्रजातन्त्र में राजनीतिक दलों के महत्व को निम्न रूपों में स्पष्ट किया जा सकता है :

(1) स्वस्थ लोकमत के निर्माण के लिए आवश्यक—प्रजातन्त्र शासन लोकमत पर आधारित होता है और स्वस्थ लोकमत के अभाव में सच्चे प्रजातन्त्र की कल्पना असम्भव है। इस लोकमत के निर्माण तथा उसकी अभिव्यक्ति राजनीतिक दलों के आधार पर ही सम्भव है। इस सम्बन्ध में राजनीतिक दल जलसे एवं अधिवेशन आयोजित करते हैं तथा एजेण्ट, व्याख्यानदाताओं और प्रचारकों के माध्यम से जनता को शिक्षित करने का प्रयास करते हैं। राजनीतिक दल स्थानीय एवं राष्ट्रीय समाचार-पत्रों एवं प्रचार के आधार पर अपनी नीति जनता के सम्मुख रखते हैं।

(2) चुनावों के संचालन के लिए आवश्यक—जब मताधिकार बहुत अधिक सीमित था और निर्वाचकों की संख्या कम थी, तब स्वतन्त्र रूप से चुनाव लड़े जा सकते थे, लेकिन अब सभी देशों में वयस्क मताधिकार को अपना लिये जाने के कारण स्वतन्त्र रूप से चुनाव लड़ना असम्भव हो गया है। ऐसी स्थिति में राजनीतिक दल अपने दल की ओर से उम्मीदवारों को खड़ा करते और उनके पक्ष में प्रचार करते हैं। यदि राजनीतिक दल न हों तो आज के विशाल लोकतन्त्रात्मक राज्यों में चुनावों का संचालन लगभग असम्भव ही हो जाय।

प्रजातन्त्र में राजनीतिक दलों का महत्व
1. स्वस्थ लोकमत के निर्माण के लिए आवश्यक
2. चुनावों के संचालन के लिए आवश्यक
3. सभी वर्गों के प्रतिनिधित्व के लिए आवश्यक
4. सरकार के निर्माण तथा संचालन के लिए आवश्यक
5. शासन सत्ता को मर्यादित रखना

(3) सभी वर्गों के प्रतिनिधित्व के लिए आवश्यक—प्रजातन्त्र के लिए यह आवश्यक है कि देश के शासन में जनता के सभी वर्गों को प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए और इस बात को राजनीतिक दलों के द्वारा ही सम्भव बनाया जाता है। देश के विभिन्न वर्ग अलग-अलग राजनीतिक दलों के रूप में संगठित होकर अपनी विचारधारा का प्रचार और प्रसार करते हैं तथा उनके द्वारा व्यवस्थापिका में प्रतिनिधित्व प्राप्त किया जाता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(4) सरकार के निर्माण तथा संचालन के लिए आवश्यक—निर्वाचन के बाद राजनीतिक दलों के आधार पर ही सरकार का निर्माण कर सकना सम्भव होता है और यह बात संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक दोनों ही प्रकार की शासन-व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में नितान्त सत्य है। राजनीतिक दलों के अभाव में व्यवस्थापिका के सदस्य 'अपनी-अपनी डफली, अपना-अपना राग' की प्रवृत्ति को अपना लेंगे और सरकार का निर्माण असम्भव हो जायेगा। न केवल सरकार का निर्माण, वरन् व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में सम्बन्ध स्थापित कर राजनीतिक दल सरकार के संचालन को भी सम्भव बनाते हैं।

(5) शासन सत्ता को मर्यादित रखना—प्रजातन्त्र आवश्यक रूप से सीमित शासन होता है, लेकिन यदि प्रभावशाली विरोधी दल का अस्तित्व न हो तो प्रजातन्त्र असीमित शासन में बदल जाता है। यदि बहुसंख्यक राजनीतिक दल शासन सत्ता के संचालन का कार्य करता है तो अल्पसंख्यक दल विरोधी दल के रूप में कार्य करते हुए शासन शक्ति को सीमित रखने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। इस दृष्टि से प्रजातन्त्र में न केवल बहुसंख्यक दल, वरन् अल्पसंख्यक दल का भी अपना और बहुसंख्यक दल के समान ही महत्व होता है।

राजनीतिक दलों के महत्व के सम्बन्ध में मैकाइवर ने ठीक ही कहा है कि "बिना दलीय संगठन के किसी सिद्धान्त का एक होकर प्रकाशन नहीं हो सकता, किसी भी नीति का क्रमबद्ध विकास नहीं हो सकता, संसदीय चुनावों की वैधानिक व्यवस्था नहीं हो सकती और न ऐसी मान्य संस्थाओं की ही व्यवस्था हो सकती है, जिनके द्वारा कोई भी दल शक्ति प्राप्त करता है।"

साधारणतया एक देश के विधान या कानून में राजनीतिक दलों का उल्लेख नहीं होता है, किन्तु व्यवहार में इन राजनीतिक दलों का अस्तित्व भी उतना ही आवश्यक और उपयोगी होता है जितना कि विधान या कानून। अमरीकी संविधान-निर्माता किसी भी रूप में अपने देश में राजनीतिक दलों को पनपने नहीं देना चाहते थे, लेकिन संविधान को कार्यरूप प्राप्त होते ही दलीय संगठन अमरीकी राजनीतिक जीवन की एक प्रमुख विशेषता बन गये और वर्तमान समय में राजनीतिक दलों की कार्य-व्यवस्था का अध्ययन किये बिना अमरीकी शासन-व्यवस्था के यथार्थ रूप का ज्ञान प्राप्त करना नितान्त असम्भव ही है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आधुनिक राजनीतिक जीवन के लिए दलीय संगठनों का बड़ा महत्व है और इनके बिना लोकतन्त्र की सफलता सम्भव ही नहीं है। बर्क के शब्दों में, "दल प्रणाली चाहे वह पूर्ण रूप से भले के लिए हो या बुरे के लिए, प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था के लिए अनिवार्य है।" इसी प्रकार लॉर्ड ब्राइस लिखते हैं कि "राजनीतिक दल अनिवार्य है। कोई स्वतन्त्र देश उसके बिना नहीं रह सका है। कोई भी यह नहीं बता सका है कि प्रतिनिधि सरकार किस प्रकार उनके बिना चलायी जा सकती है।"

लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों के कार्य

(लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों की भूमिका)

राजनीतिक दल लोकतन्त्रात्मक शासन की जीवन-शक्ति है और आधुनिक लोकतन्त्रात्मक राज्यों में राजनीतिक दलों के द्वारा साधारणतया निम्नलिखित कार्य किये जाते हैं :

(1) सुदृढ़ संगठन स्थापित करना—"संगठन में ही शक्ति निहित होती है" और कोई भी राजनीतिक दल सुदृढ़ संगठन के बिना अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः प्रत्येक राजनीतिक दल का प्रथम कार्य अपना संगठन स्थापित करना और उसे अधिकाधिक सुदृढ़ करना होता है। इस दृष्टि से राजनीतिक दल केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय स्तर पर संगठन स्थापित करते और इन सभी इकाइयों को एक-सूत्र में पिरोते हैं।

(2) दलीय नीति निर्धारित करना—प्रत्येक राजनीतिक दल की अपनी एक नीति और एक विचारधारा होना आवश्यक है। अतः राजनीतिक दल बाहरी क्षेत्र में वैदेशिक सम्बन्धों और आन्तरिक क्षेत्र में अर्थव्यवस्था, खाद्य, यातायात, शिक्षा, रोजगार और अन्य प्रमुख बातों के सम्बन्ध में अपनी नीति निर्धारित करता है। इसके साथ ही राजनीतिक दल यह भी स्पष्ट करता है कि विभिन्न विषयों के सम्बन्ध में उसकी नीति ही क्यों सबसे अधिक उचित है।

(3) दलीय नीति का प्रचार और प्रसार कर अपनी शक्ति बढ़ाना—राजनीतिक दल का लक्ष्य मत पेटी के तरीके से सत्ता प्राप्त करना होता है और इसके लिए उनके द्वारा अपनी दलीय नीति का अधिक-से-अधिक प्रचार और प्रसार किया जाता है। राजनीतिक दल इस बात की कोशिश करता है कि उसके दल के सदस्यों

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की संख्या में अधिक-से-अधिक वृद्धि हो। इसके अलावा प्रत्येक राजनीतिक दल अपने लिए ऐसे व्यक्तियों की सहानुभूति और समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न करता है जो किसी भी दल के साथ अनिवार्य रूप से बंधे हुए नहीं हों, राजनीतिक दलों के द्वारा इसके लिए प्रेस, प्लेटफार्म, साहित्य के प्रकाशन और अन्य साधनों को अपनाया जाता है।

लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों के कार्य

(1) सुदृढ़ संगठन स्थापित करना
(2) दलीय नीति निर्धारित करना
(3) दलीय नीति का प्रचार और प्रसार कर अपनी शक्ति बढ़ाना
(4) लोकमत का निर्माण
(5) उम्मीदवारों का चयन व उन्हें विजयी बनाना
(6) धन एकत्रित करना
(7) सरकार का निर्माण
(8) शासन सत्ता को सीमित रखना
(9) सरकार के विभिन्न विभागों में समन्वय और सामंजस्य
(10) जनता और शासन के बीच सम्बन्ध
(11) सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास के कार्य

(4) लोकमत का निर्माण—वर्तमान समय की जटिल सार्वजनिक समस्याओं को राजनीतिक दल जनता के सामने ऐसे रूप में प्रस्तुत करते हैं कि साधारण जनता उन्हें समझ सके। जब विविध राजनीतिक दल समस्याओं के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हैं, तो साधारण जनता इन समस्याओं को भली प्रकार समझकर निर्णय कर सकती है और स्वस्थ लोकमत का निर्माण सम्भव होता है। ब्राइस के शब्दों में, "लोकमत को प्रशिक्षित करने उसके निर्माण और अभिव्यक्ति में राजनीतिक दलों के द्वारा अत्यधिक महत्वपूर्ण कार्य किया जाता है।"

(5) उम्मीदवारों का चयन व उन्हें विजयी बनाना—प्रत्येक राजनीतिक दल सार्वजनिक पदों के लिए अपने उम्मीदवारों का चयन करता है और अपने उम्मीदवारों की विजय के लिए प्रत्येक सम्भव चेष्टा करता है। राजनीतिक दलों के माध्यम से ही लोकतन्त्र में निर्धन, किन्तु योग्य व्यक्तियों को देश की सेवा करने का अवसर प्राप्त होता है।

(6) धन एकत्रित करना—अपनी विचारधारा तथा नीति के प्रचार और प्रसार एवं चुनावों में विजय प्राप्त करने के लिए आर्थिक साधनों की आवश्यकता होती है, अतः प्रत्येक राजनीतिक दल धनराशि एकत्रित करता है। व्यवहार के अन्तर्गत अनेक बार यह देखा गया है कि राजनीतिक दल अधिकाधिक धनराशि एकत्रित करने के लिए अनुचित उपायों को अपना लेते हैं और उनके द्वारा धनी-मानी व्यक्तियों से सांठ-गांठ कर ली जाती है। इसे लोकतन्त्र के हित में नहीं कहा जा सकता। अतः राजनीतिक दलों के द्वारा उचित और खुले उपायों से ही धन प्राप्त किया जाना चाहिए।

(7) सरकार का निर्माण—निर्वाचन के बाद राजनीतिक दलों के द्वारा ही सरकार का निर्माण किया जाता है। अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था में राष्ट्रपति अपने विचारों से सहमत व्यक्तियों की मन्त्रिपरिषद् का निर्माण कर शासन का संचालन करता है। संसदात्मक शासन में जिस राजनीतिक दल को व्यवस्थापिका में बहुमत प्राप्त हो, उसके नेता द्वारा मन्त्रिपरिषद् का निर्माण करते हुए शासन का संचालन किया जाता है। राजनीतिक दलों के अभाव में तो व्यवस्थापिका के सदस्यों द्वारा 'अपनी-अपनी डफली, अपना-अपना राग' का स्वरूप अपनाया जा सकता है, जिसके कारण सरकार का निर्माण और संचालन सम्भव ही नहीं होगा।

(8) शासन सत्ता को सीमित रखना—लोकतन्त्र में बहुमत वाले राजनीतिक दल के साथ-ही-साथ अल्पमत वाले या विरोधी राजनीतिक दलों का कार्य भी बहुत अधिक महत्वपूर्ण होता है। यदि बहुमत दल शासन सत्ता के संचालन का कार्य करता है तो अल्पमत दल विरोधी दल के रूप में कार्य करते हुए शासन शक्ति को सीमित रखने की कोशिश करते हैं। संगठित विरोधी दल के अभाव में शासक दल तानाशाही रुख अपना सकता है।

(9) सरकार के विभिन्न विभागों में समन्वय और सामंजस्य—सरकार के द्वारा उसी समय ठीक प्रकार से कार्य किया जा सकता है, जबकि शासन के विविध अंग परस्पर सहयोग करें और यह सहयोग राजनीतिक दलों द्वारा ही सम्भव होता है। संसदीय शासन हो या अध्यक्षात्मक शासन, राजनीतिक दल ही इस कार्य को सम्पन्न करते हैं। सत्ताधारी दल के सदस्य ही शासन के विभिन्न विभागों में मुखिया (मन्त्री) होते हैं तथा दलीय अनुशासन व समन्वय के कारण शासन के विभागों में समन्वय बना रहता है। राजनीतिक दलों की सहायता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के बिना शासन का भली प्रकार संचालन सम्भव हो ही नहीं सकता। अमरीका में दलीय व्यवस्था ने ही व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के बीच सहयोग स्थापित कर संविधान की कमी को दूर कर दिया है।

(10) जनता और शासन के बीच सम्बन्ध—लोकतन्त्र का आधारभूत सिद्धान्त जनता और शासन के बीच सम्पर्क बनाये रखना है और इस प्रकार का सम्पर्क स्थापित करने का सबसे बड़ा साधन राजनीतिक दल ही है। प्रजातन्त्र में जिस दल के हाथ में शासन शक्ति होती है, उसके सदस्य जनता के मध्य सरकारी नीति का प्रचार कर जनमत को पक्ष में रखने का प्रयत्न करते हैं। विरोधी दल शासन के दोषों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करते हैं। इसके अलावा ये सभी दल जनता की कठिनाइयों एवं शिकायतों को शासन के विविध अधिकारियों तक पहुंचाकर उन्हें दूर करने का प्रयत्न करते हैं। लावेल ने ठीक ही कहा है कि "राजनीतिक दल 'विचारों के दलाल' (Broker of ideas) के रूप में कार्य करते हैं।"

(11) सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास के कार्य—राजनीतिक दल अनेक बार सामाजिक सुधार एवं सांस्कृतिक विकास के भी अनेक कार्य करते हैं; जैसे स्वतन्त्रता के पूर्व गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस ने भारत में हरिजनों की स्थिति को ऊंचा उठाने और मद्यपान का अन्त करने का प्रयत्न किया। विभिन्न राजनीतिक दल पुस्तकालय, वाचनालय एवं अध्ययन केन्द्र स्थापित करके बौद्धिक एवं सांस्कृतिक विकास में भी योग देते हैं। विकसित देशों में राजनीतिक दल सामाजिक एंवं सांस्कृतिक विकास के कार्यों पर बहुत अधिक ध्यान देते हैं। हां यह अवश्य है कि राजनीतिक दलों द्वारा सामाजिक व सांस्कृतिक विकास के कार्यों का सम्पादन अपने जनसमर्थन के लक्ष्य को ध्यान में रखकर करते हैं।

इस प्रकार राजनीतिक दलों के द्वारा शासन-व्यवस्था से सम्बन्धित सभी प्रकार के कार्य किये जाते हैं। वास्तव में, **राजनीतिक दल प्रजातान्त्रिक शासन की धुरी के रूप में कार्य करते हैं और प्रजातान्त्रिक शासन के संचालन के लिए राजनीतिक दलों का अस्तित्व नितान्त अनिवार्य है।** प्रजातन्त्र में राजनीतिक दलों के महत्व और उनके कार्य को स्पष्ट करते हुए हूबर (Huber) के शब्दों में कहा जा सकता है कि "प्रजातन्त्रीय यन्त्र के चालन में राजनीतिक दल तेल के तुल्य हैं।"

राजनीतिक दलों के गुण
(MERITS OF POLITICAL PARTIES)

राजनीतिक दलों की उपयोगिता के सम्बन्ध में विचारकों में पर्याप्त मतभेद है। यदि एक ओर दलीय व्यवस्था के समर्थकों द्वारा इन्हें मानवीय स्वभाव पर आधारित स्वाभाविक वस्तु और जनतन्त्र का मूल आधार कहा जाता है तो दूसरी ओर अलैक्जेण्डर पोप जैसे व्यक्तियों द्वारा दल प्रणाली को 'कुछ व्यक्तियों के लाभ के लिए अनेकों का पागलपन'[1] कहा गया है। दलीय व्यवस्था के प्रमुख गुण निम्नलिखित कहे जा सकते हैं :

(1) सार्वजनिक शिक्षा का साधन—राजनीतिक दल जनता को सार्वजनिक शिक्षा प्रदान करने के अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन हैं। राजनीतिक दलों का उद्देश्य अपनी लोकप्रियता बढ़ाकर शासन शक्ति पर अधिकार करना होता है और इसलिए वे प्रेस, मंच, रेडियो, आदि साधनों के माध्यम से अपनी विचारधारा का अधिक-से-अधिक प्रचार करते हैं। इस प्रकार के प्रचार और वाद-विवाद के परिणामस्वरूप जनता को सार्वजनिक समस्याओं का ज्ञान प्राप्त होता है और उनमें सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति रुचि जाग्रत होती है।

(2) लोकतन्त्र के लिए आवश्यक—वर्तमान समय में विश्व के अधिकांश देशों में प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्रीय शासन-व्यवस्था प्रचलित है जिसमें जनता अपने प्रतिनिधियों को चुनती है और इन प्रतिनिधियों द्वारा शासन कार्य किया जाता है। इस प्रकार प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था के संचालन के लिए राजनीतिक दलों का अस्तित्व नितान्त अनिवार्य है। लीकॉक ने कहा है कि "दलबन्दी ही एकमात्र ऐसी चीज है जो लोकतन्त्र को सम्भव बनाती है।"[2]

(3) शासन के विभिन्न विभागों में समन्वय स्थापित करना—अध्यक्षात्मक शासन में राजनीतिक दल कार्यपालिका और विधानमण्डल के बीच मेल बनाये रखते हैं। इन दलों के अभाव में अध्यक्षात्मक शासन ठीक प्रकार से कार्य नहीं कर सकता। इस व्यवस्था वाले देशों में राजनीतिक दल व्यवस्थापिका और कार्यपालिका दोनों पर प्रभाव रखते हैं और इनके बीच उत्पन्न होने वाले विरोध को दूर करते हैं।

—*Alexander Pope*

1 "It is a madness of the many for the gain of the few." —*Leacock*

2 "Party system is the only thing that makes democracy feasible."

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीतिक दलों के गुण
(1) सार्वजनिक शिक्षा का साधन
(2) लोकतन्त्र के लिए आवश्यक
(3) शासन के विभिन्न विभागों में समन्वय स्थापित करना
(4) श्रेष्ठ कानूनों का निर्माण
(5) स्थायी और सबल सरकार की स्थापना
(6) शासन की निरंकुशता पर नियन्त्रण
(7) विभिन्न मतों का संगठन
(8) निर्धन व्यक्तियों का चुनाव में खड़ा होना सम्भव
(9) राष्ट्रीय एकता का साधन
(10) सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास

(4) श्रेष्ठ कानूनों का निर्माण—श्रेष्ठ कानूनों का निर्माण तभी सम्भव है; जबकि कानूनों के गुण व दोषों पर उचित रीति से विचार हो। व्यवस्थापिका में मौजूद विरोधी दल के सदस्य शासक दल द्वारा प्रस्तुत सभी विधेयकों की बाल की खाल उधेड़ने के लिए तैयार रहते हैं। इस प्रकार के वाद-विवाद से विधेयकों के सभी दोष सामने आ जाते हैं और श्रेष्ठ कानूनों का निर्माण सम्भव होता है।

(5) स्थायी और सबल सरकार की स्थापना—दल प्रणाली इस सत्य को व्यक्त करती है कि "संगठन में ही शक्ति निहित होती है।" और राजनीतिक दल शासन को वह शक्ति प्रदान करते हैं जिससे शासन-व्यवस्था सुगमता और दृढ़तापूर्वक चल सके। यदि जनता का प्रत्येक प्रतिनिधि व्यक्तिगत रूप में कार्य करे तो न तो सरकार स्थायी हो सकती है और न ही सरकार में उत्तरदायित्व निश्चित किया जा सकता है। दल के सदस्यों में शासन सम्बन्धी नीति के विषय में एकता होती है, अतः सरकार में दृढ़ता और स्थायित्व रहता है।

(6) शासन की निरंकुशता पर नियन्त्रण—प्रजातन्त्रीय शासन-व्यवस्था में बहुसंख्यक दल द्वारा शासन कार्य और अल्पमत दल द्वारा विरोधी दल के रूप में कार्य किया जाता है। विरोधी दल शासक दल की मनमानी पर रोक लगाते हुए उसे निरंकुश बनने से रोकता है। लास्की ने ठीक ही कहा है कि "राजनीतिक दल तानाशाही से हमारी रक्षा का सबसे अच्छा साधन हैं।"[1]

(7) विभिन्न मतों का संगठन—विवेकशीलता के कारण मनुष्यों में मतभेदों का होना नितान्त स्वाभाविक है और इसके साथ ही आधारभूत समस्याओं के सम्बन्ध में अनेक व्यक्तियों के एक ही प्रकार के विचार भी होते हैं। राजनीतिक दलों द्वारा इस प्रकार की आधारभूत एकता रखने वाले व्यक्तियों को संगठित रखने का उपयोगी कार्य किया जाता है, ताकि वे अनुशासित रूप में उपयोगी कार्य कर सकें।

(8) निर्धन व्यक्तियों का चुनाव में खड़ा होना सम्भव—राजनीतिक दलों का एक लाभ यह भी है कि जो योग्य किन्तु निर्धन व्यक्ति हैं, वे चुनाव लड़ने के लिए सक्षम हो जाते हैं क्योंकि उन्हें अपने दल से चुनाव लड़ने के लिए पर्याप्त धनराशि व कार्यकर्ताओं, आदि के रूप में साधन प्राप्त हो जाते हैं। इस कारण सार्वजनिक जीवन में रुचि रखने वाले योग्य व्यक्ति धनाभाव के कारण देश की सेवा से वंचित नहीं रहते। भारत में भी अनेक ऐसे उदाहरण हैं कि साधारण परिवार के व्यक्ति अपनी कर्मठता, जनसेवा व संगठन क्षमता के आधार पर राजनीतिक दलों के माध्यम से राजनीति के शीर्ष स्थान तक पहुंचे हैं।

(9) राष्ट्रीय एकता का साधन—राजनीतिक दलों का उद्देश्य राष्ट्रीय हित में कार्य करना होता है। दल प्रणाली व्यक्ति को जाति, धर्म, भाषा और समुदाय के संकीर्ण भेदों से ऊपर उठाकर देश और राष्ट्र के कल्याण के सम्बन्ध में विचार करने के लिए प्रेरित करती है। दलों द्वारा उत्पन्न किये गये इस व्यापक दृष्टिकोण से राष्ट्रीय एकता के बन्धन दृढ़तर हो जाते हैं।

(10) सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास—राजनीतिक दल अनेक बार सामाजिक सुधार और सांस्कृतिक विकास के कार्य करते हैं; जैसे स्वतन्त्रता के पूर्व गांधीजी के नेतृत्व में भारत में राष्ट्रीय कांग्रेस ने हरिजनों की स्थिति को ऊंचा उठाने और मद्यपान का अन्त करने का प्रयत्न किया। विभिन्न राजनीतिक दल पुस्तकालय, वाचनालय एवं अध्ययन केन्द्र स्थापित करके बौद्धिक एवं सांस्कृतिक विकास में भी योग देते हैं।

इस प्रकार राजनीतिक दलों के द्वारा विविध प्रकार के लाभकारी कार्य किये जाते हैं। लॉर्ड ब्राइस का मत है कि "दल राष्ट्र के मस्तिष्क को उसी प्रकार क्रियाशील रखते हैं जैसे कि लहरों की हलचल से समुद्र की खाड़ी का जल स्वच्छ रहता है।"

1 "The parties are our best defence against the growth of Caesarism in the country." —Laski

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दल पद्धति के दोष
(DEMERITS OF POLITICAL PARTIES)

यद्यपि प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था में राजनीतिक दलों के द्वारा अनेक प्रकार के उपयोगी कार्य किये जाते हैं, किन्तु वर्तमान समय के लोकतन्त्रीय राज्य में राजनीतिक दल जिस ढंग से कार्य कर रहे हैं उसे दोषहीन नहीं कहा जा सकता है। संक्षेप में, राजनीतिक दलों के निम्नलिखित दोष कहे जा सकते हैं :

दल पद्धति के दोष
1. लोकतन्त्र के विकास में बाधक
2. राष्ट्रीय हितों की हानि
3. शासन कार्य में सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों की उपेक्षा
4. भ्रमात्मक राजनीतिक शिक्षा प्रदान करना
5. नैतिक स्तर में गिरावट
6. जनता में मतभेदों को प्रोत्साहन
7. राजनीति में भ्रष्टाचार
8. समय और धन का अपव्यय

(1) लोकतन्त्र के विकास में बाधक—लोकतन्त्र व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर आधारित होता है, लेकिन राजनीतिक दल इस वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अन्त कर लोकतन्त्र के विकास में बाधक बन जाते हैं। राजनीतिक दल के सदस्य को सार्वजनिक क्षेत्र में अपने व्यक्तिगत विचार को त्यागकर दल की बात का समर्थन करना होता है। इस प्रकार व्यक्ति दलीय यन्त्र के चक्र का एक ऐसा भाग बनकर रह जाता है जो पहिये के साथ ही चल सकता है, स्वयं नहीं। लीकॉक (Leacock) ने कहा है कि "राजनीतिक दल उस व्यक्तिगत विचार एवं कार्य सम्बन्धी स्वतन्त्रता का अन्त कर देते हैं, जिसे लोकतन्त्रात्मक सरकार का आधारभूत सिद्धान्त समझा जाता है।"

(2) राष्ट्रीय हितों की हानि—राजनीतिक दल को राष्ट्रीय हित की वृद्धि के लिए संगठित समुदाय कहा गया है, किन्तु व्यवहार में व्यक्ति अनेक बार अपने राजनीतिक दल के इतने अधिक भक्त हो जाते हैं कि वे जाने-अनजाने में दल के हितों को राज्य के हितों से प्राथमिकता दे देते हैं। जैसा कि मैरियट ने कहा है, "दलभक्ति के आधिक्य से देशभक्ति की आवश्यकताओं पर पर्दा पड़ जाता है। वोट प्राप्त करने के धन्धे पर अत्यधिक ध्यान देने से दलों के नेता अथवा उनके प्रबन्धक देश की उच्चतम आवश्यकताओं को भूल सकते या टाल सकते हैं।"

(3) शासन कार्य में सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों की उपेक्षा—शासन कार्य सर्वोच्च कला है और इस नाते देश के सबसे योग्य व्यक्तियों द्वारा इस प्रकार का कार्य किया जाना चाहिए, किन्तु दलीय व्यवस्था के कारण शासन सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों की सेवा से वंचित रह जाता है। सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति न तो जी-हुजूरी कर सकते हैं और न ही विचार एवं कार्य की स्वतन्त्रता को छोड़ सकते हैं। इसी कारण राजनीतिक दलों की ओर से उन्हें अपना प्रतिनिधि नहीं बनाया जाता है।

(4) भ्रमात्मक राजनीतिक शिक्षा प्रदान करना—राजनीतिक दलों को 'सार्वजनिक शिक्षा का साधन' कहा जाता है, किन्तु व्यवहार में राजनीतिक दल राजनीतिक शिक्षा प्रदान करने के नाम पर असत्य व्याख्यानों और वकवास के द्वारा भोली-भाली जनता को धोखे में डालने की चेष्टा करते हैं। गिलक्राइस्ट के शब्दों में, "राजनीतिक दल वास्तविकता का दमन करने और अवास्तविकता प्रकट करने के अपराधों के दोषी होते हैं।"

(5) नैतिक स्तर में गिरावट—व्यवहार में राजनीतिक दलों का उद्देश्य 'येन-केन प्रकारेण' शासन शक्ति पर अधिकार करना होता है और इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उनके द्वारा नैतिक-अनैतिक सभी प्रकार के उपायों का सहारा लिया जाता है। चुनावों के समय राजनीतिक दलों के द्वारा किये गये विषैले प्रचार, व्यक्तिगत आलोचना और झूठे एवं मिथ्या वायदों से जनता के नैतिक स्तर पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। दलों के इन कार्यों के कारण ही व्यवहार में 'राजनीति' शब्द बुराई का पर्यायवाची बन गया है।

(6) जनता में मतभेदों को प्रोत्साहन—राजनीतिक दल मतभेदों को दूर करने के स्थान पर प्रोत्साहित करते हैं और सार्वजनिक जीवन को कटुतापूर्ण बना देते हैं। व्यवस्थापिका तो विरोधी वर्गों में विभाजित हो ही जाती है, दूसरी ओर देश भी ऐसे विरोधी पक्षों में विभाजित हो जाता है जो एक-दूसरे से ईर्ष्या करते, परस्पर आरोप लगाते और लड़ते हैं। राजनीतिक दल जनता के बीच अनावश्यक गुटबन्दी व तनावों को जन्म देते हैं।

(7) राजनीति में भ्रष्टाचार—दलों के कारण पक्षपात, रिश्वत तथा अन्य ऐसी ही बुराइयों का बाजार गरम हो जाता है। जब एक राजनीतिक दल का उम्मीदवार विजयी हो जाता है तो उस दल के स्थानीय नेता

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजकीय पद, ठेके या इनाम के रूप में अनुचित लाभ पाने की चेष्टा करते हैं। इसके अतिरिक्त, एक राजनीतिक दल चुनाव में जिन व्यक्तियों से धन लेता है, सत्ता प्राप्त हो जाने पर वह उन्हें अनुचित रूप से लाभ पहुंचाने की चेष्टा करता है। इस प्रकार इन दलों के कारण सम्पूर्ण राजनीति एक प्रकार का व्यवसाय बनकर रह जाती है।

इस सम्बन्ध में गैटिल ने लिखा है कि "राजनीति में एक बहुत बड़ा खतरा दलों तथा व्यावसायिक हितों का गठबन्धन होता है जिसके परिणामस्वरूप भ्रष्टाचार फैलता है।"[1]

(8) समय और धन का अपव्यय—दलीय व्यवस्था के कारण व्यवस्थापिका सभाओं में विरोधी दल 'विरोध के लिए विरोध' की प्रवृत्ति अपनाता है और इस प्रवृत्ति के कारण बहुत-सा अमूल्य समय और लाखों रुपये बरबाद हो जाते हैं। इस धनराशि को यदि राष्ट्र निर्माणकारी कार्यों में व्यय किया जाय, तो देश बहुत उन्नति कर सकता है।

क्या दलीय व्यवस्था प्रजातन्त्र के लिए अनिवार्य है?

दलीय व्यवस्था के जो दोष बताये गये हैं उनमें बहुत कुछ सच्चाई है और यह कहा जा सकता है कि जहां दलीय सरकार स्थापित हुई, वहां दलीय संघर्ष और वर्गीय हितों पर आधारित कानून निर्माण होता ही है। इस प्रकार की बुराइयों के कारण अनेक विद्वानों द्वारा 'दलविहीन लोकतन्त्र' (Partyless Democracy) के मार्ग का प्रतिपादन किया गया है, भारत में लोकनायक जयप्रकाश नारायण ने दलीय व्यवस्था के दोषों से मुक्ति हेतु 'दल विहीन प्रजातन्त्र' का विचार दिया था, किन्तु दलविहीन लोकतन्त्र जितना आकर्षक जान पड़ता है उतना व्यावहारिक नहीं है। वस्तुतः प्रतिनिध्यात्मक शासन में सरकार के गठन व जनता की संगठित भागीदारी के लिए राजनीतिक दलों का अस्तित्व अनिवार्य है। राजनीतिक दलों की बुराइयों को दूर करने का एकमात्र व्यावहारिक मार्ग यही है कि जनता के बौद्धिक और नैतिक स्तर को उच्च किया जाय। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक परिस्थिति में दल के प्रति भक्ति से राष्ट्र के प्रति भक्ति को उच्च स्थान दिया जाना चाहिए। राजनीतिक दलों में योग्य और जनभावना से प्रेरित नागरिकों को स्थान दिया जाना चाहिए। राजनीतिक दल प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र के लिए आवश्यक हैं। इन उपायों को अपनाकर उन्हें प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र के लिए अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है।

दलबन्दी के दोषों को दूर करने के उपाय

यद्यपि दलबन्दी की तीव्र आलोचना की गयी है, परन्तु किसी ने भी इस समस्या को हल करने का प्रयत्न नहीं किया है कि बिना दलबन्दी के प्रतिनिधि सरकार को किस प्रकार चलाया जाय। वास्तव में दलबन्दी प्रजातन्त्र के लिए अपरिहार्य है। अतः दलबन्दी के दोषों को दूर करने के उपायों पर विचार किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप से निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं :

(1) राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि रखना—प्रत्येक राजनीतिक दल का यह कर्तव्य हो जाता है कि उसके द्वारा राष्ट्र के प्रति भक्ति को दल के प्रति भक्ति से उच्च स्थान प्रदान किया जाये। दल के द्वारा समस्त समाज और राष्ट्र के प्रति हित को प्रतिपल ध्यान में रखा जाना चाहिए और समस्त समाज तथा राष्ट्रीय हित के लिए दलीय हित का परित्याग कर दिया जाना चाहिए।

(2) दलों का गठन आर्थिक तथा राजनीतिक सिद्धान्तों पर—राजनीतिक दलों का निर्माण जाति, भाषा या क्षेत्र के आधार पर न करके विशुद्ध राजनीतिक तथा आर्थिक सिद्धान्तों के आधार पर किया जाना चाहिए। ऐसा होने पर ही इन दलों के द्वारा राज्य के सभी नागरिकों में एकता उत्पन्न करने व जनमत जाग्रत करने का कार्य किया जा सकता है।

(3) बहुमत दल में उदारता और अल्पमत दल में सहनशीलता—बहुमत दल के द्वारा विरोधी अल्पमत वालों के विचारों का पूरा सम्मान किया जाना चाहिए और अल्पमत विरोधी दलों के द्वारा 'विरोध के लिए विरोध' की प्रवृत्ति को नहीं, वरन् सहनशीलता की प्रवृत्ति को अपनाया जाना चाहिए।

1 "One of the chief dangers in politics is the connection between parties and business resulting in graft, evil." —Gettell

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(4) आर्थिक विषमताओं का अभाव—समाज में आर्थिक विषमता होने पर इस बात की शंका रहती है कि राजनीतिक दल पूंजीपतियों की स्वार्थसिद्धि के साधन बन जायेंगे। अतः राजनीतिक दलों के सफल संचालन के लिए समाज में आर्थिक विषमताओं का अभाव होना चाहिए।

(5) शिक्षा का प्रसार—शिक्षित व्यक्तियों को भले-बुरे का ज्ञान होता है और वे दूसरे के बहकावे में न आकर अपने विवेक तथा निर्णय से काम लेते हैं। अतः राजनीतिक दलों की सफलता के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि जनता में शिक्षा का प्रसार और प्रचार हो।

(6) सही नेतृत्व—राजनीतिक दलों द्वारा प्रजातन्त्र और राष्ट्रीय हित में कार्य किये जा सकें इसके लिए यह आवश्यक है कि उनका नेतृत्व कपटी, चरित्रहीन, दम्भी और महत्वाकांक्षी व्यक्तियों के हाथों में न होकर योग्य, चरित्रवान, निस्पृह, त्यागी तथा समाज सेवा की भावना से प्रेरित व्यक्तियों के हाथों में होना चाहिए।

(7) दलों पर किसी एक व्यक्ति या गुट का प्रभाव नहीं—दलों के उचित रूप से कार्य कर सकने के लिए जरूरी है कि इन दलों पर किसी एक व्यक्ति या गुट का प्रभाव नहीं होना चाहिए। इस दृष्टि से दल के विधान में ऐसी शर्त रखी जा सकती है कि कोई एक व्यक्ति अधिक दिनों तक किसी दलीय पद पर न रह सके। दल में निरन्तर नये रक्त के प्रवेश का पूरा प्रयत्न किया जाना चाहिए।

दलबन्दी के दोषों को दूर करने के उपाय

(1) राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि रखना
(2) दलों का गठन आर्थिक तथा राजनीतिक सिद्धान्तों पर
(3) बहुमत दल में उदारता और अल्पमत दल में सहनशीलता
(4) आर्थिक विषमताओं का अभाव
(5) शिक्षा का प्रसार
(6) सही नेतृत्व
(7) दलों पर किसी एक व्यक्ति या गुट का प्रभाव नहीं
(8) दलों की संख्या सीमित हो
(9) दलों में आन्तरिक प्रजातन्त्र का विकास

(8) दलों की संख्या सीमित हो—राजनीतिक दल प्रजातन्त्र और देश हित में कार्य कर सकें इसके लिए यह जरूरी है कि दलों की संख्या एक से तो अधिक, किन्तु बहुत अधिक नहीं होनी चाहिए। जब व्यवस्थापिका में अनेक दल हो जाते हैं, तो सरकार अस्थायी हो जाती है और व्यवस्थापिका के सदस्य जनहित के कार्यों में अपनी शक्ति लगाने के स्थान पर मन्त्रिमण्डल के निर्माण और पतन में ही अपना सारा समय और शक्ति लगा देते हैं।

(9) दलों में आन्तरिक प्रजातन्त्र का विकास—दलों के आन्तरिक प्रजातन्त्र का तात्पर्य है कि दल के शीर्ष नेताओं व पदाधिकारियों का चयन व निर्वाचन दल के सदस्यों द्वारा किया जाए। इससे समाज सेवा की भावना से प्रेरित सही नेतृत्व का विकास होगा तथा दलों में परिवारवाद, संरक्षणवाद (patronage system) आदि बुराइयां नहीं आएंगी। भारतीय दलों में आन्तरिक प्रजातन्त्र का अभाव है।

उपर्युक्त सुझावों के अपनाये जाने पर राजनीतिक दलों के द्वारा राष्ट्रीय हित और प्रजातन्त्र के श्रेष्ठ संचालन के साधन के रूप में कार्य किया जा सकता है।

दल प्रणाली के रूप

दल प्रणाली के प्रमुखतया तीन रूप प्रचलित हैं—(I) एकदलीय प्रणाली, (II) द्विदलीय प्रणाली, और (III) बहुदलीय प्रणाली।

(I) एकदलीय प्रणाली या एकदलीय राज्य (One-party System)

जिस देश में केवल एक दल हो और शासन शक्ति का प्रयोग करने वाले सभी सदस्य इस एक ही राजनीतिक दल के सदस्य हों, तो वहां की दल प्रणाली को एकदलीय कहा जाता है। साम्यवादी व्यवस्था वाले राज्यों और अन्य भी अनेक राज्यों में एकदलीय व्यवस्था का अस्तित्व रहा है, लेकिन पूर्व सोवियत संघ और अन्य साम्यवादी राज्यों ने अब एकदलीय व्यवस्था का त्याग कर बहुदलीय व्यवस्था को अपना लिया है।

इस एकदलीय प्रणाली को कभी तो संविधान से ही मान्यता प्राप्त होती है, जैसे कि पूर्व सोवियत संघ और अन्य साम्यवादी राज्यों के संविधानों में साम्यवादी दल का उल्लेख करते हुए अन्य दलों के संगठन का निषेध कर दिया गया था। अनेक बार ऐसा होता है कि संविधान के द्वारा तो अन्य राजनीतिक दलों का निषेध नहीं किया जाता, लेकिन शासक दल संविधानेतर (Extra-constitutional) उपायों से अन्य राजनीतिक दलों

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
का दमन कर शासन शक्ति पर एकाधिकार स्थापित कर लेता है। इसके अतिरिक्त, यदि किसी राज्य में एक से अधिक राजनीतिक दल हों, लेकिन राजनीतिक प्रभाव की दृष्टि से अन्य राजनीतिक दलों की स्थिति नगण्य हो अर्थात् वैसी ही हो जैसी स्थिति द्विदलीय प्रणाली वाले राज्यों में दो के अतिरिक्त अन्य राजनीतिक दलों की होती है, तो इसे भी एकदलीय प्रणाली वाला राज्य ही कहा जाएगा।

एकदलीय प्रणाली को सामान्यतया सर्वाधिकारवादी और जनहित विरोधी समझा जाता है, किन्तु सदैव ही ऐसा होना आवश्यक नहीं है और उद्देश्य की दृष्टि से भी एकदलीय प्रणाली के विभिन्न रूप हो सकते हैं। हिटलर और मुसोलिनी की एकदलीय प्रणाली का उद्देश्य सत्ता हस्तगत करना और उस पर अपना अधिकार बनाये रखना ही था, लेकिन टर्की में मुस्तफा कमालपाशा की एकदलीय पद्धति निश्चय ही जन हितैषी थी। वर्तमान समय में मेक्सिको, मैडागास्कर, चीन, उत्तरी कोरिया, क्यूबा आदि राज्यों की एकदलीय व्यवस्था को इसी श्रेणी में रखा जा सकता है। चीन उत्तरी कोरिया व क्यूबा में एक दल के रूप में केवल साम्यवादी दल का अस्तित्व है। वस्तुतः साम्यवादी व्यवस्था वाले देशों में अन्य दलों के गठन की अनुमति नहीं होती। कमालपाशा का टर्की, मेक्सिको या मैडागास्कर अपवाद हो सकते हैं, लेकिन सामान्यतया एक-दलीय व्यवस्था को लोकतन्त्र के अनुकूल नहीं समझा जा सकता है।

(II) द्विदलीय प्रणाली (Two-party System)

जब एक देश की राजनीति में केवल दो ही प्रमुख राजनीतिक दल होते हैं, तो उसे द्विदलीय प्रणाली कहते हैं। द्विदलीय प्रणाली वाले राज्यों में दो से अधिक राजनीतिक दलों के गठन पर कोई वैधानिक प्रतिबन्ध नहीं होता, दो से अधिक राजनीतिक दल हो सकते हैं, लेकिन वे इतने छोटे होते हैं कि राजनीति पर उनका विशेष प्रभाव नहीं होता और उन्हें शासन में भागीदारी प्राप्त नहीं होती। उदाहरणार्थ, इंगलैण्ड में अनुदार दल और श्रमिक दल दो प्रमुख राजनीतिक दल हैं, इनके अतिरिक्त लिबरल डेमोक्रेटिक पार्टी और स्काटलैण्ड तथा वेल्स के राष्ट्रवादी दल भी हैं, लेकिन उनका राजनीति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं है। इसी प्रकार अमरीका में द्विदलीय प्रणाली है और यहां के दो प्रमुख राजनीतिक दल (रिपब्लिकन दल और डेमोक्रेटिक दल) हैं।

द्विदलीय प्रणाली के लाभ

द्विदलीय प्रणाली के समर्थकों में **लास्की, हरमन फाइनर, ब्राइस,** आदि विद्वान प्रमुख हैं। इन विद्वानों द्वारा द्विदलीय प्रणाली के प्रमुख रूप से निम्नलिखित लाभ बताये जाते हैं :

1. वास्तविक प्रतिनिधि सरकार की स्थापना—प्रजातन्त्र का वास्तविक अभिप्राय यह है कि जनता के द्वारा ही सरकर का निर्माण किया जाय। लेकिन बहुदलीय व्यवस्था के अन्तर्गत सरकार का निर्माण जनता द्वारा नहीं वरन् राजनीतिक दलों के पारस्परिक समझौतों द्वारा होता है। केवल द्विदलीय प्रणाली के अन्तर्गत ही सरकार जनता की इच्छाओं का प्रत्यक्ष परिणाम होती है। इसके अन्तर्गत वही दल शासन का संचालन करता है जिसे मतदाताओं का बहुमत प्राप्त हो। स्वाभाविक रूप से यह व्यवस्था प्रजातान्त्रिक धारणा के अनुकूल होती है।

2. सरकार का निर्माण—संसदीय शासन वाले देश में यदि केवल दो ही राजनीतिक दल हों तो मन्त्रिमण्डल का निर्माण सरलता से किया जा सकता है। बहुमत दल को सरकार के निर्माण का कार्य सौंपा जाता है और जब यह दल अविश्वसनीय हो जाता है या आगामी चुनावों में हार जाता है तो शासन की शक्ति उस दल के हाथ में आ जाती है जो पहले विरोधी दल के रूप में कार्य कर रहा था।

3. शासन में स्थायित्व और निरन्तरता—शासन का सबसे अधिक आवश्यक तत्व सुदृढ़ एवं स्थायी शासन होता है और इन गुणों को द्विदलीय प्रणाली के अन्तर्गत ही प्राप्त किया जा सकता है। मन्त्रिमण्डल को व्यवस्थापिका में एक शक्तिशाली दल का समर्थन प्राप्त होता है और इस समर्थन के आधार पर मन्त्रिमण्डल दृढ़तापूर्वक शासन कार्य का संचालन कर सकता है। ऐसी व्यवस्था के अन्तर्गत सामान्यतया सरकारें स्थायी होती हैं और इनके द्वारा अपने कार्यक्रम और नीति को विश्वासपूर्वक कार्यरूप में परिणित किया जा सकता है। अमरीका में अध्यक्षात्मक शासन की सफलता का रहस्य भी द्विदलीय प्रणाली में ही निहित है।

4. संवैधानिक गतिरोध की आशंका नहीं—बहुदलीय व्यवस्था के अन्तर्गत अनेक बार ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि कोई भी राजनीतिक दल अकेले या पारस्परिक समझौते के आधार पर सरकार का निर्माण

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं कर पाता और संवैधानिक गतिरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। लेकिन द्विदलीय प्रणाली में कभी भी संवैधानिक गतिरोध पैदा नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक समय विरोधी दल वर्तमान शासन का अन्त कर शासन व्यवस्था पर अधिकार प्राप्त करने के लिए तत्पर रहता है।

5. शासन में एकता और उत्तरदायित्व की व्यवस्था—शासन कार्य सफलतापूर्वक करने के लिए 'सत्ता का एकत्रीकरण' नितान्त आवश्यक होता है और शासन व्यवस्था में इस प्रकार की एकता द्विदलीय प्रणाली के अन्तर्गत ही सम्भव है। इसके अतिरिक्त द्विदलीय प्रणाली में शासन की कुशलता-अकुशलता का उत्तरदायित्व आसानी से स्थापित किया जा सकता है।

6. संगठित विरोधी दल—राजनीतिक दल, शासन संचालन का कार्य ही नहीं, वरन् शासन को नियन्त्रित रखने का कार्य करते हैं। शासन को नियन्त्रित रखने का कार्य उसी समय भली-भांति किया जा सकता है जबकि विरोधी राजनीतिक दल सुसंगठित और पर्याप्त शक्तिशाली हो। द्विदलीय व्यवस्था के अन्तर्गत विरोधी दल सदैव ही इस स्थिति में होता है।

वस्तुतः प्रतिनिधि शासन के संचालन के लिए द्विदलीय प्रणाली ही सर्वाधिक उपयुक्त है। वर्तमान में अमेरिका तथा ब्रिटेन द्विदलीय प्रणाली के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। अमेरिका में डेमोक्रेटिक पार्टी तथा रिपब्लिकन पार्टी नामक दो प्रमुख दल हैं। इसी प्रकार 20वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड में रूढ़िवादी दल व श्रमिक दल (Labour Party) दो प्रमुख दल रहे हैं, परन्तु मई 2010 के चुनावों के समय उदारवादी दल इंग्लैण्ड में तीसरे प्रमुख दल के रूप में उभरा है।

द्विदलीय प्रणाली के दोष

यद्यपि द्विदलीय प्रणाली शासन व्यवस्था को स्थायित्व और निरन्तरता प्रदान करती है और यही ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत शासन में एकता होती है तथा उत्तरदायित्व निश्चित होता है, लेकिन इतना होने पर भी द्विदलीय प्रणाली पूर्णतया दोषमुक्त नहीं है। रैम्जे म्योर (Ramsay Muir) ने अपनी पुस्तक *'How Britain is Governed'* में द्विदलीय प्रणाली की कटु आलोचना की है। द्विदलीय प्रणाली के प्रमुख दोष निम्नलिखित कहे जा सकते हैं :

1. मतदान की स्वतन्त्रता सीमित—द्विदलीय प्रणाली के अन्तर्गत नागरिकों की मतदान की स्वतन्त्रता बहुत अधिक सीमित हो जाती है। उन्हें दो में से एक दल को अपना मत देना ही होता है, चाहे वे दोनों दलों के उम्मीदवारों या दलों की नीतियों से असहमत ही क्यों न हों। मैकाइवर के शब्दों में "इस पद्धति में मतदाता की पसन्दगी अत्यधिक सीमित हो जाती है और यह स्वतन्त्र जनमत के निर्माण में भी बाधक होती है।"

2. राष्ट्र का विभाजन—बहुधा ऐसा देखा गया है कि द्विदलीय व्यवस्था के कारण समस्त राष्ट्र ऐसे दो दलों में विभक्त हो जाता है जिसमें समझौते की कोई सम्भावना नहीं रहती, लेकिन बहुदलीय प्रणाली राष्ट्र को आपस में न मिल सकने वाले समूहों में विभाजित नहीं होने देती। लोग अपने सिद्धान्तों के आधार पर ही बिना किसी प्रकार के गम्भीर समझौते किये परस्पर मिल सकते और सहयोग कर सकते हैं।

3. बहुमत की निरंकुशता—द्विदलीय प्रणाली के अन्तर्गत एक ही राजनीतिक दल के हाथ में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका सम्बन्धी शक्ति होती है और इसके परिणामस्वरूप एक ऐसे निरंकुश बहुमत का जन्म होता है, जो सदा ही अल्पमत को कुचलता रहता है और उसकी मांग की अवहेलना करता रहता है।

4. व्यवस्थापिका के महत्व और सम्मान में कमी—द्विदलीय व्यवस्था के अन्तर्गत व्यवस्थापिका के महत्व में कमी हो जाती है क्योंकि व्यवस्थापिका का बहुमत दल सदैव ही मन्त्रिमण्डल का समर्थन करता रहता है, अतः समष्टि रूप से व्यवस्थापिका की सत्ता सीमित हो जाती है। द्विदलीय व्यवस्था के अन्तर्गत व्यवस्थापिका 'मात्र लेखा करने वाली संस्था' (Recording Institution) और दल के संदस्य कार्यपालिका की इच्छानुसार मत देने वाले यन्त्र मात्र बनकर रह जाते हैं।

5. मंत्रिमण्डलीय तानाशाही—कुछ विद्वानों का यह मत है कि द्विदलीय प्रणाली से मन्त्रिमण्डल की तानाशाही का विकास होता है। दलीय अनुशासन के कारण व्यवस्थापिका को सदैव ही मन्त्रिपरिषद का समर्थन करना होता है। इसके अतिरिक्त प्रधानमन्त्री दल का नेता भी होता है और व्यवस्थापिका के साधारण सदस्य दल के नेता की बात का विरोध नहीं कर पाते। दल के सदस्य अपने दल की मन्त्रिपरिषद का इस कारण भी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरोध नहीं कर पाते हैं कि कहीं विरोधी दल की सरकार न बन जाय। इंगलैण्ड में मन्त्रिमण्डल के प्रभाव और सम्मान में वृद्धि और लोक सदन (House of Commons) के सम्मान में कमी होने का एक प्रमुख कारण यह द्विदलीय प्रणाली ही है।

6. अनेक हित बिना प्रतिनिधित्व के—देश की राजनीति में जब केवल दो ही राजनीतिक दल होते हैं तो अनेक हितों और वर्गों को व्यवस्थापिका में प्रतिनिधित्व ही प्राप्त नहीं हो पाता। यह स्थिति प्रजातन्त्र के लिए उचित नहीं कही जा सकती। द्विदलीय प्रणाली में दोनों मुख्य दलों से वैचारिक व हित सम्बन्धी मतभेद होने के कारण अल्पसंख्यक वर्गों व हितों का प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता। वस्तुतः भारत जैसे—सांस्कृतिक व क्षेत्रीय विभिन्नता वाले देश में बहुदलीय प्रणाली एक स्वाभाविक परिणाम है।

(III) बहुदलीय प्रणाली (Multi-party System)

यदि किसी देश की राजनीति में काफी बड़ी संख्या में राजनीतिक दल हों, तो उसे बहुदलीय प्रणाली कहा जाता है। महाद्वीपीय यूरोप के अधिकांश देशों में, विशेषतया फ्रांस में, बहुदलीय प्रणाली है। फ्रांस में कभी-कभी राजनीतिक दलों की संख्या 17 से 20 तक हो जाती है। इस सम्बन्ध में फ्रांस के बाद भारत का स्थान है। बहुदलीय प्रणाली वाले देश में जब संसदात्मक व्यवस्था को अपनाया जाता है तो कोई भी राजनीतिक दल अकेले ही मन्त्रिमण्डल का निर्माण करने की स्थिति में नहीं होता और **गठबन्धन सरकार** (Coalition Government) का निर्माण किया जाता है। भारत में 1989 के बाद लगातार गठबन्धन सरकारों का अस्तित्व रहा है। मई 2009 के चुनावों के परिणामस्वरूप गठित वर्तमान सरकार 10 दलों के संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन की सरकार है।

बहुदलीय व्यवस्था के लाभ

यद्यपि आलोचकों ने बहुदलीय प्रणाली के प्रायः दोष ही निकाले हैं, फिर भी इसके कुछ गुण बताये जा सकते हैं। वास्तव में, द्विदलीय प्रणाली के दोष ही बहुदलीय प्रणाली के लाभ हैं, जिनका उल्लेख निम्न प्रकार से किया जा सकता है :

(1) मतदाताओं को अधिक स्वतन्त्रता—जहां दलों की संख्या अधिक होती है, वहां मतदाताओं को स्वाभाविक रूप से चयन की अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त रहती है, क्योंकि वे कई दलों में से अपने ही समान विचार रखने वाले किसी दल का समर्थन कर सकते हैं।

(2) मन्त्रिमण्डल की तानाशाही सम्भव नहीं—बहुदलीय पद्धति में सामान्यतया व्यवस्थापिका में किसी एक राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हो पाता, अतः मिले-जुले मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया जाता है। ये मिले-जुले मन्त्रिमण्डल कभी भी स्वेच्छाचारी नहीं हो सकते, क्योंकि सरकार में साझीदार विभिन्न दलों में से किसी एक दल की असन्तुष्टि सरकार के अस्तित्व को खतरे में डाल देती है।

(3) सभी विचारधाराओं का व्यवस्थापिका में प्रतिनिधित्व—जहां बहुदलीय पद्धति होती है, वहां व्यवस्थापिका में सभी विचारधाराओं के लोगों को प्रतिनिधित्व मिल जाता है और राष्ट्र के सभी वर्गों के विचार सुने जा सकते हैं।

(4) राष्ट्र दो विरोधी गुटों में नहीं बंटता—जहां बहुदलीय पद्धति होती है वहां दलीय भावना प्रबल नहीं हो पाती और विभिन्न दलों के द्वारा कुछ सीमा तक पारस्परिक सहयोग का मार्ग अपनाया जा सकता है। अतः राष्ट्र दो विरोधी वर्गों में बंट जाने से बच जाता है।

(5) व्यक्तित्व बनाये रखने का अवसर—यह व्यक्ति को कुछ सीमा तक अपना व्यक्तित्व बनाये रखने का अवसर देता है। यदि एक दल उनके विचारों के अनुकूल नहीं रहता, तो विशेष कठिनाई के बिना वह दूसरे दल को अपना सकता है।

बहुदलीय पद्धति के दोष

बहुदलीय पद्धति के दोष उसके गुणों की तुलना में निश्चित रूप से अधिक हैं और उनका उल्लेख अग्र प्रकार किया जा सकता है :

(1) शासन में अस्थिरता—बहुदलीय व्यवस्था मिले-जुले मन्त्रिमण्डल को जन्म देती है जो कि बहुत अधिक अस्थिर होते हैं। जहां कहीं शासन में साझीदार राजनीतिक दलों के हित परस्पर टकराते हैं, वहीं विवाद उत्पन्न

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो जाता है जिसका परिणाम शासन का पतन होता है। बहुत जल्दी-जल्दी बदलने वाली ये सरकारें राजनीतिक अस्थिरता और भारी कठिनाइयों को जन्म देती हैं।

(2) **नीति की अनिश्चितता**—सरकारों के शीघ्र परिवर्तन के कारण नीति की अनिश्चितता उत्पन्न होती है जिसका शासन के समस्त स्वरूप पर बुरा प्रभाव पड़ता है। सरकार में होने वाले ये निरन्तर परिवर्तन दीर्घकालीन योजना को व्यावहारिक रूप में असम्भव बना देते हैं।

(3) **शक्तिशाली विरोधी दल का अभाव**—बहुदलीय पद्धति में एक व्यवस्थित तथा शक्तिशाली विरोधी दल का जो कि संसदीय प्रजातंत्र का आधार है, विकास सम्भव नहीं हो पाता। शक्तिशाली विरोधी दल के अभाव में जनहितों की अवहेलना की आशंका बनी रहती है।

(4) **कार्यपालिका की निर्बल स्थिति**—बहुदलीय पद्धति में वास्तविक कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिमण्डल और प्रधानमन्त्री की स्थिति बहुत निर्बल रहती है क्योंकि प्रधानमन्त्री को हमेशा ही इन अलग-अलग राजनीतिक दलों को प्रसन्न रखना पड़ता है। ऐसी कार्यपालिका की स्थिति शोचनीय ही होती है जिसके सिर पर सदैव अविश्वास प्रस्ताव की तलवार लटकी रहती हो।

(5) **कार्यकुशलता में कमी**—बहुदलीय व्यवस्था के अन्तर्गत राजनीतिक दलों के नेताओं का ध्यान सरकार तोड़ने, गठजोड़ करने तथा किसी भी प्रकार से सरकार बनाने की ओर रहता है। ऐसी स्थिति में प्रशासनिक कार्यकुशलता में बहुत अधिक कमी हो जाती है।

(6) **शासन में समन्वय का अभाव व निर्णयों में देरी**—बहुदलीय प्रणाली के परिणामस्वरूप विभिन्न दलों की गठबन्धन सरकारें अस्तित्व में आती हैं। इन दलों के हितों व विचारधारा में भिन्नता होने के कारण शासन के कार्यों में समन्वय बनाना कठिन हो जाता है जिससे अनावश्यक गतिरोध व निर्णयों में देरी होती है।

निष्कर्ष—द्विदलीय और बहुदलीय पद्धति के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि **"बहुदलीय व्यवस्था में गम्भीर दोष और भयंकर आशंकाएं हैं।"** बहुदलीय व्यवस्था मिली-जुली सरकारों को जन्म देती है जो बहुत अधिक कमजोर और स्थायी होती हैं और जिन्हें जनहित के स्थान पर अपने अस्तित्व को बनाये रखने की चिन्ता सदैव बनी रहती है। वस्तुतः बहुदलीय प्रणाली के चाहे जो भी गुण बताये जाते हों और लोक भावना के वास्तविक विभाजन को चाहे वह कितने ही सही रूप में प्रकट करती हो, व्यावहारिक आदर्श के रूप में उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता है। प्रशासन की सबसे बड़ी आवश्यकता स्थायित्व, अनिश्चितता का अभाव, एकता और उत्तरदायित्व की निश्चितता है और इन गुणों को द्विदलीय प्रणाली के अन्तर्गत ही प्राप्त किया जा सकता है। अतः लास्की, लावेल, ब्राइस और डॉ. फाइनर, आदि सभी विद्वान इस बात पर सहमत हैं कि लोकतान्त्रिक व्यवस्था द्विदलीय व्यवस्था के आधार पर ही अधिक अच्छे प्रकार से कार्य कर सकती है।

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (प्रत्येक प्रश्न 6 अंक का, उत्तर लगभग 300 शब्दों में दीजिए)

1. राजनीतिक दलों की प्रकृति का वर्णन कीजिए तथा आधुनिक लोकतन्त्र में उनकी भूमिका की विवेचना कीजिए। (उ.प्र., 2010)
2. लोकतान्त्रिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों का क्या महत्व है? इसके संगठन का क्या आधार होना चाहिए?
3. दल प्रणाली के गुण तथा दोषों की विवेचना कीजिए।
4. राजनीतिक दल से आप क्या समझते हैं? प्रजातन्त्र प्रणाली में राजनीतिक दलों के महत्व का मूल्यांकन कीजिए। (उ.प्र., 2010)
5. राजनीतिक दल की परिभाषा कीजिए तथा इसके कार्यों की विवेचना कीजिए।
6. लोकतन्त्र में क्षेत्रीय राजनीतिक दलों की भूमिका और उपयोगिता का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। (उ.प्र., 2010)

लघु उत्तरीय प्रश्न

(अ) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 50 शब्दों में दीजिए (2 अंक)।

1. राजनीतिक दलों के कोई चार आवश्यक तत्व बताइए।
2. बहुदलीय प्रणाली से क्या अभिप्राय है?

CC-0. Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3. बहुदलीय प्रणाली की दो विशेषताएं बताइए। (उ.प्र., 2010)
4. बहुदलीय प्रणाली के प्रमुख दोष क्या हैं?
5. दल विहीन लोकतन्त्र क्यों अव्यवहारिक है?

(ब) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिए (4 अंक)।

6. प्रजातन्त्र में राजनीतिक दलों का क्या महत्व है?
7. लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों के कोई पांच प्रमुख कार्य बताइए।
8. दलबन्दी के दोषों को दूर करने के कोई चार उपाय बताइए।
9. विपक्षी राजनीतिक दल की क्या भूमिका है?
10. द्विदलीय प्रणाली के क्या लाभ हैं यह प्रणाली कहां है?

अति लघु उत्तरीय प्रश्न [प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का, उत्तर दस शब्द (एक वाक्य) में]

प्रश्न 1. राजनीतिक दल की कोई एक संक्षिप्त परिभाषा दीजिए।
उत्तर—एडमण्ड बर्क के अनुसार, "राजनीतिक दल ऐसे लोगों का एक समूह होता है, जो किन्हीं ऐसे सिद्धान्तों के आधार पर, जिन पर वे एकमत हों, अपने सामूहिक प्रयत्नों द्वारा जनता के हित में काम करने के लिए एकता में बंधे होते हैं।"

प्रश्न 2. राजनीतिक दलों की उत्पत्ति के किन्हीं दो आधारों को बताइए।
उत्तर—(1) राजनीतिक आधार, (2) आर्थिक आधार।

प्रश्न 3. राजनीतिक दलों के किन्हीं दो कार्यों को बताइए।
उत्तर—(1) नीति निर्धारण का कार्य, (2) जनमत का निर्माण करना।

प्रश्न 4. राजनीतिक दलों के कोई दो उद्देश्य लिखिए।
उत्तर—(1) दलीय संगठन सुदृढ़ करना, (2) निर्वाचन लड़ना।

प्रश्न 5. प्रजातन्त्र में राजनीतिक दल क्यों अनिवार्य हैं? कोई दो कारण बताइए।
उत्तर—(1) स्वस्थ लोकमत का निर्माण, (2) संसदीय प्रणाली का आधार।

प्रश्न 6. भारत के चार प्रमुख राजनीतिक दलों के नाम लिखिए।
उत्तर—(1) कांग्रेस, (2) भारतीय जनता पार्टी, (3) भारतीय साम्यवादी दल तथा (4) भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी)।

प्रश्न 7. राजनीतिक दलों का कोई एक गुण लिखिए।
उत्तर—जनमत का निर्माण और अभिव्यक्ति करते हैं।

प्रश्न 8. राजनीतिक दलों के कोई दो दोष लिखिए।
उत्तर—(1) समय और धन का अपव्यय, (2) नैतिक शिक्षा में गिरावट।

प्रश्न 9. राजनीतिक दलों के दोषों को दूर करने का एक उपाय लिखिए।
उत्तर—केवल ठोस राजनीतिक या आर्थिक सिद्धान्तों के आधार पर ही दलों का गठन होना चाहिए।

प्रश्न 10. बहुदलीय व्यवस्था के दो दोष लिखिए।
उत्तर—(1) किसी एक दल को बहुमत न मिलने की आशंका, (2) राजनीतिक अस्थायित्व।

बहुविकल्पीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों में चार विकल्प दिए गए हैं। उनमें से एक सही विकल्प छांटकर लिखिए :

1. "दल प्रणाली चाहे पूर्ण रूप से भले के लिए हो या बुरे के लिए, प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था के लिए अपरिहार्य है।" यह कथन किसका है :
   (अ) एडमण्ड बर्क का (ब) गैटिल का
   (स) गार्नर का (द) विलोबी का
2. राजनीतिक दल के लिए आवश्यक तत्व है :
   (अ) संगठन (ब) सामान्य सिद्धान्तों की एकता
   (स) संवैधानिक साधनों में विश्वास (द) इनमें से सभी
3. लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों का कार्य है :
   (अ) सुदृढ़ संगठन स्थापित करना (ब) दलीय नीति निर्धारित करना
   (स) लोकमत का निर्माण (द) इनमें से सभी

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4. "राजनीतिक दल 'विचारों के दलाल' के रूप में कार्य करते हैं।' यह कथन किसका है :
(अ) गार्नर का (ब) लावेल का
(स) लीकॉक का (द) लास्की का

5. निम्नलिखित में से कौन-सा राजनीतिक दलों का गुण नहीं है?
(अ) सार्वजनिक शिक्षा का साधन (ब) शासन के विभिन्न विभागों में समन्वय स्थापित करना
(स) जनता में मतभेदों को प्रोत्साहन (द) श्रेष्ठ कानूनों का निर्माण

6. राजनीतिक दलों का प्रमुख दोष है :
(अ) लोकतन्त्र के विकास में बाधक (ब) शासन कार्य में सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों की उपेक्षा
(स) भ्रमात्मक राजनीतिक शिक्षा प्रदान करना (द) उपर्युक्त सभी

7. दलबन्दी के दोषों को दूर करने का उपाय है :
(अ) राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि रखना (ब) दलों का गठन आर्थिक तथा राजनीतिक सिद्धान्तों पर
(स) जनता में शिक्षा का प्रसार और प्रचार हो (द) उपर्युक्त सभी

8. "राजनीतिक दल ऐसे लोगों का एक समूह होता है जो किसी ऐसे सिद्धान्त के आधार पर जिस पर वे एकमत हों, अपने सामूहिक प्रयत्न द्वारा जनता के हित में काम करने के लिए एकता में बंधे होते हैं।" यह परिभाषा किसकी है :
(अ) एडमण्ड बर्क की (ब) गार्नर की
(स) लीकॉक की (द) गैटिल की

9. निम्न में से किस देश में एकदलीय व्यवस्था है? (उ.प्र., 2010)
(अ) संयुक्त राज्य अमेरिका (ब) भारत
(स) चीन (द) फ्रांस

[उत्तर—1. (अ), 2. (द), 3. (द), 4. (ब), 5. (स), 6. (द), 7. (द), 8. (अ), 9. (स)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

18

मताधिकार और निर्वाचन प्रणालियां

[FRANCHISE AND ELECTORAL METHODS]

"लोकतन्त्र मानवीय समानता को स्वयंसिद्ध मान लेता है और राजनीतिक समानता तभी आ सकती है जबकि नागरिकों को मताधिकार दिया जाय। सरकार के कानून और नीतियों से सब सम्बन्धित होते हैं और जिस बात का प्रभाव सब पर पड़ता है उसका निर्णय सबके द्वारा ही होना चाहिए।"[1]

—जॉन स्टुअर्ट मिल

आधुनिक काल में विश्व के अधिकांश राज्यों द्वारा प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था को अपनाया गया है। प्रजातन्त्रात्मक शासन के दो रूप होते हैं—प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र तथा अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र। प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र अपेक्षाकृत श्रेष्ठ होने पर भी वर्तमान समय के क्षेत्र और जनसंख्या की दृष्टि से विशाल राज्यों में व्यावहारिक नहीं रहा है। अतः वर्तमान समय में अप्रत्यक्ष या प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र ही प्रजातान्त्रिक शासन का एकमात्र व्यावहारिक रूप है। इस व्यवस्था में सामान्य जनता प्रतिनिधि चुनती है और ये प्रतिनिधि शासन का संचालन करते हैं। अतः प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र का आधार और प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र का सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्व मताधिकार ही है।

सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार
(UNIVERSAL ADULT SUFFRAGE)

मताधिकार की प्रकृति के सम्बन्ध में सामान्यतः दो सिद्धान्त माने गये हैं जिनके आधार पर क्रमशः सीमित मताधिकार और वयस्क मताधिकार का प्रतिपादन किया गया है। परम्परागत विचार यह है कि मताधिकार वास्तव में एक विशेषाधिकार और एक पवित्र कर्तव्य है जो सामाजिक आवश्यकता तथा उपयोगिता की दृष्टि से नागरिकों को प्रदान किया जाता है। ब्लण्टशली, मिल तथा हेनरीमेन का विचार है कि सम्पूर्ण समाज के कल्याण को ध्यान में रखते हुए यह अधिकार केवल ऐसे लोगों को ही दिया जाना चाहिए जो इस अधिकार के सम्पादन की क्षमता तथा योग्यता रखते हैं। अतः इस सिद्धान्त के अनुसार शिक्षा, सम्पत्ति या लिंग सम्बन्धी योग्यताओं के आधार पर मताधिकार को सीमित कर दिया जाना चाहिए।

सीमित मताधिकार के उपर्युक्त विचार के नितान्त विपरीत कुछ विचारकों ने मताधिकार को प्रत्येक नागरिक का प्राकृतिक अधिकार माना है और इस बात का प्रतिपादन किया है कि शिक्षा, सम्पत्ति, लिंग और अन्य किसी भेदभाव के बिना सर्वसाधारण को मताधिकार प्राप्त होना चाहिए। सार्वभौमिक मताधिकार का तात्पर्य है कि सभी नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के मताधिकार का अधिकार प्राप्त हो। आधुनिक लोकतन्त्रों में सभी जगह सार्वभौमिक मताधिकार के सिद्धान्तों को स्वीकार किया गया है। मताधिकार की इस व्यवस्था को ही वयस्क मताधिकार के नाम से भी जाना जाता है। वयस्क मताधिकार का आशय यह है कि पागल, दिवालिये और इसी प्रकार की अन्य अयोग्यताओं वाले व्यक्तियों को छोड़कर अन्य सभी वयस्क व्यक्तियों को मताधिकार प्राप्त होना चाहिए। वयस्क मानने की आयु विभिन्न राज्यों में पृथक्-पृथक् हो सकती है। स्विट्जरलैण्ड

1 "Democracy postulates the equalities of men and political liberty can be assured only when all citizens are guaranteed right to vote. Laws and policies of the government concern all people and what toucheth all, should be decided by all." —J. S. Mill

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में 20 वर्ष और भारत[1], रूस, इंग्लैण्ड, अमरीका तथा अन्य अनेक देशों में 18 वर्ष के व्यक्ति को वयस्क समझा जाता है।

वयस्क मताधिकार के पक्ष में तर्क
(ARGUMENTS IN FAVOUR OF ADULT SUFFRAGE)

वयस्क मताधिकार के पक्ष में प्रमुख रूप से निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं :

(1) नितान्त औचित्यपूर्ण—राज्य के कानूनों और कार्यों का प्रभाव समाज के केवल कुछ ही व्यक्तियों पर नहीं वरन् सब व्यक्तियों पर पड़ता है, अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपना मत देने और शासन की नीति का निश्चय करने का अधिकार होना चाहिए। जॉन स्टुअर्ट मिल ने इसी आधार पर वयस्क मताधिकार को नितान्त औचित्यपूर्ण बतलाया है।

वयस्क मताधिकार के पक्ष में तर्क
(1) नितान्त औचित्यपूर्ण
(2) लोकसत्ता की वास्तविक अभिव्यक्ति
(3) अल्पसंख्यकों के अधिकार सुरक्षित
(4) राष्ट्रीय एकीकरण का साधन
(5) सार्वजनिक शिक्षा का साधन
(6) आत्मसम्मान में वृद्धि
(7) सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति रुचि में वृद्धि
(8) देशभक्ति की भावना में वृद्धि
(9) लोकतन्त्र में समानता के अधिकार के अनुकूल

(2) लोकसत्ता की वास्तविक अभिव्यक्ति—लोकसत्ता बीसवीं सदी का सबसे महत्वपूर्ण विचार है और आधुनिक प्रजातन्त्रवादियों का कथन है कि अन्तिम सत्ता जनता में ही निहित है। डॉ. गार्नर के शब्दों में, "ऐसी सत्ता की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति सार्वजनिक मताधिकार में ही हो सकती है।"

(3) अल्पसंख्यकों के अधिकार सुरक्षित—वयस्कमताधिकार अल्पसंख्यकों को अपने प्रतिनिधियों द्वारा अपने हितों की रक्षा का पूरा अवसर देता है। ये प्रतिनिधि व्यवस्थापिका में विधेयकों के सम्बन्ध में अल्पसंख्यकों का दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं और इस प्रकार अल्पसंख्यक अपने हितों की रक्षा में विधिकर्ताओं की सहायता ले सकते हैं।

(4) राष्ट्रीय एकीकरण का साधन—इस प्रणाली के अन्तर्गत राष्ट्र की शक्ति एवं एकता में वृद्धि होती है। अपने ही प्रतिनिधियों द्वारा बनाये गये कानूनों का पालन लोगों को एक-दूसरे के निकट लाता है और राष्ट्रीय एकीकरण में सहायक होता है। वयस्क मताधिकार को अपनाने पर जनता में क्रान्ति की सम्भावना कम हो जाती है क्योंकि जनता स्वयं द्वारा निर्मित सरकार को पूर्ण सहयोग देती है।

(5) सार्वजनिक शिक्षा का साधन—वयस्क मताधिकार सार्वजनिक शिक्षा और राजनीतिक जाग्रति का सबसे अधिक महत्वपूर्ण साधन है। मताधिकार व्यक्ति की राजनीतिक उदासीनता दूर कर देता है और उसको यह अनुभव कराता है कि राज्य शासन में उसका भी हाथ है। ऐसी स्थिति में वह देश के सार्वजनिक और राजनीतिक जीवन में अधिक रुचि लेना प्रारम्भ कर देता है।

(6) आत्मसम्मान में वृद्धि—सार्वजनिक मताधिकार नागरिकों में आत्मसम्मान की भावना पैदा करता है। मताधिकार का जनता पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है और जनता यह महसूस करती है कि राज्य की अन्तिम शक्ति उसी के हाथ में है। इससे उनके आत्मसम्मान में वृद्धि होती है और जैसा कि ब्राइस कहते हैं, "इससे उनके नैतिक चरित्र का उत्थान होता है।"

(7) सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति रुचि में वृद्धि—वयस्क मताधिकार की व्यवस्था में जब नागरिकों को मताधिकार का प्रयोग करना होता है तो स्वाभाविक रूप में उनके द्वारा सार्वजनिक समस्याओं पर विचार किया जाता है और सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति उनकी रुचि में वृद्धि होती है।

(8) देशभक्ति की भावना में वृद्धि—वयस्क मताधिकार के परिणामस्वरूप नागरिक राज्य और शासन के प्रति अपनत्व की भावना अनुभव करते हैं और उनमें देशभक्ति की भावना बढ़ती है। ऐसी स्थिति में वे देश के लिए बड़े से बड़ा बलिदान करने को तत्पर हो जाते हैं।

---

[1] भारत में 21 वर्ष के व्यक्ति को मताधिकार के प्रसंग में वयस्क समझा जाता था, लेकिन दिसम्बर 1989 में संवैधानिक संशोधन के आधार पर मताधिकार के लिए आयु 21 वर्ष से घटाकर 18 वर्ष कर दी गयी है। इस प्रकार अब 18 वर्ष की आयु प्राप्त प्रत्येक व्यक्ति को मताधिकार प्राप्त है।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(9) लोकतन्त्र में समानता के अधिकार के अनुकूल—लोकतन्त्र सभी नागरिकों की समानता में विश्वास करता है सार्वभौमिक मताधिकार के बिना 'समानता' की धारणा को व्यवहारिक रूप नहीं प्रदान किया जा सकता। अतः यह लोकतन्त्र के स्थायित्व के लिए आवश्यक है।

वयस्क मताधिकार के विपक्ष में तर्क
(ARGUMENTS AGAINST ADULT SUFFRAGE)

परन्तु अनेक आलोचकों ने, जिनमें सर हेनरीमेन, जे.एस. मिल, सिजविक तथा लैकी प्रमुख हैं, वयस्क मताधिकार के सिद्धान्त का खण्डन किया है। वयस्क मताधिकार के आलोचक इसके विरुद्ध निम्नांकित तर्क देते हैं :

(1) मताधिकार एक पवित्र कर्तव्य—मताधिकार वास्तव में अधिकार नहीं, वरन् एक पवित्र कर्तव्य है जिसका प्रयोग अधिक-से-अधिक सावधानी, बुद्धिमत्ता तथा विवेक के साथ किया जाना चाहिए। अतः यह अधिकार केवल उन्हीं लोगों को दिया जाना चाहिए, जो जनता के कल्याण तथा राज्य की भलाई में इसका उचित प्रयोग करने की योग्यता रखते हों। सर्वसाधारण जनता में इस प्रकार की योग्यता न होने के कारण वयस्क मताधिकार को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

वयस्क मताधिकार के विपक्ष में तर्क
1. मताधिकार एक पवित्र कर्तव्य
2. शासनाधिकार अशिक्षितों के हाथ में
3. शासन सम्बन्धी प्रश्नों की जटिलता
4. भ्रष्टाचार को जन्म
5. अनुदारवादिता को प्रोत्साहन
6. केवल मताधिकार से अधिकार सुरक्षित नहीं

(2) शासनाधिकार अशिक्षितों के हाथ में—प्रत्येक व्यक्ति में अपना हित ठीक-ठीक समझने की क्षमता नहीं होती है। सामान्य मनुष्य साधारणतया अपने दीर्घकालीन हित पर ठीक प्रकार से विचार नहीं कर पाता, वह अपने भावों और मनोवेगों का दास होता है। उसके मनोवेगों पर राष्ट्रीय नीति के गम्भीर प्रश्नों की अपेक्षा आकर्षक शब्दजाल, राजनीतिक दलों के नारों और निर्वाचन के समय के प्रचार का अधिक प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त, सामान्य मतदाता शिक्षित और जागरूक नहीं होता, उसके मत का निश्चय साधारणतया जाति, धर्म, आदि के सम्बन्धों के आधार पर होता है। अतः यदि शिक्षा और सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यताओं को हटा कर सभी व्यक्तियों को मताधिकार दिया गया, तो व्यवस्थापिका के अधिकांश सदस्य अयोग्य एवं संकुचित दृष्टिकोण के होंगे। प्रसिद्ध ब्रिटिश विचारक जे.एस. मिल ने शिक्षित नागरिकों को एक से अधिक मत देने की सिफारिश की थी। इसे भारित मताधिकार (weightage suffrage) कहा जाता है।

(3) शासन सम्बन्धी प्रश्नों की जटिलता—शासन की समस्याएं आजकल इतनी जटिल हो गयी हैं कि सर्वसाधारण के लिए इन्हें समझ सकना बहुत अधिक कठिन है। अधिकांश व्यक्तियों के पास इतना समय ही नहीं होता है कि वे इन समस्याओं को समझकर अपने विचारों का निर्णय करें। ऐसी स्थिति में वे सामान्यतया मताधिकार की शक्ति का उचित प्रयोग नहीं कर पाते हैं।

(4) भ्रष्टाचार को जन्म—वर्तमान समय में अधिकांश राज्यों के व्यक्तियों की एक बहुत बड़ी संख्या निर्धन होती है और वयस्क मताधिकार में दूसरे धनी व्यक्ति धन का लाभ दिखाकर उनका मत खरीद सकते हैं। इस प्रकार वयस्क मताधिकार घूस तथा भ्रष्टाचार को जन्म दे सकता है।

(5) अनुदारवादिता को प्रोत्साहन—सामान्य जनता रूढ़िवादी होती है और उसके द्वारा आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में प्रगतिशील कदमों का विरोध किया जाता है। अतः वयस्क मताधिकार को अपनाने पर समाज ठीक प्रकार से प्रगति नहीं कर पाता।

(6) केवल मताधिकार से अधिकार सुरक्षित नहीं—यह कहना भी गलत है कि वयस्क मताधिकार से नागरिकों के अधिकार सुरक्षित रहते हैं। वास्तव में, नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा वयस्क मताधिकार की अपेक्षा निष्पक्ष न्यायालय, स्वतन्त्र प्रेस और सबल विरोधी दल पर अधिक निर्भर करती है।

निष्कर्ष—वयस्क मताधिकार के विपक्ष में दिये गये कुछ तर्क तो नितान्त भ्रमपूर्ण हैं और शेष तर्कों को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर कहा गया है। व्यवहार में यह देखा गया है कि कई बार एक अशिक्षित श्रमिक अपने मताधिकार का प्रयोग अत्यन्त बुद्धिमान समझे जाने वाले व्यक्ति से भी उचित रीति से करता है, अतः शिक्षा

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के आधार पर मताधिकार को सीमित करना उचित नहीं कहा जा सकता। वर्तमान समय में सम्पत्ति को तो मताधिकार का आधार स्वीकार किया ही नहीं जा सकता। आज यदि हम समाज को प्रगतिशील बनाना चाहते हैं तो हमें प्रत्येक व्यक्ति को मताधिकार देना ही होगा। अधिकांश जनता को केवल मूकदर्शक बनाये हुए नहीं रखा जा सकता।

वयस्क मताधिकार का सर्वत्र प्रयोग इस बात का साक्षी है कि वह प्रजातन्त्र के लिए अनिवार्य है। लास्की ने ठीक ही कहा है कि "**वयस्क मताधिकार का कोई विकल्प नहीं है**"[1]

स्त्री मताधिकार
(WOMEN SUFFRAGE)

स्त्रियों के लिए मताधिकार प्राप्त करने का आन्दोलन प्रजातन्त्र के विचार के साथ ही प्रारम्भ हुआ है। कहा जाता है कि यदि मतदान प्रत्येक नागरिक का प्राकृतिक अधिकार है, तो स्त्रियों को भी इससे वंचित नहीं रखा जाना चाहिए। उन्नीसवीं सदी में इंग्लैण्ड में **बेन्थम, हेयर** तथा **मिल** ने स्त्रियों के मताधिकार के आन्दोलन का प्रबल समर्थन किया था और फ्रांस में **लेबेलिए** ने इसे आगे बढ़ाया, परन्तु वयस्क पुरुषों को मताधिकार प्राप्त हो जाने के पश्चात् भी बहुत समय तक स्त्रियां इस अधिकार से वंचित रहीं। **जे.एस. मिल** के अनुसार चूंकि समाज में महिलाओं की स्थिति कमजोर है। अतः उन्हें अधिक मताधिकार की आवश्यकता है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में संयुक्त राज्य अमरीका के कुछ राज्यों ने इस दिशा में पहला कदम उठाया।

इस सम्बन्ध में प्रथम महायुद्ध स्त्रियों के लिए अप्रत्यक्ष रूप से एक दैवी वरदान सिद्ध हुआ। युद्धकाल में रणक्षेत्र और औद्योगिक क्षेत्र में उन्होंने अपनी योग्यता और कार्यक्षमता का अच्छा परिचय दिया और सम्भवतया इसके परिणामस्वरूप ही इंगलैण्ड में सन् 1918 में एक कानून द्वारा 30 वर्ष से ऊपर आयु वाली महिलाओं को मताधिकार प्रदान किया गया। इसके 10 वर्ष पश्चात् यह अवस्था घटाकर पुरुषों के बराबर अर्थात् 21 वर्ष कर दी गई। सन् 1919 में संयुक्त राज्य अमरीका में स्त्रियों को पुरुषों के समान मताधिकार प्रदान किया गया और इसके बाद विश्व के विभिन्न देशों में स्त्रियों को यह मताधिकार प्रदान किया गया। भारत में नवीन संविधान द्वारा स्त्रियों को पुरुषों के समान ही मताधिकार प्रदान किया गया और फरवरी 1971 में तो स्विट्जरलैण्ड में भी स्त्रियों को मताधिकार प्रदान किया गया। यद्यपि आज कुछ अपवादों को छोड़कर सभी प्रजातन्त्रों देशों में स्त्री मताधिकार प्रचलित है तथापि अब भी कुछ व्यक्ति स्त्री मताधिकार के अत्यन्त विरोधी हैं। स्त्री मताधिकार के विरोधियों द्वारा इसका विरोध करते हुए प्रमुख रूप से निम्नलिखित तर्क दिए जाते हैं :

स्त्री मताधिकार के विपक्ष में तर्क

स्त्री मताधिकार के विपक्ष में विद्वानों ने निम्नलिखित तर्क दिये हैं :

(1) **अप्राकृतिक**—यदि स्त्रियां राजनीति में भाग लेंगी तो इन्हें इसकी कठोरताओं और अशिष्टताओं को सहन करना होगा, जिससे उनके स्त्रियोचित गुणों का नाश हो जाएगा और मानवीय संस्कृति को हानि पहुंचेगी। प्रकृति ने स्त्री को माता बनने को उत्पन्न किया है, अतः उसका प्रमुख और लगभग एकमात्र कर्तव्य सन्तान उत्पन्न करना और उनका पालन-पोषण करके उसे देश का उत्तम नागरिक बनाना है। राजनीति के चक्कर में पड़कर वह अपने उस महत्वपूर्ण कर्तव्य का निर्वाह नहीं कर सकेगी, जिसके लिए उसे प्रकृति ने उत्पन्न किया है।

स्त्री मताधिकार के विपक्ष में तर्क
(1) अप्राकृतिक
(2) स्त्रियोचित गुणों का अन्त
(3) घरेलू शान्ति के लिए विनाशकारी
(4) नागरिक कर्तव्यों का पालन करने के अयोग्य
(5) दोहरा मतदान
(6) रूढ़िवादिता को प्रोत्साहन

(2) **स्त्रियोचित गुणों का अन्त**—स्त्रियों के स्वाभाविक गुण हैं—लज्जा, कोमलता, सहनशीलता, नम्रता, दया, समवेदना, आदि लेकिन यदि स्त्रियों के द्वारा राजनीति में भाग लिया गया तो उनके ये स्वाभाविक गुण सुरक्षित नहीं रहेंगे। सम्भवतया इसी बात को दृष्टि में रखकर अरस्तू ने कहा था कि "राजनीतिक दलदल में फंसने के लिए पुरुष बनाए गए हैं, स्त्रियां नहीं"

—*Laski*

[1] "There is no alternative to universal suffrage."

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(3) घरेलू शान्ति के लिए विनाशकारी—आलोचकों की सम्मति में स्त्री का स्थान घर है। वह घर की देवी है। यदि वह घर से बाहर अपने क्षेत्र का विस्तार करती है, तो घरेलू शान्ति भंग हो जाती है। मताधिकार प्राप्त हो जाने से दम्पति में राजनीतिक मतभेदों के परिणामस्वरूप झगड़े के अंकुर फूट निकलते हैं और अन्त में पारिवारिक जीवन के नष्ट हो जाने की आशंका रहती है।

(4) नागरिक कर्तव्यों का पालन करने के अयोग्य—स्त्रियां शारीरिक दृष्टि से कोमलांगी होती हैं और अपनी इस दुर्बलता के कारण वे उन कार्यों को करने के लिए अयोग्य होती हैं, जो नागरिक के रूप में पुरुष के द्वारा किए जाते हैं। उदाहरणार्थ, स्त्रियां सेना अथवा पुलिस में भर्ती होकर देश की रक्षा के कार्य में भाग नहीं ले सकतीं। जब स्त्रियां नागरिकता के इन कर्तव्यों का पालन करने की क्षमता नहीं रखतीं, तो उन्हें पुरुषों के समान राजनीतिक मताधिकार प्रदान करने का क्या औचित्य है?

(5) दोहरा मतदान—आलोचकों के अनुसार स्त्री, जो कि शारीरिक और मानसिक दृष्टि से निर्बल होती है, अविवाहित अवस्था में अपने पिता और विवाहित अवस्था में अपने पति के विचारों से प्रभावित रहती है। अतः उसके मत का अपना निजी महत्व नहीं है अपितु वह उसके पति या अन्य पुरुषों के मत की पुनरावृत्ति ही होगी। कुछ विशेष व्यक्तियों को दोहरे मतदान का अधिकार औचित्यपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

(6) रूढ़िवादिता को प्रोत्साहन—स्त्रियां स्वभाव से ही परम्परावादी तथा धर्मभीरु होती हैं, अतः उन्हें मताधिकार देने का अर्थ अनुदार तथा रूढ़िवादी तत्वों की जड़ मतबूत करना होता है। धर्मगुरुओं तथा निहित स्वार्थों के द्वारा स्त्रियों को बहकाकर प्रगति के मार्ग को अवरुद्ध किया जा सकता है।

स्त्री मताधिकार के पक्ष में तर्क

स्त्री मताधिकार के विरुद्ध जो तर्क दिए गए हैं, उनमें बहुत अधिक सार नहीं है। आज प्रजातन्त्र के प्रवाह में इन तर्कों का कोई अस्तित्व ही नहीं रहा है। उपर्युक्त तर्कों का खण्डन करते हुए निम्नलिखित बातें कही जा सकती हैं :

(1) मताधिकार के सम्बन्ध में लिंग भेद नितान्त अनुचित—लिंग भेद एक शारीरिक एवं आकस्मिक भेद है जिसे मताधिकार का आधार बनाना किसी भी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता। मतदान के अधिकार की कसौटी शारीरिक नहीं, वरन् नैतिक एवं बौद्धिक योग्यता होनी चाहिए। स्त्रियां पुरुषों के समान स्वतंत्र, बुद्धिमती तथा नैतिक गुणों से युक्त होती हैं, समाज के समस्त नियमों तथा कानूनों का उनके जीवन पर पुरुषों के समान ही प्रभाव पड़ता है। ऐसी स्थिति में उन्हें मताधिकार से वंचित रखना नितान्त अनुचित और अन्यायपूर्ण है। मिल ने इस सम्बन्ध में नितान्त ठीक तर्क दिया है। उन्हीं के शब्दों में, "मैं राजनीतिक अधिकारों के सम्बन्ध में स्त्री और पुरुष के भेद को उसी प्रकार अनुचित मानता हूं, जिस प्रकार बालों के रंग को।"[1]

स्त्री मताधिकार के पक्ष में तर्क

(1) मताधिकार के सम्बन्ध में लिंग भेद नितान्त अनुचित
(2) स्त्रियों की दुर्बलता कोई तर्क नहीं
(3) पारिवारिक जीवन का बुरा प्रभाव नहीं
(4) वर्तमान परिस्थितियों में नितान्त आवश्यक
(5) राजनीति पर स्वस्थ प्रभाव
(6) उनका मतदान परतन्त्र रूप में हो, तो भी कोई हानि नहीं
(7) लोकतन्त्र की स्थापना के लिए आवश्यक

(2) स्त्रियों की दुर्बलता कोई तर्क नहीं—स्त्रियों की दुर्बलता का तर्क नितान्त असत्य है और आज जीवन के सभी क्षेत्रों में पुरुषों के समान ही उनके द्वारा अपने नागरिक कर्तव्यों का पालन किया जा रहा है। यदि यह मान भी लिया जाए कि स्त्रियां दुर्बल जाति की हैं तो यह अनिवार्य हो जाता है कि वे अपने प्रतिनिधि निर्वाचित कर अपने हितों की रक्षा करने में समर्थ हो सकें। मिल के शब्दों में, "स्त्रियों को तो पुरुषों से भी अधिक इस अधिकार की आवश्यकता है क्योंकि वे शारीरिक दृष्टि से निर्बल होने के कारण अपनी रक्षा के लिए कानून और समाज पर अधिक निर्भर हैं।"[2]

(3) पारिवारिक जीवन पर बुरा प्रभाव नहीं—स्त्री मताधिकार से पारिवारिक जीवन में अशान्ति उत्पन्न होने की आशंका नितान्त निराधार है। सच तो यह है कि आज उनकी क्षुद्र और संकुचित

1 "I consider it entirely irrelevant to political rights as difference in the colour of hairs."
—J. S. Mill

2 "Women require it more than men, since being physically weaker, they are more dependent on law and society for protection."
—J. S. Mill

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनोवृत्ति के कारण छोटी-छोटी बातों पर जो अनेक झगड़े होते हैं, उनका बहुत सीमा तक अन्त हो जाएगा। मताधिकार से उनका दृष्टिकोण व्यापक हो जाएगा और वे छोटी-छोटी बातों पर ध्यान देने के बजाय देश की सभी समस्याओं पर विचार करने लगेंगी। पारिवारिक जीवन के प्रमुख कर्तव्यों, बच्चों के पालन-पोषण और मताधिकार के प्रयोग में वस्तुतः कोई विरोध नहीं है।

(4) वर्तमान परिस्थितियों में नितान्त आवश्यक—वर्तमान समय में स्त्री और पुरुष के कार्य-क्षेत्र के विभाजन की बात नितान्त असत्य हो गयी है और स्त्रियां घर की चारदीवारी से बाहर निकलकर एक मजदूर, एक क्लर्क, एक व्यवसायी, एक शिक्षक, अधिकारी या वकील और सैनिक के रूप में कार्य करने लगी हैं। जीवन के सभी क्षेत्रों में पुरुष के समान ही भाग लेने वाली स्त्री को मताधिकार से वंचित करने का कोई भी औचित्य नहीं है।

(5) राजनीति पर स्वस्थ प्रभाव—मताधिकार के परिणामस्वरूप यदि स्त्रियां शासन कार्य के संचालन में भाग लेने लगें तो इससे राजनीतिक जीवन पर स्वस्थ प्रभाव ही पड़ेगा। स्त्रियों के स्वभाव के विषय में कहा जाता है कि वे सामान्यतया शान्ति और व्यवस्था-प्रिय होती हैं, अतः उनकी उपस्थिति में राज्य के कार्यों का संचालन शान्ति और व्यवस्था के हित में हो सकेगा। स्त्रियों में दया, प्रेम और सहानुभूति, आदि मानवीय गुण अधिक मात्रा में होने के कारण राजनीति में उनके भाग लेने से श्रमिकों, बच्चों और दलित वर्गों के हित में मानवीय व्यवस्थापन की आशा की जा सकती है।

(6) उनका मतदान परतन्त्र रूप में हो, तो भी कोई हानि नहीं—स्त्री मताधिकार के विरोधियों का यह तर्क कि स्त्रियां अपने मत के लिए अपने पति और अन्य पुरुष सम्बन्धियों पर निर्भर करती हैं, यदि सत्य भी हो, तो भी उन्हें मताधिकार देने में क्या हानि है? यदि वे पूर्णतया अपने विवेक के आधार पर मताधिकार का प्रयोग न करें तो भी वे राजनीतिक जीवन में स्वतः ही कुछ रुचि लेंगी ही। उन्हें अपने सम्बन्धियों से प्राप्त परामर्श के आधार पर ही राजनीति का सामान्य ज्ञान हो जाएगा और शीघ्र ही वे अपने मत का दृढ़तापूर्वक समर्थन कर सकेंगी। मिल के शब्दों में, "बुरी से बुरी बात यह हो सकती है कि स्त्रियां अपना मत न देकर पराधीन मत देंगी। व्यक्तियों के पैरों की जंजीरें काट देना तो लाभदायक ही होता है, चाहे वे चलना न भी चाहें। यह भी एक महत्वपूर्ण बात है कि पति अपनी पत्नी के साथ निर्वाचन के विषय पर अवश्य ही वार्तालाप करेगा और वह पति मत न होकर संयुक्त मत होगा।"

(7) लोकतन्त्र की स्थापना के लिए आवश्यक—वस्तुतः प्रजातन्त्र का आधार मानव गरिमा में विश्वास व मानव समानता का सिद्धान्त है। समाज की आधी जनसंख्या को यदि मताधिकार से वंचित कर दिया जाएगा तो न तो समानता होगी और न लोकतन्त्र। यह मानवीय गरिमा के भी विपरीत है।

निष्कर्ष—वास्तव में अब वह समय बीत चुका है, जबकि स्त्री मताधिकार पर वाद-विवाद किया जाता था। अब तो लगभग सभी देशों में स्त्रियों को मताधिकार मिल चुका है और शेष देशों में शीघ्र ही मिल जाएगा। समय के प्रवाह को अधिक समय तक रोके नहीं रखा जा सकता। वास्तव में, वयस्क मताधिकार के विरुद्ध दिए गए अन्य तर्कों में कुछ सार हो भी सकता है, किन्तु लिंग के आधार पर किसी को मताधिकार से वंचित करना न तो तर्कसंगत है और न ही इसे अनुभव के आधार पर उचित कहा जा सकता है।

निर्वाचन प्रणालियां

निर्वाचन पद्धति सामान्यतया दो प्रकार की हो सकती है—प्रत्यक्ष निर्वाचन और अप्रत्यक्ष निर्वाचन।

प्रत्यक्ष निर्वाचन (Direct Election)—यदि निर्वाचक प्रत्यक्ष रूप से अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करें, तो उसे प्रत्यक्ष निर्वाचन कहा जाता है। यह बिल्कुल सरल विधि है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक मतदाता निर्वाचन स्थान पर विभिन्न उम्मीदवारों में से किसी एक उम्मीदवार के पक्ष में मतदान करता है और जिस उम्मीदवार को सर्वाधिक मत प्राप्त होते हैं, उसे विजयी घोषित कर दिया जाता है। भारत, इंगलैण्ड, अमरीका, कनाडा, स्विट्जरलैण्ड, आदि देशों में व्यवस्थापिका के प्रथम सदन के निर्माण हेतु यही पद्धति अपनायी गयी है।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन (Indirect Election)—जब सामान्य मतदाता एक ऐसे निर्वाचक मण्डल का चुनाव करते हैं जो प्रतिनिधियों का चुनाव करता है, तो ऐसी पद्धति को अप्रत्यक्ष निर्वाचन कहा जाता है। संयुक्त राज्य

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमरीका के राष्ट्रपति तथा भारत के राष्ट्रपति दोनों का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से होता है क्योंकि सामान्य मतदाता निर्वाचक मण्डल का चुनाव करते हैं और यह निर्वाचक मण्डल राष्ट्रपति का चुनाव करता है। भारत, फ्रांस, आदि देशों के द्वितीय सदनों का निर्वाचन भी अप्रत्यक्ष रूप से होता है। भारत में उपराष्ट्रपति व राष्ट्रपति तथा राज्यों के विधानमण्डल के द्वितीय सदन के कतिपय सदस्यों का निर्वाचन अप्रत्यक्ष तरीके से होता है।

प्रत्यक्ष निर्वाचन के गुण
(MERITS OF DIRECT ELECTION)

(1) प्रजातन्त्रात्मक धारणा के अनुकूल—यह जनता को प्रत्यक्ष रूप से अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करने का अवसर देती है, अतः स्वाभाविक रूप से यह पद्धति प्रजातन्त्रीय व्यवस्था के अनुकूल है।

(2) मतदाता और प्रतिनिधि के मध्य सम्पर्क—इस पद्धति में जनता अपने प्रतिनिधि को प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित करती है, अतः जनता और उसके प्रतिनिधि के बीच उचित सम्पर्क बना रहता है और दोनों एक-दूसरे की भावनाओं से परिचित रहते हैं। इसके अन्तर्गत जनता अपने प्रतिनिधियों के कार्य पर निगरानी और नियन्त्रण भी रख सकती है।

प्रत्यक्ष निर्वाचन के गुण
(1) प्रजातन्त्रात्मक धारणा के अनुकूल
(2) मतदाता और प्रतिनिधि के मध्य सम्पर्क
(3) राजनीतिक शिक्षा

(3) राजनीतिक शिक्षा—जब जनता अपने प्रतिनिधि को प्रत्यक्ष रूप से चुनती है तो विभिन्न दल और उनके उम्मीदवार अपनी नीति और कार्यक्रम जनता के सामने रखते हैं, जिससे जनता को बड़ी राजनीतिक शिक्षा मिलती है और उनमें राजनीतिक जागरूकता की भावना का उदय होता है। इससे सामान्य जनता को अपने अधिकार और कर्तव्यों का अधिक अच्छे प्रकार से ज्ञान भी हो जाता है।

प्रत्यक्ष निर्वाचन के दोष
(DEMERITS OF DIRECT ELECTION)

प्रत्यक्ष निर्वाचन के निम्न दोष हैं :

(1) सामान्य निर्वाचकों का मत त्रुटिपूर्ण—आलोचकों का कथन है कि जनता में अपने मत का उचित प्रयोग करने की क्षमता नहीं होती। मतदाता अधिक योग्य और शिक्षित न होने के कारण नेताओं के झूठे प्रचार और जोशीले भाषणों के प्रभाव में वह जाते हैं और निकम्मे, स्वार्थी और चालाक उम्मीदवारों को चुन लेते हैं।

प्रत्यक्ष निर्वाचन के दोष
(1) सामान्य निर्वाचकों का मत त्रुटिपूर्ण
(2) सार्वजनिक शिक्षा का तर्क त्रुटिपूर्ण
(3) बुद्धिमान व्यक्ति निर्वाचन से दूर
(4) अपव्ययी और अव्यवस्थाजनक

(2) सार्वजनिक शिक्षा का तर्क त्रुटिपूर्ण—प्रत्यक्ष निर्वाचन के अन्तर्गत किया जाने वाला चुनाव अभियान शिक्षा अभियान नहीं होता, अपितु यह तो निन्दा, कलंक और झूठ का अभियान होता है। चुनाव में उम्मीदवारों और उनकी नीतियों को ठीक प्रकार से समझाने के बजाय उनके सामने व्यक्तियों और समस्याओं का विकृत चित्र प्रस्तुत किया जाता है, जिसके परिणामस्वरूप मतदाता गुमराह हो जाता है।

(3) बुद्धिमान व्यक्ति निर्वाचन से दूर—प्रत्यक्ष निर्वाचन में चुनाव अभियान नैतिकता के निम्नतम स्तर तक गिर जाने के कारण बुद्धिमान एवं निष्कपट व्यक्ति निर्वाचन से दूर भागते हैं। जब ऐसे व्यक्ति उम्मीदवार के रूप में आगे नहीं आते, तो देश को स्वभावतः हानि पहुंचती है।

(4) अपव्ययी और अव्यवस्थाजनक—इस प्रकार के चुनाव पर बहुत अधिक खर्च आता है और बड़े पैमाने पर इसका प्रबन्ध करना होता है। अत्यधिक जोश-खरोश के कारण अनेक बार दंगे-फसाद भी हो जाते हैं। अपराधी तत्वों के प्रवेश के कारण भारत में प्रत्यक्ष निर्वाचन में हिंसा का समावेश हो गया है तथा विधानसभाओं व लोकसभा के प्रत्यक्ष निर्वाचन भारत के निर्वाचन आयोग के समक्ष एक बड़ी चुनौती है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अप्रत्यक्ष निर्वाचन के गुण
(MERITS OF INDIRECT ELECTION)

अप्रत्यक्ष निर्वाचन के निम्न गुण हैं :

(1) योग्य व्यक्तियों का निर्वाचन सम्भव—सामान्य जनता की अपेक्षा जनता द्वारा निर्वाचित निर्वाचक मण्डल के सदस्य अधिक सुशिक्षित और विचारशील होते हैं और जब प्रतिनिधियों के निर्वाचन का कार्य उन पर छोड़ दिया जाता है तो अधिक योग्य व्यक्तियों के निर्वाचन की आशा की जा सकती है। इसके अतिरिक्त, बुद्धिमान व्यक्ति प्रत्यक्ष निर्वाचन से दूर रहते हैं, लेकिन अप्रत्यक्ष निर्वाचन लड़ना पसन्द कर सकते हैं क्योंकि उन्हें निर्वाचक मण्डल के थोड़े-से और बुद्धिमान सदस्यों से ही सम्पर्क स्थापित करना पड़ता है।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन के गुण
1. योग्य व्यक्तियों का निर्वाचन सम्भव
2. नवस्थापित प्रजातन्त्रों के लिए श्रेष्ठ
3. निर्वाचन पद्धति के दोष कम हो जाना
4. बड़े चुनाव क्षेत्रों में लाभप्रद

(2) नवस्थापित प्रजातन्त्रों के लिए श्रेष्ठ—नवस्थापित प्रजातन्त्रों में इस बात का बहुत अधिक डर रहता है कि राजनीतिक जागरूकता का अभाव होने के कारण जनता अयोग्य व्यक्तियों को प्रतिनिधियों के रूप में निर्वाचित कर देगी। सामान्य जनता की अपेक्षा निर्वाचक मण्डल के सदस्य अधिक बुद्धिमान होने के कारण अप्रत्यक्ष निर्वाचन को अपनाकर इस प्रकार के भय को दूर किया जा सकता है और जनता का प्रजातन्त्र में विश्वास जमाये रखा जा सकता है।

(3) निर्वाचन पद्धति के दोष कम हो जाना—अप्रत्यक्ष निर्वाचन में निर्वाचन व्यवस्था के जो आधारभूत दोष हैं, वे कम हो जाते हैं। इसमें भीड़तन्त्र की बुराई कम होती है और चुनाव में बहुत अधिक झूठा प्रचार नहीं फैलता। इसमें दलबन्दी की भावना भी कम हो जाती है। इसमें निर्वाचक मण्डलों के सदस्यों की संख्या कम होने के कारण प्रचार कार्य में अधिक खर्च नहीं करना पड़ता है। इन सबके अतिरिक्त ऐसे चुनावों में हुल्लड़बाजी और दंगे-फसाद का भी डर कम हो जाता है।

(4) बड़े चुनाव क्षेत्रों में लाभप्रद—बड़े चुनाव क्षेत्रों में विशेषतया अप्रत्यक्ष निर्वाचन ही श्रेष्ठ है। इस सम्बन्ध में भारत और संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति के निर्वाचन का उदाहरण लिया जा सकता है। बड़े चुनाव क्षेत्रों में चुनावों के कुप्रबन्धन से बचने के लिए अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली उचित प्रतीत होती है।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन के दोष
(DEMERITS OF INDIRECT ELECTION)

इस पद्धति की पर्याप्त आलोचना हुई है और इसके निम्न दोष बताये जाते हैं :

(1) अप्रजातन्त्रात्मक—यह पद्धति पूर्णतया लोकतन्त्रीय नहीं है क्योंकि इसमें मतदाताओं को अपने प्रतिनिधि प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित करने का अधिकार नहीं होता है। अतः सामान्यजन प्रायः इस पद्धति से असन्तोष अनुभव करते हैं। लीबर के शब्दों में, "मेरा विश्वास है कि यदि दोहरी निर्वाचन पद्धति अपना ली जाय, तो अमरीकन व अंग्रेज दोनों मताधिकार को निरर्थक समझने लगेंगे।"

अप्रत्यक्ष निर्वाचन के दोष
1. अप्रजातन्त्रात्मक
2. सार्वजनिक कार्यों में उदासीनता
3. भ्रष्टाचार की आशंका
4. जनता का प्रतिनिधि से सम्पर्क नहीं
5. दल पद्धति के कुप्रभाव न्यून नहीं

(2) सार्वजनिक कार्यों में उदासीनता—यदि जनता को प्रत्यक्ष रूप में अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करने का अधिकार न हो तो सम्भव है कि साधारण जनता सार्वजनिक कार्यों से उदासीन हो जाय और राजनीति में केवल नाममात्र को रुचि ले। इस प्रकार की पद्धति को अपनाने पर जनता की राजनीतिक शिक्षा के अवसर भी कम हो जायेंगे।

(3) भ्रष्टाचार की आशंका—अप्रत्यक्ष निर्वाचन में निर्वाचक मण्डल की सदस्य संख्या कम होने के कारण उम्मीदवारों के लिए उन तक पहुंचना और धन के प्रलोभन के आधार पर उन्हें अपनी ओर खींचना सरल हो जाता है। यूनान के प्रसिद्ध विद्वान अरस्तू ने कहा है, "थोड़े से लोगों को भ्रष्ट करना अधिक लोगों को भ्रष्ट करने से सरल है, वे सम्मान या धन के प्रति अधिक लालायित रहते हैं।"[1]

[1] "Few are more corruptible than many, more susceptible to bribery or honour." —*Aristotle*

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(4) जनता का प्रतिनिधि से सम्पर्क नहीं—अप्रत्यक्ष निर्वाचन में जनता और प्रतिनिधि के बीच निर्वाचक मण्डल की दीवार खड़ी हो जाने के कारण जनता का अपने प्रतिनिधि से कोई सम्पर्क नहीं रहता और निर्वाचन की धारणा आधारभूत रूप में गलत हो जाती है।

(5) दल पद्धति के कुप्रभाव न्यून नहीं—आलोचकों के विचार में अनुभव यह बताता है कि अप्रत्यक्ष निर्वाचन दलीय पद्धति के कुप्रभावों को कम करने के बजाय उन्हें बढ़ाने का कार्य करता है। अमरीका के राष्ट्रपति का निर्वाचन इस बात का उदाहरण है। लास्की इस बात का वर्णन करते हुए कहते हैं कि "वह चार माह का राजनीतिक व्यभिचार है।"

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष निर्वाचन के उपर्युक्त गुण-दोषों के आधार पर कहा जा सकता है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में अप्रत्यक्ष निर्वाचन को अपनाना भले ही उपयुक्त हो, सामान्यतया प्रत्यक्ष निर्वाचन ही अधिक उपयुक्त और व्यावहारिक है।

निर्वाचन क्षेत्र

निर्वाचन क्षेत्र प्रमुख रूप से दो प्रकार के होते हैं—एक-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र (Single-member Constituencies) और बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र (Multi-member Constituencies)।

एक-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र—जब किसी राज्य को उतने ही निर्वाचन क्षेत्रों में बांट दिया जाता है जितनी संख्या में प्रतिनिधि चुने जाने हों और प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र के द्वारा अपना एक प्रतिनिधि चुना जाता है तो इसे एक-सदस्यीय या एकल-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र कहते हैं। वर्तमान समय में भारत सहित विश्व के लगभग सभी प्रजातन्त्रों देशों में ऐसे ही निर्वाचन क्षेत्र हैं।

बहु-सदस्यीय या बहुल-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र—जब सम्पूर्ण राज्य अनेक निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित कर दिया जाता है और प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से दो से अधिक प्रतिनिधि चुने जाते हैं तो इसे बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र कहते हैं। अमेरिका में राष्ट्रपति के निर्वाचक मण्डल में चुनाव हेतु बहुसदस्यीय चुनाव क्षेत्र व्यवस्था अपनाई गई है।

इन दो प्रकार के निर्वाचन क्षेत्रों में एकल-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र, बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र से अधिक लाभदायक, शिक्षाप्रद और लोकतन्त्र के अनुकूल है।

मतदान सम्बन्धी विविध प्रश्न

प्रकट अथवा गुप्त मतदान (Open or Secret Ballot)—मतदान के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि मतदान प्रकट रूप में होना चाहिए या गुप्त रूप में। 19वीं सदी में अनेक देशों में प्रकट या खुले रूप में मत देने की प्रणाली प्रचलित थी और कुछ देशों में तो 20वीं सदी में भी इसका प्रचलन रहा है। इस सम्बन्ध में यह अनुभव किया गया कि जहां प्रकट या खुले मतदान की प्रणाली प्रचलित होती है, वहां अधिकांश मतदाता या तो मत देना ही पसन्द नहीं करते या फिर दबाव में आकर इच्छा के विरुद्ध मत देते हैं। वर्तमान समय में अधिकांश राजनीतिज्ञ तथा विद्वानों की यही राय है कि गुप्त मतदान की स्थिति में ही मतदाता स्वेच्छापूर्वक और स्वतन्त्रतापूर्वक अपने मताधिकार का प्रयोग कर सकता है। प्रकट मतदान में धनी व प्रभावशाली लोग अनुचित प्रभाव डालने का प्रयत्न करते हैं जिससे मतदाताओं की स्वतन्त्रता सीमित हो जाती है। अतः वर्तमान समय में लगभग सभी देशों ने गुप्त मतदान की प्रणाली अपना ली है। गुप्त मतदान में मतदाता निष्पक्ष व निर्भीक होकर अपने मतदान का प्रयोग कर सकता है।

अनिवार्य मतदान—मतदान के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या मतदान अनिवार्य होना चाहिए। कुछ देशों में अनिवार्यता का नियम प्रचलित रहा है और वहां मत न देने वाले को दण्ड दिया जाता था। इसके पक्ष में मूल तर्क यह है कि मत देना नागरिक का अधिकार ही नहीं वरन् कर्तव्य भी है, जो इस कर्तव्य का पालन नहीं करता, वह अच्छा नागरिक नहीं है और उसको दण्ड देना उचित है, किन्तु अनिवार्य मतदान के विरुद्ध तर्क यह है कि जो व्यक्ति मत देने नहीं जाते, उन्हें सार्वजनिक जीवन के प्रति न तो कोई रुचि होती है और न कोई ज्ञान। ऐसे व्यक्ति का मत देना, न देना एकसा है। अतः यदि उसे मत देने के लिए बाध्य किया गया, तो वह बिना सोचे-विचारे या प्रलोभन के आधार पर अपने मत का प्रयोग करेगा और इससे लाभ के बजाय हानि ही होगी। मतदान तो एक नैतिक कर्तव्य है और बल प्रयोग द्वारा किसी व्यक्ति को नैतिक नहीं बनाया जा सकता। अतः अनिवार्य मतदान का समर्थन तो नहीं किया जा सकता। हां, ऐसे प्रयत्न अवश्य ही किये जाने चाहिए, जिससे अधिकाधिक मतदाता अपने मत का प्रयोग करने के लिए प्रेरित हों। 2009

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में गुजरात राज्य ने एक विधेयक पास कर राज्य में अनिवार्य मतदान लागू करने का प्रयास किया था लेकिन वहां के राज्यपाल ने विधेयक पर अपनी स्वीकृति नहीं दी है। अतः यह कानून नहीं बन पाया।

अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व

सिद्धान्त रूप में प्रजातन्त्र को समस्त जनता का शासन कहा जाता है, लेकिन व्यवहार में अपनी बहुमत निर्वाचन पद्धति के कारण प्रजातन्त्र 'बहुमत का शासन' बनकर रह जाता है। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि प्रजातन्त्र के अन्तर्गत बहुसंख्यकों को ही नहीं, वरन् अल्पसंख्यकों को भी पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए, ताकि प्रजातन्त्र अपने आदर्श रूप अर्थात् यथार्थ में सभी व्यक्तियों का शासन हो सके।

अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने की सबसे प्रमुख पद्धति : आनुपातिक प्रतिनिधित्व

1. आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation)—इस पद्धति का प्रतिपादन 18वीं सदी के एक अंग्रेज विचारक थॉमस हेयर के द्वारा किया गया था। इस पद्धति को अपनाने के लिए बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होने चाहिए, और ऐसे निर्वाचन क्षेत्रों में प्रत्येक मतदाता को उतनी ही संख्या में मत देने का अधिकार होता है, जितने उम्मीदवार चुने जाने हैं, इस प्रकार के चुनाव के अन्तर्गत उन उम्मीदवारों को विजयी समझा जाता है जिन्हें अपेक्षाकृत बहुमत नहीं वरन् मतदाताओं की एक निश्चित संख्या का समर्थन अर्थात् 'चुनाव कोटा' (Election Quota) प्राप्त हो जाय। आनुपातिक प्रतिनिधित्व को दो रूपों में अपनाया जा सकता है :

अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने की पद्धतियां

(i) आनुपातिक प्रतिनिधित्व
  (अ) एकल संक्रमणीय मत प्रणाली
  (ब) सूची प्रणाली
(2) एकत्रित मतदान योजना
(3) सीमित मतदान योजना
(4) द्वितीय मतपत्र योजना
(5) पृथक् निर्वाचन प्रणाली
(6) आरक्षित स्थान युक्त संयुक्त निर्वाचन प्रणाली

(अ) एकल संक्रमणीय मत प्रणाली—सामान्यतया आनुपातिक प्रतिनिधित्व को एकल संक्रमणीय मत प्रणाली के आधार पर ही अपनाया जाता है। इस प्रणाली के लिए बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र जरूरी है और एक निर्वाचन क्षेत्र में चुने जाने वाले सदस्यों की संख्या चाहे कितनी ही हो, प्रत्येक मतदाता को केवल एक ही मत देने का अधिकार होता है। प्रत्येक मतदाता मतपत्र पर दिये गये सब उम्मीदवारों में से जिसे सबसे अधिक उपयुक्त समझता है, उसके नाम के आगे पहली पसन्द, अपनी पसन्द के अनुसार उससे कम उपयुक्त उम्मीदवार के नाम के आगे अपनी दूसरी पसन्द और इस प्रकार जितने सदस्य निर्वाचित होने हैं, क्रमशः उतनी पसन्दें लिख देता है।

पसन्दगियों के उल्लेख की यह व्यवस्था प्रत्येक मतपत्र का उचित उपयोग करने के लिए की जाती है। जब एक उम्मीदवार अपनी लोकप्रियता के कारण निश्चित संख्या (Quota) से अधिक मत प्राप्त कर लेता है, तो इन अतिरिक्त मतों को मतदाताओं की दूसरी पसन्द के उम्मीदवार को हस्तान्तरित कर दिया जाता है। इसी प्रकार यदि किसी उम्मीदवार को इतने कम मत प्राप्त हों कि उसके निर्वाचित होने की कोई सम्भावना न रहे, तो मतदाताओं की पसन्द के अनुसार इन मतों को दूसरे उम्मीदवारों को हस्तान्तरित कर दिया जाता है। मतों के हस्तान्तरण की इस व्यवस्था के कारण ही इसे 'एकल संक्रमणीय मत प्रणाली' कहा जाता है।

निश्चित मत संख्या (Election Quota)—निश्चित मत संख्या प्रयुक्त किये गये मतों की संख्या में निर्वाचित होने वाले सदस्यों की संख्या में एक जोड़कर उसका भाग देकर तथा परिणाम में एक जोड़कर निकाली जाती है। इसका सूत्र निम्न प्रकार है :

$$\text{निश्चित मत संख्या} = \frac{\text{मतों की संख्या}}{\text{सदस्यों की संख्या} + 1} + 1$$

मतगणना—वे उम्मीदवार जो पहली पसन्द के मतों की गणना में ही निश्चित मत संख्या प्राप्त कर लेते हैं, पहले ही निर्वाचित घोषित कर दिये जाते हैं। जब पहली पसन्द के मतों की गणना के आधार पर निश्चित संख्या में सदस्य निर्वाचित नहीं हो पाते, तब मतों का संक्रमण या हस्तान्तरण होता है। निर्वाचित उम्मीदवारों के निश्चित मत संख्या से अधिक मतों को दूसरी पसन्द के आधार पर अन्य उम्मीदवारों को हस्तान्तरित कर दिया जाता है। ऐसा करने से जो उम्मीदवार निश्चित मत संख्या प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें निर्वाचित घोषित

CC-0. Arya Mata Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर दिया जाता है। इस प्रकार मतों का तब तक हस्तान्तरण होता रहता है, जब तक कि आवश्यक संख्या में सदस्य निश्चित मत संख्या प्राप्त नहीं कर लेते।

यह प्रणाली जटिल है और इसी कारण इसका प्रयोग बहुत कम देशों में किया जाता है। नार्वे, डेनमार्क, स्वीडन, फिनलैण्ड, आदि देशों में यह प्रणाली प्रचलित है और भारत में इस प्रणाली का प्रयोग राज्यसभा और विधानपरिषद् के चुनाव के लिए किया जाता है।

(ब) सूची प्रणाली—आनुपातिक मत पद्धति का दूसरा रूप सूची प्रणाली है। इस प्रणाली के अन्तर्गत भी बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होते हैं और एक निर्वाचन क्षेत्र से 15-20 तक सदस्य चुने जा सकते हैं। इस प्रणाली के अन्तर्गत जो उम्मीदवार खड़े होते हैं, उनकी उनके दलों के अनुसार अलग-अलग सूचियां बना ली जाती हैं। प्रत्येक मतदाता चुने जाने वाली संख्या के बराबर मत दे सकता है, पर एक उम्मीदवार को एक ही मत प्राप्त होता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत उम्मीदवारों को पृथक्-पृथक् प्राप्त मतों की गणना नहीं की जाती, वरन् विभिन्न सूचियों को प्राप्त मतों की गणना की जाती है। इसके पश्चात् एकल संक्रमणीय प्रणाली के अनुसार निश्चित मत संख्या निकाली जाती है तथा उस मत संख्या के अनुसार प्राप्त मतों के आधार पर प्रत्येक सूची में कितने उम्मीदवार निर्वाचित होने चाहिए यह निकाल लिया जाता है। प्रत्येक सूची के कौन से उम्मीदवार निर्वाचित माने जायें, इसके लिए उन उम्मीदवारों को निर्वाचित माना जाता है, जिन्होंने उस सूची में सबसे अधिक मत प्राप्त किये हों। इस योजना से सभी दलों को उनकी शक्ति के अनुपात में प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व के गुण
(MERITS OF PROPORTIONAL REPRESENTATION)

आनुपातिक प्रतिनिधित्व के गुण निम्नलिखित हैं :

आनुपातिक प्रतिनिधित्व के गुण
(1) अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व
(2) व्यवस्थापिकाएं पूर्ण प्रतिनिधि होती हैं
(3) नागरिक चेतना का विकास
(4) चुनाव जुआ नहीं होते

(1) अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व—इस पद्धति के अन्तर्गत अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है। जब व्यवस्थापिका में प्रत्येक वर्ग को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है और देश के प्रत्येक वर्ग को अपने विचार व्यक्त करने का अवसर प्राप्त हो जाता है तो प्रजातन्त्र अपने पूर्ण और वास्तविक रूप में प्रकट होता है। इससे अल्पसंख्यकों में सुरक्षा की भावना भी उत्पन्न होती है।

(2) व्यवस्थापिकाएं पूर्ण प्रतिनिधि होती हैं—आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति ने अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व की जटिल समस्या का सबसे सरल हल प्रस्तुत किया है। जब प्रत्येक वर्ग को अपनी संख्यात्मक शक्ति के आधार पर प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है, तो व्यवस्थापिकाएं पूर्ण प्रतिनिधि हो जाती हैं।

(3) नागरिक चेतना का विकास—सभी वर्गों को व्यवस्थापिका में उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाने से नागरिक चेतना का विकास होता है और वे सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति उदासीन नहीं रहते।

(4) चुनाव जुआ नहीं होते—साधारण बहुमत पद्धति के अन्तर्गत चुनाव परिणाम चुनाव के समय की विशेष परिस्थितियों पर ही निर्भर करते हैं और इसी कारण चुनावों को जुआ कहा जाता है। लेकिन आनुपातिक प्रतिनिधित्व में प्रत्येक वर्ग अपनी संख्या के अनुपात के आधार पर प्रतिनिधित्व प्राप्त कर सकता है और इस प्रकार चुनाव जुआ मात्र नहीं रहते हैं। वस्तुतः बहुमत पर आधारित निर्वाचन प्रणाली (First past the post system) में वही उम्मीदवार चुनाव जीत जाता है जिसे सर्वाधिक मत प्राप्त होते हैं। भले ही विजयी उम्मीदवार को सभी मतदाताओं का बहुमत न मिल सके। यह प्रजातन्त्र की भावना के विपरीत है। इस बुराई से बचने के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व का समर्थन किया जाता है।

इसके अतिरिक्त इसे न्याय पर आधारित और सर्वथा प्रजातन्त्रवादी पद्धति कहा जा सकता है।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व के दोष
(DEMERITS OF PROPORTIONAL REPRESENTATION)

प्रो. लास्की आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति के प्रमुख आलोचक रहे हैं। इस पद्धति के अग्र दोष बताये जा सकते हैं :

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(1) अनेक राजनीतिक दलों और गुटों को जन्म—इस पद्धति के द्वारा जब प्रत्येक वर्ग या हित को पृथक् प्रतिनिधित्व का आश्वासन प्राप्त हो जाता है तो राजनीतिक दलों और गुटों की संख्या बहुत अधिक बढ़ जाती है, जो राजनीतिक जीवन के लिए हितकर नहीं होता।

(2) वर्गीय हितों को प्रोत्साहन—इस पद्धति के आधार पर निर्वाचित व्यवस्थापिका राष्ट्रीय एकता का साधन न होकर विभिन्न क्षेत्रीय और वर्गीय हितों का संघर्ष-स्थल बन जाती है। सभी समस्याओं पर राष्ट्रीय हित की दृष्टि से नहीं, वरन् वर्गीय हितों की दृष्टि से ही विचार किया जाता है। सिजविक के शब्दों में, "वर्गीय प्रतिनिधित्व आवश्यक रूप से दूषित वर्गीय व्यवस्थापन को प्रोत्साहित करता है।"

आनुपातिक प्रतिनिधित्व के दोष
(1) अनेक राजनीतिक दलों और गुटों को जन्म
(2) वर्गीय हितों को प्रोत्साहन
(3) मिले-जुले मन्त्रिमण्डलों का निर्माण और परिणामतः अस्थायी सरकारें
(4) निर्वाचकों और प्रतिनिधियों में सम्पर्क नहीं
(5) अत्यधिक जटिल पद्धति
(6) उपचुनावों के लिए व्यवस्था नहीं

(3) मिले-जुले मन्त्रिमण्डलों का निर्माण और परिणामतः अस्थायी सरकारें—जब राजनीतिक दलों की संख्या बहुत अधिक हो जाती है तो साधारणतया कोई एक राजनीतिक दल अकेले ही सरकार का निर्माण करने की स्थिति में नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में मिले-जुले मन्त्रिमण्डलों का निर्माण किया जाता है और फ्रांस तथा चतुर्थ आम चुनावों के बाद भारतीय संघ के राज्यों के अनुभवों के आधार पर कहा जा सकता है कि ये मन्त्रिमण्डल नितान्त अस्थायी होते हैं और प्रशासन की एकता एवं उत्तरदायित्व को नष्ट कर देते हैं।

(4) निर्वाचकों और प्रतिनिधियों में सम्पर्क नहीं—आनुपातिक प्रतिनिधित्व में बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र आवश्यक होते हैं और इन बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों का परिणाम यह होता है कि निर्वाचकों और उनके प्रतिनिधियों में प्रत्यक्ष और निजी सम्पर्क नहीं रहता। निर्वाचकों और प्रतिनिधियों में सम्पर्क का अभाव प्रजातन्त्र के मूल उद्देश्य को ही नष्ट कर देता है।

(5) अत्यधिक जटिल पद्धति—यह पद्धति अत्यन्त जटिल है और साधारण व्यक्ति इसे नहीं समझ सकता है। इसके अतिरिक्त सूची पद्धति में भ्रष्ट उपायों के प्रयोग की भी आशंका रहती है।

(6) उपचुनावों के लिए व्यवस्था नहीं—यह पद्धति इस कारण भी दोषपूर्ण है कि इसमें उपचुनावों के लिए कोई व्यवस्था सम्भव नहीं है। उपचुनाव लोकमत का दर्पण समझे जाते हैं।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के इन्हीं दोषों के कारण इसका प्रचलन कम है।

अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व हेतु अन्य पद्धतियां

अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने की अन्य पद्धतियां हैं :

1. एकत्रित मतदान योजना (Cumulative Vote System)—यह पद्धति बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों में लागू है। इसके अन्तर्गत मतदाता अपने सभी मत (निर्वाचन क्षेत्र से चुने जाने वाले प्रतिनिधियों के बराबर) चाहे तो सभी प्रत्याशियों में बांट दे या एक ही प्रत्याशी को सारे मत दे दे। इससे अल्पसंख्यक अपने कुछ प्रतिनिधियों को जिताने में सफल हो जाते हैं।

2. सीमित मतदान योजना (Limited Vote System)—यह प्रणाली एकत्रित मतदान की तरह ही है। अन्तर यह है कि इसमें मतदाता को चुनाव क्षेत्र से चुने जाने वाले प्रत्याशियों की संख्या से एक कम मत देने का अधिकार होता है।

इन दोनों पद्धतियों का प्रयोग वर्तमान समय में विश्व के किसी भी देश में नहीं किया जा रहा है।

3. द्वितीय मतपत्र योजना (Second Ballot System)—प्रमुख रूप में आज केवल फ्रांस में इस पद्धति का प्रयोग किया जा रहा है। यदि प्रथम चुनाव में किसी प्रत्याशी को कुल मतों का बहुमत नहीं प्राप्त होता तो सर्वाधिक मत पाने वाले दो प्रत्याशियों के लिए दुबारा मतदान कराया जाता है जिससे किसी एक को अवश्य बहुमत प्राप्त हो जाएगा।

4. पृथक् निर्वाचन योजना (Separate or Communal Electorate System)—पराधीन भारत में ब्रिटिश सरकार द्वारा इस पद्धति के अत्यधिक भयंकर परिणाम हुए। यह संयुक्त निर्वाचन प्रणाली से विपरीत है तथा चुनाव में उसी चुनाव प्रणाली है। इसमें चुनाव क्षेत्रों का आधार वर्ग विशेष के लिए किया जाता है

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्ग विशेष के मतदाता ही मत का प्रयोग कर सकते हैं। ब्रिटिश काल में मुसलमानों के लिए इसी प्रकार की निर्वाचन प्रणाली को अपनाया गया था जिसे साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के नाम से जाना जाता है।

5. आरक्षित स्थान युक्त संयुक्त निर्वाचन प्रणाली (Joint Electorate System with Reservation of Seats)—इस प्रणाली के अन्तर्गत निश्चित संख्या में कुछ निर्वाचन क्षेत्र अल्पसंख्यक वर्गों या कमजोर वर्गों के लिए निर्धारित कर दिये जाते हैं। इन निर्वाचन क्षेत्रों में उस वर्ग विशेष के प्रतिनिधि ही चुनाव लड़ सकते हैं, लेकिन ये प्रतिनिधि उस वर्ग विशेष के मतदाताओं द्वारा नहीं, वरन् उस क्षेत्र विशेष के सभी मतदाताओं द्वारा चुने जाते हैं। इस प्रणाली की श्रेष्ठता यह है कि एक ओर तो इसमें अल्पसंख्यक वर्गों को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है तथा दूसरी ओर अल्पसंख्यक वर्गों से ऐसे प्रतिनिधि चुने जाते हैं, जिन्हें सभी वर्गों का समर्थन प्राप्त हो। इससे अल्पसंख्यक वर्गों में अलगाव की प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं हो पाती और ये प्रतिनिधि न केवल अपने वर्ग विशेष वरन् सार्वजनिक हित के लिए कार्य करते हैं। भारत में अनुसूचित जातियों और जनजाति क्षेत्रों के चुनाव के लिए इस पद्धति को अपनाया गया है।

6. व्यावसायिक प्रतिनिधित्व—जी. डी. एच कोल जैसे विचारकों ने व्यावसायिक प्रतिनिधित्व का समर्थन किया है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यवसाय (Profession) के व्यक्तियों को संसद में अपनी संख्या के अनुपात में प्रतिनिधि भेजने का अधिकार होता है। इसमें व्यवस्थापिका समाज में पाए जाने वाले विभिन्न व्यावसायिक वर्गों की प्रतिनिधि होते हैं।

जन-प्रतिनिधियों के कर्तव्य

मतदाता, जिन्हें अपना प्रतिनिधि चुनते हैं उनके कर्तव्यों का ज्ञान प्राप्त करना उपयोगी होगा। नागरिक और राजनीतिक जीवन का अध्ययन करने वाले विद्वानों द्वारा जन-प्रतिनिधियों के प्रमुख रूप से निम्नलिखित कर्तव्य बताये गये हैं :

(1) मतदाताओं को सार्वजनिक विषयों का ज्ञान प्रदान करना—जन-प्रतिनिधियों द्वारा मतदाताओं को सार्वजनिक विषयों का ज्ञान प्रदान किया जाना चाहिए और इन्हें इस योग्य बनाया जाना चाहिए कि वे राजनीतिक विषयों के सम्बन्ध में उचित प्रकार से निर्णय कर सकें।

जन-प्रतिनिधियों के कर्तव्य
1. मतदाताओं को सार्वजनिक विषयों का ज्ञान प्रदान करना
2. सदाचार और कर्तव्यपरायणता
3. कार्यक्रम तथा नीति को क्रियान्वित करना
4. मतदाताओं से सम्पर्क बनाये रखना
5. राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि रखना

(2) सदाचार और कर्तव्यपरायणता—जन-प्रतिनिधि समाज के नायक होते हैं और उनके चरित्र का समाज के अन्य व्यक्तियों पर अनिवार्य रूप से प्रभाव पड़ता है। अतः जन-प्रतिनिधियों के द्वारा सदाचार और कर्तव्यपरायणता का पालन किया जाना चाहिए तथा उनका चरित्र अनुकरणीय होना चाहिए।

(3) कार्यक्रम तथा नीति को क्रियान्वित करना—जन-प्रतिनिधियों का कर्तव्य है कि उनके द्वारा जिस कार्यक्रम तथा नीति के आधार पर चुनाव लड़ा गया था, उनके द्वारा उसे क्रियान्वित किया जाय। इससे उनकी सच्चाई और ईमानदारी सिद्ध होती है और निर्वाचकों का उनमें विश्वास बढ़ जाता है।

(4) मतदाताओं से सम्पर्क बनाये रखना—जन-प्रतिनिधि जनता और शासन के बीच एक कड़ी होती है। अतः प्रत्येक प्रतिनिधि का कर्तव्य है कि वह निर्वाचकों से अपना घनिष्ठ सम्पर्क बनाये रखे, उनकी समस्याओं को जाने और उन्हें दूर करने का प्रयत्न करे। अनेक बार ऐसा देखा जाता है कि चुन लिये जाने पर प्रतिनिधि मतदाताओं से सम्पर्क बनाये रखना आवश्यक नहीं समझते। यह बात न तो सराहनीय है और न ही उनके अपने हित में होती है।

(5) राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि रखना—प्रतिनिधि किसी एक विशेष निर्वाचन क्षेत्र से चुने जाते हैं, किन्तु उनके द्वारा अपने आपको उस निर्वाचन क्षेत्र का ही प्रतिनिधि नहीं, वरन् समस्त राष्ट्र का प्रतिनिधि समझा जाना चाहिए। मतदाताओं द्वारा भी अपने प्रतिनिधियों पर इस बात के लिए दबाव नहीं डाला जाना चाहिए कि वे स्थानीय हित को ही सब कुछ समझें। ब्रिटिश संसद के प्रसिद्ध सदस्य एडमण्ड बर्क (Edmund Burke) ने इस सम्बन्ध में कहा है कि "निस्सन्देह तुम सदस्य को चुनते हो, लेकिन जब तुमने उसको चुन लिया, तब वह ब्रिस्टल का सदस्य नहीं रह गया वरन् पार्लियामेण्ट का सदस्य बन गया।"

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस सबके अतिरिक्त जन-प्रतिनिधियों का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे उस दल के ही सदस्य बने रहें, जिस दल के टिकट पर उनके द्वारा चुनाव लड़कर सफलता प्राप्त की गयी थी। पद या धन के प्रलोभन के वशीभूत होकर दल परिवर्तन नहीं किया जाना चाहिए। यदि विचार परिवर्तन के कारण दल बदलना जरूरी हो जाय, तो पहले उस सदस्यता का त्याग किया जाना चाहिए जो उस दल के आधार पर प्राप्त की गयी है जिसे वह छोड़ रहा है। दल-बदल राजनीतिक जीवन की बहुत बड़ी बुराई है।

आदर्श निर्वाचन प्रणाली के तत्व

मतदाताओं और प्रतिनिधित्व के सम्पूर्ण प्रश्न की विवेचना के आधार पर आदर्श निर्वाचन प्रणाली के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक कही जा सकती हैं :

(1) सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार—प्रजातन्त्र की सफलता के लिए सभी नागरिकों को समान राजनीतिक शक्ति प्राप्त होनी चाहिए, जो वयस्क मताधिकार की व्यवस्था को अपनाने पर ही सम्भव है। अतः सभी व्यक्तियों को बिना किसी प्रकार के भेदभाव के मताधिकार प्राप्त होना चाहिए।

आदर्श निर्वाचन प्रणाली के तत्व
1. सार्वलौकिक वयस्क मताधिकार
2. गुप्त मतदान की व्यवस्था
3. मुख्यतया प्रत्यक्ष और गौण रूप में अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली
4. एकलसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र
5. अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व
6. प्रादेशिक प्रतिनिधित्व
7. प्रतिनिधियों का सामान्य कार्यकाल
8. प्रतिनिधि वापस बुलाने की व्यवस्था

(2) गुप्त मतदान की व्यवस्था—गुप्त मतदान (Secret Ballot) की व्यवस्था का अर्थ यह है कि मतदाता ने अपना मत किसके पक्ष में दिया है, इसकी जानकारी दूसरों को न हो सके। गुप्त मतदान की व्यवस्था के अन्तर्गत ही मतदाता अपनी इच्छानुसार मत का प्रयोग कर सकता है।

(3) मुख्यतया प्रत्यक्ष और गौण रूप में अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली—प्रत्यक्ष निर्वाचन की पद्धति ही प्रजातान्त्रिक धारणाओं के अनुकूल है। अतः सामान्यतः निर्वाचन प्रत्यक्ष पद्धति के आधार पर होने चाहिए। मतदाताओं की संख्या अधिक होने के कारण सदैव ही इसे अपनाना न तो सम्भव है और न ही उचित। इसलिए कुछ विशेष पदों के सम्बन्ध में अप्रत्यक्ष निर्वाचन को भी अपनाया जा सकता है। भारतीय संविधान के द्वारा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष निर्वाचन में श्रेष्ठ समन्वय की व्यवस्था की गयी है। लोकसभा और राज्यों की विधानसभाओं के गठन हेतु प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली अपनायी गयी है तो राज्यसभा और राष्ट्रपति पद के चुनाव हेतु अप्रत्यक्ष निर्वाचन की प्रणाली को अपनाया गया है।

(4) एकलसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र—निर्वाचन क्षेत्र सामान्यतः एकलसदस्यीय होने चाहिए, जिससे मतदाताओं और प्रतिनिधियों के बीच निकट सम्बन्ध स्थापित हो सके।

(5) अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व—प्रजातन्त्र को न्यायपूर्ण बनाने हेतु अल्पसंख्यकों को उचित और पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में पिछड़े हुए वर्गों के लिए 'सीटों के आरक्षण' की व्यवस्था की जा सकती है और व्यवस्थापिका के द्वितीय सदन के गठन हेतु आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति को अपनाया जा सकता है।

(6) प्रादेशिक प्रतिनिधित्व—प्रजातन्त्र में व्यावसायिक प्रतिनिधित्व या साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता, अतः प्रादेशिक प्रतिनिधित्व को ही अपनाया जाना चाहिए। राष्ट्रीय आदर्शों की सिद्धि इस पद्धति को अपनाकर ही की जा सकती है।

(7) प्रतिनिधियों का सामान्य कार्यकाल—प्रतिनिधियों के कार्यकाल के सम्बन्ध में अलग-अलग प्रकार के सुझाव दिये जाते हैं। इस सम्बन्ध में कुछ विचारकों के द्वारा 1 वर्ष की अवधि का तो कुछ अन्य के द्वारा 7 या 10 वर्ष की अवधि का सुझाव दिया गया है। वास्तव में प्रतिनिधियों का कार्यकाल न तो बहुत अधिक होना चाहिए और न ही बहुत कम। 3 से 5 वर्ष तक का कार्यकाल सर्वोत्तम कहा जा सकता है।

(8) प्रतिनिधि वापस बुलाने की व्यवस्था (Recall system)—आम तौर पर यह देखा जाता है कि चुने जाने के बाद जन-प्रतिनिधि अनुत्तरदायी हो जाते हैं। इसके लिए उनके कार्यकाल के समाप्ति के पूर्व ही मतदाताओं को उन्हें बुलाने व हटाने का अधिकार होना चाहिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन सबके अतिरिक्त मतदान और प्रतिनिधित्व की व्यवस्था में इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि मतदान की व्यवस्था करने वाले अधिकारी ईमानदार और निष्पक्ष हों। इस बात का पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए कि मतदान से सम्बन्धित समस्त व्यवस्था में अनुचित साधनों या दबाव का आश्रय नहीं लिया जा सके।

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (प्रत्येक प्रश्न 6 अंक का, उत्तर लगभग 300 शब्दों में दीजिए)

1. वयस्क मताधिकार से आप क्या समझते हैं? इसके गुण तथा दोषों की विवेचना कीजिए।
2. अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व से क्या तात्पर्य है? इनका सबसे अच्छा तरीका कौन-सा है?
3. विधानमण्डल के लिए प्रतिनिधियों के निर्वाचन की विविध प्रणालियों का वर्णन कीजिए तथा उनके गुण-दोषों का उल्लेख कीजिए।
4. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :
   (क) एकल संक्रमणीय प्रणाली या आनुपातिक प्रतिनिधित्व।
   (ख) सूची प्रणाली।
   (ग) वयस्क मताधिकार।
   (घ) प्रत्यक्ष निर्वाचन।
   (ङ) महिलाओं के प्रतिनिधित्व की समस्या।
   (च) जन-प्रतिनिधियों के कर्तव्य।
   (छ) आदर्श निर्वाचन प्रणाली के तत्व।
5. अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के गुण एवं दोषों की विवेचना कीजिए। (उ.प्र., 2010)
   अथवा, आनुपातिक प्रतिनिधित्व से आप क्या समझते हैं? इसके गुण एवं दोषों की विवेचना कीजिए? (उ.प्र., 2010)

लघु उत्तरीय प्रश्न

(अ) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 50 शब्दों में दीजिए (2 अंक)।

1. वयस्क मताधिकार का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. प्रत्यक्ष निर्वाचन के दोष लिखिए।
3. अप्रत्यक्ष निर्वाचन के प्रमुख गुण लिखिए।
4. अप्रत्यक्ष निर्वाचन के प्रमुख दोष लिखिए।
5. आनुपातिक प्रतिनिधित्व के प्रमुख गुणों का वर्णन कीजिए।
6. आनुपातिक प्रतिनिधित्व के प्रमुख दोषों का वर्णन कजिए।
7. जन-प्रतिनिधियों के प्रमुख कर्तव्यों को स्पष्ट कीजिए।

(ब) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिए (4 अंक)।

8. वयस्क मताधिकार के पक्ष में अपने विचार प्रकट कीजिए।
   अथवा, वयस्क मताधिकार के गुण लिखिए।
9. वयस्क मताधिकार के विपक्ष में तर्क दीजिए।
   अथवा, वयस्क मताधिकार के प्रमुख दोषों को स्पष्ट कीजिए।
10. प्रत्यक्ष निर्वाचन के गुण लिखिए। (उ.प्र., 2010)
11. अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने की कौन-कौन सी प्रमुख पद्धतियां हैं?
12. आदर्श निर्वाचन प्रणाली के प्रमुख तत्वों को स्पष्ट कीजिए।
13. सार्वभौमिक मताधिकार के पक्ष में चार तर्क दीजिए। (उ.प्र., 2010)

अति लघु उत्तरीय प्रश्न [प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का, उत्तर दस शब्द (एक वाक्य) में]

प्रश्न 1. वयस्क मताधिकार के पक्ष में एक तर्क दीजिए।
उत्तर—नितान्त औचित्यपूर्ण और लोकतन्त्र की धारणा के अनुकूल।

प्रश्न 2. वयस्क मताधिकार के विपक्ष में एक तर्क दीजिए।
उत्तर—जनसाधारण मताधिकार के उचित प्रयोग के लिए आवश्यक योग्यता नहीं रखता।

प्रश्न 3. निर्वाचन पद्धति कितने प्रकार की होती है?
CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.
उत्तर—निर्वाचन पद्धति सामान्य रूप से दो प्रकार की हो सकती है : (1) प्रत्यक्ष निर्वाचन, (2) अप्रत्यक्ष निर्वाचन।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न 4. प्रत्यक्ष निर्वाचन का एक गुण लिखिए।
उत्तर—राजनीतिक शिक्षा।

प्रश्न 5. प्रत्यक्ष निर्वाचन का एक दोष लिखिए।
उत्तर—बुद्धिमान व्यक्तियों का निर्वाचनों से दूर रहना।

प्रश्न 6. अप्रत्यक्ष निर्वाचन का एक गुण लिखिए।
उत्तर—योग्य व्यक्तियों का निर्वाचन सम्भव होना।

प्रश्न 7. अप्रत्यक्ष निर्वाचन का एक दोष लिखिए।
उत्तर—सार्वजनिक कार्यों में उदासीनता।

प्रश्न 8. निर्वाचन क्षेत्र मुख्य रूप से कितने प्रकार के होते हैं?
उत्तर—निर्वाचन क्षेत्र प्रमुख रूप से दो प्रकार के होते हैं : (1) एक-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र, (2) बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र।

प्रश्न 9. अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने की दो पद्धतियों का नाम लिखो।
उत्तर—(1) आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति, (2) एकत्रित मतदान योजना।

प्रश्न 10. आनुपातिक प्रतिनिधित्व को कितने रूपों में अपनाया जा सकता है?
उत्तर—आनुपातिक प्रतिनिधित्व को दो रूपों में अपनाया जा सकता है : (1) एकल संक्रमणीय मत प्रणाली, (2) सूची प्रणाली।

प्रश्न 11. आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति का एक गुण लिखिए।
उत्तर—अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व।

प्रश्न 12. आनुपातिक प्रतिनिधित्व का एक प्रमुख दोष लिखिए।
उत्तर—अत्यधिक जटिल पद्धति।

प्रश्न 13. जन-प्रतिनिधियों का एक कर्तव्य लिखिए।
उत्तर—मतदाताओं को सार्वजनिक विषयों का ज्ञान प्रदान करना।

प्रश्न 14. आदर्श निर्वाचन प्रणाली का एक प्रमुख तत्व लिखिए।
उत्तर—गुप्त मतदान की व्यवस्था।

प्रश्न 15. भारत में वयस्क मताधिकार के लिए न्यूनतम आयु कितनी है?
उत्तर—18 वर्ष।

बहुविकल्पीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों में चार विकल्प दिए गए हैं। उनमें से एक सही विकल्प छांटकर लिखिए :

1. सीमित मताधिकार के विचार के समर्थक हैं :
(अ) ब्लण्टशली (ब) मिल (स) पेन (द) इनमें से सभी

2. भारत में कितने वर्ष के व्यक्ति को वयस्क समझा जाता है :
(अ) 15 वर्ष (ब) 18 वर्ष (स) 20 वर्ष (द) 21 वर्ष

3. निम्नलिखित में से कौन-सा तर्क वयस्क मताधिकार के पक्ष में नहीं है?
(अ) लोकसत्ता की वास्तविक अभिव्यक्ति (ब) अल्पसंख्यकों के अधिकार सुरक्षित
(स) अनुदारवादिता को प्रोत्साहन (द) सार्वजनिक शिक्षा का साधन

4. वयस्क मताधिकार के सिद्धान्त का खण्डन करने वाला विचारक है :
(अ) सर हेनरीमेन (ब) सिजविक (स) लैकी (द) इनमें से सभी

5. वयस्क मताधिकार के विपक्ष में दिया जाने वाला तर्क है :
(अ) भ्रष्टाचार को जन्म (ब) अनुदारवादिता को प्रोत्साहन
(स) शासनाधिकार अशिक्षितों के हाथ में (द) इनमें से सभी (उ.प्र., 2010)

6. "वयस्क मताधिकार का कोई विकल्प नहीं है।" यह कथन किसका है :
(अ) लास्की का (ब) ब्राइस का
(स) सिजविक का (द) ब्लण्टशली का

7. निम्नलिखित में से कौन-सा प्रत्यक्ष निर्वाचन का गुण नहीं है :
(अ) प्रजातन्त्रात्मक धारणा के अनुकूल (ब) मतदाता और प्रतिनिधि के मध्य सम्पर्क
(स) बुद्धिमान व्यक्ति निर्वाचन से दूर (द) राजनीतिक शिक्षा

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

8. प्रत्यक्ष निर्वाचन का दोष है :
(अ) सामान्य निर्वाचकों का मत त्रुटिपूर्ण (ब) सार्वजनिक शिक्षा का तर्क त्रुटिपूर्ण
(स) बुद्धिमान व्यक्ति निर्वाचन से दूर (द) इनमें से सभी

9. निम्नलिखित में से कौन-सा अप्रत्यक्ष निर्वाचन का गुण नहीं है?
(अ) योग्य व्यक्तियों का निर्वाचन सम्भव (ब) प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति के दोष कम हो जाना
(स) अप्रजातन्त्रात्मक (द) बड़े चुनाव क्षेत्रों में लाभप्रद

10. अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति का दोष है :
(अ) सार्वजनिक कार्यों में उदासीनता (ब) भ्रष्टाचार की आशंका
(स) जनता का प्रतिनिधि से सम्पर्क नहीं (द) इनमें से सभी

11. आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति का प्रतिपादन किसके द्वारा किया गया?
(अ) थॉमस हेयर (ब) ब्राइस (स) सर हेनरीमेन (द) इनमें से कोई नहीं

12. एकल संक्रमणीय मत प्रणाली किस देश में व्यापक रूप से प्रचलित है :
(अ) नार्वे में (ब) डेनमार्क में
(स) स्वीडन में (द) इनमें से सभी

13. निम्नलिखित में से कौन-सा आनुपातिक प्रतिनिधित्व का गुण नहीं है?
(अ) अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व (ब) व्यवस्थापिकाएं पूर्ण प्रतिनिधि होती हैं
(स) वर्गीय हितों को प्रोत्साहन (द) नागरिक चेतना का विकास

14. आनुपातिक प्रतिनिधित्व का दोष है :
(अ) अनेक राजनीतिक दलों और गुटों को जन्म (ब) वर्गीय हितों को प्रोत्साहन
(स) निर्वाचकों और प्रतिनिधियों में सम्पर्क नहीं (द) इनमें से सभी

15. भारत में ब्रिटिश शासन द्वारा मुसलमानों को अपने पृथक् प्रतिनिधि चुनने का अधिकार किस अधिनियम द्वारा प्रदान किया गया :
(अ) 1909 के अधिनियम द्वारा (ब) 1919 के अधिनियम द्वारा
(स) 1935 के अधिनियम द्वारा (द) इनमें से कोई नहीं

16. जनप्रतिनिधियों का प्रमुख कर्तव्य है :
(अ) मतदाताओं को सार्वजनिक विषयों का ज्ञान प्रदान करना
(ब) सदाचार और कर्तव्यपरायणता
(स) मतदाताओं से सम्पर्क बनाए रखना (द) उपर्युक्त सभी

17. स्विट्जरलैण्ड में महिलाओं को मताधिकार कब प्रदान किया गया था?
(अ) 1968 में (ब) 1971 में (स) 1975 में (द) 1978 में

18. अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने की पद्धति है :
(अ) आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति (ब) एकत्रित मतदान योजना
(स) सीमित मतदान योजना (द) इनमें से सभी

19. आदर्श निर्वाचन प्रणाली के लिए आवश्यक है :
(अ) सार्वलौकिक वयस्क मताधिकार (ब) गुप्त मतदान की व्यवस्था
(स) एकलसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र (द) इनमें से सभी

20. निम्नलिखित में से किस विचारक ने वयस्क मताधिकार को नितान्त औचित्यपूर्ण बताया है :
(अ) सर हेनरीमेन ने (ब) सिजविक ने
(स) जॉन स्टुअर्ट मिल ने (द) लैकी ने

21. किसने कहा, "मत देने का अधिकार उन्हीं को प्राप्त होना चाहिए, जिनमें बौद्धिक योग्यता की एक सुनिश्चित मात्रा विद्यमान है, चाहे वे स्त्री हों या पुरुष?" (उ.प्र., 2010)
(अ) अब्राहम लिंकन (ब) जवाहरलाल नेहरू
(स) जे. एस. मिल (द) टी.एच. ग्रीन

[उत्तर—1. (द), 2. (ब), 3. (स), 4. (द), 5. (द), 6. (अ), 7. (स), 8. (द), 9. (स), 10. (द), 11. (अ), 12. (द), 13. (स), 14. (द), 15. (अ), 16. (द), 17. (ब), 18. (द), 19. (द), 20. (स, 21. (स)]

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

19

राष्ट्रीयता या राष्ट्रवाद

[NATIONALITY AND NATIONALISM]

"राष्ट्रीयता हृदयों की वह एकता है जो एक बार बनने के बाद कभी खण्डित नहीं होती।"[1]

—प्रो. जे. एच. रोज

राष्ट्रीयता का अर्थ और परिभाषा

मानवीय इतिहास में समय-समय पर राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में अलग-अलग दृष्टिकोण से विचार किया गया है। अत्यन्त प्राचीनकाल में इस शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर इसे जन्म अथवा नस्ल की एकता के रूप में समझा जाता था, किन्तु वर्तमान समय में इस विचार को ठीक नहीं समझा जाता है, क्योंकि जन्म अथवा नस्ल ही एक ऐसा आधार नहीं रह गया है जिसके कारण राष्ट्रीयता का निर्माण होता हो। इसके अतिरिक्त वर्तमान समय में नस्लों का एक ऐसा सम्मिश्रण हो गया है कि यह नहीं जाना जा सकता कि किस राष्ट्रीयता का उद्गम किस नस्ल विशेष से है।

कानूनी दृष्टिकोण के आधार पर राष्ट्रीयता की व्याख्या राज्य की सदस्यता के रूप में की जा सकती है और तात्विक दृष्टिकोण के आधार पर राष्ट्रीयता को वह एकानुभूति समझा जाता है जो भौगोलिक, ऐतिहासिक, नस्ल सम्बन्धी, सांस्कृतिक तथा अन्य ऐसे ही सम्बन्धों से उत्पन्न होती है।

वर्तमान समय में राष्ट्रीयता को एक सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक भावना समझा जाता है और इस रूप में राष्ट्रीयता की व्याख्या प्रमुख विद्वानों द्वारा इस प्रकार की गयी है। प्रो. जिमर्न ने राष्ट्रीयता की परिभाषा करते हुए कहा है कि "राष्ट्रीयता मेरे लिए एक राजनीतिक प्रश्न बिल्कुल नहीं है, यह प्रमुखतया तथा आवश्यक रूप से एक आध्यात्मिक प्रश्न है। राष्ट्रीयता धर्म की भांति व्यक्तिगत है, मनोवैज्ञानिक है, एक मानसिक स्थिति है तथा विचार करने, अनुभव करने और जीवित रहने का एक तरीका है।"[2]

ब्लण्टशली ने राष्ट्रीयता की परिभाषा करते हुए कहा है कि "राष्ट्रीयता मनुष्यों का वह परम्परागत समाज है जिसमें विभिन्न व्यवसाय करने वाले लोग सम्मिलित हों, जिनके विचार, भाव तथा स्वभाव एक से हों, जिनका जातीय मूल्य एक हो। जिनकी भाषा, रीति-रिवाज तथा सभ्यता समान हों तथा निवास-स्थान का अनुभव करके वह समाज यह समझ रहा हो कि वह एक है और अन्य व्यक्तियों से बिल्कुल भिन्न है।"

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि राष्ट्रीयता एक ऐसी मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक भावना है जो उस राष्ट्रीय जाति को अन्य राष्ट्रीय जातियों से पृथक् करती है। विभिन्न भाषा और धर्म के होते हुए एकता की भावना हो। वस्तुतः राष्ट्रीयता का कोई निश्चित रूप नहीं है। जिस प्रकार विभिन्न देशों के निवासियों में रंग-रूप का अन्तर पाया जाता है, उसी प्रकार राष्ट्रीयता से सम्बन्धित विचारों में भी विभिन्नता पायी जाती है, परन्तु जिस प्रकार उन सब में मनुष्यता का अंश समान रूप से पाया जाता है उसी प्रकार राष्ट्रीयता सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोण में एक बात समान रूप से अवश्य पायी जाती है कि यह एक होने की सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक भावना है। राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में डॉ. बेनीप्रसाद ने बिल्कुल ठीक ही कहा है कि "राष्ट्रीयता की निश्चित परिभाषा करना कठिन है, परन्तु यह स्पष्ट है कि ऐतिहासिक गतिविधि में यह पृथक् अस्तित्व की उस चेतना की प्रतीक है

1 "A union of hearts, once made, never unmade." —Rose, *Nationality in Modern History*, p. 147.

2 "Nationality to me is not a political question at all. It is primarily and essentially a spiritual question. Nationality like religion is subjective, psychological a condition of mind, a spiritual possession, a way of feeling, thinking and living." —*Zimmern*

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
जो सामान्य आदर्शों, परम्परागत रीति-रिवाज, स्मृतियों, आकांक्षाओं, अवर्णनीय सांस्कृतिक सम्प्रदाय तथा हितों पर आधारित है।"

राष्ट्रीयता के निर्माणक तत्व

राष्ट्रीयता एक भावात्मक और मनोवैज्ञानिक विषय है और जिस प्रकार राष्ट्रीयता की निश्चित शब्दों में परिभाषा करना कठिन है, उसी प्रकार यह निश्चित करना भी कठिन है कि राष्ट्रीयता का निर्माण किन तत्वों के आधार पर होता है। राष्ट्रीयता के विकास के कई आधार हैं। उनमें एवं किसी एक के आधार पर राष्ट्रीयता की भावना का विकास हो सकता है। राष्ट्रीयता के निर्माणक तत्वों के सम्बन्ध में कोई भी सर्वव्यापक तथा सर्वमान्य नियम नहीं बनाया जा सकता है, लेकिन फिर भी सामान्य धारणा के आधार पर राष्ट्रीयता के निर्माणक तत्वों की विवेचना निम्न प्रकार से की जाती है :

राष्ट्रीयता के निर्माणक तत्व
(1) धार्मिक एकरूपता
(2) सामान्य संस्कृति तथा परम्पराएं
(3) भाषा की एकता
(4) भौगोलिक एकता
(5) जातीय एकता
(6) सामान्य आर्थिक हित
(7) समान आधिपत्य तथा कष्ट
(8) राजनीतिक चेतना तथा आकांक्षाएं

(1) **धार्मिक एकरूपता**—राष्ट्रीयता के विकास में धर्म का एक महत्वपूर्ण योग रहा है। यहूदियों, तुर्कों और अरबों में राष्ट्रीयता का विकास प्रमुख रूप से धर्म के आधार पर हुआ और पूर्व के कुछ देशों में तो आज भी धर्म ही राष्ट्रीयता का महत्वपूर्ण निर्माणक तत्व माना जाता है, परन्तु पश्चिमी देशों में धर्म का प्रभाव कम हो गया है। अमरीका के राष्ट्रीय जीवन में धर्म ने शायद ही कभी प्रवेश किया हो। वस्तुतः अब धर्म राष्ट्रीयता के विकास में उतना महत्वपूर्ण तत्व नहीं रहा है जितना कि वह पहले कभी था। हेज (Hayes) के अनुसार, "अधिकांश रूप में आधुनिक राष्ट्रीयता धार्मिक विकास अथवा कार्यों की एकरूपता पर बिना जोर दिये हुए फल-फूल रही है।" फिर भी राष्ट्रीयता के विकास में धर्म की महत्वपूर्ण स्थिति है। उदाहरण के लिए, इजरायल में राष्ट्रवाद का आधार वहां के लोगों का यहूदी धर्म है।

(2) **सामान्य संस्कृति तथा परम्पराएं**—राष्ट्रीयता के विकास में सामान्य संस्कृति और परम्पराओं का बहुत अधिक महत्व है। इनके द्वारा मनुष्यों में सहयोग तथा एकता की भावनाएं विकसित होती हैं। सामान्य संस्कृति का अभिप्राय उन आचार-विचारों तथा रीति-रिवाजों से होता है जो एक समूह के मनुष्यों को एकता के सूत्र में बांधे रहते हैं। सामान्य साहित्य तथा इतिहास भी इसके अन्तर्गत आते हैं। राष्ट्रीय इतिहास तथा सामान्य परम्पराएं हम में एक ऐसे दृष्टिकोण का विकास करती हैं जिसके द्वारा सामूहिक चेतना और राष्ट्रीय दृष्टिकोण की उत्पत्ति होती है। जे. एस. मिल के अनुसार, "सामान्य सांस्कृतिक परम्पराएं तथा इतिहास राष्ट्रीयता के एकमात्र आवश्यक तथा अनिवार्य तत्व हैं।"

(3) **भाषा की एकता**—भाषा की एकता भी राष्ट्रीयता का एक निर्माणक तत्व है और राष्ट्रीयता के निर्माण में जातीय एकता की अपेक्षा भाषा की एकता का महत्व अधिक है। इस सम्बन्ध में बर्नार्ड जोजफ ने तो यहां तक कहा है कि "भाषा राष्ट्रीयता का सबसे शक्तिशाली तत्व है।" सामान्य भाषा ऐतिहासिक परम्पराओं को जीवित रखने में सहायक होती है और एक ऐसे राष्ट्रीय मनोविज्ञान को जन्म देती है जिसमें सामान्य नैतिकता का विकास सम्भव होता है, लेकिन सामान्य भाषा के बिना भी राष्ट्रीयता का विकास हो सकता है और एक भाषायी क्षेत्र भी पृथक्-पृथक् राष्ट्र हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, स्विट्जरलैण्ड और भारत में एक से अधिक भाषाएं बोली जाने पर भी ये एक राष्ट्र हैं और अमरीका तथा कनाडा में एक ही भाषा बोले जाने पर भी ये पृथक्-पृथक् राष्ट्र हैं।

(4) **भौगोलिक एकता**—राष्ट्रीयता के विकास में भौगोलिक एकता का भी काफी हाथ रहता है। देश की प्राकृतिक सीमाएं राष्ट्रीयता के विकास में सबसे अधिक बलशाली सिद्ध हुई हैं। एक ही स्थान पर रहने का बड़ा प्रभाव पड़ता है। सामान्य भौगोलिक स्थितियां एक स्थान पर रहने वाले व्यक्तियों में एक ऐसे सामाजिक मनोविज्ञान का विकास करती हैं जिससे पारस्परिक सद्भावना तथा सहयोग उत्पन्न होता है। रूथनास्वामी ने लिखा है कि "राजनीति हमें विभक्त करती है, धर्म हमारे बीच में दीवारें खड़ी करता है, संस्कृति हमें एक-दूसरे से पृथक् करती है, किन्तु हमारा देश तथा देश की धरती पर प्यार हमें एकसूत्र में बांधता है। भौगोलिक एकता के विकास के बिना राष्ट्रीयता का विकास असम्भव है।"
CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(5) जातीय एकता—लम्बे समय तक जातीय एकता राष्ट्रीयता का सबसे मुख्य आधार रहा है। ऐसा माना जाता है कि राष्ट्रीयता एक विशेष प्रकार की आत्मिक चेतना के भाव का नाम है जिसमें समान जातीयता का तत्व शायद सबसे अधिक महत्वपूर्ण होता है, किन्तु अब राष्ट्रीयता के निर्माणक तत्व के रूप में जातीयता का महत्व कम होता जा रहा है और प्रो. हेज के शब्दों में कहा जा सकता है कि "यदि कहीं रक्त की पवित्रता मिल सकती है तो वह केवल असभ्य जातियों में ही सम्भव है।" स्विट्जरलैण्ड, भारत, कनाडा, ब्रिटेन और अमरीका इस बात के उदाहरण हैं कि जातीय एकता राष्ट्रीयता के निर्माण हेतु आवश्यक नहीं है।

(6) सामान्य आर्थिक हित—आधुनिक युग में राष्ट्रीयता के निर्माण में आर्थिक तत्व सबसे अधिक शक्तिशाली माना जाता है और जापानी एवं ऑस्ट्रेलियन राष्ट्रीयता का विकास प्रमुख रूप से सामान्य आर्थिक हितों के आधार पर ही हुआ है। सामान्य आर्थिक हित मनुष्यों में अपने हितों के प्रति चेतना उत्पन्न करता और उन्हें एकबद्ध रूप में रहने के लिए प्रेरित करता है। राष्ट्रीयता के निर्माण में सामान्य आर्थिक हित का पर्याप्त महत्व होने पर भी इस बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि अकेले सामान्य आर्थिक हित राष्ट्रीयता का निर्माण कर सकते हैं। रैनान (Renan) ने सत्य ही कहा है कि "आर्थिक हितों का ऐक्य एक कस्टम संघ तो बना सकता है, किन्तु एक राष्ट्रीयता नहीं।"

(7) समान आधिपत्य तथा कष्ट—राष्ट्रीयता के निर्माण में एक समान आधिपत्य तथा कष्टों का भी मूल्य कम नहीं है। विदेशी शासन के प्रति घृणा का भाव, समान शत्रु और आर्थिक अवनति की सामान्य दशा नागरिकों में एकता की भावना उत्पन्न करते हैं। भारत में राष्ट्रीयता के विकास में जहां अनेक कारण थे, वहां ब्रिटिश सरकार का संगठित आतंक तथा प्रशासन में विदेशी भावना भी इसका कारण था। घाना तथा सोमालीलैण्ड जैसे राष्ट्रों का निर्माण भी इसी भावना के आधार पर हुआ, उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद से पीड़ित एशिया व अफ्रीका के तमाम देशों में राष्ट्रीयता का विकास समान आधिपत्य व शोषण के विरुद्ध प्रतिक्रियास्वरूप हुआ। किन्तु सामान्य उत्पीड़न तथा कष्ट ही सदैव राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करने में सफल सिद्ध नहीं होते और प्रो. जोजफ के शब्दों में कहा जा सकता है कि "किसी एक समूह का उत्पीड़न ही उसे राष्ट्रीयता में परिवर्तित नहीं कर देता।"

(8) राजनीतिक चेतना तथा आकांक्षाएं—सामान्य राजनीतिक चेतना तथा आकांक्षाएं भी राष्ट्रीयता के विकास में महत्वपूर्ण योग देती हैं। राष्ट्रीयता के विकास में यह राजनीतिक तत्व दो प्रकार से कार्य करता है। प्रथम, भूतकालीन राजनीतिक जीवन की सामान्यता के रूप में और द्वितीय, भविष्यकालीन राजनीतिक जीवन सम्बन्धीआकांक्षाओं—अंग्रेजी शासन से छुटकारा, स्वाधीन राजनीतिक जीवन की प्राप्ति और लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना—ने भारतीयों को राष्ट्रीयता के सूत्र में बांधकर उन्हें अंग्रेजी शासन के विरुद्ध खड़ा कर दिया, लेकिन राष्ट्रीयता के विकास में यह अकेला तत्व बहुत शक्तिशाली नहीं हो सकता है।

इस प्रकार राष्ट्रीयता का निर्माण अनेक तत्वों द्वारा होता है और यह निश्चय कर सकना अत्यधिक कठिन है कि राष्ट्रीयता के निर्माण में कौन-सा तत्व अधिक सहायक होता है और कौन-सा कम। वस्तुतः राष्ट्रीयता के निर्माणकारी तत्वों की उपमा उस ताने-बाने से दी जा सकती है जो अनेक धागों से बुना जाता है तथा जिनके बुनने की प्रक्रिया इतनी अस्पष्ट होती है कि यह बताना कठिन है कि उस ताने-बाने को कौन-से धागे ने दूसरे धागे से अधिक मजबूत बनाया है। यह वस्तुतः लोगों के आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक जीवन का भेद है जिसे आसानी से नहीं समझा जा सकता।

राष्ट्रीय भावना (राष्ट्रीयता) के विकास में बाधक तत्व

जिस प्रकार एक ओर कुछ तत्व राष्ट्रीयता के विकास में सहायक हैं, उसी प्रकार कुछ विशेष तत्व भी हैं जो राष्ट्रीयता के विकास में बाधा उत्पन्न करते हैं। विशेषतया निम्नलिखित तत्व राष्ट्रीयता के विकास में बाधक सिद्ध होते हैं :

(1) अज्ञान और अशिक्षा—शिक्षा राज्य में रहने वाले मनुष्यों को मानसिक रूप से एक-दूसरे के समीप लाकर उनमें एक सामान्य दृष्टिकोण को जन्म देती है जिसका परिणाम राष्ट्रीयता होता है। इसके नितान्त विपरीत अज्ञान और अशिक्षा मानव मस्तिष्कों के मेल में बाधक सिद्ध होते हैं और इनके द्वारा राष्ट्रीयता के विकास में बाधा ही डाली जाती है।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्रीय भावना (राष्ट्रीयता) के विकास में बाधक तत्व

(1) अज्ञान और अशिक्षा
(2) आवागमन के अच्छे साधनों का अभाव
(3) साम्प्रदायिकता की भावना
(4) जातिवाद एवं भाषावाद
(5) प्रान्तीयता की भावना
(6) देशभक्ति का अभाव

(2) आवागमन के अच्छे साधनों का अभाव—यदि आवागमन के अच्छे साधन न हों तो एक ही राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले व्यक्ति एक-दूसरे से सम्पर्क स्थापित नहीं कर पाते। इसके परिणामस्वरूप उनमें वह एकता की भावना उत्पन्न नहीं हो पाती, जो राष्ट्रीयता का प्राण है।

(3) साम्प्रदायिकता की भावना—जब व्यक्तियों के द्वारा अपने सम्प्रदाय विशेष को बहुत अधिक महत्व दिया जाता है तो उसे साम्प्रदायिकता की भावना कहते हैं। साम्प्रदायिकता की यह भावना स्वाभाविक रूप से राष्ट्रीयता के विकास में बहुत अधिक बाधक होती है क्योंकि साम्प्रदायिकता के बहाव में व्यक्ति राष्ट्रीय हितों को भूलकर सम्प्रदाय विशेष के हितों को ही सब कुछ समझ बैठते हैं।

(4) जातिवाद एवं भाषावाद—जातिवाद तथा भाषावाद भी राष्ट्रीयता के मार्ग में बाधक तत्व हैं। जातिवाद की भावना के कारण व्यक्ति केवल अपनी जाति के लोगों से ही स्नेह रखते हैं तथा अन्य जाति के लोगों से घृणा करते हैं। इससे राष्ट्रीय चेतना का विकास नहीं हो पाता। इसी प्रकार जब व्यक्ति अपनी भाषा को ही सब कुछ समझकर अन्य भाषाओं के प्रति द्वेष का रुख अपना लेते हैं, तो इससे भाषायी उपद्रवों को बढ़ावा मिलता है और राष्ट्रीयता को आघात पहुंचता है।

(5) प्रान्तीयता की भावना—प्रान्तीयता की भावना भी राष्ट्रीयता के विकास में बहुत बाधक होती है। इस भावना के कारण विभिन्न प्रान्तों में रहने वाले लोग अपने आपको राष्ट्र का नागरिक न समझकर एक प्रान्त का ही निवासी समझते हैं। इस भावना के कारण देश में क्षेत्रीय उपद्रव उठ खड़े होते हैं और देश अनेक टुकड़ों में बंट जाता है। भारत में जम्मू-कश्मीर के अतिरिक्त उत्तर-पूर्वी भारत में तमाम ऐसे प्रान्त व जातियां हैं, जो अपने को भारत से अलग भिन्न राष्ट्र के रूप में देखते हैं।

(6) देशभक्ति का अभाव—जब एक देश के व्यक्ति अपने देश के प्रति भक्ति नहीं रखते, उन्हें अपने देश की सभ्यता और संस्कृति से लगाव नहीं होता तो राष्ट्रीय चेतना का उदय नहीं हो पाता और राष्ट्रीय भावना का विकास रुक जाता है।

राष्ट्रीयता के विकास के लिए आवश्यक है कि जातिवाद, भाषावाद, प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता की भावनाओं का त्याग कर स्वस्थ, उदार और विवेकपूर्ण देशभक्ति का मार्ग अपनाया जाय।

राष्ट्रवाद के मार्ग की बाधाओं को दूर करने के उपाय

राष्ट्रवाद के मार्ग की बाधाओं को दूर करने के लिए प्रमुख रूप से निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं :

(1) संकुचित भावनाओं का त्याग और देश-प्रेम की प्रबल भावना—जाति, भाषा, धर्म, सम्प्रदाय और क्षेत्र विशेष के प्रति प्रेम में कोई बुराई नहीं है, यदि व्यक्ति इनकी तुलना में देश के प्रति प्रेम अर्थात् राष्ट्रवाद की भावना को अधिक प्रबल रूप में अपनावें। व्यक्ति के मन और मस्तिष्क में राष्ट्रवाद की भावना इतनी प्रबल होनी चाहिए कि वह जाति, भाषा, धर्म, सम्प्रदाय और प्रदेश के प्रति प्रेम को राष्ट्रीय भावना के विकास में बाधक न बनने दें।

(2) देश के विभिन्न भागों में साहित्यिक, सांस्कृतिक और भावनात्मक सम्पर्क—देश की एक राष्ट्रभाषा होनी चाहिए, जिसके माध्यम से राष्ट्रवाद की भावनाओं का विकास हो। व्यक्तियों द्वारा न केवल राष्ट्रभाषा वरन् अपने से भिन्न प्रदेश की भाषा, साहित्य और संस्कृति का ज्ञान प्राप्त किया जाना चाहिए। व्यक्तियों में अपने से भिन्न भाषा और संस्कृति रखने वाले व्यक्तियों के मनोभावों को समझने की प्रवृत्ति होनी चाहिए, जिससे राष्ट्रवाद के मार्ग की मनोवैज्ञानिक बाधा दूर हो सके और राष्ट्रवाद की भावना पल्लवित हो सके।

(3) शिक्षा का प्रचार-प्रसार और सही शिक्षा व्यवस्था—शिक्षित व्यक्तियों से उदार दृष्टि अपनाने की आशा की जा सकती है। अतः शिक्षा का बहुत तेजी से प्रचार-प्रसार किया जाना चाहिए। शिक्षा व्यवस्था में मानवीय दृष्टिकोण को उदार बनाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए और व्यक्तियों को नैतिक मूल्यों की शिक्षा दी जानी

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिए। शिक्षा के द्वारा नागरिकों में व्यक्तिगत और संकुचित स्वार्थों को नियन्त्रित करने और देशहित को सर्वोपरि समझने की प्रवृत्ति विकसित की जानी चाहिए।

(4) आवागमन के अच्छे साधन—आवागमन के बहुत अच्छे और सुविधाजनक साधन विकसित किये जाने चाहिए, जिससे एक ही देश में विभिन्न क्षेत्रों के निवासी एक-दूसरे के अधिकाधिक सम्पर्क में आवें और राष्ट्रवाद को अपना सकें।

(5) सभी क्षेत्रों का सन्तुलित आर्थिक विकास—राष्ट्रीय सरकार द्वारा अपने देश के सभी क्षेत्रों का सन्तुलित और अधिकाधिक सम्भव सीमा तक आर्थिक विकास करने की नीति अपनायी जानी चाहिए, जिससे आर्थिक कारणों से किन्हीं क्षेत्रों में तीव्र असन्तोष न उत्पन्न हो सके।

(6) दलीय राजनीति पर अंकुश—आज के लोकतान्त्रिक राज्यों में यह निर्बलता देखी गयी है कि राजनीतिक दल शासन पर अधिकार करना या बनाये रखना अपना एकमात्र उद्देश्य बना लेते हैं और वे 'दलीय राजनीति का खेल' खेलते हुए राष्ट्रीय हितों को हानि पहुंचाते हैं। अतः शासक दल और विपक्षी दल सभी के द्वारा दलीय राजनीति पर अंकुश रखा जाना चाहिए और सत्ता प्राप्ति की तुलना में राष्ट्रवाद को सर्वोपरि महत्व दिया जाना चाहिए।

(7) न्यायपूर्ण और सुदृढ़ शासन—शासन ऐसा होना चाहिए जो उपद्रवी तत्वों और संकुचित प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करने में समर्थ हो, लेकिन जिसके द्वारा अपनी शक्तियों का न्यायपूर्ण और संयमित रूप में ही प्रयोग किया जाय।

राष्ट्रवाद के विकास में शिक्षक, समाचार-पत्रों के सम्पादक, धार्मिक और सामाजिक जीवन का नेतृत्व करने वाले वर्ग, राजनीतिक दलों के कार्यकर्ताओं और नेता तथा देश के सर्वोच्च नेतृत्व—सभी की महत्वपूर्ण भूमिकाएं हैं। ये वर्ग अपनी भूमिकाएं भली प्रकार सम्पादित करें, तभी राष्ट्रवाद की भावना का विकास और राष्ट्रवाद के भाव को उदार, लेकिन पूर्ण अंशों में बनाये रखने का कार्य सम्भव हो सकेगा।

राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का सिद्धान्त

राष्ट्रीयता के विचार का उदय विशेष रूप से 18वीं सदी में हुआ है। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के बाद इस विचार का प्रभाव बढ़ता गया और राष्ट्रीयता के विचार के प्रभावस्वरूप ही इस धारणा का प्रतिपादन किया गया कि प्रत्येक राष्ट्र का अपना एक स्वतन्त्र राज्य होना चाहिए अर्थात् प्रत्येक राज्य के लोगों को इस बात का अधिकार होना चाहिए कि वे अपनी इच्छा के अनुरूप शासन-व्यवस्था के स्वरूप को अपना सकें; क्योंकि यह विचार राष्ट्र के लोगों को अपने राजनीतिक भाग्य के निर्णय का अधिकार प्रदान करता है, इसलिए इसे राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है। विश्व के कई देशों को आजादी इसी सिद्धान्त के आधार पर मिली है। आज भी विश्व के तमाम देशों में जनसंख्या का एक वर्ग अपने लिए स्वतन्त्र राजनीतिक अस्तित्व की मांग कर रहा है। ईराक में कुर्द प्रजाति के लोग तथा फिलिस्तीन राज्य की मांग का आधार यही सिद्धान्त है।

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन मैजिनी, नेपोलियन तृतीय, जॉन स्टुअर्ट मिल, विल्सन, आदि के द्वारा किया गया। मैजिनी और नैपोलियन तृतीय का विचार था कि राष्ट्रीयता पर आधारित राज्य संगठित और शक्तिशाली होते हैं तथा उनके द्वारा रक्षा और प्रगति का कार्य बहुत अधिक श्रेष्ठ प्रकार से किया जा सकता है। मिल का विचार था कि प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र राष्ट्रीयता पर आधारित राज्यों में ही सफलतापूर्वक कार्य कर सकता है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद पेरिस सम्मेलन में अमरीकी राष्ट्रपति विल्सन के द्वारा पराधीन राज्यों को स्वतन्त्रता प्रदान करने के दृष्टिकोण से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया।

दूसरी ओर लॉर्ड एक्टन और गमप्लाविज, आदि इस सिद्धान्त के कटु आलोचक हैं। इन लोगों का विचार है कि राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का सिद्धान्त अव्यावहारिक, तर्क-विरुद्ध और प्रगति तथा स्वतन्त्रता को नष्ट करने वाला है। व्यवहार में यद्यपि कुछ परिस्थितियों में यह सिद्धान्त 'स्वतन्त्रता का परिपत्र' (Charter of Freedom) सिद्ध हुआ है और एशिया तथा अफ्रीका के अनेक उपनिवेशों को इसके आधार पर स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है, किन्तु सभी परिस्थितियों में इस सिद्धान्त को स्वीकार करने की बात नहीं मानी जा सकती।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्रीयता या राष्ट्रवाद के गुण

राष्ट्रीयता को यदि शुद्ध और सही अर्थों में अपनाया जाय तो निश्चित रूप से यह भावना विभिन्न देशों की आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने में बहुत सहायक सिद्ध हो सकती है। राष्ट्रीयता के प्रमुख रूप से निम्नलिखित गुण कहे जा सकते हैं :

(1) राष्ट्रीयता राज्यों को स्थायी बनाती है—इतिहास इस बात का साक्षी है कि राष्ट्रीयता ही राज्यों का स्थायी आधार बन सकती है। यूरोप के बाल्कन क्षेत्र में पिछले 200 वर्षों में अनेक बार भौगोलिक सीमा, जाति, भाषा, आदि के आधार पर राज्यों का निर्माण किया गया, किन्तु वे राज्य स्थायी नहीं रह सके। अन्त में राष्ट्रीय चेतना के आधार पर किया गया आधुनिक विभाजन ही अधिक स्थायी व दृढ़ दिखायी देता है।

राष्ट्रीयता या राष्ट्रवाद के गुण
1. राष्ट्रीयता राज्यों को स्थायी बनाती है
2. राष्ट्रीयता देशभक्ति की प्रेरक है
3. राष्ट्रीयता विभिन्नताओं में एकता की स्थापना करती है
4. राष्ट्रीयता उदारवाद को जन्म देती है
5. राष्ट्रीयता साहित्य और संस्कृति का विकास करती है
6. राष्ट्रीयता विभिन्नताओं की रक्षा करती है
7. राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में सहायक है

(2) राष्ट्रीयता देशभक्ति की प्रेरक है—राष्ट्रीयता व्यक्ति में स्वयं के देश के प्रति प्रेम उत्पन्न करती है। जब व्यक्ति अपने देश से प्रेम करने लग जाते हैं तो वे प्रत्येक सम्भव तरीके से देश की प्रगति का प्रयत्न करते हैं और अपने देश तथा देशवासियों के हित में बड़े से बड़ा त्याग करने को तत्पर रहते हैं।

(3) राष्ट्रीयता विभिन्नताओं में एकता की स्थापना करती है—जिस प्रकार एक उपवन का सौन्दर्य उसमें खिलने वाले विभिन्न फूलों से ही होता है, उसी प्रकार मानवीय सभ्यता और संस्कृति के उत्थान हेतु एकता के साथ-साथ विभिन्नता भी आवश्यक है। पूर्व सोवियत संघ में छोटी-बड़ी लगभग 100 राष्ट्रीय जातियां निवास करती थीं। भारत में भी धर्म और जाति के आधार पर विभिन्न वर्ग हैं और प्रत्येक को अपने साहित्य और संस्कृति के विकास का पूर्ण अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार राष्ट्रीयता विभिन्नताओं को नष्ट कर एकता उत्पन्न करने के बजाय विभिन्नताओं में ही एकता उत्पन्न करती है।

(4) राष्ट्रीयता उदारवाद को जन्म देती है—राष्ट्रवाद अपने वास्तविक रूप में आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का एक ऐसा प्रकार है जो यह स्वीकार करता है कि एक देश की जनता को अपनी राजनीतिक व्यवस्था और शासन चुनने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। इस प्रकार राष्ट्रवाद तानाशाही को समाप्त कर प्रजातन्त्र की स्थापना और मानवीय स्वतन्त्रता की रक्षा का एक प्रयास है। बीसवीं सदी में राष्ट्रवाद ने ही समस्त विश्व में साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद को समाप्त करने का कार्य किया है।

(5) राष्ट्रीयता साहित्य और संस्कृति का विकास करती है—राष्ट्रवाद साहित्यिक और सांस्कृतिक विकास के प्रेरक तत्व के रूप में भी कार्य करता है। यूनानी नगर राज्यों में महाकवि होमर, फ्रांस में दांते और वाल्टेयर तथा इंग्लैण्ड, आदि देशों में टैनिसन, स्टीफेन, स्पैण्डर, सर वाल्टर रैले, शैले तथा थॉमस पेन ने राष्ट्रवाद से प्रेरणा पाकर ही साहित्य की रचना की। आधुनिक भारत में मैथिलीशरण गुप्त, रामधारीसिंह 'दिनकर', श्याम नारायण पाण्डेय, सुभद्राकुमारी चौहान, आदि कवियों ने राष्ट्रवाद के विचार से प्रेरणा लेकर हिन्दी में साहित्य की अभिवृद्धि की है।

(6) राष्ट्रीयता विभिन्नताओं की रक्षा करती है—जिस प्रकार एक उपवन का सौन्दर्य उसमें खिलने वाले विभिन्न फूलों से ही होता है, उसी प्रकार मानव सभ्यता और संस्कृति के उत्थान हेतु एकता के साथ-साथ विभिन्नता भी आवश्यक है। राष्ट्रवाद विभिन्नताओं को नष्ट कर एकता उत्पन्न करने के बजाय विभिन्नताओं में ही एकता उत्पन्न करता है। भारत आदि देशों में राष्ट्रवाद इसका श्रेष्ठ उदाहरण है।

(7) राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में सहायक है—यद्यपि कुछ लोग राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता को परस्पर विरोधी रूप में चित्रित करते हैं, लेकिन वास्तव में, राष्ट्रीयता ही वह सीढ़ी है जिसके आधार पर अन्तर्राष्ट्रीयता के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति जब तक अपने घर वालों से प्रेम नहीं करता तब तक वह अपने पड़ोसियों से प्रेम नहीं कर सकता है, उसी प्रकार संसार के समस्त राष्ट्रों से प्रेम करने के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति अपने राष्ट्र से प्रेम करना सीखे। राष्ट्रीयता हमारे दृष्टिकोण को

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यापक बनाकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की प्रेरणा प्रदान करने का कार्य करती है। आधुनिक भारतीय विचारकों जैसे—महात्मा गांधी व जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रवाद व अन्तर्राष्ट्रीयता में कोई विरोधाभास नहीं माना है। राष्ट्रवादी होते हुए भी कोई व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीयतावादी हो सकता है।

इसके अतिरिक्त राष्ट्रीयता उदारतावाद को जन्म देती है और इसके द्वारा साहित्य व संस्कृति के विकास की दिशा में भी महत्वपूर्ण कार्य किया जाता है।

राष्ट्रीयता या राष्ट्रवाद के अवगुण

विशुद्ध देशप्रेम कभी बुरा नहीं हो सकता, किन्तु राष्ट्रीयता या देशप्रेम की यह भावना कभी-कभी इतनी उग्र और संकीर्ण हो जाती है कि उसका दूसरे राज्यों के हितों पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। ये अवगुण वस्तुतः राष्ट्रीयता के नहीं, वरन् उग्र या संकीर्ण राष्ट्रीयता के हैं। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीयता निम्नलिखित अवगुणों को जन्म देती है :

(1) उग्र राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रतिकूल है—राष्ट्रीयता के विचार का तार्किक परिणाम 'एक राष्ट्र लक्ष्य' सिद्धान्त है और यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रतिकूल है। राष्ट्रीयता की भावना के कारण राज्यों का दृष्टिकोण संकीर्ण हो जाता है और अन्तर्राष्ट्रीय विचारों की प्रगति रुक जाती है। राष्ट्रीयता के विचार के कारण ही विश्व सरकार सम्बन्धी कोई भी योजना सफल नहीं हो सकती है।

राष्ट्रीयता या राष्ट्रवाद के अवगुण

1. उग्र राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रतिकूल है
2. उग्र राष्ट्रीयता सैन्यवाद और युद्ध को जन्म देती है
3. उग्र राष्ट्रीयता का परिणाम साम्राज्यवाद है
4. उग्र राष्ट्रीयता प्रायः शोषण तथा स्वार्थ-साधना की ओर ले जाती है
5. आर्थिक और सांस्कृतिक विकास में बाधक

(2) उग्र राष्ट्रीयता सैन्यवाद और युद्ध को जन्म देती है—राष्ट्रीयता के उग्र हो जाने पर इससे सैन्यवाद और युद्ध को प्रोत्साहन मिलता है। इतिहास बताता है कि इन्हीं भावनाओं के प्रबल के कारण फ्रांस और जर्मनी के नागरिक एक-दूसरे को अपना शत्रु समझते रहे और सैकड़ों वर्षों तक इन दोनों देशों के बीच युद्ध होते रहे। संकीर्ण राष्ट्रीयता सैन्यवाद की ओर प्रवृत्त करती है जिसका अन्तिम परिणाम युद्ध होता है। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध का एक प्रमुख कारण उग्र राष्ट्रीयता की भावना ही थी।

(3) उग्र राष्ट्रीयता का परिणाम साम्राज्यवाद है—उग्र राष्ट्रीयता की भावना नागरिकों को अत्यधिक स्वार्थी और अहंकारी बना देती है और वे 'मेरा देश सही हो या गलत, मैं सदैव उसके लिए हूं' का विचार अपना लेते हैं। परिणामतः ये देश पिछड़े हुए देशों के शोषण की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं। इस राष्ट्रीयता की भावना के आधार पर ही यूरोप के देश 19वीं सदी में विशाल साम्राज्यों की स्थापना की ओर प्रवृत्त हुए।

(4) उग्र राष्ट्रीयता प्रायः शोषण तथा स्वार्थ-साधना की ओर ले जाती है—राष्ट्रवाद की भावना प्रायः बहुत शीघ्र ही उग्र हो जाती है और इससे असहिष्णुता एवं अहंकार को जन्म मिलता है। व्यक्ति अपने राष्ट्र को ही सब कुछ समझकर अन्य राष्ट्रों के मूल्य पर स्वार्थ साधन का प्रयत्न करने लग जाते हैं। इसी आधार पर हेज (Hayes) कहते हैं कि "राष्ट्रवाद जाति या राष्ट्र के सम्बन्ध में अभिमान और गर्व भरी एक मानसिक प्रवृत्ति है, जिसमें अन्य राष्ट्रों के प्रति तुच्छता और विद्वेष के भाव रहते हैं।"

(5) आर्थिक और सांस्कृतिक विकास में बाधक—वर्तमान परिस्थितियों में आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की मांग है कि राष्ट्र आत्मनिर्भरता के स्थान पर परस्पर निर्भरता के मार्ग को अपनावें। राष्ट्रवाद इस आत्मनिर्भरता के भाव को अपनाने में बाधक बनता है और कभी-कभी आत्मनिर्भरता की बात को मूर्खता की सीमा तक पहुंचा देता है। इस प्रकार राष्ट्रवाद आर्थिक और सांस्कृतिक विकास में बाधक बन जाता है।

इस प्रकार राष्ट्रीयता में सभ्यता और संस्कृति के विकास और विनाश दोनों के ही बीज निहित हैं। इस बात से तो कोई भी इंकार नहीं करता कि अपने विशुद्ध रूप में राष्ट्रीयता का विचार मानव जाति का सबसे बड़ा मित्र है, किन्तु यह राष्ट्रीयता जब उग्र रूप धारण कर लेती है तो यह स्वार्थ-साधना, शोषण, सैन्यवाद, युद्ध और साम्राज्यवाद की ओर ले जाती है। हमारा प्रयत्न यह होना चाहिए कि राष्ट्रीयता की भावना विशुद्ध और श्रेष्ठ रूप में बनी रहे, क्योंकि जैसा कि हेज (Hayes) ने लिखा है, "जब राष्ट्रवाद पवित्र देशभक्ति

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का पर्यायवाची बन जाता है, उसी समय यह विश्व तथा मानव जाति के लिए एक असाधारण वरदान सिद्ध हो जाता है।"

क्या राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद परस्पर विरोधी हैं?

या

क्या राष्ट्रवाद विश्व-शान्ति के लिए हानिप्रद है?

राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद का पारस्परिक सम्बन्ध वर्तमान समय की एक महत्वपूर्ण समस्या है। इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय पर दो परस्पर विरोधी धारणाएं प्रचलित हैं। प्रथम और मात्र सतही अध्ययन पर आधारित धारणा के अन्तर्गत राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद को परस्पर विरोधी कहा जाता है। इस श्रेणी के विचारकों का कथन है कि राष्ट्रवाद का तात्पर्य व्यक्ति को अपने प्रदेश के प्रति अनन्यतापूर्ण प्रेम है जबकि अन्तर्राष्ट्रवाद का आशय यह है कि व्यक्ति अपने आपको सम्पूर्ण मानवीय जगत का एक सदस्य समझकर सम्पूर्ण मानवीय जगत के प्रति आस्था रखें।

लेकिन उपर्युक्त विचारधारा मिथ्या धारणाओं पर आधारित है। वास्तव में राष्ट्रवाद तथा अन्तर्राष्ट्रवाद परस्पर विरोधी नहीं हैं। राष्ट्रवाद का अन्तर्राष्ट्रवाद से विरोध केवल उसी स्थिति में होता है जबकि राष्ट्रवाद को बहुत अधिक संकुचित और उग्र रूप में ग्रहण किया जाता है। विशुद्ध उदार राष्ट्रवाद जो कि राष्ट्रवाद का वास्तविक और उचित रूप है अपने उपासकों को देशभक्ति का सन्देश तो देता है, लेकिन यह देशभक्ति दूसरे राष्ट्रों के प्रति घृणा, द्वेष या बैर की भावना से प्रेरित न होकर 'जीओ और जीने दो' (Live and let live) की विचारधारा पर आधारित होती है। 'जीओ और जीने दो' की भावना पर आधारित विशुद्ध राष्ट्रवाद के इस भाव को व्यक्त करते हुए विलियम लॉयड गैरीसन (William Lloyd Garrison) लिखते हैं, "हमारा देश संसार है, हमारे देशवासी सारी मानवता हैं। हम अपने राष्ट्र (देश) को उसी प्रकार प्यार करते हैं जैसे हम अन्य देशों को प्यार करते हैं।"

इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रवाद का तात्पर्य यह नहीं है कि व्यक्ति अपने राष्ट्र के प्रति निष्ठा न रखें। अन्तर्राष्ट्रवाद राज्यों के विलय या अन्त की मांग नहीं करता, वरन् यह तो केवल यह चाहता है कि राष्ट्रीय हितों को मानवता के व्यापक हितों के साथ इस प्रकार से समन्वित किया जाय कि सभी राष्ट्र समानता और पारस्परिक सहयोग के आधार पर शान्तिपूर्ण, सुख और समृद्धि का जीवन व्यतीत कर सकें। हेज के शब्दों में, "आदर्श अन्तर्राष्ट्रीय विश्व का तात्पर्य सर्वोत्कृष्ट स्थिति वाले राष्ट्रों के एक विश्व से ही है।"[1] अतः स्वस्थ राष्ट्रीयता के आधार पर ही अन्तर्राष्ट्रीयता का सफल संगठन हो सकता है। एक सफल अन्तर्राष्ट्रीय संगठन राष्ट्रीयता की स्वस्थ धारणा पर ही निर्भर करता है।

इस प्रकार राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद परस्पर विरोधी नहीं, वरन् राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रवाद की भूमिका या उसका प्रथम चरण है। जोसफ (Joseph) के शब्दों में कहा जा सकता है कि, "राष्ट्रीयता व्यक्ति को मानवता से मिलाने वाली आवश्यक कड़ी है।" महात्मा गांधी भी इसी प्रकार का विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि "मेरे विचार से बिना राष्ट्रवादी हुए अन्तर्राष्ट्रवादी होना असम्भव है। अन्तर्राष्ट्रवाद तभी सम्भव हो सकता है जबकि राष्ट्रवाद एक यथार्थ बन जाय।"

लेकिन इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रवाद के प्रथम चरण के रूप में उसी समय कार्य कर सकता है जबकि राष्ट्रवाद को उग्र और संकुचित रूप में न अपनाकर उदार और विशुद्ध रूप में, देशभक्ति और सम्पूर्ण मानवता के हितों के एकाकार के रूप में अपनाया जाय। उग्र राष्ट्रवाद, जिसे बीसवीं सदी में हिटलर और मुसोलिनी द्वारा अपनाया गया, युद्ध का कारण और अन्तर्राष्ट्रीयता का नितान्त विरोधी होता है। अतः एक पंक्ति में कहा जा सकता है कि "उदार या विशुद्ध राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रवाद का प्रथम चरण, लेकिन उग्र राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रीयता का नितान्त विरोधी होता है।"

आज आवश्यकता इस बात की है कि सत्य और न्याय पर आधारित राष्ट्रवाद और देशभक्ति के विशुद्ध भाव को ग्रहण किया जाय। बीसवीं सदी के प्रबुद्ध मनीषी लास्की लिखते हैं, "यूरोप का मानसिक जीवन सीजर

1 "An ideal international world means a world of nations living at their best."
—C. J. H. Hayes, *Essays on Nationalism.*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और नेपोलियन का नहीं, ईसा का है, पूर्व की सभ्यता पर चंगेजखाँ और अकबर की अपेक्षा बुद्ध का प्रभाव कहीं गहरा और व्यापक है। अगर हमें जीना है तो इस सत्य को सीखना-समझना पड़ेगा। घृणा को प्रेम से जीता जाता है, असद् को सद् से, अधर्मता का परिणाम भी उसी जैसा होता है।"[1]

आज के विश्व का प्रश्न राष्ट्रवाद या अन्तर्राष्ट्रवाद नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि देशप्रेम और स्वस्थ राष्ट्रवाद की भावना को उच्चतम स्तर तक विकसित किया जाय और उसके आधार पर अन्तर्राष्ट्रीयता, विश्व-शान्ति और विश्व-बन्धुत्व की भावना का विकास हो।

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (प्रत्येक प्रश्न 6 अंक का, उत्तर लगभग 300 शब्दों में दीजिए)

1. राष्ट्रीयता की परिभाषा कीजिए। इसके मुख्य तत्व क्या हैं?
2. "विकसित या स्वस्थ राष्ट्रीयता के आधार पर ही अन्तर्राष्ट्रीयता की स्थापना हो सकती है।" इस कथन को स्पष्ट कीजिए।
   (संकेत—देखिए क्या राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद विरोधी हैं।)
3. राष्ट्रीयता के पक्ष और विपक्ष में अपने विचार व्यक्त कीजिए।
4. राष्ट्रवाद से आप क्या समझते हैं? इसके मार्ग में क्या बाधाएं हैं और इन्हें किस प्रकार से दूर कर सकते हैं?
5. राष्ट्रीयता के निर्माणक तत्वों की विवेचना कीजिए। क्या राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद परस्पर विरोधी हैं?
6. क्या उग्र राष्ट्रवाद विश्व शान्ति के मार्ग की बाधा है? व्याख्या कीजिए। (उ.प्र., 2010)

लघु उत्तरीय प्रश्न

(अ) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 50 शब्दों में दीजिए (2 अंक)।

1. राष्ट्रीयता से क्या तात्पर्य है?
2. राष्ट्रीयता के प्रमुख गुण बताइए।
3. राष्ट्रीयता के प्रमुख अवगुण या दोष लिखिए।
4. उग्र राष्ट्रीय कैसे साम्राज्य वाद को जन्म देती है, एक उदाहरण दीजिए।
5. कैसे राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के विकास में बाधक है।

(ब) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिए (4 अंक)।

6. राष्ट्रीयता के निर्माणक तत्व कौन-कौन से हैं?
   अथवा, राष्ट्रीयता के मूल तत्व बताइए।
7. राष्ट्रीयता के मार्ग में आने वाली प्रमुख चार बाधाओं के नाम लिखिए। (उ.प्र., 2010)
8. राष्ट्रवाद के मार्ग की बाधाओं को दूर करने के उपाय बताइए।
9. राष्ट्रवाद व अन्तर्राष्ट्रवाद में क्या सम्बन्ध है?
10. राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त पर एक टिप्पणी लिखिए।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न [प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का, उत्तर दस शब्द (एक वाक्य) में]

प्रश्न 1. राष्ट्रीयता की कोई एक परिभाषा दीजिए।
उत्तर—प्रो. गिलक्राइस्ट के अनुसार, "राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक भावना है।"

प्रश्न 2. राष्ट्रीयता के किन्हीं दो तत्वों का उल्लेख कीजिए।
उत्तर—(1) भाषा की एकता, (2) सांस्कृतिक एकता।

प्रश्न 3. राष्ट्रीयता के विकास में भाषा की एकता क्यों आवश्यक है? किसी एक कारण को बताइए।
उत्तर—राष्ट्रीयता के विकास के लिए भाषा की एकता बहुत आवश्यक है। भाषा की एकता राष्ट्रीयता के निर्माण में महत्वपूर्ण योग प्रदान करती है। भाषा की एकता समान साहित्य तथा समान विचारों को जन्म देती है।

प्रश्न 4. राष्ट्रीयता का कोई एक गुण बताइए।
उत्तर—राष्ट्रीयता से लोगों में एकता की भावना पैदा होती है।

प्रश्न 5. राष्ट्रीयता का कोई एक अवगुण बताइए।
उत्तर—उग्र राष्ट्रीयता साम्राज्यवाद की जननी है।

[1] H. J. Laski, *Grammar of Politics*, p. 195.

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न 6. राष्ट्रीयता के विकास के मार्ग में आने वाली एक प्रमुख बाधा को लिखिए।

उत्तर—राष्ट्रीयता के विकास में आने वाली एक प्रमुख बाधा साम्प्रदायिकता है।

बहुविकल्पीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों में चार विकल्प दिए गए हैं। उनमें से एक सही विकल्प छांटकर लिखिए :

1. "राष्ट्रीयता हृदयों की वह एकता है जो एक बार बनने के बाद कभी खण्डित नहीं होती।" यह कथन किसका है :
   (अ) प्रो. जिमर्न का (ब) प्रो. जे. एच. रोज का
   (स) हेज का (द) रैनान का
2. राष्ट्रीयता का निर्माणक तत्व है :
   (अ) धार्मिक एकरूपता (ब) सामान्य संस्कृति तथा परम्पराएं
   (स) भाषा की एकता (द) इनमें से सभी
3. राष्ट्रीयता के विकास में बाधक तत्व है :
   (अ) अज्ञान और अशिक्षा (ब) साम्प्रदायिकता की भावना
   (स) प्रान्तीयता की भावना (द) इनमें से सभी
4. निम्नलिखित में से कौन-सा तत्व राष्ट्रीयता के विकास में बाधक नहीं है?
   (अ) शिक्षा (ब) जातिवाद एवं भाषावाद
   (स) आवागमन के अच्छे साधनों का अभाव (द) साम्प्रदायिकता की भावना
5. राष्ट्रवाद के मार्ग की बाधाओं को दूर करने का उपाय है :
   (अ) संकुचित भावनाओं का त्याग और देश-प्रेम की प्रबल भावना
   (ब) शिक्षा का प्रचार-प्रसार और सही शिक्षा व्यवस्था
   (स) सभी क्षेत्रों का सन्तुलित आर्थिक विकास
   (द) उपर्युक्त सभी
6. राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का प्रतिपादन किसके द्वारा किया गया?
   (अ) मैजिनी (ब) नैपोलियन तृतीय
   (स) जॉन स्टुअर्ट मिल (द) इनमें से सभी
7. निम्नलिखित में से कौन-सा विचारक राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का आलोचक है?
   (अ) मैजिनी (ब) लॉर्ड एक्टन
   (स) जॉन स्टुअर्ट मिल (द) विल्सन
8. निम्नलिखित में से कौन-सा राष्ट्रीयता का गुण है?
   (अ) राष्ट्रीयता विभिन्नता में एकता की स्थापना करती है।
   (ब) उग्र राष्ट्रीयता सैन्यवाद और युद्ध को जन्म देती है।
   (स) उग्र राष्ट्रीयता का परिणाम साम्राज्यवाद है।
   (द) उग्र राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रतिकूल है।
9. "हमारा देश संसार है, हमारे देशवासी सारी मानवता है। हम अपने राष्ट्र को उसी प्रकार प्यार करते हैं जैसे हम अन्य देशों को प्यार करते हैं।" यह कथन किसका है :
   (अ) हेज का (ब) विलियम लॉयड गैरीसन का
   (स) जोसफ का (द) विल्सन का
10. "मेरे विचार से बिना राष्ट्रवादी हुए अन्तर्राष्ट्रवादी होना असम्भव है। अन्तर्राष्ट्रवाद तभी सम्भव हो सकता है, जबकि राष्ट्रवाद एक यथार्थ बन जाय।" यह कथन किसका है :
   (अ) जवाहरलाल नेहरू का (ब) महात्मा गांधी का
   (स) हेज का (द) जोसफ का

[उत्तर—1. (ब), 2. (द), 3. (द), 4. (अ), 5. (द); 6. (द), 7. (ब), 8. (अ), 9. (ब), 10. (ब)]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

20

अन्तर्राष्ट्रीयता व संयुक्त राष्ट्र संघ

[INTERNATIONALISM AND UNITED NATIONS ORGANIZATION]

"यह तेरा है, वह मेरा है, इस प्रकार की भावना तो संकुचित हृदय के लोगों में पायी जाती है। उदारचित्त के लोग तो सारी पृथ्वी को ही एक कुटुम्ब के समान समझते हैं।"[1]

—पं. विष्णु शर्मा (पंचतन्त्र)

अन्तर्राष्ट्रीयता का अभिप्राय

राष्ट्रीयता के समान ही अन्तर्राष्ट्रीयता की परिभाषा भी सरल नहीं है और साधारण शब्दों में यही कहा जा सकता है कि जिस प्रकार राष्ट्रीयता देशप्रेम की भावना है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीयता विश्वप्रेम की भावना है। अन्तर्राष्ट्रीयता को यदि हम विश्वबन्धुत्व की आध्यात्मिक भावना का राजनीतिक रूपान्तर कहें तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रीयता एक ऐसा राजनीतिक प्रयास है जिसका लक्ष्य प्रत्येक राष्ट्र को एकाकीपन और संकीर्णता के संकुचित बन्धनों से मुक्त करके एक ऐसे वातावरण में प्रविष्ट करना है, जहां उसे प्रतिद्वन्द्विता के स्थान पर सहयोग, आर्थिक दासता के स्थान पर आर्थिक सम्पन्नता, राजनीतिक, सामाजिक तथा नैतिक समता का व्यवहार प्राप्त हो सके।

गोल्डस्मिथ ने अन्तर्राष्ट्रीयता की परिभाषा इस प्रकार की है, "अन्तर्राष्ट्रीयता एक भावना है जिसके अनुसार व्यक्ति केवल अपने राज्य का ही सदस्य नहीं, वरन् विश्व का नागरिक है।"[2]

विलियम लॉयड गैरीसन (William Lloyd Garrison) ने अन्तर्राष्ट्रीयता को इस प्रकार व्यक्त किया है, "हमारा देश विश्व है, हमारे देशवासी सम्पूर्ण मानव जाति हैं, हम अपनी जन्मभूमि को उसी प्रकार प्यार करते हैं, जिस प्रकार हम अन्य देशों से प्रेम करते हैं।"

अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास

वैसे तो अन्तर्राष्ट्रीयता एक ऐसी विचारधारा है, जिसमें सदियों का इतिहास छिपा हुआ है। पश्चिमी जगत के 'स्टोइक्स विचारक' और भारतीय महर्षि अन्तर्राष्ट्रीयता की बात कहते रहे हैं, किन्तु आधुनिक रूप में अन्तर्राष्ट्रीयता के विचार का उदय राष्ट्रीय राज्यों के साथ ही हुआ।

मध्यकाल में सर्वप्रथम दांते ने विश्व साम्राज्य की कल्पना की थी, किन्तु सामान्य व्यक्तियों और इस युग के अन्य विचारकों ने इसमें रुचि नहीं ली। राष्ट्रीय राज्यों के उदय के साथ-साथ व्यक्तियों का मानसिक दृष्टिकोण व्यापक हुआ और 17वीं सदी में ह्यूगो ग्रोशियस ने इस दिशा में कदम बढ़ाया। इसके बाद डक दी शैली, अबे दी सैण्ट पियर, इमेनुल काण्ट, आदि के द्वारा इस सम्बन्ध में योजनाएं तैयार की गयीं।

19वीं सदी में पहली बार अन्तर्राष्ट्रीयता के विचार को कल्पना के क्षेत्र से निकालकर व्यावहारिक राजनीति में लाने की कोशिश की गयी और 'यूरोपीय सहयोग की व्यवस्था' (Concert of Europe) की स्थापना हुई। इसका उद्देश्य एक ऐसी व्यवस्था का प्रचलन करना था, जिसके आधार पर पारस्परिक विवाद शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाये जा सकें। प्रथम विश्व युद्ध तक इस प्रकार की व्यवस्था का प्रचलन रहा और इसके द्वारा अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विवाद भी सुलझाये गये। इसी उद्देश्य से 1907 के हेग सम्मेलन के बाद हेग में ही एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की भी स्थापना की गयी। अन्तर्राष्ट्रीयता की दिशा में दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रयत्न प्रथम

---

1 "अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्। उदार चरितानाम् तु वसुधैव कुटुम्बकम्।" —पं. विष्णु शर्मा (पंचतन्त्र)

2 "Internationalism is the feeling that the individual is not only a member of his state, but a citizen of the world." —*Goldsmith*

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्र संघ की स्थापना और दूसरे विश्वयुद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के रूप में किये गये। संयुक्त राष्ट्र संघ आज भी क्रियाशील है और अन्तर्राष्ट्रीयता आज के युग की एक अनिवार्य आवश्यकता बन गयी है।

अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में सहायक तत्व

अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में अनेक तत्वों ने योग दिया है, जिनमें से मुख्य निम्न हैं :

(1) विश्वबन्धुत्व की धारणा और मानवाधिकार—सभी धर्मों के आधारभूत सिद्धान्त मानवता और विश्वबन्धुत्व की धारणा का ही प्रतिपादन करते हैं। सभी महापुरुषों ने यही कहा है कि सभी मनुष्य भाई-भाई हैं क्योंकि वे एक ही ईश्वर की सन्तान हैं। इन आध्यात्मिक सिद्धान्तों ने अन्तर्राष्ट्रीयता की धारणा के विकास में अप्रत्यक्ष रूप में बहुत अधिक योग दिया है और इन्हीं सब आदर्शों के आधार पर संयुक्त राष्ट्र संघ ने विश्वव्यापी मानवाधिकारों की घोषणा की है जिसे सभी प्रगतिशील राज्यों द्वारा स्वीकार कर लिया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में सहायक तत्व
1. विश्वबन्धुत्व की धारणा और मानवाधिकार
2. औद्योगिक क्रान्ति और आर्थिक क्षेत्र में परस्पर-निर्भरता
3. वैज्ञानिक आविष्कार
4. समाचार-पत्र, रेडियो, टेलीविजन और साहित्य
5. राष्ट्रीयता
6. अन्तर्राष्ट्रीय कानून
7. अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन और संगठन

(2) औद्योगिक क्रान्ति और आर्थिक क्षेत्र में परस्पर-निर्भरता—19वीं सदी की औद्योगिक क्रान्ति ने सम्पूर्ण विश्व की अर्थव्यवस्था में कायापलट उपस्थित कर दी। इस औद्योगिक क्रान्ति के कारण बहुत बड़ी मात्रा में वस्तुओं का उत्पादन होने लगा और विभिन्न राज्यों द्वारा आर्थिक क्षेत्र में अन्तरनिर्भरता के सिद्धान्त को अपना लिया गया। इस प्रकार आर्थिक दृष्टि से आज प्रत्येक देश दूसरे पर निर्भर है। पारस्परिक आर्थिक आदान-प्रदान सभी राष्ट्रों को निकट ले आता है और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को प्रोत्साहन मिलता है।

(3) वैज्ञानिक आविष्कार—आधुनिक युग विज्ञान का युग है और इस युग में वैज्ञानिक खोजों और आविष्कारों के कारण विश्व के सभी देश एक-दूसरे के बहुत निकट आ गये हैं। रेल, मोटर, जहाज, वायुयान, तार, टेलीफोन, रेडियो, टेलीविजन, आदि ने विभिन्न राज्यों के बीच की दूरी को समाप्त कर सम्पूर्ण विश्व को एक इकाई बना दिया है। वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण विश्व के जिस नवीन रूप का उदय हुआ है, उससे अन्तर्राष्ट्रीयता को विशेष प्रोत्साहन मिला है।

(4) समाचार-पत्र, रेडियो, टेलीविजन व साहित्य—अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में समाचार-पत्र, रेडियो, टेलीविजन व अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य ने भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है। एक देश के समाचार-पत्र दूसरे देश में भी जाते हैं और मडरियागा (Madariaga) के शब्दों में, "विचारों और समाचारों की दृष्टि से आज के विश्व ने एक संयुक्त इकाई का रूप धारण कर लिया है।" अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संघ व संगठन जैसे 'यूनेस्को' ऐसे साहित्य का प्रचुर मात्रा में प्रकाशन कर रहे हैं, जिससे विभिन्न देशों के निवासी एक-दूसरे के जीवन, संस्कृति और समस्याओं से भली-भांति परिचित हो सकें। इस प्रकार समाचार-पत्र व साहित्य अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण विकसित करने में बड़े सहायक सिद्ध हुए हैं।

(5) राष्ट्रीयता—यद्यपि यह कथन विरोधाभासपूर्ण प्रतीत होता है कि राष्ट्रीयता ने अन्तर्राष्ट्रीयता को जन्म दिया, किन्तु बहुत कुछ सीमा तक यह एक सत्य है। इतिहास की यह शिक्षा है कि विकास-क्रम के अन्तर्गत विचारधाराएं प्रतिक्रियाओं के रूप में जन्म लेती हैं। जब 19वीं सदी के राष्ट्रीय राज्य अपनी चरम सीमा पर पहुंच गये तो उनके कुछ दुर्गुण स्पष्ट हुए और उन्होंने विश्वयुद्ध जैसी जटिल समस्याएं भी उत्पन्न कर दीं। अतः मानवता के सुख और शान्ति के लिए इस संकीर्ण राष्ट्रीयता का अन्त कर अन्तर्राष्ट्रीयता की स्थापना की दिशा में विचार किया गया। इस प्रकार राष्ट्रीयता की प्रतिक्रिया के रूप में अन्तर्राष्ट्रीयता के सिद्धान्त तथा व्यवहार का जन्म हुआ।

(6) अन्तर्राष्ट्रीय कानून—वर्तमान समय के विश्व में विभिन्न राज्य परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते जा रहे हैं और विश्व के इन विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों ने कुछ ऐसी निश्चित परम्पराओं को जन्म

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया है, जो कालान्तर में अन्तर्राष्ट्रीयता का रूप ग्रहण कर लेती हैं। पिछले 100 वर्षों में विभिन्न राज्यों के मध्य उठने वाले विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से हल करने के लिए विभिन्न पद्धतियां विकसित हुईं; जैसे मध्यस्थता और सद्भावना (Good Offices), पंच फैसला और कानूनी विवादों पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा निर्णय, आदि। शान्तिकालीन सम्बन्ध, तटस्थता, दूसरे राज्यों पर हवाई जहाजों के उड़ने और युद्धबन्दियों, आदि के सम्बन्ध में अनेक अन्तर्राष्ट्रीय कानून विकसित हो गये हैं। इस प्रकार, अन्तर्राष्ट्रीय कानून ने अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में सहयोग दिया है।

(7) अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन और संगठन—राष्ट्रों में पारस्परिक स्नेह और सद्भावना का विकास करने में राष्ट्र संघ, संयुक्त राष्ट्र संघ और इसी प्रकार के अन्य संगठनों का योग भी कम नहीं है। अब तो जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का निर्माण हो रहा है और इनकी संख्या बढ़ती जा रही है। राजनीतिक क्षेत्र के अतिरिक्त आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी अब ऐसे संगठनों की कमी नहीं है, जिनका रूप अन्तर्राष्ट्रीय है और जो अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के विकास में यथेष्ट योग दे रहे हैं। ये सम्मेलन और संगठन ऐसे वातावरण की सृष्टि करते हैं, जिसका होना अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए नितान्त आवश्यक है।

वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के विकास में सहायक इन तत्वों द्वारा बहुत अधिक महत्वपूर्ण कार्य किया गया और इन तत्वों के परिणामस्वरूप आर्थिक दृष्टि से ही नहीं राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और अन्य दृष्टियों से भी सम्पूर्ण विश्व इतना एक हो गया है कि कहीं भी किसी प्रकार की उथल-पुथल दूसरे देशों पर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकती है। ऐसी स्थिति में यह निश्चिततापूर्वक कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना अपनाये बिना विश्व का निर्वाह नहीं हो सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग की बाधाएं

अन्तर्राष्ट्रीयता आज सर्वसम्मत विचारधारा होने पर भी, जितनी शीघ्रता से इसका विकास होना चाहिए, उतनी शीघ्रता से इसका विकास नहीं हो रहा है। प्रमुख रूप से निम्नलिखित तत्वों को अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग की बाधाएं बताया जा सकता है :

(1) उग्र राष्ट्रवाद व सैन्यवाद—यदि एक ओर उदार राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास का कार्य करती है तो दूसरी ओर हीगल, हिटलर और मुसोलिनी द्वारा प्रतिपादित उग्र राष्ट्रीयता व सैन्यवाद अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के लिए नितान्त घातक होते हैं। उग्र राष्ट्रीयता अपने देश के अतिरिक्त अन्य किसी देश में कोई गुण नहीं देखती और अपने राष्ट्र की शक्ति का विस्तार करने के लिए युद्ध और संघर्ष के हिंसात्मक उपाय अपनाने को प्रेरित करती है। प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध इस उग्र राष्ट्रवाद के ही परिणाम थे। द्वितीय विश्व युद्ध का एक प्रमुख कारण जर्मनी में हिटलर के नेतृत्व में तथा इटली में मुसोलिनी के नेतृत्व में उग्रराष्ट्रवाद का बढ़ावा था।

अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग की बाधाएं
(1) उग्र राष्ट्रवाद व सैन्यवाद
(2) आतंकवाद
(3) साम्राज्यवाद
(4) क्षेत्रवाद की प्रवृत्ति
(5) राज्यों की सम्प्रभुता

(2) आतंकवाद—अभी हाल ही के वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग में एक नई और बड़ी बाधा ने जन्म लिया है, यह बाधा है—आतंकवाद और राज्य प्रायोजित आतंकवाद। जब एक राज्य या धार्मिक कट्टरता पर आधारित कोई संगठन किसी अन्य राज्य या राज्यों के प्रसंग में आतंकवादी गतिविधियों को अपनाता और प्रोत्साहित करता है तो राज्यों के आपसी सम्बन्धों में गहरे विरोध की स्थिति जन्म ले लेती है तथा यह वातावरण अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग में एक बड़ा बाधक तत्व बन जाता है।

(3) साम्राज्यवाद—अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में तीसरी बड़ी बाधा शक्तिशाली राज्यों की साम्राज्यवादी भावना है जिसका एक रूप उपनिवेशवाद कहा जा सकता है। साम्राज्यवाद राजनीतिक और आर्थिक शोषण का एक ऐसा यन्त्र है जो पिछड़े हुए देश को विकसित नहीं होने देता। डॉ. डी. एन. प्रिट (Dr. D. N. Pritt) का तो विचार है कि "विश्व संघ सम्बन्धी कोई भी प्रस्ताव उस समय तक सफलता के द्वार तक नहीं पहुंच सकता है, जब तक कि संसार में पूंजीवाद और साम्राज्यवाद उपस्थित है।"

(4) क्षेत्रवाद की प्रवृत्ति—अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग की एक बाधा क्षेत्रवाद है, जिसे पारस्परिक अविश्वास का ही परिणाम कहा जा सकता है। अमरीका और रूस ने विश्व के बहुत से देशों को क्षेत्रीय समझौते के

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधार पर दो व्यापक गुटों में बांट दिया है। नाटो, सीटो, वारसा, आदि ऐसे समझौते हैं जिन्होंने विश्व में सद्भावना और मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के स्थान पर पारस्परिक घृणा और द्वेष को जन्म दिया है। पिछले बीस वर्षों में वैश्वीकरण के साथ-साथ आर्थिक क्षेत्र में भी क्षेत्रवाद की प्रवृत्ति बढ़ी है। विभिन्न आर्थिक क्षेत्रीय संगठन जैसे—एशियान, यूरोपियन संघ, सार्क आदि इसके उदाहरण हैं।

(5) राज्यों की सम्प्रभुता—अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग की एक बहुत बड़ी बाधा राज्यों की सम्प्रभुता है। सम्प्रभुता प्रत्येक प्रकार के बाहरी हस्तक्षेप से मुक्त राज्य की सत्ता को कह सकते हैं। वर्तमान समय के इन सम्प्रभुताधारी राज्यों को किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि या समझौते को मानने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता और राज्यों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मनमाने तरीके से आचरण किया जाता है। अतः विश्व संघ की कोई योजना उस समय तक सफल नहीं हो सकती है, जब तक कि राज्यों की सम्प्रभुता का अन्त न हो जाय। कुछ विश्लेषकों का मत है कि वैश्वीकरण ने राष्ट्रों की सम्प्रभुता को कमजोर कर दिया है पर वास्तविकता यह है कि वैश्वीकरण के वर्तमान युग में भी विश्व स्तर पर प्रतियोगिता की प्राथमिक इकाई व आधार सम्प्रभु राष्ट्र ही हैं।

1945-85 के काल में अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग की एक बहुत बड़ी बाधा रही है—राजनीतिक क्षेत्र में सैद्धान्तिक मतभेद। ये सैद्धान्तिक मतभेद पूंजीवाद और साम्यवाद के रूप में थे और इन दोनों विचारधाराओं तथा व्यवस्थाओं के आपसी विरोध के कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शीत युद्ध का वातावरण था, लेकिन अब सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के अन्य राज्यों द्वारा साम्यवाद को अस्वीकार कर दिया गया है और 1991 में उस सोवियत संघ का भी विखण्डन हो गया है, जो युद्धोत्तर काल की एक महाशक्ति था। इस प्रकार युद्धोत्तर राजनीति में जिस शीत युद्ध ने जन्म लिया था। वह आज समाप्त हो गया है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग की वह बाधा तो समाप्त हो गई है, लेकिन 1990 के बाद **'एक ध्रुवीय विश्व'** (Uni-polar world) **की स्थिति है। संयुक्त राज्य अमरीका विश्व की एकमात्र महाशक्ति है तथा अमरीका ने कुछ उदाहरणों में विश्व के राज्यों पर अपनी इच्छा थोपने का प्रयत्न किया है।** इसके अतिरिक्त अब भी राज्यों के बीच आपसी मतभेद अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग की एक बाधा के रूप में बने हुए हैं।

अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग की बाधाओं को दूर करने के उपाय

अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग की बाधाओं को दूर करने के लिए निम्नलिखित उपाय अपनाये जा सकते हैं :

(1) उदारवादी राष्ट्रीयता का प्रचार—अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास के लिए राष्ट्रीयता के ऐसे रूप को स्वीकार किया जाना चाहिए, जो अपने राष्ट्रीय स्वार्थों को ही सब कुछ न समझकर सम्पूर्ण मानवता के हित में कार्य कर सके और जिसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में **'जीओ और जीने दो'** के विचार को अपनाया जा सके। राष्ट्रीयता का यह उदारवादी रूप ही अन्तर्राष्ट्रीयता के लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक सिद्ध हो सकता है।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास—वर्तमान समय में विभिन्न राज्यों के पारस्परिक व्यवहार के सम्बन्ध में किन्हीं निश्चित अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का अभाव है और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सर्वसम्मत नियमों का अभाव होने के कारण विभिन्न राज्यों द्वारा अपने स्वार्थों की पूर्ति हेतु मनमाने व्यवहार को अपना लिया जाता है। अतः विधिवत रूप से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास होना चाहिए, जिससे राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को नियमित किया जा सके।

अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग की बाधाओं को दूर करने के उपाय
1. उदारवादी राष्ट्रीयता का प्रचार
2. अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास
3. राज्यों की बाहरी सम्प्रभुता की समाप्ति
4. साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का अन्त
5. सांस्कृतिक आदान-प्रदान
6. आतंकवाद को नियन्त्रित करने की आवश्यकता
7. स्वस्थ और सबल अन्तर्राष्ट्रीय संगठन

(3) राज्यों की बाहरी सम्प्रभुता की समाप्ति—अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास कर लेने से ही लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती, आवश्यकता इस बात की है कि राज्यों की बाहरी सम्प्रभुता को समाप्त किया जाय। जिस प्रकार एक राज्य में रहने वाले व्यक्ति आवश्यक रूप से राज्य के कानूनों का पालन करते हैं, उसी प्रकार राज्यों के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का पालन किया जाना चाहिए।

(4) साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का अन्त—अन्तर्राष्ट्रीयता के विचार को मानव-मात्र की आधारभूत समानता के आधार पर ही अपनाया

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा सकता है। ऐसी स्थिति में शोषण की प्रवृत्ति पर आधारित साम्राज्यवाद का अन्त कर दिया जाना चाहिए। साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का पूर्णतया अन्त होने पर ही एशिया और अफ्रीका के देश अमरीका और यूरोप के देशों के साथ सहयोग कर सकते हैं।

(5) सांस्कृतिक आदान-प्रदान—अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के विकास में सांस्कृतिक आदान-प्रदान द्वारा भी बहुत अधिक सीमा तक कार्य किया जा सकता है। सांस्कृतिक आदान-प्रदान हृदयों की एकता स्थापित करने का कार्य करता है और हृदयों की एकता राष्ट्रीयता की सीमा को लांघकर मानव-मात्र के प्रति सद्भावना को जन्म देती है जो अन्तर्राष्ट्रीयता का मूल आधार है।

(6) आतंकवाद को नियन्त्रित करने की आवश्यकता—राज्यों के द्वारा आपसी सहयोग और समझौते के आधार पर आतंकवाद को नियन्त्रित करने के सभी सम्भव प्रयत्न किये जाने चाहिए। इस बात को समझा जाना चाहिये कि आतंकवाद किसी एक राज्य के विरुद्ध नहीं, वरन् वस्तुतः राज्यों की आपसी सद्भावना और अन्तर्राष्ट्रीयता का शत्रु है। अतः आतंकवाद और आतंकवादियों को प्रोत्साहित करने के बजाय आतंकवादी गतिविधियों में संलग्न व्यक्तियों को 'गम्भीर अपराधी' करार देते हुए उनके प्रति अपराधी जैसा कठोर व्यवहार ही किया जाना चाहिए।

(7) स्वस्थ और सबल अन्तर्राष्ट्रीय संगठन—अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को क्रियात्मक रूप देने के लिए सबसे अधिक आवश्यक कार्य स्वस्थ और सबल अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना करना है। वह अन्तर्राष्ट्रीय संगठन विश्व के सभी राष्ट्रों की आधारभूत समानता पर आधारित होना चाहिए और इसमें विश्व के सभी राष्ट्रों को जनसंख्या एवं क्षेत्र के आधार पर उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए। इन अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा विश्व के सभी राज्यों के बीच शान्ति, सद्भावना और सहयोग का वातावरण स्थापित करने का कार्य किया जाना चाहिए तथा यह संगठन इतना शक्तिशाली भी होना चाहिए कि यदि कोई राष्ट्र सर्वसम्मत अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का उल्लंघन कर युद्ध करने का साहस करे, तो इस संगठन द्वारा शक्ति के बल पर उसे ऐसा करने से रोका जा सके। इस दृष्टि से संयुक्त राष्ट्र संघ में कुछ सुधार किये जाने चाहिए।

यदि उपर्युक्त बातों को अपनाया जाय, तो अन्तर्राष्ट्रीय तनाव बहुत कुछ सीमा तक दूर होकर अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का विकास हो सकता है। बीसवीं सदी के लिए अन्तर्राष्ट्रीयता का आदर्श एक आदर्श कल्पना ही नहीं वरन् युद्धों से ग्रस्त और त्रस्त मानवता के लिए अनिवार्य आवश्यकता बन गयी है।

अन्तर्राष्ट्रीयतावाद एवं वर्तमान वैश्विक परिदृश्य

पिछले बीस वर्षों से वैश्विक स्तर पर वैश्वीकरण (Globalisation), उदारीकरण तथा निजीकरण की प्रवृत्ति प्रबल हो रही है। वैश्वीकरण के अन्तर्गत राष्ट्रों के मध्य वस्तुओं, सेवाओं तथा व्यक्तियों का आदान-प्रदान अत्यधिक बढ़ गया है। औद्योगिक व व्यावसायिक कम्पनियों का कार्यक्षेत्र वैश्विक है। सूचना व प्रौद्योगिकी (Information technology) की क्रान्ति ने विश्व में व्यक्तियों व राष्ट्रों को अत्यन्त करीब ला दिया है। इसीलिए आधुनिक विचारक मैक्लुहान ने वर्तमान विश्व को वैश्विक गांव (Global village) की संज्ञा दी है। अतः वर्तमान वैश्विक परिदृश्य अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में अत्यन्त सहायक है। राष्ट्रों व व्यक्तियों की इस बढ़ती हुई अन्तःक्रिया के कारण हमारी समस्याओं व उनके समाधान का स्वरूप भी वैश्विक है। 2009 में विश्व आर्थिक मन्दी से कोई देश अछूता नहीं रहा। इस परिदृश्य में वैश्वीकरण की विवशता के चलते देशों को अपनी राष्ट्रीयता व सम्प्रभुता को समय की आवश्यकतानुसार समायोजित करना पड़ रहा है, परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि राज्यों की सम्प्रभुता अथवा राष्ट्रीयता समाप्त हो जाएगी। हां अन्तर्राष्ट्रीयता की मांग के अनुसार उनमें समायोजन अवश्य होगा।

राष्ट्र संघ
(LEAGUE OF NATIONS)

1914 से 1918 तक प्रथम विश्व युद्ध चला जिसमें विश्व के सभी राष्ट्र सम्मिलित थे। इसमें अपार जन और धन की हानि हुई। अतः युद्ध समाप्त होने पर अमरीका के राष्ट्रपति विल्सन की प्रेरणा और प्रयत्नों से राष्ट्र संघ नामक एक विश्व संगठन की रचना की गयी। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा इस संघ का मुख्य उद्देश्य था। राष्ट्र संघ अपने उद्देश्य-पूर्ति में असफल रहा। इसका मुख्य कारण यह था कि संयुक्त राज्य अमरीका

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसमें शामिल नहीं हुआ था। दूसरे, इसके सदस्य राष्ट्रों ने ईमानदारी से इसके उद्देश्यों को पूरा करने का प्रयत्न नहीं किया। अतः सन् 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ हो गया जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्र संघ समाप्त ही हो गया।

संयुक्त राष्ट्र संघ
(UNITED NATIONS)

युद्ध को रोकने और समस्त विश्व में शान्ति बनाए रखने के उद्देश्य से 1919 में एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन 'राष्ट्र संघ (League of Nations) की स्थापना की गयी थी। 1939 में दूसरा विश्व युद्ध प्रारम्भ हो जाने पर राष्ट्र संघ की असफलता स्पष्ट हो गयी। ऐसी स्थिति में विविध अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में नवीन अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना पर विचार किया गया और **'सैन-फ्रान्सिस्को सम्मेलन'** के आधार पर 24 अक्टूबर, 1945 को संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हुई। उसी समय से संयुक्त राष्ट्र संघ अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सहयोग की दिशा में कार्य कर रहा है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य
(OBJECTS Of UNITED NATIONS)

संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र के अनुसार इस संगठन के मुख्य उद्देश्य निम्न हैं :

(1) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा वनाए रखना और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए शान्ति विरोधी तत्वों का निराकरण व आक्रामक कृत्यों को दूर करना।

(2) राष्ट्रों में मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना व विश्वशान्ति को सुदृढ़ बनाने के अन्य उपाय करना।

(3) आर्थिक, सामाजिक और अन्य सभी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना।

(4) उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिए विभिन्न राष्ट्रों के प्रयत्नों तथा कार्यों में मेल स्थापित करना और इस दृष्टि से एक केन्द्र के रूप में कार्य करना।

संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धान्त

संयुक्त राष्ट्र के चार्टर की धारा दो में कतिपय सिद्धान्तों का उल्लेख है जो राष्ट्रों के मध्य सहयोग बढ़ाने, विश्व शान्ति व अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के अनुकूल हैं। ये सिद्धान्त निम्न हैं :

1. सभी राष्ट्रों की समानता तथा उनकी सम्प्रभुता का सम्मान,
2. अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण निवटारा
3. दूसरे देशों के प्रति आक्रमण व धमकी की कार्यवाही पर रोक,
4. संयुक्त राष्ट्र संघ किसी देश के आन्तरिक व घरेलू मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा।
5. सभी राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा हेतु अपने दायित्वों का निर्वहन करेंगे।

यही सिद्धान्त संयुक्त राष्ट्र संघ की कार्यप्रणाली का आधार है। वस्तुतः संयुक्त राष्ट्र संघ अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना की संस्थागत अभिव्यक्ति है।

सदस्यता (Membership)—प्रारम्भ में ही संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर करने वाले 51 राज्य इसके प्रारम्भिक सदस्य हैं। घोषणा-पत्र के अनुसार उन राज्यों को भी सदस्यता प्रदान की जा सकती है, जिन्हें सुरक्षा परिषद् के 5 स्थायी सदस्यों सहित सुरक्षा परिषद् के बहुमत और साधारण सभा के 2/3 बहुमत का समर्थन प्राप्त हो। किसी देश की शान्तिप्रियता, विधान के नियमों को स्वीकार करने तथा संघ के उत्तरदायित्व को पूरा करने की समर्थता भी संघ की सदस्यता के लिए अनिवार्य है। घोषणा-पत्र के सिद्धान्त का उल्लंघन किए जाने पर सम्बन्धित राज्य को संघ से निकाला जा सकता है।

संघ की सदस्य संख्या में निरन्तर वृद्धि होती रही है और वर्तमान समय में विश्व के 192 देश इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के सदस्य हो गए हैं। यदि कोई सदस्य देश संयुक्त राष्ट्र के नियमों तथा निर्देशों-आदेशों की लगातार अवहेलना करता है तो सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर महासभा उसकी सदस्यता समाप्त कर सकती है। संघ का नवीनतम सदस्य बाल्कन राष्ट्र मोण्टेनेग्रो है, जिसने 3 जून, 2006 को स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ संघ में प्रवेश प्राप्त किया।

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संयुक्त राष्ट्र संघ का संगठन

संयुक्त राष्ट्र संघ के मुख्य 6 अंग हैं—(1) साधारण सभा (General Assembly), (2) सुरक्षा परिषद् (Security Council), (3) आर्थिक व सामाजिक परिषद् (Economic and Social Council), (4) प्रन्यास परिषद् (Trusteeship Council), (5) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice), (6) सचिवालय (Secretariat)।

(1) साधारण सभा या महासभा—साधारण सभा संयुक्त राष्ट्र संघ का सबसे प्रमुख अंग है। संयुक्त राष्ट्र संघ के समस्त सदस्य साधारण सभा के सदस्य होते हैं। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को एक मत देने का अधिकार प्राप्त है। वह साधारण सभा के अधिवेशन में अपने पांच प्रतिनिधियों को नियुक्त कर सकता है। साधारण सभा का नियमित अधिवेशन वर्ष में एक बार ही होता है जिसके प्रारम्भ होने की तिथि सितम्बर मास का तृतीय गुरुवार होती है। सुरक्षा परिषद् अथवा संघ के सदस्यों के बहुमत की मांग पर महामन्त्री इसका विशेष अधिवेशन बुला सकता है। निर्णय साधारण बहुमत से किया जाता है। यह सभा उन समस्त विषयों पर विचार कर सकती है जिनका संघ के चार्टर में उल्लेख है।

(2) सुरक्षा परिषद्—सुरक्षा परिषद् पर विश्व में शान्ति और व्यवस्था बनाए रखने का उत्तरदायित्व होता है। सुरक्षा परिषद् के संयुक्त राज्य अमरीका, रूस, इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा साम्यवादी चीन 5 स्थायी सदस्य हैं। इस परिषद् के 10 अस्थायी सदस्य होते हैं जिनका दो वर्ष के लिए साधारण सभा द्वारा चुनाव होता है। इसका सत्र निरन्तर चलता रहता है। उसके सदस्य बारी-बारी से प्रति माह उसका सभापतित्व करते हैं। स्थायी सदस्यों को 'वीटो' का अधिकार प्राप्त है। किसी भी प्रस्ताव के पारित होने के लिए पांचों स्थायी सदस्यों का सहमत होना अनिवार्य है। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना करना इसी का उत्तरदायित्व है।

(3) आर्थिक तथा सामाजिक परिषद्—इस परिषद् के 54 सदस्य होते हैं। महासभा द्वारा दो-तिहाई बहुमत से प्रतिवर्ष तीन वर्ष की अवधि के लिए एक-तिहाई सदस्य चुने जाते हैं। यह परिषद् आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा शिक्षा एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी विषय, जो इसके अन्तर्गत आते हैं, उनका अध्ययन कर रिपोर्ट तैयार करती है। परिषद् का कार्य आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में विविध देशों के बीच सहयोग को प्रोत्साहित करना है।

परिषद् का एक महत्वपूर्ण कार्य 10 दिसम्बर, 1948 की **'अधिकारों की सार्वलौकिक घोषणा'** है। इसी आधार पर सम्पूर्ण विश्व में प्रति वर्ष 10 दिसम्बर को **'मानव अधिकार दिवस'** मनाया जाता है।

(4) न्यास परिषद्—न्यास परिषद की स्थापना उन पिछड़े प्रदेशों के हितों की रक्षा के लिए की गयी है जो स्वायत्त शासन के योग्य नहीं हैं। ये प्रदेश तीन प्रकार के हैं :

(i) वे प्रदेश जो संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के पूर्व राष्ट्र संघ की मैण्डेट व्यवस्था के अन्तर्गत थे।

(ii) वे प्रदेश जो द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त शत्रु राज्यों से छीन लिए गए थे।

(iii) वे प्रदेश जो अपनी इच्छा से साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी राज्यों ने संयुक्त राष्ट्र संघ को सौंप दिए थे।

अब प्रन्यास परिषद् के अन्तर्गत कोई भी क्षेत्र नहीं है। सभी क्षेत्रों ने स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली है।

(5) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय—इस न्यायालय के 15 न्यायाधीश होते हैं। इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का पूर्ण ज्ञान होता है। इनका प्रमुख कार्य सदस्य राष्ट्रों के कानूनी झगड़ों को अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के अनुसार निष्पक्ष होकर सुलझाना है। यह न्यायालय हेग में स्थित है। इस न्यायालय को अनिवार्य क्षेत्राधिकार प्राप्त नहीं है तथा यह इस न्यायालय की सबसे बड़ी कमजोरी है।

(6) सचिवालय—यह संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रधान कार्यालय है। इसका मुख्य अधिकारी महासचिव कहलाता है। इसकी नियुक्ति सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर साधारण सभा द्वारा 5 वर्ष के लिए की जाती है। अन्य पदाधिकारियों की नियुक्ति महासचिव द्वारा साधारण सभा द्वारा निर्मित नियमों के आधार पर की जाती है। महासचिव का मुख्य कार्य संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यों की वार्षिक रिपोर्ट तैयार कर साधारण सभा के सम्मुख प्रस्तुत करना है। अब तक त्रिग्वेली, डाग हैमरशोल्ड, यू थाण्ट, डॉ. कुर्त्त वाल्डहीम, जावियर पेरेज

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द स्वेलर, वुतरस वुतरस घाली और कोफी अन्नान इस पद पर कार्य कर चुके हैं तथा विधिवत् निर्वाचन के बाद 1 जनवरी, 2007 को द. कोरिया के विदेशमन्त्री बान-की-मून ने संयुक्त राष्ट्र के महासचिव का पद ग्रहण किया है। संयुक्त राष्ट्र के 62 वर्ष के जीवन में श्री मून दूसरे एशियाई महासचिव होंगे। पहले एशियाई महासचिव ऊ थाण्ट थे।

संयुक्त राष्ट्र संघ की कुछ विशिष्ट संस्थाएं

संघ से सम्बद्ध कुछ विशिष्ट संगठन भी हैं जो अपने क्षेत्र विशेष की अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान करते हैं। कुछ प्रमुख विशिष्ट संगठन निम्न प्रकार हैं :

(1) **अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन (ILO)**—यह संघ का सबसे पुराना विशिष्ट संगठन है और 1919 से ही कार्य कर रहा है। इस संगठन के द्वारा विश्व के श्रमिक वर्ग का संगठन और समस्त श्रमिक वर्ग के हितों की रक्षा का कार्य किया जाता है। इसका मुख्यालय जिनेवा (स्विट्जरलैण्ड) में है।

(2) **खाद्य और कृषि संगठन (FAO)**—यह संगठन विश्व में खाद्य समस्या हल करने और विश्व के सभी लोगों के लिए पोषक भोजन की व्यवस्था करने की दिशा में क्रियाशील है। इसका मुख्यालय रोम में है।

(3) **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF)**—इसका कार्य विभिन्न देशों की मुद्रा सम्बन्धी समस्याओं को हल करना और विभिन्न देशों में अधिकाधिक आर्थिक सहयोग स्थापित करना है। यह वाशिंगटन में स्थित है।

(4) **पुनर्निर्माण और विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (IBRD)**—इसका कार्य विभिन्न देशों की उत्पादन सम्बन्धी योजनाओं के लिए पूंजी की व्यवस्था कर सदस्य देशों के आर्थिक पुनर्निर्माण और विकास कार्य में सहायता पहुंचाना है। इसे विश्व बैंक के नाम से जाना जाता है। इसका मुख्यालय भी वाशिंगटन में है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक को 'ब्रेटनवुड्स संस्थाओं' (Brettonwoods) संस्थाओं के नाम से भी जाना जाता है, क्योंकि इनकी स्थापना अमेरिका के शहर ब्रेटनवुड्स (Brettonwoods) में हुई थी।

(5) **संयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा, विज्ञान और सांस्कृतिक संगठन (UNESCO)**—संयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा, विज्ञान और सांस्कृतिक संगठन का कार्य शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति का विकास तथा इन क्षेत्रों में विभिन्न देशों के बीच सहयोग को विकसित कर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की भावना को स्थायी बनाना है। यह पेरिस में स्थित है।

(6) **विश्व स्वास्थ्य संघ (WHO)**—इसका कार्य रोगों की रोकथाम और चिकित्सा की व्यवस्था कर विश्व के सभी नागरिकों के स्वास्थ्य सम्बन्धी स्तर में सुधार करना है। यह जिनेवा (स्विट्जरलैण्ड) में स्थित है।

(7) अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी संगठन।

(8) अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संघ।

(9) विश्व डाक संघ, आदि।

वर्तमान समय में संयुक्त राष्ट्र संघ के सम्मुख एक प्रमुख समस्या 'वित्तीय साधनों के अभाव' या धन की कमी है।

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (प्रत्येक प्रश्न 6 अंक का, उत्तर लगभग 300 शब्दों में दीजिए)

1. "संयुक्त राष्ट्र संघ की सफलता में ही मानव जाति का कल्याण है।" विवेचना कीजिए।
(संकेत—संयुक्त राष्ट्र संघ की सफलताएं और मानव जाति के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ का महत्व स्पष्ट कीजिए।)
2. अन्तर्राष्ट्रीयता के पक्ष और विपक्ष में युक्तियां दीजिए।
3. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—अन्तर्राष्ट्रीयता।
4. अन्तर्राष्ट्रीयता से आप क्या समझते हैं? अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग में कौन-सी बाधाएं हैं? (उ.प्र., 2010)
5. संयुक्त राष्ट्र संघ के मुख्य अंग और उनके कार्य बताइए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लघु उत्तरीय प्रश्न

(अ) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 50 शब्दों में दीजिए (2 अंक)।

1. अन्तर्राष्ट्रीयता से आप क्या समझते हैं?
2. सुरक्षा परिषद् का गठन बताइए।
3. अन्तर्राष्ट्रवाद के किन्हीं दो कारकों का उल्लेख कीजिए। (उ.प्र., 2010)
4. संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रमुख उद्देश्य क्या हैं?
5. आर्थिक व सामाजिक परिषद् का प्रमुख कार्य क्या हैं?

(ब) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिए (4 अंक)।

6. अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में सहायक तत्व बतलाइए।
7. संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है?
8. संयुक्त राष्ट्र संघ के मुख्य अंग बताइए।
9. अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के मार्ग में चार बाधायें बताइए।
10. संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रमुख सिद्धान्त क्या हैं?

अति लघु उत्तरीय प्रश्न [प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का, उत्तर दस शब्द (एक वाक्य) में]

प्रश्न 1. अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग में आने वाली दो प्रमुख बाधाओं को लिखिए।
उत्तर—(1) उग्र राष्ट्रीयता, (2) साम्राज्यवाद।

प्रश्न 2. संयुक्त राष्ट्र संघ का कोई एक प्रमुख उद्देश्य बताइए।
उत्तर—संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रमुख उद्देश्य युद्धों को रोकना तथा विश्व में स्थायी शान्ति की स्थापना करना है।

प्रश्न 3. संयुक्त राष्ट्र संघ के किन्हीं दो महत्वपूर्ण अंगों के नाम लिखिए।
उत्तर—(1) साधारण सभा, (2) सुरक्षा परिषद्।

प्रश्न 4. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का प्रधान कार्यालय कहां है?
अथवा, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का मुख्यालय कहां है? (उ.प्र., 2010)
उत्तर—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का प्रधान कार्यालय हेग में है।

प्रश्न 5. अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में सहायक दो मुख्य कारक (तत्व) बताइए।
उत्तर—(i) समाचार-पत्र, रेडियो, टेलीविजन और साहित्य, (ii) औद्योगिक क्रान्ति और आर्थिक क्षेत्र में परस्पर निर्भरता।

प्रश्न 6. उस भारतीय महिला का नाम लिखिए जो संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा की अध्यक्षा थीं।
उत्तर—श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित।

प्रश्न 7. संयुक्त राष्ट्र संघ का न्यायिक अंग कौन-सा है?
उत्तर—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय।

प्रश्न 8. संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना कब हुई?
उत्तर—संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना 24 अक्टूबर, 1945 को हुई।

प्रश्न 9. एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का नाम लिखिए।
उत्तर—1919 में स्थापित 'राष्ट्र संघ' तथा 1945 में स्थापित 'संयुक्त राष्ट्र संघ'।

प्रश्न 10. सुरक्षा परिषद् के पांच स्थायी सदस्यों के नाम लिखिए।
उत्तर—सुरक्षा परिषद् के पांच स्थायी सदस्य हैं : अमरीका, सोवियत रूस, ब्रिटेन, फ्रांस और चीन।

प्रश्न 11. संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों की संख्या क्या है?
उत्तर—सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों की संख्या 5 है। (उ.प्र., 2010)

प्रश्न 12. सुरक्षा परिषद् की कुल सदस्य संख्या कितनी है?
उत्तर—15 (5 स्थायी व 10 अस्थायी)।

प्रश्न 13. वर्तमान समय में संयुक्त राष्ट्र के कितने सदस्य हैं?
उत्तर—2010 के मध्य में संघ की सदस्य संख्या 192 है।

प्रश्न 14. वर्तमान में संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव कौन है?
उत्तर—वर्तमान में द. कोरिया के बान-की मून संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव हैं। उन्होंने 1 जनवरी, 2007 को महासचिव पद ग्रहण किया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुविकल्पीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों में चार विकल्प दिए गए हैं। उनमें से एक सही विकल्प छांटकर लिखिए :

1. "अन्तर्राष्ट्रीयता एक भावना है जिसके अनुसार व्यक्ति केवल अपने राज्य का ही सदस्य नहीं, वरन् विश्व का नागरिक है।" यह परिभाषा किसकी है?
   (अ) गोल्डस्मिथ की (ब) विलियम लॉयड गैरीसन की
   (स) ब्राइस की (द) विल्सन की
2. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना कहां पर की गई?
   (अ) रोम (ब) हेग
   (स) पेरिस (द) लन्दन
3. अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में सहायक तत्व है :
   (अ) विश्वबन्धुत्व की धारणा और मानवाधिकार (ब) अन्तर्राष्ट्रीय कानून
   (स) वैज्ञानिक आविष्कार (द) इनमें से सभी
4. अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग में प्रमुख बाधा है :
   (अ) उग्र राष्ट्रवाद व सैन्यवाद (ब) आतंकवाद
   (स) साम्राज्यवाद (द) इनमें से सभी
5. अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग की बाधाओं को दूर करने का उपाय है :
   (अ) उदारवादी राष्ट्रीयता का प्रचार (ब) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास
   (स) साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का अन्त (द) इनमें से सभी
6. राष्ट्र संघ की स्थापना कब की गई थी :
   (अ) 1914 में (ब) 1917 में
   (स) 1919 में (द) इनमें से कोई नहीं
7. संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना कब हुई?
   (अ) 24 अक्टूबर, 1945 (ब) 24 अक्टूबर, 1940
   (स) 24 अक्टूबर, 1944 (द) 24 अक्टूबर, 1947
8. संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रारम्भिक सदस्य हैं :
   (अ) 25 राज्य (ब) 50 राज्य
   (स) 51 राज्य (द) 52 राज्य
9. वर्तमान समय में संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्य संख्या है :
   (अ) 189 (ब) 190
   (स) 192 (द) इनमें से कोई नहीं
10. संयुक्त राष्ट्र संघ के मुख्य अंग हैं :
    (अ) चार (ब) पांच
    (स) छः (द) सात
11. संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में प्रत्येक सदस्य राज्य को कितने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार होता है?
    (अ) एक (ब) दो
    (स) चार (द) पांच
12. भारत की श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित महासभा के किस अधिवेशन की अध्यक्षा थीं?
    (अ) प्रथम अधिवेशन (ब) 5वें अधिवेशन
    (स) छठे अधिवेशन (द) आठवें अधिवेशन
13. 'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' कब पारित किया गया :
    (अ) 24 अक्टूबर, 1945 (ब) 15 अगस्त, 1947
    (स) 3 नवम्बर, 1950 (द) 3 दिसम्बर, 1952
14. सुरक्षा परिषद् के कितने सदस्य हैं?
    (अ) 5 (ब) 10
    (स) 15 (द) 20

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

15. निम्नलिखित में से कौन-सा सुरक्षा परिषद् का स्थायी सदस्य नहीं है?
(अ) भारत (ब) संयुक्त राज्य अमेरिका
(स) ग्रेट ब्रिटेन (द) फ्रांस

16. आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् की सदस्य संख्या है :
(अ) 15 (ब) 50
(स) 54 (द) 60

17. 'मानवीय अधिकारों की सार्वलौकिक घोषणा' कब की गई थी :
(अ) 10 जनवरी, 1948 (ब) 10 अप्रैल, 1948
(स) 10 अगस्त, 1948 (द) 10 दिसम्बर, 1948

18. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में कितने न्यायाधीश होते हैं?
(अ) 10 (ब) 12
(स) 15 (द) इनमें से कोई नहीं

19. संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव की नियुक्ति कितने वर्ष के लिए की जाती है?
(अ) 2 वर्ष (ब) 4 वर्ष
(स) 5 वर्ष (द) 7 वर्ष

20. संयुक्त राष्ट्र संघ का मुख्यालय कहां है :
(अ) लन्दन (ब) पेरिस
(स) न्यूयार्क (द) जेनेवा

[उत्तर—1. (अ), 2. (ब), 3. (द), 4. (द), 5. (द), 6. (स), 7. (अ), 8. (स), 9. (स), 10. (स), 11. (द), 12. (द), 13. (स), 14. (स), 15. (अ), 16. (स), 17. (द), 18. (स), 19. (स), 20. (स)]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

21

गुट निरपेक्षता या असंलग्नता

[NON-ALIGNMENT]

"गुट निरपेक्षता शान्ति का मार्ग और लड़ाई से बचाव का मार्ग है। इसका उद्देश्य सैनिक गुटबन्दियों से दूर रहना है। यह एक निषेधात्मक नीति नहीं है, वरन् एक सकारात्मक, एक निश्चित और मैं आशा करता हूं कि एक निरन्तर विकासशील नीति है।"[1]

—पं. नेहरू

वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में गुट निरपेक्षता अथवा असंलग्नता का सिद्धान्त अत्यन्त प्रभावशाली और लोकप्रिय बन गया है। गुट निरपेक्षता की नीति को सर्वप्रथम अपनाने का श्रेय भारत को प्राप्त है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सबसे प्रमुख और दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य विश्व का दो विरोधी गुटों में बंट जाना था। एक गुट का नेता संयुक्त राज्य अमरीका था और दूसरे गुट का नेता सोवियत संघ। इन दोनों गुटों के बीच मतभेदों की एक ऐसी खाई उत्पन्न हो गयी थी और दोनों गुट एक-दूसरे के विरोध में इस प्रकार सक्रिय थे कि इसे शीत युद्ध का नाम दिया गया। 1947 में जब भारत स्वतन्त्र हुआ, तो एशिया और विश्व में भारत की अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थिति को देखते हुए दोनों विरोधी गुटों के देशों द्वारा भारत को अपनी ओर शामिल करने के प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये गये और परस्पर विरोधी गुटों के इन प्रयासों ने वैदेशिक नीति के क्षेत्र में भारत के लिए एक समस्या खड़ी कर दी। लेकिन इन कठिन परिस्थितियों में भारत के द्वारा अपने विवेकपूर्ण मार्ग का शीघ्र ही चुनाव कर लिया गया और वह मार्ग था, गुट निरपेक्षता अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में दोनों ही गुटों से अलग रहते हुए विश्वशान्ति, सत्य और न्याय का समर्थन करने की स्वतन्त्र विदेश नीति।

प्रारम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में गुट निरपेक्षता को सही रूप में नहीं समझा जा सका। न केवल दोनों महाशक्तियों ने इसे 'अवसरवादी नीति' बताया, वरन् अन्य अनेक देशों द्वारा भी यह सोचा गया कि 'आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में गुट निरपेक्षता कोई मार्ग नहीं हो सकता।' लेकिन समय के साथ ये भ्रान्तियां कमजोर पड़ीं और शीघ्र ही कुछ देश गुट निरपेक्षता की ओर आकर्षित हुए। ऐसे देशों में सबसे प्रमुख थे; मार्शल टीटो के नेतृत्व में यूगोस्लाविया और कर्नल नासिर के नेतृत्व में मिस्र। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में गुट निरपेक्षता की एक 'त्रिमूर्ति' बन गयी, नेहरू, नासिर और टीटो। कालान्तर में, एशियाई-अफ्रीकी देशों ने सोचा कि गुट निरपेक्षता को अपनाना न केवल सम्भव है वरन् उनके लिए यह लगभग एकमात्र स्वाभाविक और उचित मार्ग है। 1961 तक 25 देशों ने इस मार्ग को अपना लिया था और आज (2009 ई. के मध्य) निर्गुट आन्दोलन के सदस्यों की संख्या 118 हो गई है। इन 118 सदस्यों के अतिरिक्त चीन सहित 11 देश 'पर्यवेक्षक देश' के रूप में इस आन्दोलन के साथ जुड़े हुए हैं। वस्तुतः गुट निरपेक्षता आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की सबसे अधिक लोकप्रिय धारणा बन गई है।

गुट निरपेक्षता की नीति के प्रेरक तत्व

स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वे कौन-से तत्व थे, जिनके कारण भारत ने गुट निरपेक्षता को अपनाया और समय के साथ अन्य देश इसकी ओर आकर्षित हुए। गुट निरपेक्षता की नीति के प्रेरक तत्वों का उल्लेख अग्र प्रकार है :

1 9 दिसम्बर, 1959 को पं. नेहरू द्वारा लोकसभा में दिये गये भाषण का एक अंश।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1. राष्ट्रवाद की भावना—एशियाई-अफ्रीकी देशों ने राष्ट्रवाद की भावना के आधार पर एक लम्बे संघर्ष के बाद यूरोपियन साम्राज्यवाद से मुक्ति प्राप्त की थी। ऐसी स्थिति में सबसे पहले भारत और बाद में अन्य देशों ने स्वाभाविक रूप से सोचा कि किसी शक्ति गुट की सदस्यता को स्वीकार कर लेने पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में वे उसके पिछलग्गू बन जायेंगे, जिससे उनके आत्म-सम्मान, राष्ट्रवाद और सम्प्रभुता को आघात पहुंचेगा। इस प्रकार राष्ट्रवाद की भावना ने उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में स्वतन्त्र मार्ग अपनाने के लिए प्रेरित किया।

2. साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का विरोध—भारत और अन्य एशियाई-अफ्रीकी देशों ने लम्बे समय तक साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के अत्याचार भोगे थे और साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के प्रति उनकी विरोध भावना बहुत अधिक तीव्र थी। उन्होंने सही रूप में यह महसूस किया कि दोनों ही शक्ति गुटों के प्रमुख नव-साम्राज्यवादी हैं तथा साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का विरोध करने के लिए शक्ति गुटों से अलग रहना बहुत अधिक आवश्यक है।

3. शान्ति के लिए तीव्र इच्छा—लम्बे संघर्ष के बाद स्वतन्त्रता प्राप्त करने वाले एशियाई-अफ्रीकी देशों ने सत्य रूप में महसूस किया कि यूरोपियन देशों की तुलना में उनके लिए शान्ति बहुत अधिक आवश्यक है। उन्होंने यह भी सोचा कि उनके लिए युद्ध और तनाव की सम्भावना बहुत कम हो जायेगी, यदि वे अपने आपको शक्ति गुटों से अलग रखें।

4. आर्थिक विकास की लालसा—नवोदित राज्य शस्त्रास्त्रों की प्रतियोगिता से बचकर अपने देश का आर्थिक पुनर्निर्माण करना चाहते हैं। आर्थिक पुनर्निर्माण तीव्र गति से हो सके, इसके लिए विकसित राष्ट्रों से आर्थिक और तकनीकी सहयोग प्राप्त करना जरूरी है। गुट निरपेक्षता का मार्ग अपनाकर ही कोई राष्ट्र बिना अर्त विश्व की दोनों महाशक्तियों—साम्यवादी और पूंजीवादी गुटों से आर्थिक एवं तकनीकी सहायता प्राप्त कर सकता था।

5. जातीय एवं सांस्कृतिक पक्ष—गुट निरपेक्षता की नीति का एक प्रेरक तत्व 'जातीय एवं सांस्कृतिक पक्ष' भी है। गुट निरपेक्षता की नीति के अधिकांश समर्थक यूरोपियन राष्ट्रों का शोषण भुगत चुके हैं और अश्वेत जाति के हैं। इनमें सांस्कृतिक एवं जातीय समानताएं भी विद्यमान हैं और कमजोर ही सही, लेकिन इन समानताओं ने उन्हें शक्ति गुटों से अलग रहने के लिए प्रेरित किया है।

इन सभी कारणों से प्रभावित होकर एशियाई-अफ्रीकी देशों ने गुट निरपेक्षता की नीति को अपनाना ही श्रेयस्कर समझा।

गुट निरपेक्षता का आशय

गुट निरपेक्षता को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 'तटस्थता' के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय कानून और व्यवहार में तटस्थता का जो अर्थ लिया जाता है, गुट निरपेक्षता उससे नितान्त भिन्न स्थिति है। तटस्थता और गुट निरपेक्षता में भेद स्पष्ट करते हुए जॉर्ज लिस्का लिखते हैं, "किसी विवाद के सन्दर्भ में यह जानते हुए कि कौन सही है और कौन गलत है, किसी का पक्ष नहीं लेना तटस्थता है, किन्तु गुट निरपेक्षता का आशय सही और गलत में विभेद करते हुए सदैव सही का समर्थन करना है।"[1]

गुट निरपेक्षता के आशय को स्पष्ट करते हुए और गुट निरपेक्षता के सम्बन्ध में समस्त भ्रान्त धारणाओं को दूर करने के लिए गुट निरपेक्षता की नीति के प्रणेता पं. नेहरू ने 1949 ई. में अमरीकी जनता के सम्मुख कहा था, "जब स्वतन्त्रता के लिए संकट उत्पन्न हो, न्याय पर आघात पहुंचे या आक्रमण की घटना घटित हो, तब हम तटस्थ नहीं रह सकते और न ही हम तटस्थ रहेंगे।"[2] गुट निरपेक्षता को स्पष्ट करते हुए आगे उन्होंने कहा, "हमारी तटस्थता का अर्थ है निष्पक्षता, जिसके अनुसार हम उन शक्तियों और कार्यों का समर्थन करते हैं जिन्हें हम उचित समझते हैं और उनकी निन्दा करते हैं जिन्हें हम अनुचित समझते हैं, चाहे वे किसी भी विचारधारा की पोषक हों।" अतः गुटनिरपेक्षता एक सकारात्मक धारणा है तथा तटस्थता से भिन्न है जो कि एक नकारात्मक धारणा है। तटस्थता से तात्पर्य विवादों से दूर रहकर निष्क्रियता की नीति है। इस प्रकार

[1] M. C. Chagla, *An Ambassador Speaks*, p. 3.

[2] "Where freedom is menaced, justice threatened or aggression takes place, we cannot be and shall not be neutral." —*India's Foreign Policy*, p. 589.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुटनिरपेक्षता का सही अर्थ केवल गुटों से दूर रहना ही नहीं बल्कि गुण-दोष के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में स्वतन्त्र नीति का पालन करना है।

सन् 1961 में बेलग्रेड में आयोजित गुट निरपेक्ष देशों के प्रथम शिखर सम्मेलन में असंलग्नता की नीति के कर्णधारों—नेहरू, नासिर और टीटो ने इस नीति के 5 आवश्यक तत्व माने हैं, जो निम्नलिखित हैं :

(i) सम्बद्ध देश स्वतन्त्र नीति का अनुसरण करता हो;

(ii) वह उपनिवेशवाद का विरोध करता हो;

(iii) वह किसी भी सैनिक गुट का सदस्य न हो;

(iv) उसने किसी भी महाशक्ति के साथ द्विपक्षीय सैनिक समझौता नहीं किया हो;

(v) उसने किसी भी महाशक्ति को अपने क्षेत्र में सैनिक अड्डा बनाने की स्वीकृति न दी हो।

इस प्रकार गुट निरपेक्षता का आशय है, "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सैनिक गुट की सदस्यता या किसी भी महाशक्ति के साथ द्वि-पक्षीय सैनिक समझौते से दूर रहते हुए शान्ति, न्याय और राष्ट्रों की समानता के सिद्धान्त पर आधारित स्वतन्त्र रीति-नीति का अवलम्बना"

गुट निरपेक्षता की नीति के प्रमुख लक्षण

गुट निरपेक्षता के अर्थ और प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए इस नीति के लक्षणों का अध्ययन किया जा सकता है, जो निम्न प्रकार हैं :

1. शक्ति गुटों से पृथक् रहने और महाशक्तियों के साथ सैनिक समझौता न करने की नीति—गुट निरपेक्षता का सबसे प्रमुख लक्षण है—शक्ति गुटों से पृथक् रहने की नीति। इसमें यह बात भी निहित है कि गुट निरपेक्ष देश किसी भी महाशक्ति के साथ सैनिक समझौता नहीं करेगा। गुट निरपेक्षता का मूल विचार है कि विश्व के देशों को परस्पर विरोधी शिविरों में विभक्त करने के प्रयासों या महाशक्तियों के प्रभाव क्षेत्रों के विस्तार के प्रयासों ने विश्व में तनाव की स्थिति को जन्म दिया है और गुट निरपेक्षता का उद्देश्य इन शक्ति गुटों से अलग रहते हुए तनाव की शक्तियों को निर्बल करना है।

2. स्वतन्त्र विदेश नीति—गुट निरपेक्षता का आशय यह है कि सम्बद्ध देश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में किसी शक्ति गुट के साथ बंधा हुआ नहीं है, वरन् उसका अपना स्वतन्त्र मार्ग है जो सत्य, न्याय, औचित्य और शान्ति पर आधारित है। गुट निरपेक्ष देश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में किसी का पिछलग्गू नहीं होता वरन् राष्ट्रीय हित को दृष्टि में रखते हुए सत्य, न्याय, औचित्य और विश्वशान्ति की प्रवृत्तियों का समर्थन करता है।

3. शान्ति की नीति—गुट निरपेक्षता का उदय विश्वशान्ति की आकांक्षा और उद्देश्य से हुआ है। यह शान्ति के उद्देश्यों और संकल्पों की अभिव्यक्ति है। इसका लक्ष्य है, तनाव की प्रवृत्तियों को कमजोर करते हुए शान्ति का विस्तार। गुट निरपेक्षता की नीति को अपनाते हुए भारत ने विश्व के विभिन्न क्षेत्रों (कोरिया, कांगो, साइप्रस) में शान्ति स्थापना के प्रयत्न किये और गुट निरपेक्ष आन्दोलन के सातवें शिखर सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए स्व. श्रीमती गांधी ने कहा था, "गुट निरपेक्ष आन्दोलन इतिहास का सबसे बड़ा शान्ति आन्दोलन है।"

4. साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, शोषण एवं आधिपत्य विरोधी नीति—गुट निरपेक्षता साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, नव-उपनिवेशवाद, रंगभेद और शोषण तथा आधिपत्य के सभी रूपों का विरोध करने वाली नीति है। गुट निरपेक्षता विभिन्न राष्ट्रों के आपसी व्यवहार में राष्ट्रीय प्रभुसत्ता, स्वतन्त्रता, समानता और विकास में विश्वास करती है। संघर्ष, अन्याय, दमन और असहिष्णुता का विरोध करती है एवं भूख तथा अभाव की स्थितियों को दूर करने पर बल देती है।

5. निरन्तर विकासशील नीति—गुट निरपेक्षता एक स्थिर नीति नहीं वरन् निरन्तर विकासशील नीति है जिसे अपनाते हुए सम्बद्ध देश द्वारा राष्ट्रीय हित और विश्व की बदलती हुई परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए अपने दृष्टिकोण और कार्यशैली में परिवर्तन किया जा सकता है। 1971 की 'भारत-सोवियत संघ मैत्री सन्धि' गुट निरपेक्षता की विकासशीलता की परिचायक है। गुट निरपेक्षता के समस्त सन्दर्भ में भी विकासशीलता का परिचय मिलता है। 1975 के पूर्व गुट निरपेक्ष आन्दोलन में राजनीतिक विषय पर अधिक बल दिया जाता था पिछले एक दशक से गुट निरपेक्ष आन्दोलन के अन्तर्गत आर्थिक विषयों और आर्थिक विकास पर अधिक बल दिया जा रहा है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

6. गुट निरपेक्षता एक आन्दोलन है, गुट नहीं—गुट निरपेक्षता एक गुट नहीं, वरन् एक आन्दोलन है। एक ऐसा आन्दोलन, जो राष्ट्रों के बीच स्वैच्छिक सहयोग चाहता है, प्रतिद्वन्द्विता या टकराव नहीं।

7. गुट निरपेक्ष आन्दोलन संयुक्त राष्ट्र संघ का सहायक है, विकल्प नहीं—गुट निरपेक्षता का विश्वास है कि "संयुक्त राष्ट्र संघ के बिना आज के विश्व की कल्पना नहीं की जा सकती। गुट निरपेक्ष आन्दोलन संयुक्त राष्ट्र संघ का विकल्प या उसका प्रतिद्वन्द्वी नहीं वरन् इस संगठन की सहायक प्रवृत्ति है, जिसका उद्देश्य है संयुक्त राष्ट्र संघ को सही दिशा में आगे बढ़ाते हुए उसे शक्तिशाली बनाना।"

गुट निरपेक्षता तथा गुट निरपेक्ष आन्दोलन के लक्ष्य

गुट निरपेक्षता एक गतिशील नीति और आन्दोलन है तथा आज की परिस्थितियों में गुट निरपेक्षता और गुट निरपेक्ष आन्दोलन के प्रमुख लक्ष्य इस प्रकार हैं :

1. शांति और विश्वशांति के मार्ग की सभी बाधाओं को दूर करते हुए राष्ट्रों के बीच सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध और विश्वशांति बनाए रखना।

2. महाशक्तियों की दबावकारी भूमिका को नियंत्रित करते हुए विकासशील देशों की सम्प्रभुता और हितों की रक्षा करना।

3. गुट निरपेक्ष (विकासशील) देशों के आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करना।

4. अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संयुक्त राष्ट्र संघ को शक्तिशाली बनाना।

गुट निरपेक्ष आन्दोलन या निर्गुट आन्दोलन (NAM)

यद्यपि गुट निरपेक्ष आन्दोलन के लिए किन्हीं स्थायी संस्थाओं की स्थापना नहीं की गयी, परन्तु फिर भी गुट निरपेक्ष देशों में समन्वय स्थापित करने के लिए—संयुक्त राष्ट्र संघ तथा अन्य मंचों पर संयुक्त कार्यवाही के लिए, आन्दोलन की प्रगति और अन्तर्राष्ट्रीय विषयों एवं समस्याओं पर विचार-विमर्श करने के लिए दो प्रकार की संस्थाएं कार्य कर रही हैं : (i) समन्वय ब्यूरो, और (ii) सम्मेलन। समन्वय ब्यूरो गुट निरपेक्ष देशों में सतत विचार-विमर्श और कार्य में समन्वय उत्पन्न करने के लिए उपयोगी सक्रिय केन्द्र है। वर्तमान में इसके सदस्यों की संख्या 118 है। इन सदस्यों का निर्वाचन होता है। सम्मेलन भी दो प्रकार के हैं : (i) गुट निरपेक्ष देशों के विदेशमन्त्रियों का सम्मेलन, और (ii) शिखर सम्मेलन। शिखर सम्मेलन में गुट निरपेक्ष देशों के प्रमुख (heads) अर्थात् शासनाध्यक्ष भाग लेते हैं। शिखर सम्मेलन में चार प्रकार के सदस्य भाग लेते हैं : पूर्ण सदस्य, पर्यवेक्षक राज्य सदस्य, पर्यवेक्षक गैर-राज्य सदस्य और अतिथि।

गुट निरपेक्षता की अभिव्यक्ति : विभिन्न सम्मेलन

गुट निरपेक्षता की अभिव्यक्ति समय-समय पर आयोजित शिखर सम्मेलनों अथवा विदेश मन्त्रियों के सम्मेलनों में होती रहती है। इन सम्मेलनों से गुट निरपेक्ष देशों के बीच पारस्परिक आर्थिक, सजनीतिक एवं सांस्कृतिक सहयोग को बढ़ावा मिला है, विश्व राजनीति में गुट निरपेक्ष देशों की आवाज को बल मिल सका है, अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति हो सकी है और सबसे बढ़कर गुट निरपेक्षता का सिद्धान्त लोकप्रिय हुआ है।

बेलग्रेड सम्मेलन (प्रथम शिखर सम्मेलन, 1961)—सितम्बर 1961 में बेलग्रेड में आयोजित इस शिखर सम्मेलन में 25 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में प्रमुख रूप से बर्लिन समस्या, कांगो समस्या और संयुक्त राष्ट्र संघ में साम्यवादी चीन के प्रवेश, आदि समस्याओं का तत्काल समाधान करने पर जोर दिया गया; दक्षिणी अफ्रीका की रंगभेद नीति की निन्दा की गयी और महाशक्तियों से निःशस्त्रीकरण की दिशा में आगे बढ़ने के लिए अपील की गयी।

गुट निरपेक्ष देशों का सातवां शिखर सम्मेलन (नयी दिल्ली, मार्च 1983)—मार्च 1983 में दिल्ली में आयोजित सातवें शिखर सम्मेलन में अफ्रीकी महाद्वीप के 52, एशिया के 29, उत्तरी एवं मध्य अमरीका के 10, दक्षिणी अमरीका के 7 तथा यूरोप के 3 देशों सहित कुल 101 देशों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में (क) ईरान-इराक युद्ध की समाप्ति का आग्रह किया गया। (ख) फिलिस्तीन के सम्बन्ध में इजराइल के रवैये की निन्दा की गयी। (ग) वर्णभेद तथा नामीबिया के सिलसिले में दक्षिण अफ्रीका की भर्त्सना की गयी। (घ) हिन्द महासागर में बढ़ते हुए हथियारों के प्रति चिन्ता व्यक्त की गयी।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्मेलन की अध्यक्षता तत्कालीन भारतीय प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी द्वारा की गयी। श्रीमती गांधी 1983-85 के लिए गुट निरपेक्ष आन्दोलन की अध्यक्षा निर्वाचित हुई थीं, उनकी मृत्यु के बाद शेष अवधि के लिए अध्यक्ष पद राजीव गांधी द्वारा धारण किया गया। इस सम्मेलन के घोषणा-पत्र में विकासशील तथा विकसित देशों की सामूहिक आत्मनिर्भरता को गति देने की वचनबद्धता घोषित की गयी।

14वां गुट निरपेक्ष शिखर सम्मेलन (16-17 सितम्बर 2006)—क्यूबा की राजधानी हवाना में आयोजित इस शिखर सम्मेलन में भारत, पाकिस्तान आदि अनेक देशों के शासनाध्यक्षों सहित संयुक्त राष्ट्र के महासचिव कोफी अन्नान ने भी भाग लिया। क्यूबा के राष्ट्रपति फिडेल कास्त्रो के अस्वस्थ होने के कारण कार्यवाहक राष्ट्रपति रॉउल कास्त्रो ने सम्मेलन की अध्यक्षता की।

118 सदस्यीय इस संगठन ने लम्बे विचार-विमर्श के बाद पारित 91 पृष्ठ के दस्तावेज में आतंकवाद की कड़े शब्दों में निन्दा की तथा आतंकवाद से 'संगठित मुकाबले' की अपील की गई। दस्तावेज में अफगानी आतंकवादी संगठन तालिबान सहित विभिन्न आतंकवादियों के फिर से संगठित होने पर चिन्ता जताई गई, ईरान के परमाणु मुद्दे को कूटनीतिक प्रयासों और बिना शर्त शान्ति वार्ता के जरिये हल करने पर जोर दिया गया तथा इस बात पर बल दिया गया कि शान्तिपूर्ण कार्यों और अपनी ऊर्जा जरूरतों को पूरा करने के लिए परमाणु ऊर्जा के क्षेत्र में शोध और विकास का कार्य प्रत्येक देश का मूल अधिकार है।

15वां गुटनिरपेक्ष सम्मेलन (15-16 जुलाई, 2009 शर्म-अल शेख, मिस्र)

118 गुट निरपेक्ष देशों का 15वां शिखर सम्मेलन मिस्र के तटीय शहर शर्म-अल शेख में सम्पन्न हुआ। शिखर सम्मेलन में 'शर्म-अल शेख घोषणा' तथा एक 'कार्य योजना' को स्वीकार किया गया। 18 बिन्दुओं की अब तक की सबसे संक्षिप्त घोषणा में जलवायु परिवर्तन वार्ताओं का संयुक्त राष्ट्र सिद्धान्तों (United Nations Framework Conversation on Climate Change) के अनुसार समतापूर्ण समापन करने, व्यापक निःशस्त्रीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने तथा वैश्विक मन्दी की स्थिति में तेजी से सुधार करने पर जोर दिया गया। कार्य योजना में संयुक्त राष्ट्र प्रणाली में 118 निर्गुट देशों के हितों का संवर्धन करने, दक्षिण-दक्षिण सहयोग को सुदृढ़ करने तथा उत्तर-दक्षिण सहयोग को बढ़ाने पर बल दिया गया। फिलिस्तीन समस्या पर एक अलग घोषणा में इसका स्थाई समाधान खोजने तथा इजरायल द्वारा अधिकृत क्षेत्रों को खाली करने की बात कही गई। इस सम्बन्ध में समस्या के समाधान के लिए अरब देशों के शान्ति प्रस्ताव का समर्थन किया गया। गुट निरपेक्ष देशों का अगला शिखर सम्मेलन वर्ष 2012 में ईरान की राजधानी तेहरान में सम्पन्न होगा।

विश्व की बदलती हुई परिस्थितियां, गुट निरपेक्षता का बदलता हुआ स्वरूप और निर्गुट आन्दोलन की प्रासंगिकता—गुट निरपेक्षता की नीति का एक प्रमुख लक्षण गतिशीलता है। अतः विश्व की बदलती हुई परिस्थितियों का गुट निरपेक्षता और गुट निरपेक्ष आन्दोलन पर प्रभाव पड़ा है। 1946-53 के वर्षों में शीत युद्ध के दो शिविरों के बीच जिस प्रकार की स्पष्ट रेखाएं थीं और दो शिविरों के बीच सम्पर्क सूत्रों का जैसा अभाव था, आठवें दशक में ही उस स्थिति में परिवर्तन आ गया। 1986 से शीत युद्ध का लगभग अन्त हो गया और 1991 में तो शीत युद्ध के एक पक्ष सोवियत संघ का ही एक इकाई के रूप में अन्त हो गया। आज 1945-85 के काल का 'द्वि-ध्रुवीय विश्व' नहीं रहा है। आज हम 'एक-ध्रुवीय विश्व' (एकमात्र महाशक्ति अमरीका) में रह रहे हैं तथा ऐसे 'बहु-ध्रुवीय विश्व' की ओर बढ़ रहे हैं जिसमें साम्यवादी चीन, यूरोपियन साझा बाजार, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी और सम्भवतया सोवियत रूस अपने-अपने तरीके से महाशक्ति बनने की ओर अग्रसर हैं।

गुट निरपेक्षता और गुट निरपेक्ष आन्दोलन पर इन बदलती हुई परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा है। समय परिवर्तन के साथ-साथ गुट निरपेक्षता की नीति आदर्श से यथार्थ की ओर अग्रसर होती जा रही है। प्रारम्भ में ने गुट निरपेक्ष देशों को बाध्य किया कि गुट निरपेक्षता की नीति अधिक यथार्थवाद की ओर झुकी हुई हो जिससे राष्ट्रीय हितों की रक्षा की जा सके।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार प्रारम्भ में गुट निरपेक्ष आन्दोलन का स्वरूप पूर्णतया राजनीतिक था, लेकिन 'कोलम्बो शिखर सम्मेलन' 1976 के समय से गुट निरपेक्ष देशों ने यह महसूस किया कि राजनीतिक समस्याओं की तुलना में आर्थिक समस्याएं अधिक प्रमुख हैं। अतः गुट निरपेक्ष देशों द्वारा अधिकाधिक सीमा तक आपसी आर्थिक सहयोग की नीति अपनायी जानी चाहिए और विकसित देशों द्वारा विकासशील देशों को अधिकाधिक सहायता दी जानी चाहिए।

वर्तमान समय में निर्गुट आन्दोलन प्रमुख रूप से निम्न बातों पर बल दे रहा है :

1. आर्थिक और तकनीकी सहयोग—निर्गुट आन्दोलन यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए राजनीतिक प्रश्नों की अपेक्षा आर्थिक सहयोग पर अधिक बल दे रहा है। यह आन्दोलन 'दक्षिण-दक्षिण सहयोग' और 'उत्तर-दक्षिण सहयोग'; दोनों ही स्थितियों को अधिकाधिक अंशों तक अपनाने के लिए प्रयत्नशील है।

2. सुरक्षा परिषद् का विस्तार, विशेषतया परिषद के स्थायी सदस्यों में वृद्धि।

3. संयुक्त राष्ट्र के अंगों, विशेषतया सुरक्षा परिषद् को महासभा के प्रति उत्तरदायी बनाना।

4. आणविक निःशस्त्रीकरण—महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि निर्गुट आन्दोलन ने नया 'सामंजस्यकारी दृष्टिकोण' (Accommodative Approach) अपनाना है तथा इस बात ने निर्गुट आन्दोलन को पहले से अधिक प्रभावशाली बना दिया है।

वर्तमान परिस्थितियों में गुट निरपेक्षता की प्रासंगिकता और उसका महत्व—बदलती परिस्थितियों में गुट निरपेक्षता का स्वरूप भी बदला है, किन्तु इसका महत्व पहले से अधिक हो गया है। यही कारण है कि आज गुट निरपेक्षता का पालन करने वाले राष्ट्रों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। संयुक्त राष्ट्र संघ में गुट निरपेक्ष राष्ट्रों की आवाज प्रबल बन सकी है। विश्व के दो प्रतिस्पर्धी गुटों में सन्तुलन पैदा करने और विश्वशान्ति बनाये रखने में गुट निरपेक्ष राष्ट्रों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। विश्व के परतन्त्र राष्ट्रों को स्वतन्त्र कराने और रंगभेद की नीति का विरोध करने में भी निर्गुट आन्दोलन की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

आज शीत युद्ध समाप्त हो गया है, लेकिन इन बदली हुई परिस्थितियों में भी विश्व के अनेक क्षेत्रों में तनाव की स्थितियां बनी हुई हैं। इसके अतिरिक्त, यह भी तथ्य है कि महाशक्ति के रूप में अमरीका तथा विश्व के अन्य कुछ अधिक शक्तिशाली देश आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में 'नव-साम्राज्यवाद की नीति' अपनाने की ओर प्रवृत्त हैं। गुट निरपेक्षता मूल रूप में एक 'शान्तिवादी आन्दोलन' रहा है और आज की परिस्थितियों में इस शान्तिवादी आन्दोलन पर अधिक महत्वपूर्ण जिम्मेदारी आ गयी है।

निर्गुट आन्दोलन ने 1976 से 'विकासशील देशों के आर्थिक विकास के आन्दोलन' का रूप प्राप्त किया है। अब यह आन्दोलन निर्धन और पिछड़े हुए देशों के आर्थिक विकास पर जोर दे रहा है। गुट निरपेक्ष देशों की बराबर यह मांग रही है कि विश्व की ऐसी आर्थिक रचना हो जिसमें विश्व की सम्पत्ति का न्यायपूर्ण ढंग से वितरण हो सके। एक राजनीतिक और आर्थिक आन्दोलन के रूप में गुट निरपेक्षता की प्रासंगिकता न केवल बनी हुई है, वरन् उसमें निश्चित रूप से वृद्धि हुई है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के एक विशेषज्ञ एन. सी. मेनन के शब्दों में, "विश्व के मामलों में निर्गुट आन्दोलन का प्रभाव निरन्तर बढ़ रहा है। आज निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि विश्व के मामलों में निर्गुट आन्दोलन ने महती भूमिका प्राप्त कर ली है।"[1] अब गुट निरपेक्ष आन्दोलन को अधिक बड़ी भूमिका निभानी है।

शीतयुद्ध की समाप्ति व अमेरिका के प्रभुत्व वाली वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाएं गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की निम्न प्रासंगिकता स्पष्ट है :

1. रूस के क्षीण होने के बाद अमेरिका द्वारा अन्य राज्यों के विरुद्ध बिना संयुक्त राष्ट्र संघ की सहमति से कई एकतरफा सैनिक कार्यवाहियां की जा चुकी हैं। तीसरे विश्व के देश भी इससे अछूते नहीं हैं। अतः अपनी सुरक्षा की दृष्टि से इन देशों की एकजुटता आज भी आवश्यक है।

2. गुटनिरपेक्ष आन्दोलन विकासशील देशों के मध्य आपसी सहयोग का मंच प्रदान करता है। इसे दक्षिण-दक्षिण सहयोग कहते हैं। इन देशों की आत्मनिर्भरता के लिए गुटनिरपेक्षता का मंच आवश्यक है।

1 "All in all the influence of NAM in global affairs is climbing steadily. It can now be clearly said that NAM has been accepted as a major player in world affairs."
—O. C. Menon writes from Washington; *The Hindustan Times*; Oct. 9, 1993.

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3. वैश्वीकरण, उदारीकरण व निजीकरण के युग में अपने आर्थिक हितों की रक्षा के लिए विकासशील देशों में एकता आवश्यक है ताकि उनके आर्थिक हितों की रक्षा हो सके।

4. विश्व की तमाम समस्याओं, आर्थिक मन्दी, जलवायु परिवर्तन, विश्व व्यापार वार्ताएं (दोहा राउण्ड), आतंकवाद, मानवाधिकार का प्रश्न आदि में विकासशील देशों के हित अमीर देशों से भिन्न हैं। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के माध्यम से इन मुद्दों पर विकासशील देशों का प्रश्न प्रस्तुत किया जा सकता है।

5. विकासशील व विकसित देशों के मध्य सहयोग (उत्तर-दक्षिण सहयोग) के लिए भी गुटनिरपेक्ष आन्दोलन महत्वपूर्ण है।

गुट निरपेक्ष आन्दोलन विश्व में एक ऐतिहासिक विजय प्राप्त कर सका है और इस आन्दोलन ने बहुत अधिक लोकप्रियता अर्जित की है। यदि गुट निरपेक्ष आन्दोलन अपने प्रयासों में असफल रहता है तो विश्व शान्ति को एक गहरा आघात लगेगा।

गुट निरपेक्ष देशों के शिखर सम्मेलनों में गुट निरपेक्ष देशों की एकता बनाये रखने पर बल दिया गया है। आज आवश्यकता इस बात की है कि सभी गुट निरपेक्ष देश आपसी मतभेद भुलाकर गुट निरपेक्ष आन्दोलन को प्रभावकारी बनायें। विकासशील देशों की शान्ति और सुरक्षा के लिए गुट निरपेक्ष आन्दोलन का विशेष महत्व है। मानवीय हितों की रक्षा के लिए इस आन्दोलन को और अधिक प्रभावशाली बनाये जाने की आवश्यकता है।

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (प्रत्येक प्रश्न 6 अंक का, उत्तर लगभग 300 शब्दों में दीजिए)

1. गुट निरपेक्षता से आप क्या समझते हैं? गुट निरपेक्षता के प्रमुख लक्षणों का वर्णन कीजिए। (उ.प्र., 2010)
2. गुट निरपेक्षता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और उसके प्रेरक तत्वों का वर्णन कीजिए।
3. गुट निरपेक्षता पर एक निबन्ध लिखिए।
4. आज की परिस्थितियों में गुट निरपेक्षता की नीति और गुट निरपेक्ष आन्दोलन के महत्व पर प्रकाश डालिए।
5. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए : गुट निरपेक्षता।

लघु उत्तरीय प्रश्न

(अ) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 50 शब्दों में दीजिए (2 अंक)।

1. गुट निरपेक्षता से आप क्या समझते हैं?
2. गुट निरपेक्षता और अन्तर्राष्ट्रीय कानून की तटस्थता में क्या अन्तर है?
3. गुट निरपेक्ष देशों के 7वें शिखर सम्मेलन में क्या मुद्दे थे?
4. 15वें गुटनिरपेक्ष सम्मेलन में किन प्रमुख बातों पर चर्चा हुई?
5. वर्तमान में गुट निपेक्षता की प्रासंगिकता के दो कारण लिखिए।

(अ) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 50 शब्दों में दीजिए (4 अंक)।

6. गुट निरपेक्षता के आवश्यक तत्व बताइए।
   अथवा, गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के चार आधारभूत तत्वों का उल्लेख कीजिए। (उ.प्र., 2010)
7. वर्तमान समय में निर्गुट आन्दोलन किन बातों पर बल दे रहा है?
8. गुट निरपेक्ष आन्दोलन के चार प्रेरक तत्व बताइए।
9. गुट निरपेक्ष आन्दोलन के चार लक्ष्य बताइए
10. गुट निरपेक्ष आन्दोलन के संगठनात्मक ढांचे को समझाइए।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न [प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का, उत्तर दस शब्द (एक वाक्य) में]

प्रश्न 1. गुट निरपेक्षता से आप क्या समझते हैं?
उत्तर—गुट निरपेक्षता का आशय है, 'सैनिक गुटों से अलग रहते हुए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में स्वतन्त्र नीति।'

प्रश्न 2. गुट निरपेक्षता के कर्णधार (जनक) कौन थे?
उत्तर—गुट निरपेक्षता के प्रणेता और कर्णधार थे, भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पं. नेहरू।

प्रश्न 3. गुट निरपेक्षता की त्रिमूर्ति से क्या आशय है?
उत्तर—नेहरू, नासिर और टीटो कमेल नासिर मिस्र के राष्ट्रपति थे और मार्शल टीटो यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न 4. गुट निरपेक्ष देशों का प्रथम सम्मेलन कहां और कब आयोजित हुआ?
उत्तर—गुट निरपेक्ष देशों का प्रथम सम्मेलन यूगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड में सितम्बर 196। में आयोजित हुआ। इस सम्मेलन में 25 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया।

प्रश्न 5. गुट निरपेक्ष देशों का सातवां शिखर सम्मेलन कहां और कब आयोजित हुआ?
उत्तर—गुट निरपेक्ष देशों का सातवां शिखर सम्मेलन नई दिल्ली में मार्च 1983 में आयोजित हुआ।

प्रश्न 6. कोलम्बो में गुट निरपेक्ष देशों का कौन-सा सम्मेलन और कब आयोजित हुआ?
उत्तर—कोलम्बो में गुट निरपेक्ष देशों का पांचवां शिखर सम्मेलन अगस्त 1976 में आयोजित हुआ।

प्रश्न 7. भारतीय प्रधानमन्त्री निर्गुट आन्दोलन के अध्यक्ष किस अवधि में रहे?
उत्तर—तत्कालीन भारतीय प्रधानमन्त्री श्रीमती गांधी 1983 में तीन वर्ष के लिए निर्गुट आन्दोलन की अध्यक्षा निर्वाचित हुईं और अक्टूबर 1984 में उनका निधन हो जाने पर शेष अवधि के लिए अध्यक्ष पद पर राजीव गांधी रहे।

प्रश्न 8. 'NAM' से आप क्या समझते हैं?
उत्तर—'गुट निरपेक्ष आन्दोलन' या 'निर्गुट आन्दोलन' (Non-Aligned Movement)।

प्रश्न 9. वर्तमान समय में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सदस्य कितने राज्य हैं?
उत्तर—आज विश्व के 118 देश निर्गुट आन्दोलन के सदस्य हैं। इसके अतिरिक्त 11 देश 'पर्यवेक्षक देश' के रूप में इस आन्दोलन के साथ जुड़े हुए हैं। दक्षिण अफ्रीका निर्गुट आन्दोलन का नवीनतम सदस्य है।

प्रश्न 10. 15वां गुटनिरपेक्ष सम्मेलन कहां पर और कब आयोजित हुआ?
उत्तर—15वां गुट निरपेक्ष सम्मेलन मिस्र की राजधानी शर्म-अल-शेख में 15-16 जुलाई, 2009 को आयोजित हुआ।

प्रश्न 11. नौवां गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलन कहां और कब आयोजित हुआ?
उत्तर—यह सम्मेलन यूगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड में 4 से 7 सितम्बर, 1989 तक आयोजित हुआ।

प्रश्न 12. दसवां गुट निरपेक्ष सम्मेलन कहां और कब आयोजित हुआ?
उत्तर—दसवां गुट निरपेक्ष सम्मेलन इण्डोनेशिया की राजधानी जकार्ता में 1-6 सितम्बर, 1992 को आयोजित हुआ।

प्रश्न 13. 11वां गुट निरपेक्ष सम्मेलन कहां और कब आयोजित हुआ?
उत्तर—यह सम्मेलन कोलम्बिया राज्य के कार्टाजेना शहर में 18-20 अक्टूबर, 1995 को आयोजित हुआ।

प्रश्न 14. 14वां गुट निरपेक्ष सम्मेलन कहां और कब आयोजित हुआ?
उत्तर—यह गुट निरपेक्ष सम्मेलन क्यूबा की राजधानी हवाना में 16-17 सितम्बर, 2006 को आयोजित हुआ।

प्रश्न 15. किन्हीं दो गुट निरपेक्ष देशों के नाम बताइए। (उ.प्र., 2010)
उत्तर—भारत और मिस्र।

बहुविकल्पीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों में चार विकल्प दिए गए हैं। उनमें से सही विकल्प छांटकर लिखिए :

1. वर्तमान समय में गुट निरपेक्ष आन्दोलन में शामिल राष्ट्रों की सदस्य संख्या है :
(अ) 116 (ब) 114 (स) 115 (द) 118

2. गुट निरपेक्षता के कर्णधारों में उल्लेखनीय नाम है : (उ.प्र., 2010)
(अ) नेहरू (ब) नासिर
(स) टीटो (द) इनमें से सभी

3. गुट निरपेक्षता की नीति का प्रेरक तत्व है :
(अ) राष्ट्रवाद की भावना (ब) साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का विरोध
(स) आर्थिक विकास की लालसा (द) इनमें से सभी

4. "जब स्वतन्त्रता के लिए संकट उत्पन्न हो, न्याय पर आघात पहुंचे या आक्रमण की घटना घटित हो, तब हम तटस्थ नहीं रह सकते और न ही हम तटस्थ रहेंगे।" यह कथन किसका है :
(अ) महात्मा गांधी का (ब) जवाहरलाल नेहरू का
(स) नासिर का (द) टीटो का

5. गुट निरपेक्षता की नीति का आवश्यक तत्व है :
(अ) सम्बद्ध देश स्वतन्त्र नीति का अनुसरण करता हो
(ब) वह उपनिवेशवाद का विरोध करता हो
(स) वह किसी भी सैनिक गुट का सदस्य न हो
(द) उपर्युक्त सभी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

6. गुट निरपेक्षता की नीति का प्रमुख लक्षण है :
   (अ) स्वतन्त्र विदेश नीति
   (ब) शान्ति की नीति
   (स) साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, शोषण एवं आधिपत्य विरोधी नीति
   (द) उपर्युक्त सभी
7. गुटनिरपेक्ष देशों का पहला शिखर सम्मेलन कहां हुआ?
   (अ) बेलग्रेड (ब) काहिरा
   (स) लुसाका (द) कोलम्बो
8. गुट निरपेक्ष देशों का 15वां शिखर सम्मेलन कहां आयोजित किया गया था?
   (अ) लुसाका (ब) मिस्र (शर्म-अल-शेख)
   (स) कोलम्बो (द) हवाना
9. गुट निरपेक्ष देशों के अब तक कितने शिखर सम्मेलन हो चुके हैं?
   (अ) 13 (ब) 9
   (स) 12 (द) 15
10. गुट निरपेक्ष देशों का 13वां शिखर सम्मेलन कहां सम्पन्न हुआ?
    (अ) लुसाका (ब) नई दिल्ली
    (स) कुआलालम्पुर (द) डरबन
11. गुट निरपेक्ष देशों का 14वां शिखर सम्मेलन कब सम्पन्न हुआ?
    (अ) फरवरी 2002 में (ब) सितम्बर 2006 में
    (स) फरवरी 2004 में (द) इनमें से कोई नहीं
12. गुट निरपेक्ष आन्दोलन से सम्बन्धित है :
    (अ) समन्वय ब्यूरो (ब) सुरक्षा परिषद्
    (स) महासभा (द) इनमें से कोई नहीं
13. निम्नलिखित में से कौन-सा नेता गुट-निरपेक्ष आन्दोलन से सम्बन्धित नहीं है? (उ.प्र., 2010)
    (अ) नेहरू (ब) नासिर
    (स) टीटो (द) विल्सन

[उत्तर—1. (द), 2. (द), 3. (द), 4. (ब), 5. (द), 6. (द), 7. (अ), 8. (ब), 9. (द), 10. (स), 11. (ब), 12. (अ), 13. (द)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

22

आरक्षण : आवश्यकता, क्षेत्र तथा परिणाम

[RESERVATIONS : NECESSITY, SCOPE AND RESULTS]

"राज्य, जनता के दुर्बल वर्गों के, विशिष्टतया अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के शिक्षा और अर्थ सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से अभिवृद्धि करेगा और सामाजिक अन्याय तथा सभी प्रकार के शोषण से उनकी रक्षा करेगा।" —भारतीय संविधान का अनुच्छेद 46

आरक्षण, विशेषतया भारतीय परिस्थितियों में, आरक्षण की आवश्यकता या आरक्षण के पक्ष में तर्क

यदि किसी राजव्यवस्था और राजव्यवस्था से जुड़े समाज में समानता को न केवल सिद्धान्त, वरन् व्यवहार में भी लगभग सम्पूर्ण अंशों में मान्यता प्राप्त हो, तो आरक्षण की आवश्यकता नहीं होती। लेकिन व्यवहार में स्थिति यह है कि लोकतान्त्रिक राजव्यवस्थाओं में भी समानता को केवल सिद्धान्त में ही स्वीकार किया गया है, व्यवहार में अधिकांश अंशों में असमानता की स्थिति विद्यमान है। व्यवहार में विद्यमान यह स्थिति ही आरक्षण की आवश्यकता को जन्म देती है।

समानता लोकतान्त्रिक व्यवस्था और विकास का मूल सिद्धान्त है और समानता का आशय है—जाति, धर्म, लिंग और वर्ण आदि के भेदभाव के बिना सभी व्यक्तियों को अपने व्यक्तित्व के विकास हेतु समान अवसर और सुविधाएं प्राप्त होनी चाहिए। व्यक्तित्व के विकास हेतु समान अवसर और सुविधाओं में यह बात सम्मिलित है कि यदि कुछ व्यक्ति, व्यक्तियों का एक छोटा या बड़ा वर्ग या समूह सामाजिक या क्षेत्रीय विषमताओं के कारण विकास की दौड़ में बहुत अधिक पिछड़ गया है तो इन व्यक्तियों के घोर पिछड़ेपन का दायित्व समाज पर आता है तथा अब समाज का यह कर्तव्य और दायित्व बन जाता है कि व्यक्तियों के इस वर्ग या समूह को विकास के लिए विशेष अवसर या सुविधाएं प्रदान करे, ताकि समाज का यह वर्ग अपने पिछड़ेपन से बाहर निकलकर समाज के अन्य व्यक्तियों के समान स्तर पर आकर उनसे प्रतियोगिता कर सके और अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके। अतः आरक्षण की किसी व्यवस्था को यदि विवेकपूर्ण ढंग से अपनाया जाता है, तो आरक्षण समानता के सिद्धान्त के प्रतिकूल नहीं, वरन् अनुकूल स्थिति बन जाती है। इस प्रकार आरक्षण समानता को प्राप्त करने के लिए एक आवश्यक स्थिति बन जाती है।

अतः आरक्षण की आवश्यकता बतलाते हुए आरक्षण के पक्ष में प्रमुख रूप से निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं :

1. सामाजिक विषमताओं के कारण आरक्षण आवश्यक—एक देश के अन्तर्गत जब कुछ वर्ग और क्षेत्र विकास की दृष्टि से बहुत अधिक पिछड़े हुए होते हैं, तब ये वर्ग और क्षेत्र अपना विकास तभी कर पाते हैं, समाज के अन्य वर्ग समान स्तर पर तभी आ पाते हैं, जब उन्हें प्रतिनिधित्व और सेवाओं के क्षेत्र में विशेष सुविधाएं, विशेष अवसर दिए जाएं। इस प्रकार की विशेष सुविधाएं और विशेष अवसर ही आरक्षण हैं। भारत में कुछ वर्ग जैसे—दलित जातियां तथा जनजातियां बहुत ही अधिक पिछड़े हुए हैं, अतः उनके लिए आरक्षण आवश्यक हो जाता है।

2. आरक्षण : लोकतन्त्र और समानता के अनुकूल—लोकतन्त्र की मांग है कि समाज के सभी वर्गों को विकास के समुचित अवसर प्रदान किए जाएं, लेकिन यह लोकतान्त्रिक समानता तभी वास्तविकता का रूप ले पाती है, जबकि पिछड़े हुए वर्गों को अपने जीवन और समाज में आगे बढ़ने के लिए विशेष अवसर दिए

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाएं। आरक्षण यही कार्य करता है तथा इस दृष्टि से आरक्षण लोकतन्त्र और समानता के अनुकूल है, प्रतिकूल नहीं। आरक्षण वह साधन है जो लोकतान्त्रिक समानता को मात्र कागजी नहीं, वरन् वास्तविकता का रूप देने का प्रयत्न करता है। लोकतन्त्र की सफलता के लिए आर्थिक व सामाजिक समानता अत्यन्त आवश्यक है।

3. सामाजिक न्याय के लक्ष्य की प्राप्ति का साधन—सामाजिक न्याय लोकतन्त्र का एक आवश्यक अंग है और सामाजिक न्याय की मांग है कि राज्य के दुर्बल वर्गों को, अन्य व्यक्तियों की तुलना में कुछ विशेष अवसर और सुविधाएं प्राप्त हों। यह आरक्षण के आधार पर ही सम्भव हो सकता है। इस दृष्टि से आरक्षण सामाजिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने का एक महत्वपूर्ण साधन बन जाता है। इस बात को दृष्टि में रखते हुए ही भारत सहित विश्व के कुछ अन्य देशों में आरक्षण की व्यवस्था को अपनाया गया है।

4. भारत की परम्परागत सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से आरक्षण आवश्यक—भारत में हिन्दू वर्ग के अनुयायी परम्परागत रूप में दो वर्गों में विभाजित रहे हैं। प्रथम सवर्ण हिन्दू अर्थात् उच्च जातियां और द्वितीय निम्न जातियां। सवर्ण हिन्दुओं द्वारा तथाकथित निम्न जातियों का सैकड़ों वर्षों से शोषण किया जाता रहा है, उन्हें अपवित्र मानते हुए उनके साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता रहा है। इस पृष्ठभूमि में हिन्दू समाज की निम्न जातियों के पिछड़ेपन का दायित्व समाज पर आता है और समाज के इन वर्गों को विशेष सुविधाएं और अवसर प्रदान करने का औचित्य है।

5. क्षेत्रीय विषमताओं के कारण आरक्षण की आवश्यकता—क्षेत्र और जनसंख्या की दृष्टि से विशाल और विविधताओं से भरे इस देश में जातीय विषमताओं के समान ही क्षेत्रीय विषमताओं की स्थिति भी रही है। भारतीय संघ के विविध राज्यों में ऐसे अनेक क्षेत्र हैं, जहां स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय तक शहरी जीवन की सुविधाओं ने भी प्रवेश नहीं किया था। स्वाभाविक रूप से इन क्षेत्रों में रहने वाले व्यक्ति घोर पिछड़ेपन में रहते हुए अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे। इन क्षेत्रों में रहने वाले व्यक्तियों को आदिवासी, वनवासी, गिरिजन एवं जनजाति, आदि नामों से पुकारा जाता रहा है। इन क्षेत्रों के घोर पिछड़ेपन का दायित्व भी सम्पूर्ण समाज और राजव्यवस्था पर आता है। अतः संविधान में इन्हें 'अनुसूचित जनजातियों' (S.Ts.) का नाम दिया गया तथा इन्हें प्रतिनिधि संस्थाओं और सेवाओं में आरक्षण की सुविधा तथा विकास के लिए अन्य कुछ विशेष सुविधाएं प्रदान की गईं।

अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था संविधान के भाग 16 **'कुछ वर्गों के सम्बन्ध में विशेष उपबन्ध'** के अन्तर्गत की गई है तथा संविधान के इस भाग 16 का आधार संविधान का **अनुच्छेद 46** है। अनुच्छेद 46 में कहा गया है :

"राज्य, जनता के दुर्बल वर्गों के विशिष्टतया अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के शिक्षा तथा अर्थ सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से अभिवृद्धि करेगा और सामाजिक अन्याय तथा सभी प्रकार के शोषण से उनकी रक्षा करेगा।" संविधान जनता के दुर्बल वर्गों के शिक्षा तथा अर्थ सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से अभिवृद्धि और सामाजिक अन्याय तथा सभी प्रकार के शोषण से उनकी रक्षा की बात करता है और 'जनता के दुर्बल वर्गों' में अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों का उल्लेख करता है।

इस प्रकार संविधान जाति के आधार पर आरक्षण की अनुमति प्रदान करता है, लेकिन धर्म के आधार पर आरक्षण की कोई अनुमति प्रदान नहीं करता। भारतीय समाज के हिन्दू वर्ग में परम्परागत रूप से जाति व्यवस्था की जो स्थिति रही है, उसमें वर्ग के साथ जाति के जुड़ने और जातिगत आधार पर आरक्षण का औचित्य है।

धार्मिक आधार पर आरक्षण के विचार का अनौचित्य—भारतीय संविधान जातिगत आधार पर आरक्षण की अनुमति देता है और व्यवस्था करता है, लेकिन धर्म के आधार पर आरक्षण की कोई व्यवस्था भारतीय संविधान में नहीं की गई है। भारत में कुछ राजनीतिक दलों के द्वारा दलीय राजनीति और चुनावी राजनीति को दृष्टि में रखते हुए समय-समय पर अल्पसंख्यकों के लिए आरक्षण, विशेष रूप से सभी मुसलमानों के लिए आरक्षण की बात कही जाती रही है, लेकिन वस्तुतः धर्म के आधार पर आरक्षण का कोई औचित्य नहीं है। भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है और धर्मनिरपेक्षता भारतीय संविधान का एक प्रमुख आदर्श है। धर्मनिरपेक्ष राज्य का आशय है, 'ऐसा राज्य, जिसके द्वारा धर्म के आधार पर अपने एक नागरिक और दूसरे नागरिक के बीच किसी भी प्रकार का भेदभाव न किया जाए'। धर्म के आधार पर आरक्षण की कोई भी बात हमारे संविधान के एक मूल सिद्धान्त, धर्मनिरपेक्ष राज्य के प्रतिकूल होगी। **'इन्द्रा साहनी विवाद'** में सर्वोच्च न्यायालय

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने भी 'साम्प्रदायिक आधार पर किसी आरक्षण' का निषेध किया है।[1] इसके अतिरिक्त भारतीय समाज के पिछड़े हुए वर्गों के समान पिछड़े हुए मुसलमानों के लिए आरक्षण का कोई औचित्य हो सकता है, लेकिन सभी मुसलमानों के लिए आरक्षण की व्यवस्था तो नए सिरे से 'साम्प्रदायिक विद्वेष के लावे' को जन्म दे सकती है। इस प्रसंग में महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि केन्द्र सरकार और राज्य सरकारों द्वारा 'अन्य पिछड़े वर्गों' (OBCs) के लिए आरक्षण की जो व्यवस्था की गई है उन पिछड़े वर्गों के अन्तर्गत मुसलमानों की भी पिछड़ी जातियों को अब आरक्षण प्राप्त हो गया है।

यदि कोई समाज सम्पूर्ण अर्थों में जीवित रहना और आगे बढ़ना चाहता है तो उसे अपने इतिहास से कुछ सीखना होता है, कोई दृष्टि प्राप्त करनी होती है। हमारा ऐतिहासिक अनुभव भी यही कहता है कि धर्म के आधार पर प्रदान की गई कोई भी विशेष स्थिति, कोई भी भेदभाव धार्मिक पृथकता के भाव को गहरा बनाकर विघटनकारी तत्वों को प्रोत्साहित करेगा और इस देश के अधोपतन का कारण बनेगा। ब्रिटिश सरकार ने सर्वप्रथम सन् 1909 के कानून में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था करते हुए हिन्दुओं, मुसलमानों, सिखों और ईसाइयों को अलग-अलग प्रतिनिधित्व प्रदान किया था और सन् 1947 में भारत का विभाजन बहुत कुछ अंशों में इस साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का ही परिणाम था। वस्तुतः धार्मिक आधार पर आरक्षण की बात सामाजिक जीवन में एक गहरे और विषैले प्रदूषण को जन्म देने जैसा प्रयास है। अतः सामाजिक जीवन की स्वच्छता के हित में इसे विचारणीय विषय भी नहीं बनाया जाना चाहिए।

आरक्षण का क्षेत्र या आरक्षण से सम्बन्धित संवैधानिक प्रावधान

अनुसूचित जाति के निर्धारण का आधार जाति और अनुसूचित जनजाति के निर्धारण का आधार क्षेत्र व जाति रहा है। अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति सन् 1931 की जनगणना के आधार पर अन्य जातियों से अलग स्वीकार की गई है। भारतीय संविधान में यह प्रावधान रखा गया है कि राष्ट्रपति राज्यपाल से परामर्श करने के पश्चात् लोक अधिसूचना द्वारा ऐसी जातियों का उल्लेख कर सकेगा। प्रत्येक राज्य के लिए वहां की जातियों के अनुसार इनकी अलग-अलग सूचियां बनाई गई हैं।

अनुसूचित जातियों में सामान्यतः वे जातियां शामिल की गई हैं जो आर्थिक दृष्टि से कमजोर एवं सामाजिक दृष्टि से अछूत समझी जाती रही हैं। ऐसी जातियां जो पीढ़ियों से अप्रिय, अमान्य और अत्यधिक निम्न समझे जाने वाले कार्य करती रही हैं; जैसे, मल उठाना, झाड़ू देना, मृत पशु उठाना, चमड़ा उतारना तथा चर्म शोधन आदि। अनुसूचित जनजातियां वे जातियां हैं जो ऐसे क्षेत्रों में रह रही हैं जिनका भौतिक विकास नहीं हुआ है क्योंकि इन क्षेत्रों तक सभ्यता बहुत कम पहुंच पाई है। ऐसी जातियां जिनका अपना कोई स्थायी निवास स्थान नहीं रहा है और जो घुमक्कड़ रही हैं अथवा जो वर्षों से अपराध कार्यों (चोरी करने, राहगीरों को लूटने आदि) के माध्यम से अपनी गुजर-बसर कर रही थीं, उन्हें भी अनुसूचित जनजातियों का नाम दिया गया है। ये जातियां अपनी विशेष स्थिति के कारण बाकी समाज से अलग हो गई थीं। अतः इन्हें विकास की धारा के साथ जोड़ने के लिए विशेष सुविधाओं की आवश्यकता समझी गई।

अनुसूचित जातियों और जनजातियों के सम्बन्ध में प्रमुख रूप से निम्नलिखित विशेष व्यवस्थाएं की गई हैं :

(1) **प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में विशेष व्यवस्था**—संविधान में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए जनसंख्या के आधार पर स्थान आरक्षित रखने की व्यवस्था की गई है। इन जातियों के व्यक्ति सुरक्षित स्थानों के अतिरिक्त अन्य निर्वाचन क्षेत्रों से भी चुनाव लड़ सकते हैं।

विधानमण्डलों में प्रतिनिधित्व के साथ-साथ अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों को केन्द्र एवं राज्यों के मन्त्रिमण्डलों में भी सदैव प्रतिनिधित्व प्राप्त रहा है। 79वें संवैधानिक संशोधन (1999) के अनुसार अब अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए संसद और राज्य विधानमण्डलों में स्थान आरक्षित रखने की व्यवस्था 25 जनवरी, 2010 तक के लिए कर दी गई थी। पुनः 2009 में 109वें संविधान संशोधन द्वारा यह अवधि 25 जनवरी, 2020 तक के लिए बढ़ा दी गई है।

1 This judgement (Indra Sahni *vs.* Union of India) also held that reservation under clause (4) of the Ac. 16 is not to operate like a communal representation (para 831); Quoted in U. C. Agarwal, *Reservation : Stick to the Limit*, The Hindustan Times: Oct. 28, 1994.

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(2) सेवाओं और शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश हेतु विशेष संरक्षण—अनुच्छेद 335 के अन्तर्गत अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए केन्द्र (संघ) और राज्य सरकारों की प्रशासनिक सेवाओं में प्रशासनिक कुशलता के अनुकूल स्थान सुरक्षित रखने की व्यवस्था की गई है। संविधान आरक्षित स्थानों के प्रतिशत एवं समय-सीमा निर्धारित नहीं करता। इन्हें प्रशासन द्वारा नियमों के अन्तर्गत निर्धारित करने की व्यवस्था की गई है। इन जातियों को शासकीय सेवाओं में प्रतिनिधित्व देने के लिए जो रियायतें प्रदान की गई हैं, उनमें से मुख्य हैं—आयु सीमाओं में छूट, योग्यता स्तर में छूट, कार्यकुशलता का निम्नतर स्तर पूरा करने पर उनका चयन, नीचे की श्रेणियों में उनकी नियुक्ति और पदोन्नति का विशेष प्रबन्ध। सन् 1950 में गृह मन्त्रालय द्वारा पारित प्रस्ताव के अनुसार अनुसूचित जातियों के लिए 12.5 से 16.2% तक स्थान आरक्षित रखने की व्यवस्था की गई थी। बाद में यह व्यवस्था की गई कि अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए क्रमशः 15 प्रतिशत तथा 7.5 प्रतिशत स्थान आरक्षित किए जाएंगे। विशेष बात यह है कि शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश और सेवाओं में भर्ती के लिए आरक्षण की जिस व्यवस्था को अपनाया गया है संविधान में उसके लिए कोई समय-सीमा निर्धारित नहीं की गई है।

2005 ई. में इस दिशा में एक कदम और आगे बढ़ाया गया है। संविधान के 93वें संशोधन (2005) के आधार पर शासन से वित्तीय सहायता प्राप्त न करने वाली निजी शिक्षण संस्थाओं में भी अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों के विद्यार्थियों के लिए आरक्षण व्यवस्था लागू कर दी गई है; लेकिन केन्द्र व राज्य सरकारों द्वारा अल्पसंख्यक घोषित किए गए संस्थान इस अधिनियम से प्रभावित नहीं होंगे। संसद व राज्य विधानसभाएं इस सम्बन्ध में अपनी-अपनी परिस्थितियों के अनुसार नियम बना सकेंगी।

(3) अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए दो पृथक्-पृथक् राष्ट्रीय आयोग—अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों की स्थिति की जांच कर रिपोर्ट प्रस्तुत करने और इनके हितों की रक्षा के लिए अनुच्छेद 338 के अन्तर्गत एक विशेष पदाधिकारी की व्यवस्था की गई थी। इस पदाधिकारी के अन्तर्गत कुछ क्षेत्रीय आयुक्तों की भी नियुक्ति की व्यवस्था थी। कालान्तर में इस व्यवस्था को अधिक प्रभावी बनाने की आवश्यकता अनुभव की गई। अतः 65वें संवैधानिक संशोधन (1990) के द्वारा 'अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए 'राष्ट्रीय आयोग' की स्थापना कर उसे संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया। 1990 के बाद के वर्षों में यह बात समझी गई कि भौगोलिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से जनजातियां अनुसूचित जातियों से भिन्न हैं तथा उनकी समस्याएं भी भिन्न हैं। अतः 85वें संवैधानिक संशोधन (2003) के आधार पर 'अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति आयोग के स्थान पर दो अलग-अलग राष्ट्रीय आयोगों की स्थापना करते हुए उनकी रचना के सम्बन्ध में निम्न प्रकार से व्यवस्था की गई है :

अनुसूचित जातियों हेतु राष्ट्रीय आयोग—एक अध्यक्ष, एक उपाध्यक्ष व तीन अन्य सदस्य। जनजातियों हेतु राष्ट्रीय आयोग—एक अध्यक्ष, एक उपाध्यक्ष तथा तीन सदस्य।

दो अलग-अलग आयोगों की उपर्युक्त व्यवस्था ही उचित और न्यायपूर्ण है। इन दोनों आयोगों का मुख्य कार्य यह निरीक्षण करना व सुनिश्चित करना है कि अनुसूचित जातियों अथवा अनुसूचित जनजातियों को संविधान में जो विशेष सुविधाएं प्राप्त हैं उन्हें सही ढंग से लागू किया जा रहा है अथवा नहीं।

(4) जांच आयोग की नियुक्ति—संविधान के अनुच्छेद 340 के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई है कि राष्ट्रपति एक आयोग की स्थापना करेगा जिसका कार्य पिछड़ी हुई जातियों की शैक्षणिक तथा सामाजिक स्थिति की जांच करना होगा। इसके अतिरिक्त, आयोग उनकी उन्नति के उपायों की ओर संघ तथा राज्य सरकारों का ध्यान आकर्षित करेंगे तथा उनके लिए आवश्यक अनुदान देने की सिफारिश करेंगे। संविधान के द्वारा केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वह प्रथम आयोग की सिफारिशों पर अमल करने के लिए राज्य सरकारों को निर्देश दे। दूसरे आयोग की सिफारिशों को अपनाने के लिए केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों को सलाह तो दे सकती है, परन्तु निर्देश नहीं। उनका पालन करना राज्यों की इच्छा और साधनों पर निर्भर करता है। आयोगों के द्वारा तैयार किए गए प्रतिवेदन संसद के दोनों सदनों के सम्मुख प्रस्तुत किए जाते हैं जिसमें यह भी स्पष्ट किया जाता है कि सरकारों ने इन जातियों की उन्नति के लिए कौन-से कदम उठाए हैं।

अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए उपर्युक्त विशेष प्रबन्ध संविधान के भाग 16 में किए गए हैं, लेकिन इनके अतिरिक्त भी इसी उद्देश्य को अन्य कुछ प्रावधान संविधान के विभिन्न भागों में देखे जा सकते

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। संविधान के अनुच्छेद 275 के अनुसार अनुसूचित जातियों के विकास के उद्देश्य से बनाई गई योजनाओं के लिए राज्य सरकारों को विशेष अनुदान देने की व्यवस्था की है। अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति दिए जाने, निःशुल्क शिक्षा देने तथा प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा संस्थाओं में स्थान सुरक्षित रखने के प्रावधान किए गए हैं।

संविधान में एक विशेष उपबन्ध के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई है कि झारखण्ड, छत्तीसगढ़, बिहार, मध्य प्रदेश तथा उड़ीसा में जनजातियों के कल्याण के लिए एक मन्त्री होगा, जिसे अनुसूचित जाति तथा पिछड़ी हुई जाति के कल्याण के लिए उत्तरदायी बनाया जा सकता है। इस समय अनेक राज्यों में इस प्रकार के मन्त्रालय की व्यवस्था है।

संविधान के अनुच्छेद 17 द्वारा छुआछूत समाप्त किया गया है और किसी भी प्रकार से छुआछूत का व्यवहार करना एक दण्डनीय अपराध घोषित किया गया है। अनुच्छेद 15 में समानता के अधिकार की व्यवस्था की गई है। इसके अनुसार राज्य किसी व्यक्ति के विरुद्ध केवल धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी एक के आधार पर भेदभाव नहीं करेगा। इनमें से किसी भी आधार पर कोई नागरिक दुकानों, सार्वजनिक स्थानों, भोजनालयों, होटलों, सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश करने से नहीं रोका जाएगा तथा पूर्ण अथवा आंशिक रूप से राज्य निधि द्वारा पोषित अथवा साधारण जनता के लिए बनवाए गए कुओं, घाटों, स्नान घाटों, सड़कों तथा सार्वजनिक समागम के स्थानों के उपभोग से वंचित नहीं किया जाएगा। अनुच्छेद 19 (5) के अनुसार अनुसूचित जनजातियों के हितों की रक्षा के लिए देश के किसी भाग में निवास की स्वतन्त्रता के अधिकार को परिसीमित किया जा सकता है। अनुसूचित जनजातियां एक पृथक् समुदाय है जिनकी अपनी सांस्कृतिक एवं सम्पत्ति सम्बन्धी परम्पराएं हैं। ये सीधे-सादे लोग काफी पिछड़े हुए हैं, उनकी संस्कृति तथा पिछड़ेपन का कारण उन्हें पूर्णतः पृथक् रखना चाहे युक्तिसंगत नहीं है तथापि उनके हितों की सुरक्षा के लिए जो व्यवस्था की गई है वह न्यायोचित ही जान पड़ती है। इन सुरक्षाओं के अभाव में समाज के अधिक चतुर लोग इन जनजाति के व्यक्तियों को जो स्वभावतः सरल होते हैं, मूर्ख बनाकर इनका शोषण करने में समर्थ हो सकते हैं। इसलिए ऐसे अनेक उपबन्धों का प्रावधान किया गया है जिनसे इन व्यक्तियों को केवल विशेष परिस्थितियों में ही अपनी सम्पत्ति हस्तान्तरण करने का अधिकार होगा। इन लोगों की सुरक्षा एवं लाभ के लिए, साधारण नागरिकों के द्वारा, इनके क्षेत्रों में बसने अथवा सम्पत्ति खरीदने पर प्रतिबन्ध लगाए गए हैं।

जातिगत आरक्षण का एक और आयाम : 'अन्य पिछड़े वर्गों' के लिए आरक्षण का प्रश्न

अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए आरक्षण की तुलना में 'अन्य पिछड़े वर्गों' के लिए आरक्षण की व्यवस्था के प्रयत्नों ने समस्त सामाजिक व्यवस्था में अधिक गम्भीर तनावों को जन्म दिया है। पिछड़े हुए वर्गों के लिए आरक्षण के प्रश्न को लेकर संवैधानिक और राजनीतिक विवाद बहुत अधिक तीव्र रूप में सामने आया है।

अन्य पिछड़े वर्गों (OBCs) के सम्बन्ध की स्थिति—संविधान के भाग 16 तथा अन्य कुछ प्रावधानों में 'पिछड़े वर्गों' या अनुसूचित जातियों और जनजातियों के साथ 'अन्य पिछड़े वर्गों' शब्द का प्रयोग किया गया है, किन्तु पिछड़े वर्गों का सीमांकन करना कठिन है। इसमें अनेक ऐसी जातियां हैं, जो अनुसूचित जातियां नहीं हैं, किन्तु समाज की अन्य तथाकथित उच्च जातियों से पिछड़ी हुई हैं, जैसे नाई, बढ़ई, धोबी, दर्जी, अहीर, कुर्मी, आदि। यद्यपि संविधान में इस शब्द समूह का एक-से-अधिक स्थानों पर प्रयोग हुआ है [अनुच्छेद 16 (4) तथा अनुच्छेद 340 में], पर इसकी परिभाषा नहीं की गई है। 'राजनीति कोश' के अनुसार, "पिछड़े हुए वर्गों का अभिप्राय समाज के उन वर्गों से है, जो सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक निर्योग्यताओं के कारण समाज के अन्य वर्गों की तुलना में निचले स्तर पर हों।"

संविधान अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के शिक्षा तथा अर्थ सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से अभिवृद्धि की बात जितनी स्पष्टता के साथ कहता है, अन्य पिछड़े वर्गों के सम्बन्ध में कोई बात ऐसी स्पष्टता और निश्चितता के साथ नहीं कहता। अनुच्छेद 16 'लोक नियोजन के विषय में अवसर की समता' का प्रावधान करता है तथा इसी प्रसंग में अनुच्छेद 16 के भाग (4) में कहा गया है कि "इस अनुच्छेद की कोई बात राज्य को पिछड़े हुए नागरिकों के किसी वर्ग के पक्ष में, जिनका प्रतिनिधित्व राज्य की राय में

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य के आधीन सेवाओं में पर्याप्त नहीं है, नियुक्तियों या पदों के आरक्षण के लिए व्यवस्था करने से नहीं रोकेगी।" इसके साथ ही संविधान के अनुच्छेद 340 में कहा गया है कि राष्ट्रपति पिछड़े वर्गों की दशाओं के अन्वेषण के लिए आयोग की नियुक्ति कर सकेगा। इस अनुच्छेद के अन्तर्गत अब तक प्रमुख रूप से दो आयोग स्थापित किए गए हैं—प्रथम 'काका कालेलकर आयोग' और द्वितीय 'मण्डल आयोग', जिसकी स्थापना जनता पार्टी के शासनकाल (1977-79) में बिहार के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री बी. पी. मण्डल की अध्यक्षता में की गई।

द्वितीय, पिछड़ा वर्ग आयोग (मण्डल आयोग) की रिपोर्ट—इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट 20 अप्रैल, 1982 को सरकार को प्रस्तुत की। आयोग ने पिछड़ी जातियों के लिए सरकारी, अर्द्ध-सरकारी एवं सार्वजनिक उद्योगों में 26 प्रतिशत स्थान आरक्षित करने की सिफारिश की। आयोग ने पिछड़ी जातियों की परिभाषा की है तथा उनकी पहचान के लिए मानदण्ड प्रस्तुत करते हुए कुल 3,743 जातियों को पिछड़ी घोषित किया गया। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि समस्त पिछड़ी जातियों की जनसंख्या 52 प्रतिशत है और इनके लिए इसी अनुपात में स्थान आरक्षित किया जाना उचित है, परन्तु संविधान की धारा 15(4) और 16 (4) के प्रसंग में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णयों के अनुसार कुल मिलाकर 50 प्रतिशत से अधिक स्थान आरक्षित नहीं किए जा सकते और 22.5 प्रतिशत स्थान अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए पहले से आरक्षित हैं। इस विवशता के कारण पिछड़ी जातियों की जनसंख्या 52 प्रतिशत होने के बावजूद उनके लिए केवल 26 प्रतिशत स्थान आरक्षित करने की सिफारिश की जाती है।

आयोग ने यह भी सिफारिश की है कि पिछड़ी जातियों की शिक्षा तथा उनके औद्योगिक एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण की व्यवस्था की जावे। आयोग ने यह भी कहा है कि केन्द्र सरकार को विभिन्न पिछड़ी जातियों के उत्थान के लिए राज्य सरकारों को उसी प्रकार वित्तीय सहायता प्रदान करनी चाहिए, जिस प्रकार से अनुसूचित जातियों व जनजातियों के लिए प्रदान की जाती है।

पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण की मांग और शासन का निर्णय—'मण्डल आयोग' द्वारा अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत किए जाने के पहले से ही भारतीय राजनीति में पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण की मांग की जाती रही है। पिछड़े वर्गों को आरक्षण प्रदान करने का कार्य सर्वप्रथम दक्षिण भारत के कुछ राज्यों—तमिलनाडु, कर्नाटक और आन्ध्र प्रदेश में राज्य स्तर पर सेवाओं और शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश आदि के प्रसंग में किया गया। 'मण्डल आयोग' की रिपोर्ट आने के बाद यह मांग की जाने लगी कि केन्द्रीय सेवाओं में भी पिछड़े वर्गों को आरक्षण प्रदान किया जाना चाहिएं। नवीं लोकसभा के चुनाव (नवम्बर '89) के प्रसंग में जनता दल ने जो चुनाव घोषणा-पत्र जारी किया, उसमें 'मण्डल रिपोर्ट' को क्रियान्वित करते हुए पिछड़े वर्गों को आरक्षण प्रदान करने का वायदा किया गया था।

वी. पी. सिंह सरकार की घोषणा—प्रधानमन्त्री वी. पी. सिंह ने 7 अगस्त, 1990 को संसद के दोनों सदनों में घोषित किया कि भारत सरकार और सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों में पिछड़े हुए वर्गों को 27 प्रतिशत आरक्षण प्राप्त होगा। प्रधानमन्त्री ने इसे 'सामाजिक न्याय की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम' बताया। 13 अगस्त, 1990 को इस सम्बन्ध में सरकारी अधिसूचना जारी की गई।

शासन द्वारा लिया गया यह निर्णय आकस्मिक और एकपक्षीय था। राजनीतिक दलों की सामान्य प्रतिक्रिया यह रही कि 'शासन ने यह घोषणा राजनीतिक कारणों से की है और घोषणा के पूर्व इस सम्बन्ध में आम सहमति प्राप्त की जानी चाहिए थी।' उस समय यह भी कहा गया कि जनता दल की आन्तरिक राजनीति में देवीलाल के प्रभाव को कम करने के लिए जातिवादी हथकण्डा अपनाया गया है।'

युवा आन्दोलन—शासन के इस निर्णय में असंगठित और अव्यवस्थित, लेकिन बहुत अधिक भावुकता से भरे उग्र युवा आन्दोलन को जन्म दे दिया। शीघ्र ही उत्तर भारत के लगभग 29 विश्वविद्यालय इस आन्दोलन के केन्द्र बन गए। आन्दोलन की तीव्रता का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि शासन के निर्णय का विरोध करते हुए 150 से अधिक युवाओं ने 'आत्मदाह', आदि के रूप में आत्महत्या की कोशिश की और आन्दोलन में 63 लोगों की जानें गईं। स्कूली छात्र-छात्राओं ने भी सरकार के निर्णय के विरोध में आत्महत्याएं कीं।

मण्डल आयोग से सम्बन्धित यह निर्णय कानूनी पचड़ों में भी पड़ गया। सर्वोच्च न्यायालय ने 1 अक्टूबर, '90 को मण्डल रिपोर्ट के क्रियान्वयन पर स्थगन आदेश जारी कर दिया। न्यायालय ने अपने निर्णय में कहा

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि 13 अगस्त, 1990 की सरकारी अधिसूचना पर रोक लगाई जाती है, लेकिन सरकार इस अधिसूचना के तहत लाभ पाने वाली जातियों को चिह्नित करने का काम जारी रख सकती है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा इस निर्णय की घोषणा के बाद ही आन्दोलन क्रमशः शान्त हुआ।

आरक्षण विवाद : सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय और वर्तमान स्थिति

पिछड़ी जातियों के लिए 1990 में 27 प्रतिशत आरक्षण की जो व्यवस्था की गई थी, नरसिम्हा राव शासन ने 25 सितम्बर, 1991 को उसे संशोधित करते हुए आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए अन्य वर्गों के लिए भी 10 प्रतिशत आरक्षण की व्यवस्था की, जो आरक्षण की किसी भी विद्यमान योजना में नहीं आते हैं।

नरसिम्हा राव शासन की उपर्युक्त घोषणा को भी सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी गई। इस सम्बन्ध में 16 नवम्बर, 1992 को सर्वोच्च न्यायालय ने अपने बहुमत निर्णय (6 : 3) में कहा, "दो वर्ष पूर्व राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार द्वारा अन्य पिछड़ी जातियों के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण का जो आदेश जारी किया गया था, वह वैध और लागू करने के योग्य है, लेकिन इन जातियों के 'सम्पन्न व्यक्तियों' (Creamy layer) को आरक्षण का लाभ नहीं दिया जाना चाहिए। इसके साथ ही नरसिम्हा राव शासन द्वारा आर्थिक आधार पर दिया गया 10 प्रतिशत आरक्षण अवैध घोषित कर दिया गया, क्योंकि अधिकतम आरक्षण 50 प्रतिशत ही हो सकता है।

केन्द्र सरकार का निर्णय—केन्द्र सरकार की नौकरियों में अन्य पिछड़े वर्गों के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण 8 सितम्बर, 1993 से लागू हो गया है, लेकिन इन जातियों के सम्पन्न तबके को इस आरक्षण का लाभ नहीं मिलेगा। राज्य स्तर पर इस सम्बन्ध में अलग-अलग व्यवस्थाएं हैं। उत्तर प्रदेश में अन्य पिछड़े वर्गों को 27 प्रतिशत आरक्षण प्रदान किया गया है। राज्यों में पिछड़े वर्गों को प्रदान किए गए आरक्षण प्रतिशत का एक प्रमुख आधार राज्य की समस्त जनसंख्या में अन्य पिछड़े वर्गों का अनुपात है।

आरक्षण नीति और आरक्षण व्यवस्था के परिणाम

भारत में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के प्रसंग में आरक्षण व्यवस्था को अपनाए हुए लगभग 60 वर्ष का समय हो चुका है, पिछड़ी हुई जातियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था भी एक दशक पूरा कर चुकी है। आरक्षण के परिणामों का अध्ययन करने के लिए यह निश्चित रूप से उपयुक्त समय है। आरक्षण के कुछ प्रमुख परिणाम इस प्रकार हैं :

1. अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की स्थिति में कुछ सुधार लेकिन अपेक्षित सुधार नहीं—परम्परागत रूप से भारतीय समाज में जो स्थिति चली आ रही थी, उसे दृष्टि में रखते हुए अनुसूचित जातियों और जनजातियों को आरक्षण प्रदान करना आवश्यक था। आरक्षण की इस व्यवस्था से अनुसूचित जातियों और जनजातियों की स्थिति में कुछ सुधार अवश्य ही हुआ है। आज भारत की लोकसभा में अनुसूचित जातियों के 84 से अधिक और जनजातियों के 47 प्रतिनिधि हैं। यह स्थिति इन जातियों के लिए अच्छी है, लोकसभा या संसद के लिए भी उचित स्थिति है। यदि आरक्षण की व्यवस्था नहीं होती, तो इन जातियों के कुल मिलाकर इसके आधी संख्या के प्रतिनिधि भी लोकसभा के लिए निर्वाचित नहीं होते और ऐसी स्थिति में भारत की संसद या लोकसभा को भारत की समस्त जनता का प्रतिनिधि कह पाना बहुत कठिन हो जाता। लोक सेवाओं, केन्द्रीय तथा राज्य सरकार के आधीन उच्च स्तर की लोक सेवाओं में भी इन जातियों के सदस्यों ने पर्याप्त संख्या में प्रवेश पाया है। इसी प्रकार पिछड़ी जातियों को जो आरक्षण प्रदान किया गया है, उससे सेवाओं में इन जातियों के सदस्यों की संख्या में वृद्धि हुई है। प्रतिनिधि संस्थाओं और सेवाओं में यह स्थिति लोकतान्त्रिक व्यवस्था की दृष्टि से शुभ है।

इस प्रकार परिवर्तन आया है, इन जातियों को प्रतिनिधि संस्थाओं और सेवाओं में प्रतिनिधित्व मिला है लेकिन 60 वर्ष पूर्व की स्थिति की तुलना में आज भी बहुत बड़ा परिवर्तन नहीं आया है, अपेक्षित सुधार नहीं हुआ है। कारण अनेक हैं—प्रथम, इन जातियों की मनोस्थिति में और इन जातियों के प्रति समाज के दूसरे वर्गों की मनोस्थिति में जैसा परिवर्तन आना चाहिए था, वह परिवर्तन बहुत थोड़े अंशों में ही आ पाया है। उदाहरण के लिए, अनुसूचित जातियों को प्रदान किए गए आरक्षण का मूल उद्देश्य इन जातियों को विकास के मार्ग पर आगे बढ़ाकर अस्पृश्यता जैसी अमानवीय स्थिति का समूल अन्त करना रहा है। आज स्थिति में अन्तर आया है। अस्पृश्यता अपने पूर्व प्रचलित कुत्सित रूप में नहीं है, लेकिन भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्पृश्यता या भारी जातिगत भेदभाव की स्थितियां विभिन्न रूपों में बनी हुई हैं। द्वितीय, इन जातियों को आरक्षण तो दे दिया गया, लेकिन इन्हें शिक्षा की जो सुविधाएं प्राप्त होनी चाहिए थी, व्यक्तित्व के विकास हेतु जो अवसर प्राप्त होने चाहिए थे, वे बहुत थोड़े अंशों में ही प्राप्त हो पाए। समस्त देश अभी तक विकास की दिशा में बहुत आगे नहीं बढ़ पाया, निर्धनता और घोर निर्धनता दूर नहीं हो पाई, कुछ व्यक्तियों और वर्गों के लिए तो कम भी नहीं हो पाई तो इस निर्धनता और घोर निर्धनता के कारण तथा सम्भवतया इस निर्धनता से उत्पन्न कमजोर मनोस्थिति के कारण वे आरक्षण का लाभ उठाने की स्थिति में नहीं आ पाए। तृतीय, एक और बड़ा कारण भी बना। आरक्षण के लगभग समस्त लाभ निम्न जातियों के अपेक्षाकृत सम्पन्न वर्ग ने ही प्राप्त कर लिए और अधिकांश भाग यथास्थिति अर्थात् अपनी पिछड़ी अवस्था में ही बना हुआ है। अनुसूचित जातियों को जो आरक्षण प्रदान किया गया, उसका अधिकांश लाभ केवल एक जाति जाटव (चमार) ने उठाया है। अब अनुसूचित जाति के कुछ सदस्य भी इन विसंगतियों की ओर ध्यान आकर्षित करने लगे हैं। चतुर्थ, पिछड़ी जाति आयोग की ओर से आयोजित संगोष्ठी में कर्नाटक के सार्वजनिक निर्माण विभाग के मन्त्री देवेगोवड़ा (हरिजन) ने विचार व्यक्त किया, "अनुसूचित जाति और जनजाति के उन वर्गों को आरक्षण योजना के तहत सुविधाएं नहीं मिलनी चाहिए, जो आर्थिक दृष्टि से समृद्ध हैं और जिनका सामाजिक स्तर अच्छा है। आरक्षण का फायदा उन लोगों ने उठाया है, जिनकी आर्थिक व सामाजिक स्थिति पहले से ही अच्छी रही है।"[1] उन्होंने आयोग से अपील की कि वह कोई ऐसा रास्ता निकाले, जिससे इन सुविधाओं का दुरुपयोग रोका जा सके।

आन्ध्र प्रदेश में एक ऐसे ही अध्ययन से पता चलता है कि 60 अनुसूचित जातियों में से केवल 5 जातियां ऐसी हैं जो राजनीतिक दृष्टिकोण से प्रभावशाली हैं या जिन्होंने उच्च लोक सेवाओं में स्थान प्राप्त किया है। इसी प्रकार अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षण की जो व्यवस्था है, राजस्थान में उसका समूचा लाभ केवल एक जाति, मीणा जाति ने उठाया है। अनुसूचित जनजाति बहुल क्षेत्रों (बांसवाड़ा, बारां, डूंगरपुर, राजसमन्द, सिरोही और उदयपुर जिले) से जुड़ी कोई जाति या व्यक्ति आरक्षण के आधार पर उच्च सेवाओं में प्रवेश प्राप्त नहीं कर सके, क्योंकि ये क्षेत्र और इनसे जुड़ी जनजातियां बहुत पिछड़ी हुई हैं और अनुसूचित जनजातियों में उन्नत जाति मीणा जाति के साथ प्रतियोगिता कर पाने की स्थिति में नहीं हैं।[2] अन्य राज्यों की स्थिति भी भिन्न नहीं है। इसी प्रकार पिछड़ी जातियों को जो आरक्षण प्रदान किया गया है, उनमें भी समस्त लाभों का एक बड़ा भाग सम्पन्न और विकास की दिशा में आगे बढ़ी हुई जातियों ने प्राप्त कर लिया है। उदाहरण के लिए, उत्तर प्रदेश और बिहार में, अहीर (यादव) तथा कुर्मी ऐसी ही जातियां हैं। इस स्थिति के परिणामस्वरूप तो जो पिछड़े हैं, वे सदैव पिछड़े ही बने रहेंगे। क्या यह अन्यायपूर्ण नहीं है कि निम्न जातियों का धनाढ्य वर्ग समस्त समाज के बल पर अपनी स्थिति को निरन्तर मजबूत करता चला जाए। यह भी तथ्य है कि निम्न जातियों का यह धनाढ्य वर्ग सामान्यतया अपनी ही जाति के निर्धन व्यक्तियों से वास्तविक रूप में कोई सहानुभूति नहीं रखता।

2. इन जातियों में चेतना का उदय—आरक्षण की व्यवस्था और इस व्यवस्था से प्राप्त लाभों के परिणामस्वरूप अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों में चेतना का उदय हुआ है, जहां चेतना पहले से कुछ अंशों में विद्यमान थी, वहां चेतना में वृद्धि हुई है। आज से 50 वर्ष पूर्व यदि अनुसूचित जातियां और जनजातियां अपने प्रति अत्याचार और शोषण की स्थितियां चुपचाप सहन कर लेती थी, तो अब वे उनका कभी धीमा और कभी उग्र विरोध करने लगी हैं या विरोध की बात सोचने लगी हैं। इससे सवर्ण हिन्दुओं और दलित वर्गों के बीच, उच्च वर्गों और निम्न वर्गों के बीच तनाव की स्थितियां बनने लगी हैं, लेकिन यह तनाव तो संक्रमणकालीन है, आगे आने वाले समय में उच्च वर्ग इस स्थिति के साथ समझौता कर लेगा। इस दृष्टि से वह चेतना स्वागत योग्य स्थिति है।

3. आरक्षण जातियों के आपसी मेल-मिलाप और समतावादी समाज की स्थापना में बाधक—अनुसूचित जातियों और जनजातियों को प्रदान की गई विशेष सुविधाओं का मूल उद्देश्य इन जातियों को विकास के

1 राजस्थान पत्रिका, 20 अक्टूबर, 1983 पृष्ठ 7.

2 "अनुसूचित जनजाति बहुल क्षेत्रों का कोई प्रतिनिधि साक्षात्कार तक नहीं पहुंचा।" राजस्थान पत्रिका, 25 मार्च, 1999 पृ. 3.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मार्ग पर आगे बढ़ाकर उन्हें राष्ट्र और समाज की मुख्य धारा में मिलाना था, परन्तु आरक्षण की यह व्यवस्था सभी जातियों के आपसी मेल-मिलाप में बाधक बनती जा रही है। हिन्दू समाज की तथाकथित उच्च जातियों में अनुसूचित जातियों के प्रति नवीन द्वेष की भावना उत्पन्न होती जा रही है और अनुसूचित जातियां सामाजिक मेल-मिलाप की चिन्ता न कर अपने इन विशेष अधिकारों को बनाए रखना चाहती हैं। श्रीनिवासन इस स्थिति पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं, "इन विशेष प्रबन्धों से बहुत अधिक लाभ प्राप्त करने वाली जातियां पिछड़ेपन के विशेषाधिकार को छोड़ने की अनिच्छा प्रदर्शित करती हैं।" क्या यह असंगतिपूर्ण नहीं है कि अति सम्पन्न और 'मिनिस्टर' जैसे उच्च पद पर आसीन व्यक्ति, जो प्रत्येक रूप में किसी भी उच्च-भारतीय के समान हैं, स्वयं या उसकी सन्तान, आज भी अनुसूचित जाति का सदस्य होने के नाम पर विशेष सुविधाओं का उपभोग करें।

4. अन्य जातियों में आरक्षण का लाभ पाने की होड़—अब तक जो जातियां आरक्षण के लाभ से वंचित हैं, इस सदी के अन्तिम दशक में वे आरक्षण का लाभ प्राप्त करने के प्रबल प्रयत्नों में जुट गई हैं। इन जातियों के लिए अनुसूचित जातियों या अनुसूचित जनजातियों में प्रवेश पाना सरल नहीं है, लेकिन पिछड़े वर्ग या पिछड़ी जातियों की कोई निश्चित परिभाषा कर पाना सम्भव नहीं है, अतः वे अपने आपको विकास और शिक्षा की दृष्टि से पिछड़ी बतलाते हुए मांग कर रही हैं कि उन्हें भी पिछड़े वर्गों में शामिल किया जाना चाहिए। उत्तर भारत के जाट, महाराष्ट्र के मराठा, मध्य प्रदेश के कुर्मी, उत्तर प्रदेश के मुसलमान गुर्ज्जर, हरियाणा के सैनी, राजस्थान के मेव, कायमखानी और विश्नोई, आन्ध्र के रेड्डी और कर्नाटक के वोक्कालिंगा पिछड़े वर्गों में शामिल होने की मांग कर रहे हैं तथा सांसदों का एक वर्ग उनकी मांग का समर्थन कर रहा है। इसी प्रकार महिला आरक्षण के लिए 1998 और 1999 में जो विधेयक संसद में प्रस्तावित हुए, उनमें कुछ राजनीतिक दलों द्वारा यह मांग की जा रही है कि लोकसभा और राज्य विधानसभाओं में महिलाओं के लिए जो आरक्षित स्थान हों, उनमें पिछड़े वर्ग की महिलाओं के लिए स्थान आरक्षित होने चाहिए। आरक्षण की यह होड़ कहां जाकर खत्म होगी, कुछ कह पाना कठिन है।

5. आरक्षण दलीय राजनीति और चुनावी राजनीति के साथ जुड़ गया है—संविधान में आरक्षण का प्रावधान समाज के कमजोर वर्ग के हितों की रक्षा और अभिवृद्धि के उद्देश्य से अपनाया गया था, लेकिन अब मूल उद्देश्य तो समाप्त हो गया है तथा आरक्षण का प्रश्न दलीय राजनीति और चुनावी राजनीति के साथ जुड़ गया है। जातियां यह सोचने लगी हैं कि उनके द्वारा अपने आपको संगठित कर और दबाव डालकर अपनी जाति के लिए आरक्षण प्राप्त कर लेना चाहिए। जिन जातियों को आरक्षण प्राप्त है, वे ऐसा सोचती हैं कि राजनीतिक दबाव बनाए रखते हुए आरक्षण की अवधि बढ़वाई जा सकती है। राजनीतिक दल आरक्षण के प्रश्न पर वास्तविक पिछड़ेपन की दृष्टि से नहीं, वरन् 'वोट बैंक' (Vote Bank) की दृष्टि से विचार करते हैं। अनुसूचित जातियां और जनजातियां एक लम्बे समय तक कांग्रेस का वोट बैंक रही हैं और अन्य राजनीतिक दल कांग्रेस के इस वोट बैंक में भारी दरार डालने तथा इन जातियों के एक वर्ग को अपना समर्थक बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं। ये सभी राजनीतिक दल ऐसा सोचते हैं कि यदि उनके द्वारा आरक्षण को जारी रखने का विरोध किया गया, तो वे जातियां उनसे विमुख हो जाएंगी।

अब तक आरक्षण के पक्ष में सदैव सामाजिक न्याय की बात कही गई है, लेकिन तथ्य यह है कि आरक्षण का प्रश्न केवल चुनावी राजनीति से जुड़ा हुआ है। आरक्षण की राजनीति ने आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय के समस्त विचार को पीछे धकेल दिया है। सामाजिक न्याय के किसी ठेकेदार ने एक भी ऐसा कदम नहीं उठाया है, जिससे निर्धनता की सीमा रेखा के नीचे रहने वाले व्यक्तियों की स्थिति में सुधार हो। अगड़ी जाति बनाम पिछड़ी जाति, हिन्दू बनाम मुसलमान, पुरुष बनाम् महिला की राजनीति ने समाज को गहरे रूप में विभाजित किया है और इस विचार को वैधता प्रदान की है कि 'राजनीति तो मात्र सत्ता का खेल है।' विभाजित समाज ने विभाजित राजनीति को जन्म दिया है। इसने विभिन्न जातियों और वर्गों के बीच सामाजिक दूरियों को जन्म दिया है। आरक्षण नीति के इन प्रतिपादकों ने सामाजिक न्याय को एक अर्थहीन नारा बना दिया है।

संवैधानिक संशोधन के आधार पर अनुसूचित जातियों व जनजातियों के लिए आरक्षण की अवधि 25 जनवरी, 2020 ई. तक बढ़ा दी गई है लेकिन यह सोचने का आधार बनता है कि इन जातियों के लिए

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आरक्षण को जारी रखना विवेकसंगत है अथवा नहीं। यह तथ्य है कि संविधान निर्माता आरक्षण व्यवस्था को इतने लम्बे समय तक बनाए रखने की बात नहीं सोचते थे। इतनी दीर्घवधि तक आरक्षण को जारी रखने की बात आरक्षण के मूल विचार से मेल नहीं खाती। आरक्षण ही हमारे समाज और हमारी व्यवस्था की नियति बन जाए, यह उचित नहीं होगा। पिछड़े हुए वर्गों के लिए भी लम्बे समय तक आरक्षण को जारी रखना भारतीय राजनीति और व्यवस्था में गम्भीर स्थितियों को जन्म दे सकता है। आरक्षण की व्यवस्था का लाभ अनुसूचित जातियों और जनजातियों के बड़े भाग को वास्तविक रूप में प्राप्त हो सके और इन व्यवस्थाओं के लक्ष्य सामाजिक न्याय और समतावादी समाज की स्थापना की दिशा में आगे बढ़ा जा सके, इस दृष्टि से विभिन्न राजनीतिक दलों के अनेक सदस्यों और समाज के सम्भ्रान्त जनों द्वारा इस व्यवस्था में संशोधन के लिए कुछ सुझाव दिए गए हैं। प्रमुख सुझाव इस प्रकार हैं :

(i) एक परिवार में केवल एक पीढ़ी को ही आरक्षण का लाभ प्राप्त होना चाहिए, (ii) ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि एक परिवार में केवल एक व्यक्ति ही आरक्षण की सुविधा का लाभ उठा सके, (iii) एक निश्चित सीमा से अधिक आय प्राप्त करने वाले अनुसूचित जाति और जनजाति परिवारों को इस सुविधा का लाभ प्राप्त नहीं होना चाहिए। सर्वोच्च न्यायालय ने पिछड़ी जातियों के आरक्षण के प्रसंग में 'क्रीमी लेयर' को आरक्षण से वंचित करने की जो बात कही है, वह नितान्त उचित है तथा इसे अनुसूचित जातियों और जनजातियों के आरक्षण के प्रसंग में भी अपनाए जाने की आवश्यकता है, (iv) आरक्षण की सुविधा सेवाओं में केवल प्रवेश के सम्बन्ध में ही होनी चाहिए, पदोन्नति के सम्बन्ध में नहीं होनी चाहिए। सर्वोच्च न्यायालय ने भी अपने पूर्व के निर्णयों में इस बात पर बल दिया है।

निम्न जाति में पैदा होने पर व्यक्तित्व के विकास में बाधा आती है, यह तथ्य है, लेकिन इसके साथ ही यह भी तथ्य है कि निर्धनता में जन्म लेना, पलना और बड़ा होना व्यक्ति को व्यक्तित्व के विकास की अधिकांश अवसरों से वंचित कर देता है। अतः दलीय राजनीति और चुनावी राजनीति से दूर रहते हुए भारतीय समाज का आम सहमति पर आधारित विचार यह है कि आरक्षण की व्यवस्था को जारी रखना केवल जाति पर आधारित नहीं होना चाहिए। जाति और आर्थिक स्थिति के मिले-जुले आधार पर टिकी हुई आरक्षण की किसी व्यवस्था को ही उचित कहा जा सकता है।

आरक्षण राजनीति का नया आयाम

विधायी संस्थाओं में महिला आरक्षण का प्रस्ताव

1990 से ही भारतीय राजनीति में यह बात कही जा रही है कि विधायी संस्थाओं (राज्यों की विधान सभाओं और लोकसभा) में महिलाओं के लिए एक तिहाई स्थान आरक्षित किए जाने चाहिए। भारत के राजनीतिक दलों पर सदैव ही चुनावी राजनीति हावी रहती है और जब कभी उन्हें किसी भी बात के सम्बन्ध में यह लगता है कि इससे उन्हें चुनावी राजनीति से लाभ प्राप्त होगा, तब गम्भीर विचार-विमर्श की प्रक्रिया को अपनाए बिना ही उस बात को अपने चुनाव घोषणा-पत्र में स्थान दे देते हैं। ग्यारहवीं लोकसभा के चुनाव (1996) के समय में भी यही स्थिति बनी। सभी प्रमुख राजनीतिक दलों (कांग्रेस, भाजपा, जनता दल, मार्क्सवादी दल, अन्य वामपंथी दलों और अन्य कुछ दलों) ने इस बात का वायदा किया कि यदि उन्हें सत्ता प्राप्त हुई, तो वे कानून बनाकर विधायी संस्थाओं में महिलाओं के लिए एक तिहाई स्थान आरक्षित करेंगे। इनमें से कुछ राजनीतिक दल ऐसे थे, जिनके सदस्यों का एक भाग वास्तव में इस आरक्षण के पक्ष में नहीं था और आज भी नहीं है।

संसद में आरक्षण विधेयक—व्यवहार में अलग-अलग सरकारों के कार्यकाल में अब तक आठ बार (1996, 97, 98, 2000, 02, 03, 08 तथा2010) 'महिला आरक्षण विधेयक' रखा गया। यदि यह विधेयक पारित हो जाता, तो लोकसभा में महिला सदस्यों की संख्या लगभग 180 हो जाती। मार्च 2010 में राज्यसभा में यह विधेयक पारित हो गया है, लेकिन कुछ दलों के विरोध के चलते अभी लोकसभा में नहीं पारित हो पाया है। वस्तुतः विरोधी दल महिलाओं के लिए आरक्षित स्थानों में अनुसूचित जातियों/जनजातियों तथा पिछड़े वर्गों के लिए अलग से आरक्षण की माँग कर रहे हैं। यह स्थिति पुरुष सदस्यों के स्वार्थ के विरुद्ध थी, अतः

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कभी भी इस प्रकार का विधेयक पारित न हो सका। महिला आरक्षण के पक्ष और विपक्ष में प्रमुख रूप से निम्न तर्क दिए जाते हैं :

पक्ष में तर्क

1. महिला आरक्षण 'सामाजिक न्याय' की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम होगा।

2. सभी प्रमुख राजनीतिक दल अपने चुनाव घोषणा पत्रों में महिला आरक्षण का समर्थन और वायदा कर चुके हैं।

3. महिला आरक्षण से राजनीति और प्रशासन पर स्वस्थ प्रभाव पड़ेगा। इससे चुनाव और राजनीति में धन की शक्ति और बाहुबल की शक्ति पर रोक लगेगी। महिलाओं का शैक्षणिक और सामाजिक उत्थान होगा। साक्षरता और नैतिक मूल्यों की दिशा में आगे बढ़ना सम्भव होगा। जनसंख्या विस्फोट और दहेज हत्या जैसी स्थितियां नियन्त्रित होंगी।

4. अनुभव भी महिला आरक्षण के पक्ष में है। लगभग दो दशक पूर्व पंचायत राज संस्थाओं और शहरी क्षेत्र की स्थानीय स्वशासन संस्थाओं में महिलाओं को जो एक तिहाई आरक्षण प्रदान किया गया; उसका इन संस्थाओं पर और समस्त व्यवस्था पर अच्छा प्रभाव पड़ा है।

5. विशेष बात यह है कि इस देश का जनमत महिला-आरक्षण के पक्ष में है।

6. वस्तुतः महिला आरक्षण के विरोध के सबसे प्रमुख कारण हैं :

पुरुष पूर्वाग्रह, सामन्ती मानसिकता और पुरुष वर्ग के निहित स्वार्थ।

महिला आरक्षण का अनौचित्य (विपक्ष में तर्क)

1. यह तथ्य है कि भारतीय राजनीति में महिला आरक्षण सामाजिक न्याय से प्रेरित नहीं, वरन् चुनावी राजनीति से प्रेरित मुद्दा है।

2. महिला आरक्षण समस्त नारी जाति की मुक्ति का मार्ग नहीं है और एकमात्र मार्ग तो निश्चित रूप से नहीं है। आज महिला शिक्षा, विशेषतया ग्रामीण क्षेत्रों और दलित वर्गों में महिला शिक्षा की स्थिति बहुत शोचनीय है। महिला शिक्षा की दिशा में आगे बढ़े बिना विधायी संस्थाओं में आरक्षण समय से पूर्व उठाया गया कदम सिद्ध हो सकता है।

3. महिला आरक्षण के विरुद्ध एक प्रमुख तर्क यह है कि जब लगातार 60 वर्ष तक आरक्षण के परिणामस्वरूप अनुसूचित जातियों और जनजातियों को बड़े पैमाने पर कोई लाभ नहीं पहुंचा, तब महिला आरक्षण से समाज की सामान्य महिलाओं को क्या लाभ पहुंचेगा? तथ्य यह है कि केवल कानून बनाकर या आरक्षण से समाज को बदल पाना सम्भव नहीं है। समाज को बदलने के लिए सभी दिशाओं में और सभी प्रकार से वातावरण बनाना होता है।

निष्कर्षतः यदि अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति आदि वर्गों के लिए और आगे लम्बे समय तक आरक्षण जारी रखा जाता है, तो महिला आरक्षण को भी अपनाया जा सकता है। सही सोच यह है कि भारतीय राजनीति में आरक्षण चुनावी-राजनीति का एक साधन बनकर रह गया है, सामाजिक न्याय से इसका कोई सरोकार नहीं रहा है। अतः समस्त आरक्षण नीति पर नए सिरे से और खुली सोच के साथ विचार किए जाने की आवश्यकता है।

समाज के कमजोर वर्गों (अनुसूचित जातियों, जनजातियों, पिछड़ी जातियों और भारतीय समाज की समस्त महिलाओं) की भारतीय राजव्यवस्था और शासन-व्यवस्था के सभी स्तरों पर आज की तुलना में अधिक भागीदारी नितान्त आवश्यक है, लेकिन आरक्षण इस लक्ष्य की प्राप्ति का एकमात्र उपाय नहीं है। आरक्षण ऐसा उपाय भी नहीं है, जिसे स्थायी संस्थागत स्वरूप प्रदान कर अच्छे परिणाम प्राप्त किए जा सकते हों। मुख्य बात है समाज के सभी वर्गों को शिक्षित, सक्षम और प्रबुद्ध बनाना। जब समाज प्रबुद्धता की दिशा में आगे बढ़ता है, तो आरक्षण की बैशाखी के बिना भी सामाजिक क्रान्ति सम्भव हो सकती है।

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (प्रत्येक प्रश्न 6 अंक का, उत्तर लगभग 300 शब्दों में दीजिए)

1. जातिगत और धर्मगत आरक्षण की आवश्यकता-अनावश्यकता (औचित्य-अनौचित्य) पर विचार व्यक्त कीजिए।
2. पिछड़ी हुई जातियों के संदर्भ में आरक्षण की क्या स्थिति है? स्पष्ट कीजिए।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3. भारतीय संविधान के आरक्षण से सम्बन्धित प्रावधानों का वर्णन कीजिए।
4. आरक्षण नीति और आरक्षण व्यवस्था के परिणामों की विवेचना कीजिए। क्या आरक्षण की व्यवस्था को और आगे जारी रखा जाना चाहिए यदि हां, तो उसका रूप क्या होना चाहिए?
5. जाति आधारित आरक्षण के गुण-दोषों का परीक्षण कीजिए। (उ.प्र., 2010)
6. सरकारी सेवाओं में जातीय आधार पर आरक्षण के औचित्य का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। (उ.प्र., 2010)

लघु उत्तरीय प्रश्न

(अ) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 50 शब्दों में दीजिए (2 अंक)।

1. अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए सेवाओं में विशेष प्रतिनिधित्व की व्यवस्था का उल्लेख कीजिए।
2. विधायी संस्थाओं में महिला आरक्षण पर टिप्पणी लिखिए।
3. आरक्षण के पक्ष में कोई दो तर्क दीजिए।
4. महिला आरक्षण के पक्ष में दो तर्क दीजिए।

(ब) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिए (4 अंक)।

5. अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के प्रतिनिधि सभाओं में विशेष प्रतिनिधित्व की व्यवस्था का उल्लेख कीजिए।
6. आरक्षण नीति और आरक्षण व्यवस्था के कोई चार परिणाम बताइए।
7. आरक्षण की व्यवस्था का लाभ अनुसूचित जातियों और जनजातियों के एक बड़े भाग को वास्तविक रूप में प्राप्त हो सके इसके लिए इस व्यवस्था में किस प्रकार के संशोधन के सुझाव दिए गए हैं?
8. अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था संविधान के किस प्रावधान के अन्तर्गत की गई है?
9. आरक्षण के विपक्ष में कोई चार तर्क दीजिए।
10. पिछड़े वर्ग के आरक्षण के सम्बन्ध में सर्वोत्तम न्यायालय का वर्तमान दृष्टिकोण क्या है?

अति लघु उत्तरीय प्रश्न [प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का, उत्तर दस शब्द (एक वाक्य) में]

प्रश्न 1. अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों को प्रतिनिधि संस्थाओं में आरक्षण कब तक प्राप्त रहेगा?

उत्तर—79वें संवैधानिक संशोधन (1999) के अनुसार इन जातियों को प्रतिनिधि संस्थाओं में आरक्षण 25 जनवरी, 2010 तक प्राप्त रहेगा।

प्रश्न 2. अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों को लोक सेवाओं में आरक्षण कब तक प्राप्त होगा?

उत्तर—अनुच्छेद 335 के अन्तर्गत प्रदत्त इस आरक्षण की कोई समय-सीमा निर्धारित नहीं की गई है।

प्रश्न 3. पिछड़ी हुई जातियों को लोक सेवाओं में आरक्षण किस आयोग की रिपोर्ट के आधार पर प्रदान किया गया है?

उत्तर—1978 में स्थापित 'मण्डल आयोग' की रिपोर्ट के आधार पर, जिसने अपनी रिपोर्ट 30 अप्रैल, 1982 को प्रस्तुत की।

प्रश्न 4. पिछड़ी हुई जातियों को केन्द्र सरकार की सेवाओं में कितने प्रतिशत आरक्षण प्रदान किया गया है?

उत्तर—27 प्रतिशत।

प्रश्न 5. राष्ट्रपति द्वारा समाज के कमजोर वर्गों की स्थिति की जांच करने के लिए आयोग की स्थापना संविधान के किस अनुच्छेद के आधार पर की जाती है?

उत्तर—अनुच्छेद 340 राष्ट्रपति को जांच आयोग की नियुक्ति करने का अधिकार देता है।

प्रश्न 6. अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए केन्द्र सरकार की सेवाओं में क्रमशः कितने प्रतिशत स्थान आरक्षित हैं?

उत्तर—अनुसूचित जातियों के लिए 15 प्रतिशत तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए 7.5 प्रतिशत।

प्रश्न 7. पिछड़ी हुई जातियों के लिए केन्द्र सरकार की सेवाओं में आरक्षण किस समय से लागू हो गया है?

उत्तर—8 सितम्बर, 1993 से।

प्रश्न 8. भारत में धार्मिक आधार पर आरक्षण क्यों नहीं होना चाहिए?

उत्तर—संविधान धर्म के आधार पर किसी भी प्रकार के भेदभाव या विशेष सुविधाओं की अनुमति नहीं देता। धर्मनिरपेक्ष राज्य में ऐसा करना उचित नहीं है तथा धर्म के आधार पर आरक्षण 'साम्प्रदायिक विद्वेष के लावे' को जन्म देगा।

प्रश्न 9. क्रीमी लेयर की पहचान हेतु गठित आयोग का अध्यक्ष कौन था?

उत्तर—रामप्रसाद। (उ.प्र., 2010)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुविकल्पीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों में चार विकल्प दिए गए हैं। उनमें से सही विकल्प छांटकर लिखिए :

1. अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था संविधान के किस भाग के अन्तर्गत की गई है :
   (अ) भाग चार (ब) भाग बारह (स) भाग सोलह (द) भाग दस
2. किस संवैधानिक संशोधन के द्वारा अब अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए संसद और राज्यविधानमण्डलों में स्थान आरक्षित रखने की व्यवस्था 25 जनवरी, 2010 तक के लिए कर दी गई :
   (अ) 78वें संवैधानिक संशोधन (ब) 79वें संवैधानिक संशोधन
   (स) 81वें संवैधानिक संशोधन (द) इनमें से कोई नहीं
3. किस संवैधानिक संशोधन के द्वारा 'अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए 'राष्ट्रीय आयोग' की स्थापना कर उसे संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया है :
   (अ) 61वें संवैधानिक संशोधन (ब) 62वें संवैधानिक संशोधन
   (स) 65वें संवैधानिक संशोधन (द) 68वें संवैधानिक संशोधन
4. संविधान के किस अनुच्छेद के द्वारा छुआछूत को समाप्त किया गया है :
   (अ) अनुच्छेद 11 (ब) अनुच्छेद 14 (स) अनुच्छेद 17 (द) अनुच्छेद 18
5. पिछड़े वर्गों की पहचान करने हेतु सर्वप्रथम किसकी अध्यक्षता में आयोग का गठन किया गया :
   (अ) वी. पी. मण्डल (ब) श्री रामधन
   (स) काका साहेब कालेलकर (द) आर. एन. प्रसाद
6. पिछड़ी जातियों के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण की व्यवस्था किसकी सिफारिशों के आधार पर की गई :
   (अ) सरकारिया आयोग (ब) मण्डल आयोग
   (स) प्रसाद आयोग (द) योजना आयोग
7. मण्डल आयोग ने अपनी रिपोर्ट सरकार को कब प्रस्तुत की थी :
   (अ) अप्रैल 1980 (ब) अप्रैल 1981
   (स) अप्रैल 1982 (द) अप्रैल 1983
8. अनुसूचित जातियों के लिए केन्द्र सरकार की सेवाओं में कितने प्रतिशत स्थान आरक्षित हैं :
   (अ) 10 प्रतिशत (ब) 12 प्रतिशत
   (स) 15 प्रतिशत (द) 27 प्रतिशत
9. अनुसूचित जनजातियों के लिए केन्द्र सरकार की सेवाओं में कितने प्रतिशत स्थान आरक्षित हैं :
   (अ) 5 प्रतिशत (ब) 7 प्रतिशत (स) 7.5 प्रतिशत (द) 8.5 प्रतिशत
10. अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों को सेवाओं में आरक्षण कब तक प्राप्त होगा :
    (अ) 25 जनवरी, 2020 तक (ब) 25 जनवरी, 2005 तक
    (स) 25 जनवरी, 2007 तक
    (द) इस आरक्षण की कोई समय सीमा निर्धारित नहीं की गई है
11. केन्द्र सरकार की नौकरियों में अन्य पिछड़े वर्गों के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण कब से लागू हुआ है :
    (अ) 8 सितम्बर, 1993 (ब) 8 सितम्बर, 1994
    (स) 10 सितम्बर, 1995 (द) इनमें से कोई नहीं
12. अनुसूचित जाति के निर्धारण का आधार रहा है :
    (अ) जाति (ब) क्षेत्र (स) धर्म (द) इनमें से कोई नहीं
13. अनुसूचित जनजाति के निर्धारण का आधार रहा है :
    (अ) क्षेत्र (ब) जाति (स) उपर्युक्त दोनों (द) इनमें से कोई नहीं
14. संविधान के किस अनुच्छेद में कहा गया है कि राष्ट्रपति पिछड़े वर्गों की दशाओं के अन्वेषण के लिए आयोग की नियुक्ति कर सकेगा :
    (अ) अनुच्छेद 338 (ब) अनुच्छेद 342 (स) अनुच्छेद 340 (द) अनुच्छेद 345

[उत्तर—1. (स), 2. (ब), 3. (स), 4. (स), 5. (स), 6. (ब), 7. (स), 8. (स), 9. (स), 10. (अ), 11. (अ), 12. (अ), 13. (स), 14. (स)]

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

23

भारत में जनजातियां : समस्याएं और समाधान

[TRIBALS IN INDIA : PROBLEMS AND SOLUTIONS]

"स्थानीय आदिम समुदायों के किसी भी समूह को, जो कि एक सामान्य क्षेत्र में रहता हो, एक सामान्य भाषा बोलता हो और एक सामान्य संस्कृति का अनुसरण करता हो, एक जनजाति कहते हैं।"[1]

—गिलिन और गिलिन

भारत विविधताओं से परिपूर्ण एक विशाल देश है। यहां अनेक धर्मों के अनुयायी, विविध प्रजातियों और जातियों से जुड़े व्यक्ति रहते हैं। विविधताओं का एक अन्य रूप विकास के प्रसंग में गंभीर क्षेत्रीय विषमताएं हैं। तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती गांधी ने स्वयं एक संदर्भ में 1966 में कहा था, 'हम एक ही साथ अनेक सदियों में रह रहे हैं (We are living in many centuries)। एक ओर मुम्बई, दिल्ली और अन्य महानगरों की कुछ विकसित औद्योगिक वस्तियां हैं जो विकसित विश्व के शहरों के साथ प्रतियोगिता करने की होड़ में लगी हैं, दूसरी ओर विविध राज्यों में ऐसे क्षेत्र हैं, जहां शहरी जीवन की सुविधाओं ने प्रवेश भी नहीं किया है। इन क्षेत्रों को देखकर ऐसा लगता है कि हमने अभी इक्कीसवी सदी में प्रवेश भी नहीं किया है। अधिकतर जनजातियां और जनजाति जनसंख्या का एक बड़ा भाग ऐसे भौगोलिक क्षेत्रों में निवास करता है, जहां सभ्यता का प्रकाश बहुत थोड़े अंशों में ही पहुंचा है।

जनजाति

गोत्र का एक विस्तृत रूप जनजाति है। यह खानाबदोशी जत्थे, झुण्ड, गोत्र, भ्रातृ दल एवं अर्द्धांश से अधिक विस्तृत एवं संगठित होती है। जनजातियों को आदिम समाज, आदिवासी, वन्य जाति, गिरिजन एवं अनुसूचित जनजाति आदि नामों से पुकारा जाता है। इन सभी नामों में जनजाति नाम ही सर्वाधिक उपयुक्त है। भारतीय संविधान के अधिकारिक हिन्दी पाठ में इन्हें 'जनजाति' का नाम ही दिया गया है।

जनजाति की परिभाषा

जनजाति की कुछ परिभाषाएं इस प्रकार हैं : गिलिन एवं गिलिन लिखते हैं, "स्थानीय आदिम समुदायों के किसी भी समूह को जो कि एक सामान्य क्षेत्र में रहता हो, एक सामान्य भाषा बोलता हो और एक सामान्य संस्कृति का अनुसरण करता हो, एक जनजाति कहलाता है।"

डॉ. मजूमदार के अनुसार, "एक जनजाति परिवारों या परिवारों के समूह का संकलन होता है जिनका एक सामान्य नाम होता है जिसके सदस्य एक निश्चित भू-भाग में रहते हैं, समान भाषा बोलते हैं और विवाह, व्यवसाय या उद्योग के विषय में निश्चित निषेधात्मक नियमों का पालन करते हैं और पारस्परिक कर्तव्यों की एक सुविकसित व्यवस्था को मानते हैं।"

भारतीय संदर्भ में जनजाति एक ऐसा क्षेत्रीय मानव समूह होता है जिसके अपने रीति-रिवाज, व्यवहार, जीवन के प्रति विशिष्ट दृष्टिकोण तथा इन सबके योग के रूप में एक संस्कृति होती है, जिनकी एक भाषा और सामाजिक संगठन होता है तथा जो सामान्यतः अन्तर्विवाह के नियमों का पालन करता है। भारत की

1 "Any collection of preliterate local groups which occupies a common general territory, speaks a common language and practices a common culture is a tribe."
—Gillin and Gillin, *Cultural Sociology*, p. 282.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्य जातियों, वर्गों और क्षेत्रों की तुलना में जनजातियां और उनसे जुड़े क्षेत्र भौतिकवाद और आधुनिकीकरण के प्रभाव से अपेक्षाकृत दूर हैं।

जनजाति के लक्षण या विशेषताएं

1. **सामान्य भू-भाग**—एक जनजाति एक निश्चित भू-भाग में ही निवास करती है।

2. **विस्तृत आकार**—एक जनजाति कई परिवारों, वंश और गोत्र का संकलन होता है।

3. **एक नाम**—प्रत्येक जनजाति का कोई नाम अवश्य होता है जिसके द्वारा वह पहचानी जाती है। मुंडा, कोल, भील, भोटिया, गारो, सन्थाल, मीणा, मुरिया, गोंड, खासी, कोरवा, बैगा, नागा और गरासिया लोहार; भारतीय संघ के विविध राज्यों के क्षेत्रों से जुड़ी कुछ प्रमुख जनजातियों के नाम हैं।

4. **सामान्य भाषा**—एक जनजाति के लोग अपने विचारों का आदान-प्रदान करने के लिए जनजाति की अपनी एक सामान्य भाषा का प्रयोग करते हैं। वर्तमान समय में बाहरी जगत के साथ सम्पर्क के कारण कई जनजातियां द्विभाषी हो गई हैं।

5. **अन्तर्विवाह (Endogamy)**—एक जनजाति के सदस्य अपनी ही जनजाति में विवाह करते हैं।

6. **सामान्य संस्कृति**—एक जनजाति के सभी सदस्यों की एक सामान्य संस्कृति होती है, उनके रीति-रिवाजों, प्रथाओं, लोकाचारों, नियमों, कला, धर्म, जादू-टोने, संगीत, नृत्य, खान-पान, भाषा, रहन-सहन, विचारों, विश्वासों और मूल्यों आदि में समानता पाई जाती है। सामान्य संस्कृति या एकसमान संस्कृति जनजाति का सबसे प्रमुख लक्षण है।

7. **सामान्य निषेध**—सामान्य संस्कृति से ही जुड़ी हुई बात यह है कि एक जनजाति खान-पान, विवाह, परिवार और व्यवसाय आदि से सम्बन्धित कुछ समान निषेधों का पालन करती है।

8. **सामाजिक संगठन**—सामान्यतः प्रत्येक जनजाति का अपना एक निजी सामाजिक संगठन होता है। संगठन का प्रमुख अधिकांशतया एक वंशानुगत मुखिया होता है, कहीं-कहीं मुखिया की सहायता के लिए 'वयोवृद्ध लोगों की एक परिषद्' भी होती है। यह संगठन परम्पराओं का पालन कराने, नियन्त्रण बनाए रखने और नियमों का उल्लंघन करने वालों को दण्डित करने का कार्य करता है। इस दृष्टि से कुछ अध्ययनकर्ता इसे 'राजनीतिक संगठन' का नाम देते हैं।

भारत में अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या

1941 में जनजातियों की जनसंख्या लगभग ढाई करोड़ थी। भारत के विभाजन से कुछ जनजातीय क्षेत्र पाकिस्तान में चले गए, अतः 1951 में इनकी जनसंख्या लगभग 1 करोड़ 91 लाख रह गई। अन्य जातियों और वर्गों के समान ही जनजातियों की जनसंख्या में भी निरन्तर वृद्धि हुई और 2001 ई. की जनगणना के अनुसार अनुसूचित जनजातीय जनसंख्या 8.43 करोड़ हो गई, जो देश की कुल जनसंख्या का 8.2 प्रतिशत है।[1] इस प्रकार आज जनजातियां भारत की समस्त जनसंख्या का 8.1 प्रतिशत हैं। भारतीय संविधान में 560 जनजातियों का उल्लेख है जो विभिन्न राज्यों के ग्रामीण और नगरीय क्षेत्रों में निवास करती हैं।

भारतीय संघ के कुछ राज्यों में जनजाति जनसंख्या अधिक है और कुछ राज्यों में कम। झारखण्ड और छत्तीसगढ़ में जनजातीय जनसंख्या सर्वाधिक है। इसके बाद उड़ीसा, बिहार, गुजरात, राजस्थान, महाराष्ट्र, प. बंगाल, आन्ध्र प्रदेश तथा असोम राज्य आते हैं। उत्तर प्रदेश, केरल एवं तमिलनाडु में जनजातीय जनसंख्या अपेक्षाकृत कम है।

यदि भारतीय संघ के किसी विशेष राज्य की जनसंख्या में जनजाति जनसंख्या के प्रतिशत की दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो मणिपुर, मेघालय, नगालैण्ड, सिक्किम, अरुणाचल प्रदेश और मिजोरम ऐसे राज्य हैं, जिनकी समस्त जनसंख्या में जनजाति जनसंख्या का अनुपात 20 प्रतिशत से अधिक है। मेघालय, नगालैण्ड और अरुणाचल प्रदेश राज्यों में तो जनजातीय जनसंख्या राज्य की समस्त जनसंख्या की लगभग 50 प्रतिशत या 50 प्रतिशत से अधिक है।

[1] स्रोत : भारत 2008 पृष्ठ, 1023

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय जनजातीय समस्याओं के कारण

भारतीय जनजातियों में व्याप्त विविध समस्याओं के मूल कारण निम्न प्रकार हैं :

1. निर्धनता, अज्ञान और विकास के लाभ जनजातियों तक न पहुंचना—जनजातीय समस्याओं का भी मूल कारण तो वही है, जो देश में सर्वत्र व्याप्त स्थिति और समस्याओं का मूल कारण है। जनजातियां भारतीय समाज के अन्य किसी भी वर्ग की तुलना में निर्धनता और अज्ञानता से अधिक पीड़ित हैं। इस निर्धनता और अज्ञानता के कारण समाज के सम्पन्न वर्ग; व्यापारी वर्ग, नौकरशाह और राजनीतिज्ञ उनका मनमाना शोषण करते हैं। भारत सरकार और राज्य सरकारों ने अब तक जनजातीय क्षेत्रों के विकास के लिए अनेकानेक हजारों करोड़ रुपए की धनराशियां स्वीकृत की हैं, लेकिन इन धनराशियों का उचित उपयोग नहीं हुआ है। वस्तुस्थिति यह है कि इन धनराशियों का एक बड़ा भाग नौकरशाहों और राजनीतिज्ञों के हाथों से आगे नहीं बढ़ पाया है। अज्ञानता ने जनजातियों में विविध अंधविश्वासों को जन्म दिया तथा समाज के अन्य वर्गों ने इन अंधविश्वासों का लाभ उठाकर उनका जी भरकर शोषण किया और आज भी शोषण कर रहे हैं। अज्ञानता ने उनमें यह भाव भी पैदा किया कि पेट भर लेना ही पर्याप्त है, इसके आगे हमें कुछ प्राप्त नहीं करना है।

जब जनजातीय क्षेत्रों में यातायात की सुविधा बढ़ी और वहां नई शासन-व्यवस्था लागू की गई तो ये लोग व्यापारी, महाजन, ठेकेदारों, प्रशासकों, पुलिस अधिकारियों आदि के सम्पर्क में आये, जिन्होंने इनकी दयनीय आर्थिक दशा व अशिक्षा का लाभ उठाकर उनका शारीरिक, आर्थिक और नैतिक शोषण किया। वे ऋणग्रस्त और भूमिहीन हो गए तथा साथ ही विविध यौन रोगों से भी पीड़ित हो गए।

2. पृथक् और दूर-दराज क्षेत्रों में निवास—भारत की लगभग सभी जनजातियां पहाड़ों, जंगलों और दूर-दराज क्षेत्रों में निवास करती हैं, जहां उनका अन्य लोगों से सम्पर्क नहीं हो पाता। पृथक् एवं दुर्गम निवास के कारण उनकी प्रकृति पर निर्भरता बढ़ गई और जीवनयापन के साधन उन्हें स्वयं ही उठाने पड़े हैं। साधनों के अभाव के कारण वे ज्ञान-विज्ञान और भौतिक विकास की दिशा में आगे नहीं बढ़ पाए हैं।

3. नयी प्रशासन व्यवस्था और प्रशासक वर्ग—ब्रिटिश शासन से पूर्व सभी जनजातियां राजनीतिक दृष्टि से स्वायत्त इकाइयां थीं। वे अपनी भूमि तथा जंगलों की स्वामी थीं तथा आवश्यकतानुसार उनका उपयोग करती थीं, किन्तु अंग्रेजों ने सम्पूर्ण देश पर एकसमान राजनीतिक व्यवस्था लागू की, जिसके द्वारा जनजातियों के अधिकार सीमित कर दिए गए तथा उनके द्वारा की जाने वाली स्थानान्तरित खेती एवं वन उपज के उपयोग और उपभोग पर रोक लगा दी गई। जनजातियां इस नयी प्रशासनिक व्यवस्था को स्वीकार नहीं कर पाईं, अपने आपको इस व्यवस्था के अनुसार ढाल नहीं पाईं। दूसरी ओर जो नया प्रशासक वर्ग आया, उसने जनजातियों की परिस्थितियों को समझने की कोई चेष्टा नहीं की, इस वर्ग में जनजातियों के प्रति अपनेपन और सहानुभूति का भी कोई भाव नहीं था। स्वतन्त्रता-प्राप्ति और लोकतन्त्रीय व्यवस्था की स्थापना के बाद भी स्थिति में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं आया। परिणामतया जनजातियों और प्रशासक वर्ग के बीच गहरी खाई पैदा हो गई तथा जनजातियों के जीवन में अनेक नई समस्याओं ने जन्म ले लिया।

4. ईसाई मिशनरियों द्वारा धर्म परिवर्तन—ब्रिटिश शासन के समय से ही ईसाई मिशनरियों ने आदिवासी क्षेत्रों में प्रवेश कर लिया था तथा उनकी अज्ञानता एवं निर्धनता का लाभ उठाते हुए उत्थान एवं कल्याण के नाम पर उनका धर्म परिवर्तन कर ईसाई बनाया। धर्म परिवर्तन करने वाला यह वर्ग अपने परम्परागत समाज से कट गया, दूर हो गया तथा परम्परागत समाज और नव-ईसाइयों के इस वर्ग में टकराव की स्थितियां जन्म लेने लगीं। उनके जीवन में अब नए तनावों और दबावों ने जन्म ले लिया। यह सांस्कृतिक विघटन की स्थिति है।

जनजातियों की समस्याओं के मूल कारणों के सम्बन्ध में एक प्रमुख तथ्य यह है कि जनजातियां संक्रमण काल से गुजर रही हैं। तीव्र गति से बदलते हुए समय चक्र के प्रभाव से वे अछूती नहीं रही हैं। परिणामतः उनके लिए परम्परागत रूप में जीवन व्यतीत कर पाना संभव नहीं रहा है। दूसरी ओर बदलते हुए समय के अनुरूप वे अपने आपको ढाल नहीं पाई हैं। अपनी अज्ञानता, अशिक्षा, निर्धनता और इन सबके अतिरिक्त अपने सहज स्वभाव या भोलेपन के कारण समाज के दूसरे वर्गों ने उनका शोषण किया और आज भी वे उनका शोषण कर रहे हैं। राजनीतिक, प्रशासनिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक क्षेत्र के उच्च वर्ग में, जिन्हें अभिजन कहा जाता

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, जनजातियों के प्रति कोई सहानुभूति भाव नहीं है। राजनीतिक और प्रशासनिक क्षेत्र का उच्च वर्ग, जिनका कार्य जनजातियों के उत्थान और विकास के लिए कार्य योजना बनाना है, जनजातियों के हालात और दुःख-दर्द से भली-भांति परिचित नहीं हैं। जब तक इस स्थिति में गुणात्मक सुधार नहीं होता, जनजातियों की समस्याओं का उपचार संभव नहीं है। राष्ट्र के इन दलित वर्गों की प्रगति और विकास के बिना राष्ट्रीय प्रगति की बात सोच पाना भी संभव नहीं है।

जनजातीय समस्याएं

जनजातियों की प्रमुख समस्याएं कौन-सी हैं; इसका पता लगाने हेतु संविधान-निर्माताओं, सरकार, शिक्षण संस्थाओं और बुद्धिजीवियों ने प्रयास किए हैं। विभिन्न शिक्षण संस्थाओं ने समय-समय पर गोष्ठियों आदि का आयोजन कर जनजातियों की समस्याओं को ज्ञात करने का प्रयत्न किया है। ऐसी एक प्रमुख गोष्ठी मई 1972 में 'इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडीज शिमला' तथा 'भारतीय सामाजिक अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली' ने मिलकर नई दिल्ली में आयोजित की थी। भारत सरकार ने भी जनजातियों की समस्याओं और उन समस्याओं के कारणों का पता लगाकर उन्हें हल करने हेतु समय-समय पर विशेष प्रयत्न किए हैं तथा व्यापक अध्ययन हेतु विभिन्न आयोगों की स्थापना भी की है। 'जनजाति आयुक्त' प्रतिवर्ष जनजातियों से सम्बन्धित अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है जिसमें जनजातियों की स्थिति, समस्याओं एवं समाधान आदि का उल्लेख होता है।

इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने जनजातियों की समस्याओं का व्यापक अध्ययन किया है। इनमें प्रमुख हैं : **डॉ. घुरिए, बेरियर, एल्विन, एन. के बोस, एस. सी. दुबे और मजूमदार एवं मदान** आदि। इन सभी अध्ययनों पर आधारित जनजातियों की समस्याओं का एक संक्षिप्त अध्ययन इस प्रकार है :

दुर्गम निवास स्थान : एक समस्या

अधिकांश जनजातियां पहाड़ी भागों, जंगलों, दलदल भूमि और ऐसे स्थानों में निवास करती हैं जहां सड़कों का अभाव है और यातायात एवं संचार के आधुनिक साधन अभी वहां उपलब्ध नहीं हो पाये हैं। सड़क, डाकखाना, तारघर, टेलीफोन, समाचार-पत्र, रेडियो, सिनेमा और टेलीविजन आदि की सुविधाएं इन क्षेत्रों में बहुत थोड़े अंशों में ही प्रवेश कर पाई हैं। परिणामतया इनका आधुनिकीकरण नहीं हो पाया है। वे समय से बहुत पीछे हैं और बाहर की दुनिया में होने वाले विकास एवं विकास के प्रभाव और लाभों से वे लगभग अछूते हैं। वैज्ञानिक आविष्कारों के सुखद लाभों से वे अभी तक अधिकांशतया अपरिचित हैं तथा जीवन के प्रति अभी तक उनका परम्परागत एवं विशिष्ट दृष्टिकोण ही बना हुआ है। उनके इस दृष्टिकोण में व्यापकता का अभाव है तथा वे जीवन में आगे बढ़ने की प्रेरणा भी प्राप्त नहीं कर सके हैं। इस स्थिति के कारण जनजातीय क्षेत्र देश के साथ एकता के सूत्र में भी कुछ अंशों में ही बंध पाए हैं।

आर्थिक समस्याएं

निर्धनता प्रमुख आर्थिक समस्या है तथा जनजातीय क्षेत्रों में यह समस्या लम्बे समय से चली आ रही है। आर्थिक समस्याएं जनजातियों के जीवन में पहले से थीं, नई प्रशासनिक व्यवस्था और बदली हुई आर्थिक परिस्थितियों ने जब उनसे आजीविका के परम्परागत साधन छीन लिए, तो ये आर्थिक समस्याएं और भी बढ़ गईं। प्रमुख आर्थिक समस्याएं निम्नलिखित हैं :

1. स्थानान्तरित खेती के चलन और स्थानान्तरित खेती के अन्त से उत्पन्न समस्या—जनजातीय जनसंख्या का एक बड़ा भाग कृषि कार्यों में लगा हुआ है। कृषि कार्यों में लगी हुई जनजातियों में से कुछ जनजातियां परम्परागत रूप से 'स्थानान्तरित खेती' करती रही हैं। वे पहले जंगलों में आग लगा देते हैं तथा फिर उस भूमि पर कृषि कार्य करते हैं। जब कुछ समय बाद वह भूमि खेती योग्य नहीं रहती, तो वे उसे छोड़कर किसी अन्य स्थान पर खेती करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि भूमि कटाव बढ़ जाता है, जंगलों में कीमती लकड़ी नष्ट हो जाती है और उपज भी कम होती है। परिणामतः उन्हें आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

भूमि सीमित होने, भूमि का अभाव होने के कारण लम्बे समय तक स्थानान्तरित खेती को नहीं अपनाया जा सकता था। इसके अतिरिक्त भूमि सम्बन्धी नवीन व्यवस्था के कारण भूमि पर से जनजातियों का अधिकार

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाप्त हो गया। अब उनके लिए परम्परागत रूप से की जा रही स्थानान्तरित खेती कर पाना संभव नहीं रहा। साथ ही वे अधिकतर पहाड़ी क्षेत्रों एवं घने जंगलों में रहते हैं, जहां कृषि योग्य भूमि का अभाव है। कुछ स्थानों पर सरकार द्वारा इन्हें भूमि दी गई, लेकिन इनकी अशिक्षा, अज्ञानता और निर्धनता का लाभ उठाकर साहूकारों ने उनसे इसे हड़प लिया। ऐसी स्थिति में उन्हें बाध्य होकर श्रमिकों के रूप में कार्य करना पड़ रहा है। श्रमिकों के रूप में भी उन्हें अपनी अज्ञानता के कारण अन्य मजदूरों से कम मजदूरी प्राप्त होती है तथा वे शोषण का शिकार होते हैं।

2. जंगलों पर स्वामित्व के अंत से उत्पन्न समस्या—पहले जनजातियों का जंगलों पर स्वामित्व होता था तथा वे जंगलों से प्राप्त लकड़ी और अन्य वस्तुओं के आधार पर अपनी आजीविका चलाते थे, परन्तु अब सरकार की नई नीति के कारण जंगलों को काटना मना कर दिया गया तथा अनेक क्षेत्रों में शिकार करने और शराब बनाने पर भी रोक लगा दी गई। ऐसी स्थिति में जनजातियों के लोगों को कम मजदूरी पर ठेकेदारों, साहूकारों और उद्योगपतियों के यहां काम करने के लिए बाध्य होना पड़ा।

3. ऋणग्रस्तता की समस्या—पहले जनजातियों की अर्थव्यवस्था में वस्तु विनिमय प्रचलित था, परन्तु अब मुद्रा अर्थव्यवस्था लागू हुई। इस नई स्थिति में आदिवासियों की अज्ञानता और उनके भोलेपन का व्यापारियों, मादक वस्तुओं के विक्रेताओं और सूदखोरों ने अनुचित लाभ उठाया। वे ऋणग्रस्त हो गए, उन्होंने अपनी भूमि साहूकारों के हाथों बेच दी या गिरवी रख दी। ऊंची ब्याज दर पर एक बार कर्ज लेने के बाद जनजातीय लोग कर्ज के भार से दबे रहते हैं और ब्याज पर ब्याज चुकाते ही उनकी जिन्दगी कट जाती है।

सांस्कृतिक समस्याएं

भौगोलिक दृष्टि से जनजातियों का निवास स्थान दुर्गम होने के कारण उनका आधुनिक जीवन और संस्कृति से सम्पर्क नहीं हो पाया और वे प्रगति की दौड़ में पिछड़ गए। दूसरी ओर कुछ अन्य जनजाति लोगों का बाहरी संस्कृतियों से कुछ अधिक ही सम्पर्क हो गया। इन दोनों ही स्थितियों ने अपने-अपने तरीके से जनजातियों में अनेक समस्याओं को जन्म दिया। प्रमुख सांस्कृतिक समस्याएं निम्नलिखित हैं :

1. धार्मिक समस्याएं—परम्परागत रूप में जनजातियां 'जनजातीय धर्म' के आधार पर अपना जीवन व्यतीत करती रही हैं। यह जनजातीय धर्म कुछ अंशों में हिन्दू धर्म से जुड़ा हुआ, लेकिन साथ ही कुछ अलग हटकर भी रहा है। कालान्तर में कुछ जनजातीय लोगों ने धर्म परिवर्तन कर ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया। इस धर्म परिवर्तन के कारण जनजातीय एकता को ठेस पहुंची है। उनमें आपस में भेदभाव बढ़े और टकराव की स्थितियां बनी हैं। जनजातियों के जीवन में परम्परागत रूप में धर्म उन्हें परस्पर जोड़ने वाली मजबूत कड़ी तथा आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं को सुलझाने का माध्यम था, वहां अब धर्म उनके जीवन में असंतोष, तनाव और विघटन की स्थितियां पैदा कर रहा है।

2. भाषा सम्बन्धी समस्या—परम्परागत रूप में प्रत्येक जनजाति की सामान्यतया एक ही भाषा होती थी, लेकिन बाहरी संस्कृतियों के प्रभाव से कई जनजातियों में 'द्विभाषावाद या दो भाषावाद' (Bilingualism) की स्थिति उत्पन्न हो गई। इनमें से भी जिन लोगों पर बाहरी संस्कृति का प्रभाव अधिक पड़ा वे अपनी स्वयं की भाषा भूल गए हैं। इससे एक ही जाति के लोगों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान में बाधा पड़ती है तथा सामुदायिक भावना कम होने लगती है। यह स्थिति सामाजिक विघटन का कारण बनी है।

3. अनुकूलन की समस्या—वर्तमान में नए उद्योग-धंधों, खानों और चाय बागानों का कार्य उन स्थानों पर होने लगा है जहां जनजाति लोग निवास करते थे। इसके फलस्वरूप जनजातियों के लोग नवीन औद्योगिक एवं नगरीय संस्कृति के सम्पर्क में आये। इस नवीनता से अनुकूल होने तथा उसे अपने अनुकूल बनाने में वे असमर्थ रहे, परिणामतया नई सांस्कृतिक समस्याओं ने जन्म ले लिया।

4. जनजातीय ललित कलाओं का पतन—ईसाई मिशनरियों के प्रभाव के कारण अनेक आदिवासियों ने अपनी संस्कृति का त्याग कर पाश्चात्य संस्कृति को अपनाया। वे अंग्रेजी पोशाक, आधुनिक मादक वस्तुएं, प्रसाधन के नवीन साधन; जैसे पाउडर, लिपस्टिक, सेण्ट आदि का प्रयोग करने लगे एवं अपने रीति-रिवाजों, प्रथाओं तथा युवा गृहों को त्यागने लगे। इस स्थिति से उनकी प्राचीन ललित कलाओं का पतन होने लगा। उनके गायन, संगीत, लकड़ी पर नक्काशी के काम तथा इन सबके ऊपर मनोरंजन तथा सामुदायिक जीवन के श्रेष्ठ परम्परागत केन्द्र 'युवा गृहों' का लोप होता जा रहा है।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक समस्याएं

नगरीय और पाश्चात्य समाज के साथ सम्पर्क के कारण आदिवासियों में कई सामाजिक समस्याओं ने जन्म ले लिया है। प्रमुख सामाजिक समस्याएं निम्नलिखित हैं :

1. बाल-विवाह की समस्या—जनजातीय लोगों में विवाह साधारणतः युवा अवस्था में होते थे, अब उनमें बाल-विवाह होने लगे हैं जो उच्च समझे जाने वाले हिन्दुओं के सम्पर्क का परिणाम है।

2. कन्या मूल्य की समस्या—तथाकथित सभ्य समाज में कन्या पक्ष वर पक्ष को दहेज देता है, जनजातीय समाज में वर पक्ष कन्या पक्ष को 'कन्या मूल्य' देता है। आज से कुछ दशक पूर्व तक जनजातीय लोगों में कन्या मूल्य वस्तुओं के रूप में चुकाया जाता था, लेकिन अब मुद्रा अर्थव्यवस्था के कारण कन्या मूल्य की मांग नकद के रूप में बढ़ती जा रही है। परिणामस्वरूप जो लोग बढ़ते हुए कन्या मूल्य को नकद के रूप में नहीं चुका पाते, उनके लिए विवाह करना एक कठिन समस्या हो गया है। यही कारण है कुछ जनजातियों में 'कन्या हरण की समस्या' ने जन्म ले लिया है। कन्या मूल्य की समस्या ने अनेक अनैतिक स्थितियों को जन्म देने का कार्य किया है।

3. शिक्षा व मनोरंजन के केन्द्र युवा गृहों का पतन—युवा गृह जनजातियों में मनोरंजन, सामाजिक प्रशिक्षण, आर्थिक हितों की पूर्ति तथा शिक्षा के प्रमुख साधन रहे हैं। यहां बालक-बालिकाओं तथा अविवाहित युवक-युवतियों को सामुदायिक जीवन और कर्तव्य पालन का पाठ सिखाया जाता रहा है। सभ्य समाज के लोगों ने इन युवा गृहों को हीनता की दृष्टि से देखा, परिणामस्वरूप जनजातीय लोग भी इन संस्थाओं के प्रति घृणा का भाव रखने लगे। अब यह संस्थाएं समाप्त हो रही हैं जिसके परिणामस्वरूप जनजातियों पर कई हानिकारक प्रभाव पड़ रहे हैं।

4. अनैतिक आचरण की स्थितियां, वेश्यावृत्ति एवं यौन रोगों का पनपना—जनजातीय लोगों की निर्धनता का लाभ उठाकर ठेकेदार, साहूकार, व्यापारी एवं कुछ अजनजातीय लोग उनकी स्त्रियों के साथ अनुचित यौन सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं जिससे वेश्यावृत्ति, पूर्व वैवाहिक तथा अतिरिक्त वैवाहिक सम्बन्धों की समस्या इनमें पनपी है। आदिवासी क्षेत्रों के सामंतीकरण का नतीजा यह है कि आदिवासियों के हाथों से जमीन और जोरू, दोनों ही छिनते जा रहे हैं। आदिवासियों का मुद्राओं और व्यक्तिगत सम्पत्ति के प्रति निरन्तर बढ़ता हुआ मोह भाव भी आदिवासी जीवन में विविध अनैतिक स्थितियों को जन्म दे रहा है। जो जनजातीय लोग औद्योगिक केन्द्रों पर श्रमिकों के रूप में अपने परिवारों को गांवों में छोड़कर गए हैं, उनमें भी वेश्यावृत्ति एवं यौन रोग पनपे हैं। जब वे गांवों में जाते हैं, तब यौन रोग अपनी स्त्रियों में फैला देते हैं।

स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याएं—निर्धनता और अज्ञानता की दोहरी मार, अन्धविश्वासों और अजनजातियों के सम्पर्क ने जनजातियों में अनेक स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं को भी जन्म दिया है। जनजातीय लोगों को पौष्टिक भोजन, स्वच्छ जल और आवश्यक पेय पदार्थ उपलब्ध नहीं हो पाते परिणामतया इनका स्वास्थ्य दिनों दिन गिरता जा रहा है। निर्धनता के कारण सामान्यतया उनके पास वस्त्रों का एक ही जोड़ा होता है। उस वस्त्र के मैला हो जाने पर भी वे उसे ही पहने रहते हैं। परिणामतः उनमें कई चर्म रोग एवं अन्य रोग फैल जाते हैं।

अधिकांश जनजातियां घने जंगलों, पहाड़ी भागों और तराई क्षेत्रों में निवास करती हैं। इन क्षेत्रों की अस्वास्थ्यजनक स्थितियों के कारण ये व्यक्ति अनेक बीमारियों के शिकार हो जाते हैं। जनजातीय लोगों में चर्म रोग, मलेरिया, पीलिया, चेचक, रोहे, अपच एवं गुप्तांगों की बीमारियां अधिक पाई जाती हैं। बीमारियों के इलाज के लिए चिकित्सालयों, कुशल डॉक्टरों तथा आवश्यक औषधियों का अभाव है। अधिकांश आदिवासी स्वास्थ्य के नियमों से अपरिचित तथा उनके प्रति घोर लापरवाह हैं। अन्धविश्वास भी स्वस्थ जीवन के मार्ग की एक बड़ी बाधा है। अनेक बार वे दवाई के बजाय झाड़-फूंक एवं जादू-टोने का सहारा लेते हैं। कभी नीम हकीम इन्हें स्वस्थ करने के नाम पर रोग को अधिक गम्भीर बना देते हैं।

शिक्षा सम्बन्धी समस्याएं—जनजातियों में शिक्षा का अभाव है तथा आज भी वे अज्ञानता के अन्धकार में जी रहे हैं। अशिक्षा के कारण वे अनेक अन्धविश्वासों, कुरीतियों एवं कुसंस्कारों से घिरी हुई हैं। जनजातियों के अधिकांश लोग आधुनिक शिक्षा से बहुत दूर हैं, इस स्थिति का एक कारण निर्धनता है, इसके अलावा आधुनिक

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षा की सुविधाएं सामान्यतया अब तक भी उनके क्षेत्रों में नहीं पहुंच पाई हैं, आधुनिक शिक्षा उनके जीवन की परिस्थितियों से जुड़ी हुई नहीं है तथा यह शिक्षा अनुत्पादक है।

जनजातियों के जो लोग आधुनिक शिक्षा ग्रहण कर लेते हैं; **प्रथम**, वे अपनी जनजातीय संस्कृति से दूर हो जाते हैं तथा अपनी मूल संस्कृति को घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं। इससे उनके शिक्षित होने का जनजातियों को सामूहिक रूप से न तो कोई लाभ पहुंचता है तथा न ही कोई प्रेरणा मिलती है। **द्वितीय**, आज की शिक्षा जीवन-निर्वाह का निश्चित साधन प्रदान नहीं करती। अतः शिक्षित व्यक्तियों को बेरोजगारी का सामना करना पड़ता है। अधिकांश आदिवासी प्राथमिक शिक्षा ही ग्रहण कर पाते हैं। उच्च प्राविधिक एवं विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने के साधन उन्हें सुलभ नहीं हैं।

राजनीतिक चेतना की समस्या—जनजातियों की परम्परागत राजनीतिक व्यवस्था अपने ही ढंग की थी, जिसमें अधिकांशतया वंशानुगत मुखिया ही प्रशासन सम्बन्धी कार्य करते थे। आज भी जनजातियों के सामाजिक जीवन में यह स्थिति बनी हुई है, लेकिन शासन के स्तर पर आज पूरे देश में और केन्द्रीय स्तर, राज्य स्तर तथा स्थानीय स्तर पर प्रजातांत्रिक व्यवस्था है। अब नागरिकों को सभी स्तर पर प्रजातांत्रिक अधिकार प्रदान कर उन्हें शासन में हिस्सेदार बना दिया गया है। प्रजातांत्रिक व्यवस्था के कारण उनमें राजनीतिक चेतना का उदय हुआ है, लेकिन जब प्रजातांत्रिक व्यवस्था के बावजूद उनकी स्थिति में कोई सुधार नहीं होता, तब उनमें विद्यमान स्थिति और सम्पूर्ण व्यवस्था के प्रति असंतोष और आक्रोश ने जन्म ले लिया है। वे अपने राजनीतिक अधिकारों का प्रयोग अपनी समस्याओं के समाधान के संदर्भ में करने लगे हैं। मध्य प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, असोम, बिहार, पश्चिम बंगाल एवं महाराष्ट्र में इनकी राजनीतिक जागरूकता ने कई बार व्यवस्था के प्रति उग्र विरोध का रूप ले लिया है। प्रशासकों, भूस्वामियों तथा अजनजातीय लोगों से उनके सम्बन्ध तनावपूर्ण हुए हैं। कई स्थानों पर राजनीतिक तनाव एवं विद्रोह पनपा है। कई क्षेत्रों में जनजातियों ने स्वायत्त राज्य की मांग की है तथा उत्तर पूर्व के कुछ क्षेत्रों में जनजातियां कई बार इससे भी बहुत आगे निकल जाती हैं। राजनीतिक चेतना के कारण जनजातियों की गैर-जनजातियों से तनाव एवं संघर्ष की स्थितियां पनपी हैं। समाज के उच्च लोगों और ऊंची जातियों के लोगों द्वारा जनजातियों की लगातार उपेक्षा एवं जनजातियों में जागृति का एक परिणाम यह हुआ है कि जनजातियों में 'जनजातिवाद' (Tribalism) पनपा है और वे आज 'जनजाति जनजातियों के लिये' और 'जनजाति क्षेत्र में कोई अन्य जाति प्रवेश न करे' आदि बातें करने लगे हैं।

जनजातियों के सम्पूर्ण समाज के साथ एकीकरण की समस्या—जनजातियां समाज के अन्य वर्गों की तुलना में बहुत पिछड़ी हुई हैं। इस स्थिति ने समाज के अन्य वर्गों से उनमें पृथकता के भाव को जन्म दिया है। कहीं पर यह पृथकता का भाव प्रबल हो उठा है तथा कभी-कभी उनमें विद्रोह का भाव जन्म ले लेता है। उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त के कुछ क्षेत्रों में विशेष रूप से यह स्थिति है। हमारे पड़ोसी देश चीन, म्यांमार, बांग्लादेश और पाकिस्तान, इस स्थिति का लाभ उठाकर देश में अलगाववाद और आतंकवाद को बढ़ावा देते हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक और भावात्मक समस्या है। आवश्यकता इस बात की है कि जनजातियां अपने को अन्य जातियों से पृथक् न समझकर स्वयं को देश की मुख्य जीवनधारा से जोड़ें।

जनजातियों की समस्याओं का समाधान

जनजातियों की समस्याओं को हल करने के लिए बुद्धिजीवियों द्वारा समय-समय पर सुझाव दिए गए हैं, स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा कुछ कार्य किए गए हैं तथा भारत सरकार और राज्य सरकारों द्वारा समय-समय पर विविध प्रयत्न किए गए हैं। इन सुझावों और प्रयत्नों का संक्षिप्त उल्लेख इस प्रकार है :

बुद्धिजीवियों के सुझाव—जनजातियों की समस्याओं को हल करने के लिए डॉ. घुरिये, वेरियर, एल्विन, डॉ. मजूमदार, शरत चन्द्र रॉय, हट्टन और डॉ. एस. सी. दुबे आदि विद्वानों ने जनजातियों की सम्पूर्ण स्थिति पर विचार कर कुछ सुझाव दिए हैं। इन सुझावों की दो प्रमुख धाराएं हैं। विद्वानों के एक वर्ग (हट्टन, एस. सी. रॉय, वेरियर तथा एल्विन) की सोच यह है कि जनजातियों की अनेक समस्याओं का कारण है, समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ उनका सम्पर्क। यह सम्पर्क ही उनके शोषण का मूल कारण है। अतः उनका मत है कि जनजातियों की सामाजिक-सांस्कृतिक धरोहर की निरन्तरता को बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि उनका पृथक् अस्तित्व बनाए रखा जाए। समाजशास्त्री हट्टन का मत है कि जनजाति समस्याओं के समाधान

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हेतु स्वयं-शासित जनजातीय क्षेत्रों का निर्माण किया जाए और स्वयं जनजातियां ही यह तय करें कि उन्हें कौन से नवीन परिवर्तन अपनाने हैं।

दूसरी ओर डॉ. घुरिये, अक्षय देसाई और निर्मल कुमार बोस आदि का मत है कि यद्यपि बाहरी सम्पर्क की स्थिति में अन्य वर्गों ने जनजातियों का शोषण किया है, लेकिन इस बाहरी सम्पर्क से जनजातियों को कई लाभ भी हुए हैं। इस प्रसंग में एक तथ्य यह है कि समय की धारा को पीछे नहीं मोड़ा जा सकता। आज जबकि यातायात और संचार के तीव्रगामी साधन विकसित हो गए हैं और औद्योगिक क्रान्ति ने नए हालात खड़े कर दिए हैं, तब जनजातियों को समाज के अन्य वर्गों के प्रभाव से अलग रख पाना सम्भव नहीं है। अतः समस्या का हल जनजातियों को इस योग्य बनाना है कि जनजातियां ज्ञान के क्षेत्र में आगे बढ़कर अपने आपको बदलते हुए हालात के साथ ढालें। जनजातियों को परिवर्तन की दिशा में उन्मुख करना होगा, उन्हें इस दिशा में उन्मुख होना होगा लेकिन परिवर्तनों में उतावलापन नहीं होना चाहिए। इसके साथ ही पर्याप्त सीमा तक स्वयं जनजातियां ही तय करें कि उन्हें कौन से नए परिवर्तन अपनाने हैं। सम्पूर्ण समाज के हित और स्वयं जनजातियों के कल्याण हेतु आवश्यक है कि जनजातियों का राष्ट्रीय जीवन की मुख्य धारा में आत्मसात् हो।

स्वयंसेवी संस्थाओं के प्रयत्न—जनजातियों के उत्थान की दिशा में कार्य करने वाली कुछ प्रमुख संस्थाएं हैं : भारतीय आदिम जाति सेवक संघ, नई दिल्ली; आन्ध्र प्रदेश आदिम जाति सेवक संघ, हैदराबाद; रामकृष्ण मिशन, केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड, ठक्कर बापा आश्रम और रेडक्रास आदि। इस दिशा में कार्य करने वाले प्रमुख व्यक्तियों के रूप में ज्योतिबा फुले और ठक्कर बापा प्रमुख हैं। आर्य समाज, विश्व हिन्दू परिषद् और ईसाई मिशनरियों ने भी उनके उत्थान के लिए कार्य किए और किए जा रहे हैं। इन धार्मिक संस्थाओं के प्रयत्नों का निषेधात्मक पक्ष यह है कि इन संस्थाओं ने जनजातीय समाज पर अपना आचार-विचार, व्यवहार, संस्कृति और धर्म लादने की चेष्टा भी की है और इन चेष्टाओं के कारण जनजातीय समाज में कई बार नई समस्याओं ने जन्म ले लिया है। इन धार्मिक संस्थाओं के प्रयासों के बारे में गम्भीर विवेचना के बाद डॉ. दुबे का सुविचारित मत है कि "वैज्ञानिक दृष्टि से यह कह सकना कठिन है कि धार्मिक प्रयासों ने आदिवासियों का हित अधिक किया या अहित। यदि आदिवासियों का धर्म परिवर्तन अपने पड़ोसी समुदाय से उन्हें दूर किए बिना ही उनकी सामाजिक एकता में सहायक होता है और उन्हें आधुनिक जीवन में भाग लेने के लिए तैयार करता है तो उसका विरोध नहीं किया जा सकता किन्तु यदि धर्म परिवर्तन उनमें सांस्कृतिक विघटन उत्पन्न कर उन्हें भारतीय जीवन की मुख्य धारा से विमुख करता है, तो उसकी उपयोगिता संदिग्ध होगी।"[1]

जनजातियों के कल्याण हेतु संवैधानिक प्रावधान और प्रशासन के स्तर पर प्रयत्न

संवैधानिक प्रावधान

भारतीय संविधान स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृत्व और न्याय के सिद्धान्तों पर आधारित है, अतः संविधान के नीति निदेशक तत्वों में कहा गया है कि "राज्य कमजोर वर्ग के लोगों, विशेषकर अनुसूचित जातियों व जनजातियों के शैक्षणिक तथा आर्थिक हितों को बढ़ावा देगा तथा उन्हें सामाजिक अन्याय एवं शोषण से सुरक्षा प्रदान करेगा।"

संविधान में जनजातियों के लिए दो प्रकार की व्यवस्था की गई है—संरक्षी एवं विकासी प्रावधान (Protective and Promotive Provisions)। संरक्षी प्रावधानों का उद्देश्य जनजाति-हितों की सुरक्षा करना है और विकासी प्रावधानों का उद्देश्य उन्हें प्रगति के अवसर प्रदान करना है। इन दोनों प्रकार के प्रावधानों का उल्लेख करने वाले संविधान के अंश इस प्रकार से हैं :

(1) संविधान के बारहवें भाग के 275 अनुच्छेद के अनुसार, केन्द्रीय सरकार राज्यों को जनजातीय कल्याण एवं उनके उचित प्रशासन के लिए विशेष धनराशि देगी।

(2) पन्द्रहवें भाग के 325 अनुच्छेद में कहा गया है कि किसी को भी धर्म, प्रजाति, जाति एवं लिंग के आधार पर मताधिकार से वंचित नहीं किया जाएगा।

1 डॉ. एस. सी. दुबे, मानव तथा संस्कृति, पृष्ठ 296.

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(3) सोलहवें भाग के 330 व 332वें अनुच्छेद में लोकसभा एवं राज्य विधानसभाओं में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए स्थान आरक्षित किए गए हैं। फरवरी 2008 में लागू की गई 'परिसीमन आयोग रिपोर्ट' की सिफारिशों को लागू करते हुए इन आरक्षित स्थानों में वृद्धि की गई है। अब लोकसभा में जनजातियों के लिए आरक्षित स्थानों की संख्या 38 से बढ़कर 42 और राज्य विधानसभाओं में 527 से बढ़कर 545 हो गई है।[1]

(4) 335वां अनुच्छेद आश्वासन देता है कि सरकार नौकरियों में इनके लिए स्थान सुरक्षित रखेगी।

(5) 338वें अनुच्छेद में राष्ट्रपति द्वारा जनजातियों के लिए अलग आयोग की नियुक्ति की व्यवस्था की गई है। यह आयोग प्रतिवर्ष अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करेगा।

(6) पांचवीं अनुसूची में जनजातीय सलाहकार परिषद् की नियुक्ति की व्यवस्था है जिसमें अधिकतम बीस सदस्य हो सकते हैं, जिनमें से तीन-चौथाई सदस्य राज्य विधानसभाओं के अनुसूचित जनजातियों के होंगे।

(7) अनुच्छेद 324 एवं 244 में राज्यपालों को जनजातियों के सन्दर्भ में विशेषाधिकार प्रदान किए गए हैं।

(8) संविधान में कुछ अनुच्छेद ऐसे भी हैं जो झारखण्ड, छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश, असोम, बिहार, उड़ीसा आदि के जनजाति-क्षेत्रों के लिए विशेष सुविधा देने से सम्बन्धित हैं। इन लोगों के लिए नौकरियों में प्रार्थना-पत्र देने एवं आयु सीमा में छूट दी गई है। शिक्षण संस्थाओं में भी इन्हें शुल्क से मुक्त किया गया है एवं कुछ स्थान इनके लिए सुरक्षित रखे गए हैं।

(9) संविधान की पांचवीं अनुसूची में असोम, मेघालय, त्रिपुरा व मिजोरम को छोड़कर अन्य राज्यों में अनुसूचित क्षेत्रों व अनुसूचित जनजातियों के प्रशासन व नियन्त्रण के लिए विशेष व्यवस्था की गई है।

इसी प्रकार छठवीं अनुसूची में असोम, मेघालय, मिजोरम तथा त्रिपुरा राज्यों में जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन के लिए जनजातियों के हित में विशेष व्यवस्था की गई है।

संविधान में रखे गए विभिन्न प्रावधानों का उद्देश्य जनजातियों को देश के अन्य नागरिकों के समकक्ष लाना है। उन्हें देश की मुख्य जीवनधारा के साथ जोड़ना तथा एकीकरण करना है जिससे कि वे देश की आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था के भागीदार बन सकें।

प्रशासनिक व्यवस्था

आन्ध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा और राजस्थान के कुछ क्षेत्र अनुच्छेद 244 और संविधान की पांचवीं अनुसूची के अन्तर्गत 'अनुसूचित क्षेत्र' (Scheduled Areas) घोषित किए गए हैं। इन राज्यों के राज्यपाल अनुसूचित क्षेत्रों की रिपोर्ट प्रतिवर्ष राष्ट्रपति को देते हैं। असोम, मेघालय और मिजोरम का प्रशासन संविधान की छठी अनुसूची के उपबन्धों के आधार पर किया जाता है। इस अनुसूची के अनुसार उन्हें 'स्वायत्तशासी' (Autonomous) जिलों में बांटा गया है। इस प्रकार के 8 जिले हैं—असोम के उत्तरी कछार पहाड़ी जिले तथा मिकिर पहाड़ी जिले, मेघालय के संयुक्त खासी जयन्तिया, जोवाई और गारो पहाड़ी जिले तथा मिजोरम के चकमा, लाखेर और पावी जिले। प्रत्येक स्वायत्तशासी जिले में एक 'जिला परिषद्' होती है जिसमें अधिकतम 30 सदस्य होते हैं। इनमें चार मनोनीत हो सकते हैं और शेष का चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर किया जाता है। इस परिषद् को कुछ प्रशासनिक, विधायी और न्यायिक अधिकार प्रदान किए गए हैं।

जनजातियों के कल्याण हेतु दो राज्यों की स्थापना—वर्ष 2000 ई. में मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और बिहार राज्यों का विभाजन कर क्रमशः छत्तीसगढ़, उत्तराखण्ड और झारखण्ड की स्थापना की गई है। इनमें से छत्तीसगढ़ और झारखण्ड राज्य की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य इन क्षेत्रों में रहने वाली जनजातियों का विकास ही रहा है।

पृथक् जनजाति राष्ट्रीय आयोग की स्थापना—अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के विकास हेतु 65वें संवैधानिक संशोधन (1990) के द्वारा 'अनुसूचित जाति एवं जनजाति राष्ट्रीय आयोग' की स्थापना की गई थी, लेकिन कुछ ही वर्ष बाद यह अनुभव किया गया कि भौगोलिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से जनजातियां अनुसूचित जातियों से भिन्न हैं तथा उनकी समस्याएं भी भिन्न हैं। अतः 85वें संवैधानिक संशोधन (2003)

1 *The Times of India* (New Delhi) Nov. 30, 2009, p. 6.

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ई. के आधार पर वर्ष 1990 में में स्थापित आयोग के स्थान पर पृथक् 'जनजाति राष्ट्रीय आयोग' स्थापित किया गया है। इस प्रकार के आयोग की स्थापना सही दिशा में एक कदम है।

राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति विकास निगम—सरकार ने अप्रैल 2001 में राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति विकास निगम का गठन किया। इसे राष्ट्रीय अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति वित्त विकास निगम से अलग करके एक सरकारी प्रतिष्ठान की तरह बनाया गया है।

जनजातीय उपयोजना (Tribal Sub-plan-TSP)

केन्द्र सरकार ने पांचवीं पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत 1974-75 में 'जनजातीय उपयोजना' का आरम्भ किया था। इस उपयोजना के माध्यम से जनजातियों के विकास हेतु कानूनी प्रशासनिक तथा वित्तीय संसाधनों की सहायता दी जाती है। यह जनजातीय बहुलता वाले 21 राज्यों में लागू है। 2009 के अन्त तक इस योजना में 195 प्रोजेक्ट चलाए जा रहे हैं। इस योजना हेतु केन्द्र सरकार से विशेष वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है। दसवीं योजना में विशेष केन्द्रीय सहायता की राशि 2,960 करोड़ रुपए थी। 11वीं योजना के अन्तर्गत वर्ष 2007-08 के लिए 631 करोड़ रुपए की विशेष सहायता दी गई है।

कल्याणकारी एवं सलाहकार संस्थाएं

केन्द्र सरकार के गृह मन्त्रालय का यह दायित्व है कि वह अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के कल्याण के लिए योजनाएं बनाए और उन्हें क्रियान्वित करे।

संसदीय समितियां—अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों को संविधान में प्रदत्त सुरक्षा एवं उनके कल्याण की जांच के लिए संसदीय समितियां नियुक्त की जा सकती हैं। वर्तमान में इस उद्देश्य से संसद की एक स्थाई समिति बनाई गई है। इस समिति के 30 सदस्य होते हैं, जिनमें 20 लोकसभा और 10 राज्यसभा से लिए जाते हैं। सदस्यों का कार्यकाल एक वर्ष रखा गया है।

राज्यों में कल्याण विभाग—राज्य सरकारों और केन्द्र शासित क्षेत्रों में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों की देखरेख एवं कल्याण के लिए पृथक् विभागों की स्थापना की गई है। संविधान के अनुच्छेद 164 के अन्तर्गत बिहार, मध्य प्रदेश और उड़ीसा में अनुसूचित जनजातियों के कल्याण हेतु अलग मन्त्री नियुक्त किए जाते हैं। कुछ राज्यों में केन्द्रीय स्तर पर गठित संसदीय समितियों के समान 'विधानमण्डलीय समितियां' बनाई गई हैं।

विधायी संस्थाओं (लोकसभा तथा राज्य विधानसभाओं) में प्रतिनिधित्व

संविधान के अनुच्छेद 330 और 332 के द्वारा लोकसभा तथा राज्यों के विधानमण्डलों में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए उनकी जनसंख्या के अनुपात में स्थान आरक्षित किए गए हैं। प्रारम्भ में यह व्यवस्था 10 वर्षों के लिए थी, संवैधानिक संशोधन के आधार पर इस अवधि में निरन्तर वृद्धि की गई तथा अब 79वें संवैधानिक संशोधन (1999) के आधार पर यह अवधि 25 जनवरी, 2010 तक कर दी गई थी। पुनः 2009 में पारित 109वें संविधान संशोधन द्वारा यह अवधि 25 जनवरी, 2020 तक बढ़ा दी गई है। संसदीय अधिनियम के द्वारा उन केन्द्र शासित क्षेत्रों में जहां विधानसभाएं हैं, इस प्रकार का आरक्षण किया गया है। संविधान के 73वें और 74वें संशोधन के आधार पर व्यवस्था की गई है कि पंचायत राज संस्थाओं और नगरीय क्षेत्र में गठित नगर पालिकाओं में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए उनकी जनसंख्या के अनुपात में स्थान आरक्षित किए गए हैं। 14वीं लोकसभा में जनजातियों के लिए आरक्षित स्थानों की संख्या 41 थी, परिसीमन आयोग की सिफारिशों के आधार पर जनजातियों के लिए आरक्षित स्थानों की संख्या 47 हो गई है। अतः पन्द्रहवीं लोकसभा में जनजातियों के लिए आरक्षित स्थानों की संख्या 47 हो गई है।

राजकीय सेवाओं में आरक्षण

अखिल भारतीय आधार पर खुली प्रतियोगिता द्वारा की जाने वाली नियुक्तियों या अन्य प्रकार से की जाने वाली नियुक्तियों में अनुसूचित जनजातियों के लिए 7.5 प्रतिशत स्थान आरक्षित किए गए हैं। ग्रुप 'सी' और 'डी' के पदों के लिए जिनमें स्थानीय और प्रान्तीय आधार पर नियुक्तियां की जाती हैं, प्रत्येक राज्य और संघीय क्षेत्र अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या के अनुपात में ही स्थान आरक्षित रखता है। ग्रुप 'बी', 'सी' और 'डी' में होने वाली विभागीय परीक्षाओं के आधार पर की जाने वाली नियुक्तियों और ग्रुप 'ए', 'बी',

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'सी' और 'डी' में पदोन्नति में भी अनुसूचित जनजातियों के लिए 7.5 प्रतिशत स्थान आरक्षित किए गए हैं यदि उनमें 66.6 प्रतिशत अर्थात् दो-तिहाई से अधिक सीधी भर्ती न की जाती हो। जनजातियों के लोगों को राजकीय सेवाओं में प्रतिनिधित्व देने के लिए कई प्रकार की छूट दी गई है; जैसे आयु सीमा में छूट, उपयुक्तता के मानदण्ड में छूट, अनुभव सम्बन्धी योग्यता में छूट तथा ग्रुप 'ए' के प्रसंग में अनुसंधान, वैज्ञानिक तथा तकनीकी सम्बन्धी स्तरों में छूट।

राज्य सरकारों ने भी अनुसूचित जनजातियों को राजकीय सेवाओं में भर्ती करने और उन्हें पदोन्नतियां देने के सम्बन्ध में कई प्रावधान किए हैं। केन्द्र सरकार के विभिन्न मन्त्रालयों से सम्पर्क करने के लिए कुछ अधिकारियों की नियुक्तियां की गई हैं, जो यह देखेंगे कि इनके लिए स्थान आरक्षित रखने के प्रावधानों का पालन हुआ है अथवा नहीं।

जनजातीय समस्याओं के समाधान हेतु सुझाव

प्रारम्भिक पृष्ठों में जनजातियों की समस्याओं का उल्लेख किया गया है तथा साथ ही उन प्रयत्नों की भी चर्चा की गई है, जो इन समस्याओं को हल करने की दिशा में किए गए हैं। इन प्रयत्नों के वावजूद समस्याओं के समाधान की दिशा में उल्लेखनीय प्रगति नहीं हो पाई है। आज भी समस्याएं अपने प्रवल रूप में वनी हुई हैं। समस्याओं के समाधान की दिशा में कुछ प्रमुख सुझाव निम्न प्रकार हैं :

1. **आर्थिक समस्याओं के प्रसंग में सुझाव**—समस्याओं का एक मूल कारण है—जनजातियों की घोर निर्धनता और उनकी आर्थिक मजवूरियां। जनजातियों के वहुत बड़े भाग का परम्परागत व्यवसाय खेती है। अतः उन्हें वदली हुई परिस्थितियों के अनुरूप इस परम्परागत व्यवसाय में भली-भांति लगाना होगा। इसके लिए आवश्यक है कि जनजाति परिवारों को कृषि के लिए पर्याप्त भूमि दी जाए तथा इसके साथ स्थानान्तरित कृषि पर रोक लगाई जाए। उन्हें कृषि के आधुनिक तरीकों से परिचित कराया जाए तथा उन्हें बैल, बीज एवं नवीन यन्त्र प्राप्त करने और कुएं आदि खोदने एवं सिंचाई के साधनों की व्यवस्था करने के लिए कम व्याज पर ऋण की सुविधा दी जाए।

कृषि के साथ-साथ घरेलू उद्योग-धन्धों का विकास किया जाना आवश्यक है, इसके लिए आवश्यक है कि उन्हें कुछ विशेष कुटीर उद्योगों का प्रशिक्षण दिया जाए तथा सहकारी समितियों की स्थापना की जाए। औद्योगिक श्रमिकों के लिए उचित मजदूरी, अच्छे मकान और विजली की व्यवस्था की जाए। ठेकेदारों, साहूकारों तथा अन्य सभी व्यक्तियों से उनका आर्थिक शोषण रोका जाना चाहिए। उनके लिए उचित शिक्षा एवं प्रशिक्षण का प्रवन्ध किया जाए, जिससे वे नौकरियों में स्थान पा सकें।

2. **शैक्षणिक समस्याओं के प्रसंग में सुझाव**—अशिक्षा और अज्ञानता जनजातियों की पिछड़ी हुई स्थिति और उनके शोषण का दूसरा प्रमुख कारण है। अतः जनजातियों को सामान्य शिक्षा और प्रशिक्षण की दिशा में आगे वढ़ाने के लिए सभी सम्भव प्रयत्न किए जाने चाहिए। जनजातियों में प्राथमिक शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों का प्रतिशत भी वहुत कम है। जनजातियों से जुड़े सभी व्यक्तियों विशेष रूप से 14 वर्ष की उम्र तक के सभी वच्चों को अनिवार्य शिक्षा प्राप्त हो जाए, इसके लिए सभी सम्भव प्रयत्न किए जाने चाहिए। शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषा हो। जनजाति क्षेत्रों में उच्च शिक्षा के लिए तकनीकी और प्राविधिक शिक्षा के लिए भी शिक्षण संस्थाएं स्थापित की जानी चाहिए। स्कूलों में उन्हें व्यावसायिक प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए, जिससे शिक्षा ग्रहण करने के वाद उन्हें वेकारी का सामना नहीं करना पड़े। इसके साथ ही कृषि, पशु-पालन, मुर्गी-पालन, मत्स्य-पालन, मधुमक्खी-पालन एवं अन्य प्रकार की हस्तकलाओं का उन्हें प्रशिक्षण दिया जाए।

जव जनजातियों का अज्ञान दूर होगा तभी वे अपने जीवन में सुधार की वात सोच पाएंगे, जीवन में सुधार के लिए आवश्यक परिवार नियोजन को अपना पाएंगे और विकास की दिशा में आगे वढ़ पाएंगे। शिक्षा ही उनके जीवन में अन्धविश्वासों, कुरीतियों और कुव्यसनों को दूर कर पाएगी। शिक्षा से उनके जीवन की सभी समस्याओं को हल करने में मदद मिलेगी।

3. **सामाजिक समस्याओं के प्रसंग में सुझाव**—सामाजिक समस्याओं के हल के लिए वाल-विवाह एवं कन्या मूल्य पर कानूनी रोक के साथ-साथ इनके विरुद्ध जनमत तैयार किया जाए। युवा गृहों का पुनरुत्थान किया जाए और उनमें शिक्षा देने का प्रवन्ध किया जाए। जनजातियों की आर्थिक स्थिति सुधारी जाए, जिससे उनमें

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेश्यावृत्ति दूर हो सके। जनजातियां अपने सामाजिक जीवन में आधुनिकता को अपनावें, वे आधुनिक जीवन की दिशा में आगे बढ़ें, लेकिन इस सम्बन्ध में न तो अंधानुकरण किया जाना चाहिए और न ही उतावलेपन से कोई कार्य किया जाना चाहिए। वस्तुतः शिक्षा प्राप्त करने के बाद ही आधुनिकता को उचित रूप में अपनाया जा सकेगा।

4. स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं के प्रसंग में सुझाव—स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं को हल करने के लिए जनजाति क्षेत्रों में चिकित्सालय, डॉक्टर एवं आधुनिक दवाइयों का प्रबन्ध किया जाए। उनके लिए पौष्टिक आहार तथा विटामिन की गोलियों की व्यवस्था की जाए ताकि उनमें कुपोषण से होने वाली बीमारियों को दूर किया जा सके। चेचक, हैजा आदि के टीकों का प्रबन्ध किया जाए। उन्हें स्वास्थ्य के नियमों से परिचित कराया जाए तथा इसके लिए अलग-अलग स्थानों पर स्वास्थ्य शिविर लगाए जाएं। इन शिविरों में उन्हें यह भी समझाना होगा कि झाड़-फूंक, जादू-टोना व टोटके तथा नीम-हकीम उनके स्वास्थ्य को सुधारने के बजाय, उसे बिगाड़ने का कार्य कर सकते हैं। चलते-फिरते अस्पतालों की व्यवस्था की जाए। स्कूलों, पंचायतघरों एवं युवा गृहों में दवाओं की व्यवस्था की जाए।

5. सांस्कृतिक समस्याओं के हल हेतु सुझाव—सांस्कृतिक समस्याओं के हल के लिए डॉ. एल्विन का मत है कि ऐसे विश्वविद्यालय की स्थापना की जाए, जिसमें आदिम ललित कलाओं की रक्षा के लिए आवश्यक प्रबन्ध किए जाएं। जनजातियों के गायन, संगीत, नृत्य, लकड़ी पर नक्काशी के काम तथा अन्य ललित कलाएं देश की बड़ी धरोहर हैं तथा इस धरोहर की रक्षा एवं पुनरुद्धार के लिए सभी सम्भव प्रयत्न किए जाने चाहिए। जनजातियों के लिए किए जाने वाले मनोरंजनात्मक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम उन्हीं की भाषा में हों। इससे भाषा की समस्या भी हल होगी।

सभी धर्मों से जुड़े धर्मगुरुओं द्वारा यह बात समझी जानी चाहिए कि जनजातियों को अपने धर्म में दीक्षित करने के बजाय उनके परम्परागत धार्मिक आचार-विचार को बनाए रखना ही उचित होगा। सभ्य और सुसंस्कृत जीवन की दिशा में आगे बढ़ने के लिए सामाजिक जीवन में धर्म परिवर्तन के लिए स्थान होना चाहिए अथवा नहीं, इस पर गहरे चिन्तन की आवश्यकता है। हिन्दू समाज के लिए अपने सामाजिक भेदभाव से भरे व्यवहार और कुरीतियों से मुक्त होना होगा।

आज स्थिति यह है कि आधुनिकता के सम्पर्क ने जनजातियों के सामने दोहरी समस्या खड़ी कर दी है। एक तरफ वे नवीनता से सम्पर्क चाहती हैं, उनसे प्राप्त लाभों को उठाकर अपने को राष्ट्रीय जीवन की मुख्य धारा से जोड़ना चाहती हैं। दूसरी तरफ वे अपनी जनजातीय संस्कृति को भी बनाए रखना चाहती हैं। जनजातीय समस्याओं को सुलझाना हमारा राष्ट्रीय कर्तव्य ही नहीं, वरन् नैतिक दायित्व भी है, किन्तु कोई भी हल संविधान एवं राष्ट्रीय जीवन के दायरे में ही ढूंढ़ा जाना चाहिए।

उचित जनजातीय नीति

जनजातियों की समस्याओं के समाधान हेतु केन्द्रीय सरकार एवं राज्य सरकारों को एक उचित नीति बनानी चाहिए, ताकि इनके हितों की रक्षा की जा सके। जनजातीय नीति में निम्न बातों का ध्यान अवश्य ही रखा जाना चाहिए :

(1) सभी भारतीय जनजातियों को किसी एक जाति अथवा वर्ग में नहीं रखा जा सकता। प्रत्येक जनजाति की अपनी एक विशिष्ट संस्कृति है, विकास का एक पृथक् स्तर है, साथ ही उसकी अपनी निजी समस्याएं भी हैं। अतः कोई भी नीति सभी जनजातियों के लिए लाभप्रद नहीं हो सकती, जब तक कि स्थानीय परिस्थितियों को ध्यान में न रखा जाए और अपनाई गई नीति का प्रथम उद्देश्य स्थानीय समस्याओं का हल न हो। डॉ. मजूमदार का मत है कि "जनजातीय जीवन के पुनर्वास की किसी भी योजना को बनाने में उनकी प्रवृत्तियों एवं सम्बद्ध क्षेत्र की सांस्कृतिक स्थिति को जानना आवश्यक है। जो बात एक सांस्कृतिक क्षेत्र के लिए उपयुक्त है, सम्भव है कि वह दूसरे क्षेत्र के लिए उपयुक्त न हो।"

(2) जनजातियों के सुधार के पीछे हमारा उद्देश्य उन्हें आधुनिक समाज की प्रतिलिपि (replica) मात्र बनाना नहीं होना चाहिए, वरन् यह होना चाहिए कि वे अपनी व्यक्तिगत विशेषताएं भी बनाए रखें। डॉ. दुबे के अनुसार; "शासन और सभी सम्बद्ध पक्षों के द्वारा इस बात को स्वीकार किया जाना चाहिए कि जनजातियां

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी कतिपय परम्परागत संस्थाओं को जीवित रखकर भी राष्ट्र के उपयोगी नागरिक और महत्वपूर्ण अंग बन सकते हैं।"

(3) जनजातियों के उत्थान के लिए किसी भी नीति को लागू करने में ऐसे कर्मचारियों का ही सहयोग लिया जाए, जो इस कार्य में रुचि रखते हों और जनजाति क्षेत्र की परिस्थितियों तथा समस्याओं का जिन्हें थोड़ा ज्ञान हो। जनजाति क्षेत्रों में कार्य करने वाले शासकीय तथा अर्द्ध-शासकीय और सामाजिक कार्यकर्ताओं को जनजाति जीवन और संस्कृति से परिचित कराने और किए जाने वाले कार्य को समझने हेतु आवश्यकतानुसार विशेष प्रशिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए। समाजशास्त्री और मानवशास्त्री नई कल्याणकारी नीतियों को लागू करने में अपना सहयोग प्रदान कर सकते हैं। कोई भी नीति जनजातियों पर थोपी नहीं जाए, वरन् जन-सहयोग से ही उसे लागू किया जाए।

(4) जनजातियों की मूल समस्याएं दो हैं—निर्धनता और अशिक्षा। अतः शासन द्वारा अपनाई गई नीति का उद्देश्य इन दो समस्याओं का जड़ मूल से अन्त करना होना चाहिए। इन दोनों समस्याओं के सम्बन्ध में उचित प्राथमिकताओं के आधार पर कार्य करना होगा। शिक्षा के क्षेत्र में प्राथमिकता होनी चाहिए, सभी जनजाति लोगों के लिए अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था। इसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र के प्रसंग में जनजातियों में सबसे अधिक निर्धन लोगों का पता लगाकर सबसे पहले उन्हें ऊपर उठाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। यदि निर्धनता और अशिक्षा का अन्त करने की दिशा में पर्याप्त सीमा तक सफलता प्राप्त की जा सकी, तो अनेक जनजातीय समस्याएं स्वतः ही हल हो जाएंगी।

(5) जनजातियों की समस्याएं अत्यधिक जटिल मानवीय समस्याएं हैं, जिनके समाधान हेतु प्रशासकों, सामाजिक कार्यकर्ताओं और समाज वैज्ञानिकों को अपने साधन एक साथ जुटाकर कार्य किया जाना चाहिए। कुछ गैर-सरकारी संगठनों ने जनजातियों की स्थिति में सुधार के लिए उल्लेखनीय कार्य किया है। शासन के द्वारा इन गैर-सरकारी संगठनों को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए तथा उनके साथ आपसी सहयोग के सम्बन्ध स्थापित किए जाने चाहिए। कुछ गैर-सरकारी संगठन ऐसे भी हैं जो जनजाति कल्याण के नाम पर जनजातियों के एकीकरण को आघात पहुंचाते हैं तथा उनमें नए तनावों और जटिल स्थितियों को जन्म देते हैं। सभी सम्भव तरीकों से इन गैर-सरकारी संगठनों को निरुत्साहित तथा नियन्त्रित किया जाना चाहिए।

(6) यह सही है कि केन्द्र और राज्य सरकारें जनजातियों के उत्थान हेतु कृत संकल्प हैं तथा उनके उत्थान हेतु अब तक अनेकानेक करोड़ रुपए की धनराशियां दी गई हैं। लेकिन व्यावहारिक अनुभव बतलाता है कि जो धनराशियां दी गईं, जो अनुदान दिए गए, उनका उचित उपयोग नहीं हुआ है। अतः उच्चतम स्तर के शासक वर्ग और जनजाति कार्य में लगे उच्च पदाधिकारियों को इस दृष्टि से हर समय सजग रहना होगा कि साधनों का दुरुपयोग तो नहीं हो रहा है, विकास सम्बन्धी योजनाओं का लाभ कुछ गिने-चुने मुट्ठी भर लोगों को तो नहीं मिल रहा है, स्वार्थी लोग जनजातीय कल्याण के नाम पर कहीं अपने व्यक्तिगत हितों की पूर्ति में तो नहीं लगे हैं। नीति की क्रियान्विति और धनराशियों के उपयोग के सम्बन्ध में निश्चित जवाबदेही की व्यवस्था होने पर ही विकास कार्य और समस्याओं का समाधान सम्भव हो सकता है।

(7) कुछ क्षेत्रों, विशेषतया उत्तर-पूर्वी सीमा प्रान्त के कुछ क्षेत्रों की जनजातियों में असन्तोष की भावना बहुत तीव्र है, उनमें विद्रोह और अलगाववाद के स्वर भी उभरते हैं। इन क्षेत्रों के प्रति कुछ अधिक संवेदनशीलता की स्थिति अपनाए जाने की आवश्यकता है। इन क्षेत्रों और जनजातियों को शासन के द्वारा स्पष्ट वचनों और कार्यकरण से इस बात के लिए आश्वस्त किया जाए कि देश की लोकतन्त्रीय व्यवस्था में उनके हितों की पूर्ण रक्षा की जाएगी। इस प्रसंग में घोषणाओं की अपेक्षा कार्यकरण का महत्व ही अधिक है।

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (प्रत्येक प्रश्न 6 अंक का, उत्तर लगभग 300 शब्दों में दीजिए)

1. जनजाति की परिभाषा कीजिए। जनजाति के लक्षण या विशेषताएं बताइए।
2. भारतीय जनजातियों की समस्याओं का संक्षेप में वर्णन कीजिए। इन समस्याओं को हल करने के लिए किए गए प्रयत्नों का उल्लेख कीजिए।
3. भारतीय जनजातियों की समस्याओं का संक्षेप में वर्णन कीजिए। इन समस्याओं के समाधान का उल्लेख कीजिए।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लघु उत्तरीय प्रश्न

(अ) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 50 शब्दों में दीजिए (2 अंक)।

1. जनजातियों के उत्थान की दिशा में कार्य करने वाली कुछ प्रमुख स्वयंसेवी संस्थाओं के नाम बताए?
2. जनजाति किसे कहते हैं?
3. जनजातीय उपयोजना (Tribal Sub-Plan) क्या है?
4. उचित जनजातीय नीति की दो विशेषताएं बताइए।
5. जनजातियों में अशिक्षा व गरीबी की समस्या पर टिप्पणी लिखिए।

(ब) नोट—निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिए (4 अंक)।

6. जनजाति के प्रमुख लक्षण या विशेषताएं बताइए? (उ.प्र., 2010)
7. भारतीय जनजातियों में व्याप्त विविध समस्याओं के मूल कारण क्या हैं?
8. भारतीय जनजातियों की सामाजिक समस्याओं के समाधान हेतु अपने सुझाव दीजिए?
9. भारतीय जनजातियों की आर्थिक समस्याओं के समाधान हेतु अपने सुझाव दीजिए?
10. जनजातियों के कल्याण के लिए सरकार ने क्या कार्यक्रम चलाए हैं?

अति लघु उत्तरीय प्रश्न [प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का, उत्तर दस शब्द (एक वाक्य) में]

प्रश्न 1. जनजाति की परिभाषा दीजिए।

उत्तर—"स्थानीय आदिम समुदायों के किसी भी समूह को, जो कि एक सामान्य क्षेत्र में रहता हो, एक सामान्य भाषा बोलता हो और एक सामान्य संस्कृति का अनुसरण करता हो, एक जनजाति कहते हैं।"

प्रश्न 2. जनजाति के पांच प्रमुख लक्षण क्या हैं?

उत्तर—ये लक्षण हैं—(1) सामान्य भू-भाग, (2) विस्तृत आकार, (3) एक नाम, (4) सामान्य भाषा, (5) सामान्य संस्कृति।

प्रश्न 3. भारत की समस्त जनसंख्या में जनजातियों का अनुपात कितना है?

उत्तर—वर्ष 2001 की जनगणना के अनुसार भारत की समस्त जनसंख्या में जनजातियों का अनुपात 8.2 प्रतिशत है।

प्रश्न 4. लोकसभा तथा राज्यों के विधानमण्डलों में जनजातियों को आरक्षण कब तक प्राप्त रहेगा?

उत्तर—109वें संवैधानिक संशोधन (2009) के अनुसार अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों को इन संस्थाओं में अब 25 जनवरी, 2020 तक आरक्षण प्राप्त रहेगा।

प्रश्न 5. भारतीय जनजातियों की तीन प्रमुख आर्थिक समस्याएं बताइए।

उत्तर—(1) स्थानान्तरित खेती की समस्या, (2) कृषि भूमि का अभाव, (3) जंगलों से सम्बन्धित समस्या।

प्रश्न 6. भारतीय जनजातियों की तीन प्रमुख सामाजिक समस्याएं बताइए।

उत्तर—(1) बाल-विवाह की समस्या (2) कन्या मूल्य की समस्या, (3) शिक्षा व मनोरंजन के केन्द्र युवा गृहों का पतन।

प्रश्न 7. भारतीय जनजातियों की तीन प्रमुख सांस्कृतिक समस्याएं बताइए।

उत्तर—(1) भाषा-सम्बन्धी समस्या, (2) जनजातीय ललित कलाओं का पतन, (3) धर्म परिवर्तन से उत्पन्न तनाव की समस्या।

प्रश्न 8. 'स्थानान्तरित खेती' क्या है?

उत्तर—कुछ जनजातियां जंगलों में आग लगा देती हैं तथा फिर उस भूमि पर कृषि कार्य करती हैं। जब कुछ समय बाद वह भूमि खेती योग्य नहीं रहती, तो वे उसे छोड़कर किसी अन्य स्थान पर खेती करती हैं। यही 'स्थानान्तरित खेती' है।

प्रश्न 9. भारत की किसी एक जनजाति का नाम लिखिए। (उ.प्र., 2010)

अथवा, कोई दो भारतीय जनजातियों के नाम लिखिए। (उ.प्र., 2010)

उत्तर—कोल और मुण्डा।

बहुविकल्पीय प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों में चार विकल्प दिए गए हैं। उनमें से सही विकल्प छांटकर लिखिए :

1. "स्थानीय आदिम समुदायों के किसी भी समूह को जो कि एक सामान्य क्षेत्र में रहता हो, एक सामान्य भाषा बोलता हो और एक सामान्य संस्कृति का अनुसरण करता हो, एक जनजाति कहते हैं।" यह परिभाषा किसकी है :

(अ) गिलिन एवं गिलिन की (ब) विलोबी की

(स) गार्नर की (द) गिलफाइन की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2. जनजाति का प्रमुख लक्षण है :
(अ) सामान्य भू-भाग (ब) विस्तृत आकार
(स) एक नाम (द) इनमें से सभी

3. निम्नलिखित में से कौन-सी जनजाति नहीं है :
(अ) मुण्डा (ब) कोल
(स) ब्राह्मण (द) भील

4. निम्नलिखित में से किस राज्य में जनजाति जनसंख्या अधिक है :
(अ) उत्तर प्रदेश (ब) केरल
(स) झारखण्ड (द) तमिलनाडु

5. भारतीय जनजातियों में व्याप्त विविध समस्याओं का मूल कारण है :
(अ) निर्धनता, अज्ञान और विकास के लाभ जनजातियों तक न पहुंचना
(ब) पृथक् और दूरदराज क्षेत्रों में निवास
(स) ईसाई मिशनरियों द्वारा धर्म परिवर्तन
(द) उपर्युक्त सभी

6. जनजातियों की प्रमुख आर्थिक समस्या है :
(अ) स्थानान्तरित खेती के अन्त में उत्पन्न समस्या (ब) जंगलों पर स्वामित्व के अन्त से उत्पन्न समस्या
(स) ऋणग्रस्तता की समस्या (द) इनमें से सभी

7. जनजातियों की प्रमुख सामाजिक समस्या है :
(अ) बाल-विवाह की समस्या
(ब) कन्या मूल्य की समस्या
(स) शिक्षा व मनोरंजन के केन्द्र युवा गृहों का पतन
(द) इनमें से सभी

8. भारतीय संविधान में कितनी जनजातियों का उल्लेख है?
(अ) 525 (ब) 560
(स) 570 (द) इनमें से कोई नहीं

9. अनुसूचित जनजाति के निर्धारण का आधार रहा है :
(अ) क्षेत्र (ब) जाति
(स) उपर्युक्त दोनों (द) इनमें से कोई नहीं

[उत्तर—1. (अ), 2. (द), 3. (स), 4. (स), 5. (द), 6. (द), 7. (द), 8. (ब), 9. (स)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्ट 1

नागरिकशास्त्र (राजनीति विज्ञान) विषय के कुछ अधिक प्रमुख विचारक/लेखक तथा उनकी सबसे अधिक प्रमुख रचनाएं (पुस्तक)

मनु	:	मनुस्मृति
कौटिल्य (विष्णु गुप्त या चाणक्य)	:	अर्थशास्त्र
प्लेटो	:	रिपब्लिक (*Republic*)
प्लेटो	:	'लॉज' (*The Laws*)
अरस्तू	:	पॉलिटिक्स (*Politics*)
थॉमस हाब्स	:	लेवायथन (*Leviathan*)
जॉन लॉक	:	शासन पर दो निबन्ध (*Two Treatises on Government*)
जीन जेक्स रूसो	:	सामाजिक अनुबन्ध (*Social Contract*)
जॉन स्टुअर्ट मिल	:	स्वतन्त्रता (*On Liberty*)
जे.एस. मिल	:	प्रतिनिध्यात्मक शासन पर विचार (*Consideration on Representative Government*)
जॉर्ज विल्हैल्म फैड्रिक हीगल[1]	:	फिलॉसफी ऑफ लॉ या फिलोसॉफी ऑफ राइट (*Philosophy of Law or Philosophy of History*)
हीगल	:	फिलॉसफी ऑफ हिस्ट्री (*Philosophy of History*)
थॉमस हिल ग्रीन (टी. एच. ग्रीन)	:	राजनीतिक दायित्व के सिद्धान्त पर व्याख्यान *'Lectures on the Principles of Political Obligations*)
कार्ल मार्क्स	:	साम्यवादी घोषणा-पत्र (*The Communist Manifesto*)
कार्ल मार्क्स	:	'पूंजी' (*Das Capital*)
थामस मूर	:	'यूटोपिया' (*Utopia*)
माण्टेस्क्यू (मूल पुस्तक फ्रेंच भाषा में लिखी गई शीर्षक है)	:	*'Espirit des Luis'*
हेरल्ड लॉस्की	:	ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स (*Grammar of Politics*)
महात्मा गांधी	:	सत्य के साथ मेरे प्रयोग (*My Experiments with Truth*) पुस्तक महात्मा गांधी की आत्म कथा के रूप में है।
महात्मा गांधी	:	हिन्द स्वराज्य

1 स्वयं लेखक ने पुस्तक का शीर्षक इसी रूप में दिया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्ट 2 : वस्तुनिष्ठ प्रश्न

नोट : प्रश्न-पत्र में 10 अंक के बहुविकल्पीय प्रश्न पूछे जा सकते हैं अथवा कुछ बहुविकल्पीय प्रश्नों के साथ निश्चित उत्तरीय प्रश्न, रिक्त स्थान की पूर्ति प्रश्न अथवा सत्य-असत्य प्रश्न पूछे जा सकते हैं। वस्तुतः ये सभी 'वस्तुनिष्ठ प्रश्न' (Objective Questions) के अलग-अलग रूप हैं। निश्चित उत्तरीय प्रश्न, सत्य-असत्य प्रश्न और रिक्त स्थान की पूर्ति के कुछ प्रश्न मॉडल के रूप में उदाहरण के रूप में उत्तर सहित दिए जा रहे हैं, ताकि विद्यार्थियों को इन प्रश्नों का एक परिचय प्राप्त हो सके।

प्रश्न 1. "नागरिकशास्त्र सामाजिक सर्वेक्षण का सामाजिक सेवा में प्रयोग है।" यह कथन किस विद्वान का है?

उत्तर—प्रो. गेड्स का।

प्रश्न 2. 'सिविस' (Civis) शब्द किस भाषा का है?

उत्तर—लैटिन भाषा का।

प्रश्न 3. भारतीय संविधान द्वारा भारत में किस प्रकार की नागरिकता की व्यवस्था की गयी है?

उत्तर—इकहरी नागरिकता।

प्रश्न 4. 'भारतीय नागरिकता अधिनियम' कब पारित किया गया था?

उत्तर—1955 में।

प्रश्न 5. भारतीय नागरिकता संशोधन अधिनियम 1986 के अनुसार अब जो व्यक्ति पंजीकरण के माध्यम से भारतीय नागरिकता प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें अब भारत में कम-से-कम कितने वर्ष तक निवास करना होगा?

उत्तर—5 वर्ष तक।

प्रश्न 6. 'राजनीतिक दायित्व के सिद्धान्त' पुस्तक के लेखक कौन हैं?

उत्तर—टी. एच. ग्रीन।

प्रश्न 7. भारतीय संविधान में किस संवैधानिक संशोधन द्वारा मूल कर्तव्यों की व्यवस्था की गई है?

उत्तर—42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा।

प्रश्न 8. 'रिपब्लिक' (*Republic*) पुस्तक के लेखक कौन हैं?

उत्तर—प्लेटो।

प्रश्न 9. प्लेटो के अनुसार एक आदर्श राज्य की जनसंख्या कितनी होनी चाहिए?

उत्तर—5,040

प्रश्न 10. 'यूटोपिया' (*Utopia*) की रचना किसने की थी?

उत्तर—थॉमस मूर ने।

प्रश्न 11. किस विचारक को सभी 'आदर्शवादियों का जनक' माना जा सकता है?

उत्तर—प्लेटो को।

प्रश्न 12. "राज्य पृथ्वी पर परमेश्वर की अवतारणा है। यह पृथ्वी पर विद्यमान एक दैवीय विचार है।" यह कथन किस विद्वान का है?

उत्तर—हीगल का।

प्रश्न 13. कार्ल मार्क्स और ऐंजिल्स ने 'साम्यवादी घोषणा-पत्र' (*Communist Manifesto*) कब प्रकाशित किया?

उत्तर—1848 में।

प्रश्न 14. कौटिल्य के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ का क्या नाम है?

उत्तर—अर्थशास्त्र।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न 15. स्वतन्त्रता का अंग्रेजी रूपान्तर 'लिबर्टी' (Liberty) लैटिन भाषा के किस शब्द से निकला है?

उत्तर—'लिवर' (Liber) शब्द से।

प्रश्न 16. '*On Liberty*' पुस्तक के लेखक कौन हैं?

उत्तर—जे. एस. मिल।

प्रश्न 17. "मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न होता है, किन्तु सर्वत्र वह बन्धनों में बंधा हुआ है।" यह कथन किस विद्वान का है?

उत्तर—रूसो का।

प्रश्न 18. किस देश का संविधान विकसित संविधान का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है?

उत्तर—इंग्लैण्ड का संविधान।

प्रश्न 19. लोकतन्त्र को 'दुष्टों का कुलीनतन्त्र' किसने कहा है?

उत्तर—टेलीरेण्ड ने।

प्रश्न 20. शक्तिपृथक्करण सिद्धान्त का विधिवत् और वैज्ञानिक रूप में प्रतिपादन किस विचारक ने किया?

उत्तर—मॉण्टेस्क्यू ने।

प्रश्न 21. '*Esprit des Luis*' (*Spirit of Laws*) पुस्तक के लेखक कौन हैं?

उत्तर—मॉण्टेस्क्यू।

प्रश्न 22. इंग्लैण्ड में व्यवस्थापिका का कौनसा सदन अपील के उच्चतम न्यायालय के रूप में कार्य करता है?

उत्तर—उच्च सदन 'हाऊस ऑफ लॉर्ड्स' (House of Lords)।

प्रश्न 23. सरकार के कितने अंग होते हैं?

उत्तर—तीन।

प्रश्न 24. भारत में कितने वर्ष के व्यक्ति को वयस्क समझा जाता है?

उत्तर—18 वर्ष के।

प्रश्न 25. स्विट्जरलैण्ड में महिलाओं को मताधिकार कब से प्रदान किया गया है?

उत्तर—1971 में।

प्रश्न 26. सूची प्रणाली के लिए किस प्रकार के निर्वाचन क्षेत्र आवश्यक है?

उत्तर—बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र।

प्रश्न 27. राष्ट्र संघ की स्थापना कब की गई थी?

उत्तर—1919 में।

प्रश्न 28. संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना कब हुई थी?

उत्तर—24 अक्टूबर, 1945 को।

प्रश्न 29. संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों की संख्या कितनी है?

उत्तर—5 (पांच)।

प्रश्न 30. गुटनिरपेक्ष देशों का प्रथम शिखर सम्मेलन कहां पर आयोजित हुआ?

उत्तर—यूगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड में।

प्रश्न 31. अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था संविधान के किस भाग में की गई है?

उत्तर—भाग 16 में।

प्रश्न 32. किस संवैधानिक संशोधन द्वारा अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए संसद और राज्य विधानमण्डलों में स्थान आरक्षित रखने की व्यवस्था 25 जनवरी, 2020 तक के लिए कर दी गई है?

उत्तर—109वें संवैधानिक संशोधन 2009 द्वारा।

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न 33. उत्तर प्रदेश में अन्य पिछड़े वर्गों को कितने प्रतिशत आरक्षण प्रदान किया गया है?

उत्तर—27 प्रतिशत।

प्रश्न 34. वर्तमान में लोकसभा में जनजातियों के लिए कितने स्थान आरक्षित हैं?

उत्तर—47 स्थान।

प्रश्न 35. किस संवैधानिक संशोधन के आधार पर 'अनुसूचित जाति और जनजाति राष्ट्रीय आयोग' की स्थापना की गई है?

उत्तर—85वें संवैधानिक संशोधन द्वारा।

प्रश्न 36. गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का 15वां शिखर सम्मेलन कहां पर आयोजित किया गया?

उत्तर—मिस्र की राजधानी शर्म-अल-शेख में।

प्रश्न 37. संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रमुख अंग कितने हैं?

उत्तर—6 अंग।

प्रश्न 38. संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' कब पारित किया?

उत्तर—3 नवम्बर, 1950 को।

प्रश्न 39. भारत में ब्रिटिश शासन ने 1909 के अधिनियम द्वारा कौनसी निर्वाचन प्रणाली को प्रारम्भ किया?

उत्तर—पृथक् अथवा साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली को।

प्रश्न 40. वर्तमान में संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव कौन हैं?

उत्तर—1 जनवरी, 2007 ई. से दक्षिण कोरिया के बान-की-मून संयुक्त राष्ट्र के महासचिव हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उ.प्र. बोर्ड परीक्षा प्रश्न-पत्र, 2008

नागरिकशास्त्र

समय : तीन घण्टे] **(प्रथम प्रश्न-पत्र)** [पूर्णांक : 50

निर्देश—(i) सभी प्रश्न अनिवार्य हैं।

(ii) प्रश्न संख्या 1 से 5 तक बहुविकल्पीय हैं।

(iii) प्रश्न संख्या 6 से 10 तक अति लघु उत्तरीय हैं, जिनका उत्तर प्रत्येक लगभग दस शब्दों (एक वाक्य) में देना है।

(iv) प्रश्न संख्या 11 से 15 तक लघु उत्तरीय हैं, जिनका उत्तर प्रत्येक लगभग 50 शब्दों में देना है।

(v) प्रश्न संख्या 16 से 18 तक के प्रश्नों का उत्तर प्रत्येक लगभग 150 शब्दों में देना है।

(vi) प्रश्न संख्या 19 से 21 तक के प्रश्न दीर्घ उत्तरीय हैं, जिनका उत्तर प्रत्येक लगभग 300 शब्दों में देना है।

(vii) सभी प्रश्नों के निर्धारित अंक उनके सामने दिए गए हैं।

बहुविकल्पीय प्रश्न

नोट—निम्नलिखित पांच प्रश्नों में चार विकल्प दिए गए हैं। इनमें से सही विकल्प छांटकर उसे अपनी उत्तर–पुस्तिका में लिखिए।

1. निम्नलिखित में से कौन राज्य का अनिवार्य तत्व है? 1

(i) राजनीतिक दल (ii) प्रजातन्त्र

(iii) सम्प्रभुता (iv) राजदूतावास।

2. 'अर्थशास्त्र' नामक पुस्तक का लेखक कौन था? 1

(i) मनु (ii) लॉस्की

(iii) नेहरू (iv) कौटिल्य।

3. लिखित संविधान का गुण है : 1

(i) अनिश्चितता (ii) स्पष्टता

(iii) अस्थिरता (iv) इनमें से कोई नहीं।

4. कार्यपालिका का कार्य है : 1

(i) विधि का निर्माण (ii) विधि को लागू करना

(iii) दण्ड देना (iv) संविधान की व्याख्या करना।

5. कौटिल्य के अनुसार राज्य के कितने अंग हैं? 1

(i) चार (ii) पांच

(iii) छः (iv) सात।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

6. राज्य के कार्यों को कितने भागों में बांटा जा सकता है? 1

7. नागरिकता खोने का एक आधार बताइए। 1

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

8. अच्छे संविधान के कोई दो आवश्यक लक्षण लिखिए। 1/2 + 1/2
9. विकसित और अलिखित संविधान का नमूना किस देश का संविधान है? 1
10. भारत में संसदात्मक सरकार है या अध्यक्षात्मक? 1

लघु उत्तरीय प्रश्न

11. कर्तव्य किसे कहते हैं? इसके भेद बताइए। 1+1
12. कानून के दो स्रोत बताइए। 1+1
13. लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों की दो भूमिकाएं स्पष्ट कीजिए। 1+1
14. वयस्क मताधिकार के पक्ष में दो तर्क दीजिए। 1+1
15. संसदात्मक सरकार की दो विशेषताएं बताइए। 1+1

नोट—प्रश्न संख्या 16 से 18 तक प्रत्येक प्रश्न का उत्तर लगभग 150 शब्दों में लिखिए।

16. अध्यक्षात्मक सरकार के दो गुणों और दो दोषों का वर्णन कीजिए। 2+2
17. राज्य और सरकार में चार अन्तर लिखिए। 4
18. जनमत का महत्व स्पष्ट कीजिए। 4

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

19. राज्य की परिभाषा दीजिए तथा उसके तत्वों की विवेचना कीजिए। 2+4

अथवा

राज्य का सामाजिक जीवन में क्या महत्व है? राज्य तथा राष्ट्र में अन्तर बताइए। 3+3

20. समानता से आप क्या समझते हैं? इसके कितने प्रकार होते हैं? 2+4

अथवा

स्वतन्त्रता से आप क्या समझते हैं? व्यक्ति और समाज के जीवन में स्वतन्त्रता का क्या महत्व है? 2+4

21. लोकतन्त्र में राजनीतिक दल का क्या महत्व है? इसके संगठन का क्या आधार होना चाहिए? 2+4

अथवा

गुटनिरपेक्षता पर एक निबन्ध लिखिए। 6

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उ.प्र. बोर्ड परीक्षा प्रश्न-पत्र, 2009

नागरिकशास्त्र : प्रथम प्रश्न-पत्र

समय : तीन घण्टे] SET : 361(JF) [पूर्णांक : 50

निर्देश—(i) सभी प्रश्न अनिवार्य हैं।

(ii) प्रश्न संख्या 1 से 5 तक बहुविकल्पीय हैं।

(iii) प्रश्न संख्या 6 से 10 तक अति लघु उत्तरीय हैं, जिनका उत्तर प्रत्येक लगभग 10 शब्दों (एक वाक्य) में देना है।

(iv) प्रश्न संख्या 11 से 15 तक लघु उत्तरीय हैं, जिनका उत्तर प्रत्येक लगभग 50 शब्दों में देना है।

(v) प्रश्न संख्या 16 से 18 तक के प्रश्नों का उत्तर प्रत्येक लगभग 150 शब्दों में देना है।

(vi) प्रश्न संख्या 19 से 21 तक दीर्घ उत्तरीय हैं, जिनका उत्तर प्रत्येक लगभग 300 शब्दों में देना है।

(vii) सभी प्रश्नों के निर्धारित अंक उनके सामने दिए गए हैं।

बहुविकल्पीय प्रश्न

नोट—निम्नलिखित पांच प्रश्नों में प्रत्येक के चार विकल्प दिए गए हैं। इनमें से सही विकल्प छांटकर उसे अपनी उत्तर-पुस्तिका में लिखिए :

1. 'रिपब्लिक' पुस्तक का लेखक कौन है? 1

(i) प्लेटो (ii) अरस्तू

(iii) रूसो (iv) लॉस्की

2. "नागरिकशास्त्र नागरिकता का विज्ञान और दर्शन है।" यह कथन किसका है? 1

(i) डॉ. बेनीप्रसाद का (ii) डॉ. ई. एम. ह्वाइट का

(iii) पुन्ताम्बेकर का (iv) एफ. जी. गोल्ड का

3. निम्न में से कौन सम्प्रभुता का लक्षण नहीं है? 1

(i) सर्वोच्चता (ii) अविभाज्यता

(iii) सीमितता (iv) सर्वव्यापकता

4. 'सिविक्स' शब्द की उत्पत्ति दो शब्दों से हुई है : 1

(i) लैटिन भाषा के (ii) हिब्रू भाषा के

(iii) फ्रांसीसी भाषा के (iv) जर्मन भाषा के

5. निम्नलिखित में कौन नेता गुट-निरपेक्ष आन्दोलन से सम्बन्धित नहीं है? 1

(i) नेहरू (ii) नासिर

(iii) टीटो (iv) स्टालिन

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

6. संयुक्त परिवार का एक दोष बताइए। 1

7. लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों के दो कार्य बताइए। ½ + ½

8. किन्हीं दो राजनीतिक अधिकारों का उल्लेख कीजिए। ½ + ½

9. राष्ट्रीयता के विकास में बाधक किन्हीं दो तत्वों का उल्लेख कीजिए। ½ + ½

10. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय कहां स्थित है? 1

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लघु उत्तरीय प्रश्न

11. राज्य और सरकार में दो अन्तर बताइए। 1+1
12. राज्य के दो अनिवार्य कार्य लिखिए। 1+1
13. स्वतन्त्रता के दो प्रकार बताइए। 1+1
14. समाजवाद की दो विशेषताएं लिखिए। 1+1
15. अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र क्या है? इसके एक दोष का उल्लेख कीजिए। 1+1

नोट—प्रश्न संख्या 16 से 18 तक प्रत्येक प्रश्न का उत्तर लगभग 150 शब्दों में लिखिए।

16. विदेशी और नागरिक में क्या अन्तर है? विदेशी किस प्रकार से नागरिकता प्राप्त कर सकता है? 2+2
17. महिलाओं के आरक्षण के पक्ष में चार तर्क दीजिए। 1+1+1+1
18. भारत की जनजातियों की चार मुख्य समस्याओं का वर्णन कीजिए। 1+1+1+1

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

19. अधिकार की परिभाषा दीजिए तथा इसके प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए। 2+4

अथवा

अरस्तू द्वारा राज्यों के वर्गीकरण का वर्णन कीजिए। 6

20. गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के योगदान तथा वर्तमान में उसकी प्रासंगिकता का परीक्षण कीजिए। 4+2

अथवा

संसदीय लोकतन्त्र में व्यवस्थापिका व कार्यपालिका के सम्बन्धों की व्याख्या कीजिए। 6

21. समानता की परिभाषा दीजिए। इसके विभिन्न प्रकारों को समझाइए। 2+4

अथवा

एक आदर्श नागरिक के क्या गुण हैं? आदर्श नागरिकता के मार्ग में क्या बाधाएं हैं? 3+3

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उ.प्र. बोर्ड परीक्षा प्रश्न-पत्र, 2010

नागरिकशास्त्र : प्रथम प्रश्न–पत्र

समय : तीन घण्टे] SET : 332 (IL) [पूर्णांक : 50

निर्देश—(i) सभी प्रश्न अनिवार्य हैं।

(ii) प्रश्न संख्या 1 से 5 तक बहुविकल्पीय हैं।

(iii) प्रश्न संख्या 6 से 10 तक अति लघु उत्तरीय हैं, जिनका उत्तर प्रत्येक लगभग दस शब्दों (एक वाक्य) में देना है।

(iv) प्रश्न संख्या 11 से 15 तक लघु उत्तरीय हैं, जिनका उत्तर प्रत्येक लगभग 50 शब्दों में देना है।

(v) प्रश्न संख्या 16 से 18 तक के प्रश्नों का उत्तर प्रत्येक लगभग 150 शब्दों में देना है।

(vi) प्रश्न संख्या 19 से 21 तक के प्रश्न दीर्घ उत्तरीय हैं, जिनका उत्तर प्रत्येक लगभग 300 शब्दों में देना है।

(vii) सभी प्रश्नों के निर्धारित अंक उनके सामने दिए गए हैं।

बहुविकल्पीय प्रश्न

नोट—निम्नलिखित पांच प्रश्नों में चार विकल्प दिए गए हैं। इनमें से सही विकल्प छांटकर उसे अपनी उत्तर–पुस्तिका में लिखिए।

1. "राज्य एक आवश्यक बुराई है।" यह कथन किस विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है? 1

(i) व्यक्तिवाद (ii) अराजकतावाद

(iii) समाजवाद (iv) आदर्शवाद

2. कार्यपालिका का कार्यकाल किस सरकार में निश्चित होता है? 1

(i) संघात्मक (ii) अध्यक्षात्मक

(iii) संसदात्मक (iv) एकात्मक

3. राज्य का अनिवार्य तत्व है : 1

(i) संविधान (ii) न्यायपालिका

(iii) संप्रभुता (iv) राष्ट्रीयता

4. लोकतन्त्र में शासन की अन्ततः शक्ति किसमें निहित होती है? 1

(i) संसद में (ii) जनता में

(iii) मन्त्रिपरिषद् में (iv) संविधान में

5. निम्न नेताओं में से कौन गुट–निरपेक्ष आन्दोलन से संबंधित नहीं है? 1

(i) नेहरू (ii) नासिर

(iii) टीटो (iv) स्टेलिन

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

6. नागरिक शास्त्र की एक परिभाषा उसके लेखक के नाम सहित लिखिए। 1

7. जनमत निर्माण के किसी एक साधन का उल्लेख कीजिए। 1

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

8. संप्रभुता के किसी एक सिद्धान्त का उल्लेख कीजिए। 1
9. भारत की किन्हीं दो जनजातियों के नाम बताइए। 1/2+1/2
10. कौटिल्य द्वारा लिखित पुस्तक का शीर्षक लिखिए। 1

लघु उत्तरीय प्रश्न

11. अध्यक्षीय व संसदीय शासन प्रणाली के बीच दो अन्तर बताइए। 1+1
12. उदारवादी राज्य व कल्याणकारी राज्य के किन्हीं दो अन्तरों को समझाइए। 1+1
13. द्विसदनीय व्यवस्थापिका के कोई दो लाभ बताइए। 1+1
14. पर्यावरण की सुरक्षा में नागरिक किस प्रकार योगदान दे सकते हैं? इसके लिए दो तर्क दीजिए। 1+1
15. राज्य एवं सरकार में दो अन्तर बताइए। 1+1

नोट—प्रश्न संख्या 16 से 18 तक प्रत्येक प्रश्न का उत्तर लगभग 150 शब्दों में लिखिए।

16. नम्य संविधान के दो गुणों और दो दोषों की विवेचना कीजिए। 2+2
17. विधि के चार प्रकार बताइए। 1+1+1+1
18. आधुनिक राज्य के चार प्रमुख कार्यों का विवेचन कीजिए। 1+1+1+1

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

19. नागरिक शास्त्र के अध्ययन की विभिन्न पद्धतियां कौन-सी हैं? किस पद्धति को आप अच्छा समझते हैं और क्यों? 2+4

अथवा

"नागरिक शास्त्र नागरिकता का विज्ञान एवं दर्शन है।" इस कथन की विवेचना कीजिए। 3+3

20. लोकतन्त्र में क्षेत्रीय राजनीतिक दलों की भूमिका और उपयोगिता का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। 3+3

अथवा

अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के विकास में बाधक तत्वों का वर्णन कीजिए। 6

21. "स्वतन्त्रता की समस्या का केवल एक ही समाधान है, और वह समाधान समानता में निहित है।" इस कथन की विवेचना कीजिए। 6

अथवा

समाजवादी राज्य के कार्यों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। 6

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपयोगी पुस्तकें

962	सामान्य ज्ञान	20.00
424	G.K. & Who's who	20.00
971	G.K. & Current Affairs	20.00
A680	सामान्य ज्ञान एवं समसामयिकी	30.00
809	सामान्य ज्ञान एवं व्यक्ति परिचय	45.00
A697	वस्तुनिष्ठ सामान्य ज्ञान	85.00
A393	'साहित्य सागर' सामान्य ज्ञान	90.00
A518	An Encyclopaedia of General Knowledge	95.00
A613	Concise General Knowledge	30.00
724	सामान्य ज्ञान	375.00
761	कॉम्प्रिहेन्सिव सामान्य अध्ययन	475.00
967	Current Essay& Letter Writing	125.00
960	Objective English	70.00
A273	जवाहर नवोदय विद्यालय कक्षा 9	135.00
540	जवाहर नवोदय विद्यालय	125.00
218	जवाहर नवोदय विद्यालय प्रैक्टिस वर्कबुक	75.00
A640	उत्तराखण्ड राजीव गांधी नवोदय विद्यालय प्रवेश परीक्षा	85.00
A828	उ. प्र. राष्ट्रीय प्रतिभा खोज एवं छात्रवृत्ति चयन परीक्षा	100.00
A809	छात्रवृत्ति हेतु चयन परीक्षा कक्षा 9	100.00
A289	एकीकृत छात्रवृत्ति परीक्षा कक्षा 8	220.00
A290	जूनियर हाईस्कूल छात्रवृत्ति परीक्षा कक्षा 6	70.00
A614	राष्ट्रीय प्रतिभा खोज परीक्षा कक्षा 8	200.00
A119	राष्ट्रीय प्रतिभा खोज परीक्षा	200.00
A402		120.00
	प्रवेश परीक्षा	150.00
737	उत्तर प्रदेश : एक अध्ययन	60.00
886	भारत का संविधान	60.00
	अन्तर्राष्ट्रीय संगठन	60.00
A394	विश्व के प्रमुख देश	65.00
956	संयुक्त राष्ट्र संघ एवं अन्तर्राष्ट्रीय संगठन	60.00
497	वस्तुनिष्ठ हिन्दी	70.00
A467	व्यावहारिक सामान्य हिन्दी	230.00
984	सामयिक हिन्दी निबन्ध एवं पत्र लेखन	50.00
A568	TRICKY MATHEMATICS (हिन्दी संस्करण)	175.00
855	सामान्य बुद्धि परीक्षण	70.00
995	उ.-प्र. पॉलिटेक्निक प्रवेश परीक्षा गाइड	225.00



प्रतियोगिता सा
www.pragra.in
हॉ आगरा-282 003 फोन : 0562-4030666,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.